प्रसाद और प्रत्यभिज्ञादर्शन

डॉ० परमहंस मिश्र

प्रसाद और प्रत्यभिज्ञादर्शन

डॉ० परमहंस मिश्र

प्रत्यभिज्ञा प्रकाशन

वाराणसी

प्रसाद और प्रत्यभिज्ञादर्शन

डॉ० परमहंस मिश्र

प्रत्यभिज्ञा प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक
प्रत्यभिज्ञा प्रकाशन
ए ३६ बादशाह बाग
वाराणसी

प्रथम संस्करण
गुरु पूर्णिमा—२०४३

मूल्य : २५०-०० रु०

प्राप्तिस्थान :
१—प्रत्यभिज्ञा प्रकाशन
ए ३६ बादशाहबाग, वाराणसी

मुद्रक :
श्री रवीन्द्रनाथ द्विवेदी
देववाणी प्रेस
स्टेशन रोड, मलदहिया
वाराणसी

शुभाशंसा

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी   वाराणसी

१८ अक्टूबर, ७२

डॉ० परमहंस मिश्र जी संस्कृत और हिन्दी साहित्यके मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उनका ग्रन्थ 'प्रसाद और प्रत्यभिज्ञा दर्शन' उनके गंभीर अध्ययनके अनुरूप ही है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मूल ग्रन्थों का आपने अध्ययन मनन किया है और प्रसाद जी के विभिन्न काव्यों, नाटकों और निबंधोंमें पाये जाने वाले उन संकेतोंको खोजने का प्रयत्न किया है, जो प्रत्यभिज्ञा दर्शन से प्रभावित हैं। उन्होंने यह भी दिखाया है कि, इस विषयका ज्ञान प्रसाद जी को किन स्रोतों से हुआ था या होना संभव था। इसमें प्रसाद जी के साहित्य को उपलक्ष्य करके प्रत्यभिज्ञा दर्शन का बड़ा विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। डा० मिश्र ने सारी बातें स्पष्टता और ईमानदारी के साथ प्रस्तुत की हैं।

प्रसाद जी के ग्रन्थ में काश्मीर शैवागम के प्रभावकी बात स्वीकार कर ली गयी है। जो बात भुला दी गई है, वह यह है कि, प्रसाद जी ने अनेक स्रोतों से विचार और भावसंग्रह किया है और उन्हें आत्मसात् करके एक निजी जीवन दर्शन प्रस्तुत किया है। वह हूबहू किसी भी दार्शनिक संप्रदायका अनुकरण या अनुसरण नहीं है। उनकी रचनात्मक प्रतिभा बहुत प्रबल थी। वे नाना स्थानोंसे ग्रहण की हुई मान्यताओं को नया रूप, नई शक्ति और नई प्रेषणीयता देनेमें पूर्ण समर्थ थे। मुझे प्रसन्नता है कि, डॉ० मिश्र जी ने इस तथ्यको नहीं भुलाया है। उन्होंने स्थान-स्थान पर स्मरण करा दिया है कि, प्रसाद जी नये प्रेरणा स्रोतों से और भी बहुत कुछ ग्रहणकर सके हैं और उन्हें नया रूप दे सके हैं। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि, इसमें सप्रमाण दिखाया गया है कि, किस प्रकार प्रसाद-साहित्य में पायी जाने वाली बहुत-सी अभिव्यक्तियाँ प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रचलित मान्यताओं से प्रभावित हैं। कई जगह तो मूल ग्रन्थों के पारिभाषिक शब्द भी ग्रहण कर लिये गये हैं। सब मिलाकर प्रसाद जी का जीवन-दर्शन मुख्य रूपसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन के गम्भीर अध्ययन और मनन से प्रभावित है।

डॉ० मिश्र के इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का मैं स्वागत करता हूँ और उनकी उपलब्धियोंके लिए बधाई देता हूँ।

—हजारी प्रसाद द्विवेदी

पुरोवाक्

'प्रसाद और प्रत्यभिज्ञादर्शन' एक उत्कृष्ट कोटिका समीक्षात्मक ग्रन्थ है। ग्रन्थकारकी मूल स्थापना है कि, प्रसाद का सम्पूर्ण व्यक्तित्व शिवत्वके स्निग्ध आलोकसे देदीप्यमान था। शिवत्वके अभिव्यंजक प्रस्थानोंमें शिवाद्वयवादके अन्यतम एवं अनन्य प्रस्थान-प्रत्यभिज्ञादर्शन को प्रसादके प्रेरणास्रोतके रूपमें निरूपित किया गया है। हिन्दी वाङ्मयमें शैवप्रस्थान का यह तत्त्वनिरूपण अपने विस्तार, गाम्भीर्य तथा प्राञ्जलतामें अद्वितीय है।

काश्मीर शैव दर्शन में चार अद्वैतदर्शन उपलब्ध होते हैं। (१) क्रम-दर्शन (२) कुल दर्शन (३) मतदर्शन और (४) त्रिकदर्शन। ये सभी शिवाद्वयवादीदर्शन हैं। त्रिकदर्शन को ही प्रत्यभिज्ञादर्शन कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा स्मृति और अनुभव के सामानाधिकरण्य में प्रतिफलित होती है—

'स्मरणानुभवारूढा सामानाधिकरण्यधीः।
संस्कारेन्द्रियजन्या च प्रत्यभिज्ञा प्रकीर्त्तिता'॥

पुराणोंके अध्ययनसे, शास्त्रों और आगमोंके स्वाध्यायसे हमें ज्ञात है कि एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं। जब स्वात्मका आभिमुख्य होता है और जगत् का आभिमुख्य समाप्त होता है, तब एक प्रतीप अनुसन्धान होता है। 'मैं ही वह ईश्वर हूँ।' इस जागतिक 'मैं'के प्रतीप 'अहम् ईश्वर' यह अनुसन्धान—यह पहिचान ही प्रत्यभिज्ञा है। इसमें स्मरण भी है, अनुभव भी है। संस्कार भी है। प्रत्यभिज्ञा तीन प्रकार की होती है—(१) भात (प्रकाशित) (२) भासमान (प्रकाशमान) और (३) अनुसंधानात्मिका। अक्रम-अनुग्रह एवम् अनुपाय द्वारा अनुत्तर-तादात्म्य की उपलब्धि इस दर्शन के मूल सिद्धान्त हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त अपने एक श्लोक में प्रत्यभिज्ञा के स्वरूपका बहुत ही मार्मिक उद्घाटन करते हुए कहते हैं :—

'कामैस्तैरुपयाचितोऽप्युपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एष अपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष तथानवेक्षित-तनुः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता'॥

सुन्दरीके समक्ष हृदयसे वृत, उपस्थित किन्तु अपरिचित्त प्रियतम की तरह पराहंभाव से समुल्लसित, शक्तिचक्रेश्वर, पञ्चकृत्यकारी स्वात्मा विश्वेश्वर हमारे सन्निधान में ही है तथापि परिचय अथवा पहचान न होने से, अपूर्णाहभाव से परिचालित होने के कारण इसके माहेश्वर्य—स्वाङ्गकल्पवत् विश्व के अनुभवसे हम वंचित रह जाते हैं। हमारी इस उपेक्षा वृत्ति को अपेक्षावृत्ति में परिणत करने की क्रिया प्रत्यभिज्ञा दर्शन से सम्पन्न होती है।

प्रत्यभिज्ञादर्शनके मान्य सिद्धान्तों की दृष्टिसे प्रसादके व्यक्तित्व-विकास का विश्लेषण और विवरण, अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। इस ग्रन्थके प्रसाद शीर्षक अध्याय का यही प्रसादत्व है—उपयोगिता, सार्थकता तथा नूतनता है। उक्त सिद्धान्तों की ही भूमिकामें प्रसादकी 'प्रवृत्तियों का परिशीलन', उनकी 'कृतियों का परीक्षण' और विशेष रूपसे 'कामायनी' का विश्लेषण लेखकके अभिनव, सफल एवं श्लाध्य प्रयास हैं।

प्रसाद साहित्यमें प्रत्यभिज्ञादर्शन की कलात्मक अभिव्यक्तियाँ मात्र चिन्तन-सिद्ध नहीं, अपितु प्रयोग-सिद्ध हैं। 'प्रसाद और प्रत्यभिज्ञादर्शन' शीर्षक इस ग्रंथमें सुहृद्वर डॉ परमहंस मिश्रने इन तत्त्वोंके विवेचन-विश्लेषण और व्याख्यान का स्पृहणीय तथा श्लाघ्य प्रयास किया है। अतः वे भूरि-भूरि साधुवादके पात्र हैं। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि प्रसाद साहित्यके अनुशीलन एवं अध्ययनमें सुधी पाठकों को इस ग्रन्थसे विशेष प्रेरणा और दृष्टि प्राप्त होगी।

इति शिवायाऽस्तु

डॉ० रामनरेश वर्मा

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी–५

प्राक्कथन

लाला भगवानदीन विद्यालय, वाराणसी, ठठेरी गलीके एक भव्य भवनमें चल रहा था। उसीका छात्र जो भारतीय राष्ट्रीय महासभाका सक्रिय सदस्य था, जो कभी राष्ट्रीय आन्दोलनोंमें भाग लेता, जनजागरण-के लिए कभी लघुवयस्क प्रवक्ता बन जाता—वाराणसी अध्ययनार्थ आ पहुँचा था। भारतमाताके मूक आवाहनपर जीवन उत्सर्ग कर देनेकी साहसिकता के निर्णय लेनेवाले उस छात्रका सम्बन्ध यहाँ आकर साहित्य जगत्की रस-धारासे स्थापित हो गया।

दीन विद्यालयमें प्रवेश पाकर मानो वह स्वयम् हिमगिरिके उत्तुङ्ग-शिखरपर आरूढ़ होकर राष्ट्रकी—भारतमाताकी प्रलय-परतंत्रताके सन्दर्भमें सोचने लग जाता। हिमाद्रितुङ्ग श्रृंगसे प्रसाद की प्रबुद्ध शुद्ध भारतीका आवाहन उसे स्पन्दित कर देता।

आँसूका अध्ययन किया—उसने, आचार्य प्रवर स्वनामधन्य श्री पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्रसे। पूज्य पद्मनारायणाचार्यने कामायनी पढ़ायी। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० केशवप्रसाद मिश्र इन युगल विभूतियोंके गुरुत्वमें उसे रहस्यवाद, छायावाद और साहित्यके विविध विधानोंके प्रधृत्ति-परिशीलनका आकर्षण मिला।

साहित्यरत्न बननेपर उससे निकलनेवाली कमनीय किरणोंमें प्रसादकी आभा थी। उसके मनमें तभीसे कुछ करनेकी इच्छाका अंकुर जमा।

परिस्थितियाँ जो कुछ न करा दें। प्रसादके ही शब्द हैं-"अन्धनियति कर्त्तृत्व मदसे मत्त मनुष्यकी कर्म-शक्तिको अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है।" 'मनुष्य क्या है? प्रकृतिका अनुचर और नियतिका दास या उसकी क्रीड़ाका उपकरण।' 'मनुष्य प्रकृतिका अनुचर और नियतिका दास है।' इसी वैवश्यमें जीवनकी स्वर्णजयन्ती बीत जानेके बाद यह हीरक कोष प्रस्तुत करनेका अवसर आया है। वास्तवमें प्रसादके प्रति स्वाभाविक आकर्षणने ही यह आकार ग्रहण किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ स्वानुभूतिके सन्दर्भमें 'स्व' के उल्लासका एक सहज प्रयास है। प्रायः सभी मर्मज्ञ मनीषी समीक्षकोंने यह स्वीकार किया है कि, प्रसाद प्रत्यभिज्ञावादी थे।[१] लेखककी मान्यता है कि, समस्त प्रसाद साहित्यकी आधारशिला ही प्रत्यभिज्ञादर्शन है। प्रसादको मान्यताओंका मूल्य प्रत्यभिज्ञाके परिवेशमें ही आँका जा सकता है। उसी परिवेश को प्रसाद-साहित्यकी परिधिमें प्रत्यक्ष करने का यह एक अध्यवसाय है।

काश्मोरमें उद्‌भूत तोन शैव दर्शनोंको अद्वैत दर्शन कहते हैं। १-क्रम दर्शन, २-कुल दर्शन और ३-प्रत्यभिज्ञा दर्शन। इनकी गुरुपरम्परा, इनके इतिहास और इनके समर्थक आगम ग्रन्थ सभी भिन्न-भिन्न हैं। अभिनव गुप्त पादाचार्यने तन्त्रालोक के चतुर्थ आह्निकमें यह प्रतिपादित किया हैं कि, कुल दर्शन और क्रम दर्शन इन दोनोंमें द्वादशकाली तत्त्व समान रूपसे ग्रहण किया गया है। किन्तु इनमें क्रमदर्शन शाक्तोपाय का आश्रय लेने वाला दर्शन है और कुल दर्शन शाम्भवोपायका आश्रय लेता है। शाम्भवोपाय परमोपाय है।[२]

तदस्मिन् परमोपाये शाम्भवाद्वैतशालिनि।
केऽप्येव यान्ति विश्वासं परमेशेन भाविताः[३] ॥

यह तुरीय भाव है—

जगत्सर्वं मत्तः प्रभवति विभेदेन बहुधा,
तथाप्येतद्रूढं मयि विगलिते त्वत्र न परः।

---

१. प्रसादकी दार्शनिक चेतना, पृ० ५६, पंर १४-१५, १७-१८, जयशङ्कर प्रसाद : वस्तु और कला, पृ० ११६, पं० २-१४, पृ० ११७, पं० १४-३१ पृ० ११८–१२१। छायावाद : काव्य तथा दर्शन पृ०१५६ पं० १०-११।

हिन्दी साहित्यका इतिहास--डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० ४०४, पं० २३-२४, पृ० ४९६, पं० १९-२०, पृ० ४०९। सर्वदर्शन संग्रह–प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' पृ० ३४९, पं० २८-३१

२. तन्त्रालोक आ० ३।२८०। ३. आ० ३।२८८-

तदित्थं यः सृष्टिस्थिति-विलयमेकी कृतिवशाद्,

अनंशं पश्येत्सः स्फुरति हि तुरीयं पदमितः[१] ॥

इसमें महाबोधका उदय हो जाता है। बोधकी ज्वालासे उज्ज्वल स्वात्मतत्त्वमें ही विश्व तद्रूप होकर समाप्त हो जाता है। इस प्रकारकी दृष्टि होते ही परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।[२] शाम्भवोपायमें अक्रम मुक्तिकी मान्यता है। क्रमदर्शनमें विकल्पोंका संशोधन आवश्यक है। विकल्पोंके क्षय होनेपरही मुक्ति सम्भव है पर कुलदर्शन और प्रत्यभिज्ञा दोनों दर्शनोंमें जहाँ अहं प्रत्यवमर्श हुआ, जहाँ शिवका, हुताशन-स्वरूपका, प्रत्यभिज्ञानसे स्फुरण हुआ, अनन्तचित्र-सद्गर्भ-संसार-स्वप्न-सद्मका सर्वनाश हुआ।

अनन्तचित्रसद्गर्भसंसार - स्वप्न - सद्मनः ।

प्लोषकः शिव एवाहमित्युल्लासी हुताशनः[३] ॥

यही अक्रम मुक्ति है। शाम्भवोपायको त्रिधोपाय भी कहते हैं। इसका कारण है—यह मुझसे ही उदित है, यह मुझमें ही प्रतिबिम्बित है और यह मदभिन्न है। इसप्रकारका परामर्श साधकको परमशिव बना देता है।[४] इसमें क्रमकी कोई आवश्यकता नहीं होती। यह अनुत्तर अवस्था है—

ततोपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम् ।

आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्चते ॥ तं० १।२४२।

क्रमदर्शनमें कालीके पंचकृत्यभी भिन्न हैं—वह क्षेप, ज्ञान, प्रसंस्थान. गति, और नाद रूप पांच कृत्य करती है। प्रत्यभिज्ञा दर्शनमें सृष्टि, स्थिति संहार, तिरोधान और अनुग्रह ये शिवके पंच कृत्य हैं। इसमें अनुग्रहकी महत्ता है। अनुग्रह हुआ कि मुक्ति हुई। यह प्रत्यभिज्ञादर्शनका वैशिष्ट्य है। प्रसादको वही अभिप्रेत है। मनुमें प्रलयप्रवाह देखनेसे लेकर इडाके

---

१. आ०३ । २८७ २. आ० २।२८५।

३. तन्त्रालोक आ० ३। २८४। ४. आ० ३।२८०।

सम्पर्कमें आनेतकमें किसी प्रकारके विकल्पके क्षयका कोई प्रयत्न नहीं है किन्तु श्रद्धाके सद्भाव और शुद्ध विद्याके द्वारा उनकी अक्रम मुक्ति ही होती है। इसीलिये प्रसाद क्रम दर्शन को मान्यता नहीं देते।[1]

भारतीय दर्शन परम्परामें शैवदर्शनकी चिन्तनधाराका श्री गणेश भारतीयताकी सम्पूर्ण प्रातिभ सम्भूतियोंके भव्य और अभिनव अध्यवसायका समर्थ सूत्रपात है। इसने सर्वप्रथम वैदिक युगसे भी प्राथमिक कालसे चली आनेवाली शिव विषयक मान्यताओंकी नये सिरेसे तरुण अवतारणा की। शिवत्वका जो स्फुरण मन्त्रद्रष्टा महर्षियोंके हृदय और मस्तिष्क भूमिपर हुआ, उसका स्वयम् ब्रह्मने अभ्यानर्षण किया और वह सनातन तत्त्व ऋत और सत्यके कूलोंमें पीयूषप्रवाह बनकर बह चला। आस्तिकोंने उसमें अवगाहन किया और नास्तिकोंने उसका बहिष्कार किया। परिणामतः कर्मनाशाने नास्तिकोंका अभिषेक किया और आस्तिकताकी अमृत तरंगिणी-शिवत्वके सिन्धुमें समाहित होती रही। अनेकानेक उथलपुथल, ऐतिहासिक अवरोधों, सामाजिक आघातप्रतिघातों और सांस्कृतिक संघर्षोंके फलस्वरूप सामाजिक परिवर्त्तनोंके बावजूद भी सुधाकी यह धार बहती ही रही।

शैव दर्शनकी परम्परा तन्त्रालोकके अनुसार त्रैयम्बकसे चली। श्रीकण्ठ सोमानन्दसे होती हुई, काश्मीरमें अपना अलग अस्तित्व रखती हुई, आर्यावर्त्तके मध्ययुगमें सरस्वतीकी तरह रामकृष्णकी भक्तिधारामें समाहित हो गयी। उसी कश्मीरजाकी सुरभि आधुनिक कालमें प्रसादके प्रातिभ सम्भारसे विभूषित होकर प्रसाद साहित्यमें अभिव्यक्त हो गयी। विश्ववाङ्मय पुरुषका नये सिरेसे शुभाभिषेक हो गया।

सर्वदर्शन-संग्रहकारने नकुलीश पाशुपत (समय विक्रम संवत्का प्रारम्भ) शैवदर्शन (समय सप्तम या अष्टम शताब्द) और त्रिकदर्शन (समय पञ्चम शतक ई०) का उल्लेख किया है। प्रस्तुत ग्रन्थमें इसी त्रिक दर्शन, जिसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहते हैं, को प्रसाद साहित्यमें निरखा परखा गया है।

---

१. सरस्वती सुषमा, वर्ष २० अङ्क १, पृ० १८।

परमेश्वर शिवके स्वात्म-दर्पणमें भेद अभेद भेदाभेद, पर अपर परा-पर सब कुछ अपने त्रिकरूपमें प्रतिबिम्बित है। अहम् परामर्श, अहमिदम् और इदमहम्की त्रिकानुभूतिमें जीवन्मुक्ति निहित है। यही प्रसादकी मान्यता थी। इसीलिये उन्होंने मानवताकी विजयका सन्देश दिया, जिसमें वर्ग, सम्प्रदाय और जाति नहीं वरन् सारा विश्व एक परिवार है? समरसता ही जिसका स्वारस्य है और जहां शापित तापित कोई नहीं है। प्रसादका यही प्रतिपाद्य है।

प्रसाद स्वाध्याय शील पुरुष थे। वे मेधाके महत्त्वसे, मनीषा द्वारा मननसे, धृतिकी धारणासे और सिद्धान्तोंके निदिध्यासनसे स्वतः निर्मित स्वयम्भू महाकवि थे। उन्होंने अध्ययन किया समग्रका। उनके भावोंका भावन किया परन्तु किसीसे, किसी सिद्धान्तसे या युगके किसी आन्दोलन-से वे प्रभावित नहीं हुए। उन्होंने स्वयम् युगीन चेतनाओंको प्रभावित किया। स्वच्छन्दतावादी प्रवाहको शिवके स्वातन्त्र्यमें, चितिकी स्वेच्छा-शक्तिमें समाहित कर दिया। यह प्रसादकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। चंकि शिव स्थावर जंगम सबमें व्याप्त है, वही सब है और यह सारा प्रसार शिव ही है। इसलिये उन्होंने युगकी सभी वृत्तियोंको अपनी ऊहाका विषय बनाया। समाजके सभी अंगों, सांकर्यके सभी सम्भाव्य प्रसङ्गोंको सामने लाकर विश्व-सत्यको यथार्थतः प्रकट कर उसमें शिवत्त्वको परिस्फुरित कर दिया। इतिहास, दर्शन और साहित्यके सभी विधानोंमें शिवम्का मन्त्र फूंक दिया। महाप्राणताका संचार कर दिया।

प्रसादके अध्येताका प्रसादको समझनेके लिये किसी संकुचित दृष्टि-कोणको अपनाना उचित नहीं है। प्रसादका अध्ययन विना तन्त्रालोक पढ़े, शैवागमके ग्रन्थोंका विना अवलोकन किये पूर्णतया नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे अध्ययन करनेपर उनकी कहानियां कुछ नई कथा कहने लग गयीं, उनके निबन्ध कुछ अभिनव निबन्धन करने लग गये, उनके नाटक-रूपक एक नये आरोपका सूत्रपात करने लगे, उनकी गीतिकायें नये सामका सरगम बजाने और सुनाने लगीं और उनके काव्य देव काव्य बनकर 'न ममार न जीर्यति' का शिवम्के संदर्भमें संदेश देने लग गये और यही कुछ अभिनव अनुभूतियाँ प्रसादकी पूर्णानुभूतिको साक्षात्कार करा देनेमें समर्थ हो सकीं।

प्रसाद साहित्यमें आत्मचिन्तनका-उपासनाका सूत्रपात है। बुद्धिवादके विभव सम्भारसे आत्माको अभिभूत न कर श्रद्धाका सम्बल प्राप्त करनेका संदेश है। व्यक्तिनिष्ठ यह चिन्तन शुष्क नहीं वरन् शिवामृत परिप्लुत है। आनन्द महोदधिकी उत्ताल तरंगोंका यहाँ अमर लहराव है। प्रसाद इस अभिनव उपासना पद्धतिके युगानुकूल प्रवर्त्तक हैं। प्रसाद व्यक्तिनिष्ठ आध्यात्मिक उत्कर्षके सम्वाहक हैं। वे व्यक्तिकी चेतनाके आवरणको हटाकर समाजको प्रकाशित करनेकी प्रक्रियाके विश्लेषक हैं।

यह प्रसाद ही का व्यक्तित्व रहा है, जो पाश्चात्त्य गतानुगतिकता और पारतन्त्र्यमें भी हिन्दीमें भारतीय मूल्योंका अवमूल्यन नहीं होने दिया। अन्यथा ज्योंका त्यों अंग्रेजी वाक्यानुवाद और शब्दानुवादोंका स्वच्छन्द प्रयोग करने वाले शैली कीट्स वर्डस्वर्थ और वायरनकी पताका फहरानेवाले तथाकथित युगबोध-व्यथितोंकी भारी भीड़ 'क्या उपद्रव मचा देती, कहा नहीं जा सकता।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनके प्रति मोहके बावजूद भी वे युगके प्रतिनिधि कवि थे। युग चेतनाका प्रभाव कविपर पड़ता ही है। प्रसादने काव्यकी परिभाषा दी है—'काव्य आत्माकी संकल्पात्मक अनुभूति है[1]।' संकल्प शक्ति आत्माकी तीन अवस्थाओंमें दृष्टिगत होती है। १—मनन, २–ग्रहण ३—अभिव्यंजक वाक्शक्ति। इन तीनोंका त्रैविध्य युग चेतनाकी परिधिमें ही प्रसाद साहित्यमें वर्णित हुआ है। इनका युग स्वच्छन्दतावादी युग था। स्वच्छन्दतावादी रोमान्टिक धाराका मूल उद्गम पश्चिम है। प्रसादने घरपर ही पाश्चात्य साहित्यका अनुशीलन किया था[2]। किन्तु 'प्रसाद' ने पश्चिमको अपना आदर्श कभी स्वीकार नहीं किया।

प्रसाद भारतीय संस्कृतिके अग्रदूत थे। वे साहित्यमें दर्शन और दर्शनमें साहित्यकी अभिव्यक्तिकी कलाके प्रवर्त्तक महापुरुष थे। उनके जन्मजात संस्कार, उनके पारिवारिक परिवेश और सबसे बढ़कर दीनबन्धु और शैवध्वजका सहयोग और स्वाध्यायका सबके अस्तित्वमें सन्निवेश-यह सब प्रसादके महाकविके निर्माणके उपादान थे। उन्हें किसी ने बनाया हो यह

---

१. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३७, पं० १४, २५।

२. कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन, पृ० ४३३, पं० १३।

बात नहीं। वे स्वयंभू मनीषो थे, जिन्होंने यथार्थतः नित्य नूतन क्षणे क्षणे रमणीय विश्वके अर्थका उद्भावन किया। शाश्वत संवत्सरोंको, सनातन सत्यको हिन्दीकी शब्दशय्यापर शायित कराया। आत्माकी अनुत्तरतासे अनुपाय विज्ञानकी वैज्ञानिकताके सहारे वाङ्मय काव्य पुरुष-को अलंकृत कर दिया और उसकी आरतीकी उठती हुई उज्ज्वल रश्मियोंमें आत्माकी आभाको समाहित कर दिया। स्वर्गके वातायनसे झांकते प्रसादकी प्रसन्न दृष्टिसे प्रसन्न प्रत्यभिज्ञानका यह शतपत्र अपने प्रसाद सौरभको लेकर विश्वात्माकी विश्वात्मकताको आप्यायित करनेके उद्देश्यमें विकसित है। यह अपने आनन्द-अमृत-मकरन्दसे हिन्दी साहित्य-को अभिषिक्त करे यही अभिलाषा है।

प्रस्तुत ग्रन्थके सम्बन्धमें महर्षिकल्प परममाहेश्वर डा० गोपीनाथ कविराजका और जीवन्मुक्त महापुरुष आचार्य पं० रामेश्वर झा जीका आशीर्वाद लेखकको प्रथमतः प्राप्त हुआ। उन दोनोंका स्मरण इस अवसर-पर अनिवार्य है। डा० हजारी प्रसादकी आत्मीयताके अमृतसे मैं सदा अभिषिक्त होता रहा। डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तो हमारे गुरु ही थे। डॉ० रामनरेश वर्मा आचार्य एवम् अध्यक्ष काशी हिन्दू विश्वविद्यालय इस विषयके मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उन्होंने समय-समयपर विषयकी गुत्थियोंका समानधान किया है। इनके लिए स्वात्मैक्यसंविद् स्वारस्यका समर्पण।

डॉ० कपिलदेव पाण्डेय, प्राध्यापक, आर्यमहिला डिग्रीकालेज, वाराणसी का एक ही प्रेरक वाक्य मानसका मन्थक बन गया और इस ग्रन्थ-रत्नका लेखन सम्भव हुआ। उन्हें आशीर्वाद। प्रिय श्री काशीनाथ दीक्षित एवं रवीन्द्रनाथ द्विवेदीके प्रयाससे इसका प्रकाशन और मुद्रण की यान्त्रिकताके कलाशिल्पका संयोजन हुआ है। एतदर्थ उन्हें सहयोगके लिये साधुवाद।

प्रसादके प्रिय सखा डॉ० राजेन्द्रनारायण शर्माका लेखक अनुगृहीत है, जिन्होंने अमूल्य सामग्री प्रदानकर इस ग्रन्थकी प्रामाणिकतामें एक कड़ी जोड़ दी।

श्री भारत धर्म महामंडल, वाराणसीका शारदा पुस्तकालय, जिसका लेखकने भरपूर उपयोग किया—इस अवसरपर उसके ऋणको स्वीकार करना आवश्यक है। संस्कृत विश्वविद्यालय ग्रन्थागार, नागरी प्रचारिणी पुस्तकालय, कारमाइकेल पुस्तकालय, गायकवाड़ग्रन्थागार, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग पुस्तकालय इन सबका यथावसर उपयोग किया गया है। इन सबके संस्थापकोंकी उदारता प्रतीक बनकर प्रस्तुत ग्रन्थ अपने 'स्व' का प्रकाश विकीर्ण कर रहा है।

विषय-प्रवेश

वैदिक दार्शनिक विचारधाराका श्रीगणेश नासदीय सूक्त, पुरुष सूक्त और श्री सूक्तोंसे होता है। अन्य सूक्तोंमें देवोंके स्तोत्र हैं, जिनका विवेचन वृहद्देवता आदि ग्रन्थोंमें आता है। नैरुक्त प्रक्रियामें अर्थवादके विभिन्न व्युत्पत्तिपरक स्वरूप प्रदर्शित हैं। त्रिभावात्मकता[1] (अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म) के पारिप्रेक्ष्यमें अर्थ-योजनाका विनियोजन प्रातिभचमत्कारका द्योतक है। नासदीयसूक्तमें मृत्यु-अमृत, रात-दिन, तम-सलिल, काम-मनीषाके सन्दर्भमें इस विसृष्टिके मूलको समझनेकी चेष्टा है। कौन जानता है—यह सृष्टि कहांसे आयी ? यह है भी या नहीं। इसका क्या प्रमाण है ? इस सूक्तके भाव इस पद्यमें भी व्यक्त हैं[2]—

अरे हृदय ! तू सोच सकेगा वह थी पहली वेला।
जहां शून्य करता था प्रतिपल सदसत् की अवहेला।
था भी यह सब, या कि नहीं था, यह भूमण्डल व्योम ?
यह लहराती हुई तरलता, ग्रह रवि तारक सोम ?

किस वेलामें कैसे चंचल, चला प्रवंचन चक्र।
कौन चलाने वाला, कितना कुशल, पंथ यह वक्र।
यह वैश्वानर व्योम विहारी, व्यापक वायु विसर्ग।
नाम रूपका निकष, नियामक निष्कृत निखिल निसर्ग।

तो क्या इसको मृत्यु मान लूं ? पर यह सम्भव कैसे ?
अमृत मानने वाला मन भी हो निःसंशय कैसे ?
उस युगकी संकेत कल्पना, सचमुच आज असम्भव ?
ये दिन रात, सोचना भी मत, वह अद्भुत भव-वैभव।

वह अदृश्य थी कौन शक्ति जो थी केवल एकाकी।
स्वयं स्वयंके सम्मिश्रण की वह मौन प्रक्रिया थी।
चल अदृश्यका हुआ विलक्षण असंलक्ष्य विस्तार।
जिसने आगे तुरत पा लिया इन्द्रिय-ग्रह आकार॥

---

१. कर्ममीमांसा दर्शनम् क्रियापाद सूत्र ८३-८४।

२. स्वरचित विश्वामित्र महाकाव्य, उत्पत्तिसर्ग।

मानो पुरुष सूक्त नासदीयसूक्तका उत्तर हो ! वह स्पष्ट कहता है—पुरुष एवेदं सर्वम्' । उसका स्वरूप भी वह निर्धारित करता है—'सहस्र-शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्—स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिस्ष्टद्दशांगुलम् ।' भूतसृष्टिका इसमें उल्लेख है। चातुर्वर्ण्य व्यवस्थाका भी निर्देश है। श्रीसूक्त शक्तिके स्वारस्यका निरूपण करता है। यही विचारधारा विकसित होकर औपनिषदिक ब्रह्ममें समाहित होती है। श्वेताश्वतर काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, योनि और पुरुषके विचारकी प्रेरणा देकर ध्यान योगानुगत-देवात्मशक्तिके दर्शन को उद्घाटित करता है[१] । वेद प्रतिपादित परम ब्रह्मको वह स्वीकार करता है। देह अरणि है। प्रभाव उत्तरारणि है। ध्यानके द्वारा मन्थनसे निगूढ़ देव दर्शनके साधनात्मक रहस्यवादका वह निर्देश करता है। तैत्तिरीयआरण्यक की ब्रह्मानन्द वल्लीके प्रथम अनुवाकमें सत्य, ज्ञान और अनन्त विशेषणोंसे विशिष्ट ब्रह्म-की व्याख्या की गयी है। भृगु वल्लीमें अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द[२] आदि कई प्रकारसे ब्रह्मकी उपासनाका मार्ग प्रशस्त किया गया है।

प्रसादने स्थल स्थलपर इस ज्ञान-प्रधान एकेश्वरवादी परम्पराकी, अद्वैतवादी परम्पराकी चर्चाकी है। अधिकारी भेद भी उपस्थित किया है। 'कंकाल' में मंगलके 'हम लोग सर्वव्यापी भगवान्की सत्ताको नदियोंके जलमें, वृक्षोंमें, पत्थरोंमें सर्वत्र स्वीकार करनेकी परीक्षा देते हैं, कथनपर विजयकी कटूक्ति है—'पर हृदयसे नहीं मानते। और विधिमूलक-प्राचीनधर्मको निषेधात्मककी संज्ञा दी है[३] । वेदस्वरूपने स्पष्ट कहा है—'हमारी जातिमें धर्मके प्रति इतनी उदासीनताका कारण है—कल्पितज्ञान, जो इस देश में प्रत्येक प्राणीके लिए सुलभ हो गया है। वस्तुतः उन्हें ज्ञानाभाव होता है और वे अपने साधारण नित्यकर्मसे वंचित होकर अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनेमें भी असमर्थ होते हैं[४] ।' निरं-जनका सारा चित्र ज्ञानाभासका ही चित्र है।

---

१. श्वेताश्वतर, अ० १।२। १।४।

२. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली अनुवाक २–६।

३. कंकाल—पृ० ११०-१११। ४. कंकाल, पृ० ४३, पं० ११-१५।

मुण्डक और कठके अनुसार ब्रह्म अगोचर, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण अचक्षु, अश्रोत्र, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध है।[1] कहीं ब्रह्म व्यापक, अव्यय, नित्य, जगत्का कर्त्ता होते हुए भी अकर्त्ता, कहा गया है। मुख्यरूपसे श्वेताश्वतर, ईश, कठ, मुण्डक तैत्तिरीयके कविने श्रेयके उत्कर्ष, प्रेयके पातित्य और पार्थिवकी उपेक्षाकार अपार्थिवत्वके संस्थापन-का प्रयास किया है।[2] उपनिषदोंका यह मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। प्रसादने इसे आत्मसात् किया। उनकी चेतना श्रेय और प्रेयको सामाना-धिकरण्यकी भूमिपर प्रतिष्ठित करती है। उनकी पाषाणी प्रकृति भी लास रासमें हँसती है—विह्वल हो उठती है।[3] अपनी ही एक कलामें सब पहचानेसे उन्हें लगते हैं। यहाँ इस समतल जीवन वसुधापर जो जहां है—समरस है। शापित और तापित यहां कोई नहीं है। अभेद सागरमें यह प्राणोंका सृष्टिक्रम है, जहाँ चरमभाव सबमें घुलमिलकर रसमय होकर बहता है। अपने सुख-दुःखसे पुलकित यह मूर्त्त विश्व सचराचर चितिका विराट् और मंगल वपु है। यह सत्य है, चिर सुन्दर है। 'सरस्वती और यमुनाके तटपरशुद्ध और ब्रह्मके समीप लेजाने वाले उपनिषद् और आरण्य क-संवाद हो रहे हैं। इन्हीं महात्मा ब्राह्मणोंकी विशुद्ध ज्ञानधारासे यह पृथिवी अनन्तकालतक सिंचित होगी, लोगोंको परमात्माकी उपलब्धि होगी, लोकमें कल्याण और शान्तिका प्रचार होगा तथा सब लोग सुख पूर्वक रहेंगे।[4] व्यासकी इस उक्तिमें उपनिषद् और आरण्यकका स्पष्ट उल्लेख है। ब्राह्मणोंकी विशुद्ध ज्ञानधाराकी भी चर्चा है। किन्तु दूसरे ही क्षण विश्वात्माके उत्थानके प्रसङ्गमें जो नेपथ्यका गान होता है, वह इस ज्ञान धाराके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञानवादी ज्ञान-धाराका समर्थक है। वह उसकी जय बोलता है, जिसने अपना विश्वरूप विस्तार किया है, जो अपनी ही लीलासे जलथल नभका कुहक बन गया है। हम सबमें परछाँई-सा जो खेल कर रहा है। हममें आकर स्वयं छिप गया है। अहमात्मक

---

१. मुण्डक, खण्ड २।३।　　　　२. कठ, वल्ली २।२।

३. कामायनी, पृ०२९४, पं०५-८।

४. जनमेजय का नाग यज्ञ अं० ३, दृश्य ८, पृ०९७, पं० १०-१४।

विमर्शसे जो निज सत्ताका पूर्णानुभव कराता है, जिसने 'तू मैं ही हूँ' इस चेतनाका प्रणव गुञ्जित किया है।'[१] ये परस्पर विरोधी दृष्टिकोण किस दिशाका संकेत करते हैं ?

वस्तुतः व्यास कर्मकाण्डके समर्थक हैं। कर्मकाण्डका प्रत्यक्षरूप यज्ञ है। व्यासने जनमेजयसे पहले दृश्यमें कहा है—"तुम्हें यज्ञ करना ही पड़ेगा। तुम्हारे सिरपर ब्रह्म-हत्या और नाग-हत्याका अपराध है! इसी यज्ञकी आशासे ब्राह्मण समाजने अभीतक तुम्हें पतित नहीं ठहराया है। धर्मका शासन तुम्हें मानना ही पड़ेगा! तुम्हारी आत्मा इतनी स्वछन्द नहीं कि, इस प्रचलित परम्पराका उल्लंघन कर सके। यज्ञेश्वर भगवान् की इच्छाका उन्हें बड़ा ध्यान है। यज्ञ कर्मकाण्डका ही प्रतीक है। जनमेजयका नागयज्ञ जिसयुगका कथानक है, उस समय वेद और काश्यप सभी यज्ञ, पौरोहित्य दम्भपूर्ण ब्राह्मणत्व और कर्मकाण्डके पूर्ण समर्थक थे। उसी परम्पराके पालकके रूपमें व्यासका भी चित्रण है।

प्रसादका यह अभिमत नहीं है। काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध नामक पुस्तकमें उन्होंने इसकी सुन्दर विवेचना प्रस्तुत की है, जिससे उनका मन्तव्य स्पष्ट हो जाता है। वे लिखते हैं—"बाहरी याज्ञिक क्रिया कलापोंके रहते हुए भी वैदिक आर्योंके हृदयमें आत्मवाद और एकेश्वर-वादकी दोनों दार्शनिक विचारधारायें अपनी उपयोगितामें संघर्ष करने लगीं।' 'सप्तसिन्धुके तरुण आर्योंने इस आनन्दवादी धाराका स्वागत किया क्योंकि वे स्वत्वके उपासक थे।[२]' वृष्णिसंघ (व्रज) और मगधके व्रात्य और अयाज्ञिक आर्य बुद्धिवादके आधारपर नये-नये दर्शनोंकी स्थापना करने लगे!' आर्यों, व्रात्यों, वृष्णियों, याज्ञिकों, आनन्द और विवेकवादियोंके विचारपूर्ण अनुक्रमके अनन्तर वे आगे लिखते हैं—'जहाँ एक ओर भारतीय आर्य-व्रात्योंमें तर्क के आधारपर विकल्पात्मक बुद्धि-वादका प्रचार हो रहा था, वहाँ प्रधान वैदिक धाराके अनुयायी आर्योंमें आनन्दका सिद्धान्तभी प्रचारित हो रहा था।[३] वे कहते थे 'नायमात्मा

१. जनमेजयका नागयज्ञ, अं० ३, दृश्य ८, पृ०९७, पं० १८-२६।
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५०, पं० ९-१३।
३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५१-५३।

प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।[१]' 'नैषा तर्केण मतिरापनेया[२]' अर्थात् आनन्दमय आत्माकी उपलब्धि विकल्पात्मक विचारों और तर्कों के आधारपर नहीं हो सकती ।........मुख्यतः वे अद्वैत और आनन्दके ही उपासक थे । विज्ञानमय याज्ञिक क्रिया-कलापोंसे वे बहुत ऊपर उठ चुके थे ।

यज्ञका वर्णन तो कामायनीमें भी है । पर परिणाम क्या हुआ है ? प्रसादने स्पष्ट कहा है—'कर्मयज्ञसे जीवनके सपनोंका स्वर्ग मिलेगा ।[४] यज्ञका स्वार्थमय विचार जीवनको सुखी नहीं बना सकता ।' कामायनी मनुसे कहती है—'आज अभी किसी दूसरी भावधारामें और कभी दूसरी भावधारामें बहना ठीक नहीं । कल ही यदि परिवर्तन होगा, तो फिर कौन बचेगा ? क्या जाने कोई साथी बनकर नूतन यज्ञ रचायेगा । और फिर किसी की बलि होगी—यह कितना बड़ा धोखा है । आकुलि और किलात के पौरोहित्यका परिणाम मनु के 'अब मृगया छोड़ नहीं—रह गया और था काममें' और 'लग गया रक्त था उस मुखमें हिंसा सुख लालीसे ललाम' के रूपमें व्यक्त हुआ । दुर्ललित लालसाओंका शिकार मनुको बनना पड़ा ?[३]

अब रही उपनिषदों और आरण्यकोंके ब्रह्मवादकी बात । ब्रह्मवादका मुख्य लक्ष्य है—ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति (वृ० ४।४।६) । आत्मैवेदं सर्वम् ब्रह्मैवेदं सर्वम्[४], एतदात्म्यमिदं सर्वम्, नेहनानास्ति किंचन, मृत्योः समृत्युमाप्नोति, य इ ह नानेव पश्यति[५], वाक्योंके द्वारा अध्यारोपित समस्त जगत्की वास्तविक सत्ताके निरासका ही प्रयत्न किया गया है । जीव और ब्रह्मकी एक-निष्ठताकी दृढ़ भावनासे स्वानुभूतिका ज्ञानदीपक प्रज्वलित होता है और अनादिकालसे चला आनेवाला अविद्याका अन्धकार नष्ट हो जाता है । स्वगत, सजातीय-विजातीय-भेद-शून्य, त्रिकालाबाधित ब्रह्म-

---

१. मुण्डक, तृतीय ३।३ । २. कठ, वल्ली २।९

३. कामायनी, कर्म, पृ० ११३ पं० १–२ ।

४. कामायनी ईर्ष्या, पृ० १३९, पं० ५–१८ ।

५. मुण्डक खण्ड २।११ । ३. कठ २।१।११

सत्ताकी सत्यताका भाव-दाढ्र्य हो जाता है। उसके अतिरिक्त कुछ भी पारमार्थिक सत्य नहीं है, यह दृढ़ बोध हो जाता है। यही वेदान्त विज्ञान है—

'वेदान्त-विज्ञान-सुनिश्चितार्थाः सन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।'

मुण्डक ३।२।६।

की श्रुति और 'तमात्मसंस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषां'की कठश्रुति २।१२।१३२के द्वारा तथा समस्त औपनिषदिक सिद्धान्त वाक्यों द्वारा यही कहा गया है कि, एकमात्र ब्रह्मही विना किसी उपचारके परमार्थतः सत्य है। ब्रह्मके अतिरिक्त समस्त पदार्थ मिथ्या अर्थात् अनिर्वचनीय है।

प्रसादजीका ब्रह्मकी सत्यताके विचारमें, शिवकी समरस भूमिकी सत्यताके सन्दर्भमें वैमत्य नहीं, पर संसारकी निःसारताके प्रति बहुत बड़ा आक्षेप है। कामायनीके शब्दमें उनका कहना है—'काम मंगल से मंडित श्रेय, सर्ग इच्छाका है परिणाम' इस तथ्यको भूलने वाला व्यक्ति भव धामको तिरस्कृत ही कर सकता है। यहाँ तो सजग महाचिति लीलामय आनन्द कर रही है। वही इस रूपमें व्यक्त है। विश्वका अभिराम उन्मीलन जिसमें सभी अनुरक्त होते हैं[1]। यही परमार्थिक सत्य है।

मनुके ऊपर निराशा, अवसाद और पीडाका दुष्प्रभाव है। वह अपनेको जड़ताकी जीवनराशि और सफलताका संकलित विलम्ब कहता है[2]। किन्तु सर्वात्मना इसका निषेध करके विश्वकी दुर्बलताको बल बनानेके पक्षमें है। 'शक्तिकी क्रीड़ाका संचार सविलास इसे हँसाया करे और मानवता विजयिनी बन जाय[3]' यह उसकी मंगलमयी मान्यता है। इस प्रकार इन दोनों मान्यताओंमें स्पष्ट मौलिक मतभेद है।

तथागतके प्रति आस्था रखते हुए भी बौद्ध दर्शनका आधार उन्होंने कभी ग्रहण नहीं किया। प्रसङ्गोपात्त उनकी उक्तियोंसे उनका आक्रोश ही व्यक्त होता है! बौद्ध स्तूपकी पूजाकर[4] आती हुई सुवासिनीसे चाणक्यने

१. कामायनी, पृ० १३, पं० १–८।
२. कामायनी श्रद्धा, पृ० ४९, पं० १-१६।
३. श्रद्धा, पृ०५९, पं० १–१२।
४. जयशंकर प्रसाद वस्तु और कला, पृ० २१५, पं० १८-२१।

व्यंग्यपूर्वक कहा था—'वेश्याओंके लिए भी एक धर्मकी आवश्यकता थी। चलो अच्छा ही हुआ। ऐसे धर्मके अनुगत पतितोंकी भी कमी नहीं'[1]। स्वयं राक्षसभी जो हृदयसे बौद्ध मतका समर्थक है, केवल दार्शनिक सीमा-तक ही है। इतना ही कि, संसार दुःखमय है। सुवासिनीके–इसके बाद ?' पूछनेपर वह कहता है कि, मैं इस क्षणिक जीवनकी घड़ियोंको सुखी बनानेका पक्षपाती हूँ।' राक्षस जैसा बौद्ध भी सुवासिनी रूपी जागतिकताको लालसा, प्यास और अमृत मानने लग जाता है और उसे पानेके लिए सौ बार मरना पसन्द करता है। राक्षस जहां सद्धर्मको हो मनुष्यों-के लिये पर्याप्त मानता है, वहां चाणक्य कहता है—'परन्तु बौद्धधर्मकी शिक्षा मानव व्यवहारके लिए पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह संघ विहारमें रहने वालोंके लिए उपयुक्त हो।' उसका दृढ़ विचार है—'राष्ट्र-की रक्षा ! उसका शुभ चिन्तन ब्राह्मण ही कर सकते हैं। एक जीवको हत्यासे डरने वाले तपस्वी बौद्ध शिरपर मँडराने वाली विपत्तियोंसे, रक्त समुद्रकी आंधियोंसे आर्यावर्त्तकी रक्षा करनेमें असमर्थ प्रमाणित होंगे। वररुचिसे चिढ़कर चाणक्य कहता है—'भिक्षोपजीवी ब्राह्मण ! बौद्धोंका संग करते-करते तुम्हें अपनी गरिमाका सम्पूर्ण विस्मरण हो गया'।[2] बौद्धों के प्रभावमें श्रौत-संस्कार-हीन हो जानेके कारण बहुतसे क्षत्रिय आर्य व्रात्य हो गये थे। चाणक्य इस प्रभावसे परिचित है और वृषलको क्षत्रिय बनानेका पूर्णाधिकार अपनेमें सुरक्षित मानता है। क्योंकि वह शाश्वत और सार्वभौम बुद्धिवैभवभरित ब्राह्मणत्व से विभूषित है।

प्रसादकी दृष्टिसे यह देश अर्थात् यह संसार, अरुण प्रकाश से आलोकित मधुमती भूमिकाका आधार यह मधुमान विश्व हमारा है—अपना है। मिथ्याकी तो कल्पना ही नहीं। यहाँ अनजान क्षितिजको एक सहारा मिलता है। अनजान और क्षितिज शब्दोंके साहचर्यसे, सहारा के आश्रयसे यहाँ कवि जगत्की सत्यताका समर्थन करता है। इस प्रकार अपने आप एक ही विन्दुपर आरण्यक ब्रह्मवाद और क्षणिकता-संवलित बौद्ध शून्य-वाद दोनों निरस्त हो जाते हैं।

---

१. चन्द्रगुप्त, पृ० ७२, ७९।   २. पृ० ९०, पं० ५-६।

कपिशाके एलेक्जेंड्रिया राजमन्दिरमें राक्षस कार्नेलियाका उत्तर देते हुए ब्राह्मणोंके लिए 'पूर्वजोंका गौरव' शब्दोंका प्रयोग करता है और अपने को बौद्ध कहता है।[१] इसका उत्तर कार्नेलिया देती है—'और तुम उसके ध्वंसावशेष हो। मेरे यहाँ ऐसे ही लोगोंको देशद्रोही कहते हैं'।[२] और सच-मुच राक्षस, बौद्ध राक्षसका वह पतन और चाणक्य द्वारा उसे देशभक्त बनानेका प्रयास[३] यह ऐसे दृष्टिकोण हैं, जिनसे प्रसादके दृष्टिकोणपर पूर्णतया प्रकाश पड़ता है। राक्षसको अन्तमें स्वयम् आत्मग्लानि होती है। वह अपनेको देशद्रोही, ब्राह्मणद्रोही बौद्ध स्वीकार कर लेता है। सुवासिनी उसे आश्वस्त करती हुई कहती है–'आर्योंके तपोवन इन राग-द्वेषोंसे परे हैं'।[४] इससे यह सिद्ध है कि, प्रसाद कर्म-कुलाल-चक्रसे अपना निर्मित भाण्ड उतारकर धर लेनेके पक्षपाती हैं। जगत्को अपार निःसार और शून्य नहीं वरन् इसके उन्मीलनको अभिराम माननेके पक्षधर हैं। प्रसादके अनुसार इतिहास इसका साक्षी है कि, बौद्धोंने गुप्तशत्रुका काम किया है। कई बारके विताड़ित हूण इन्हीं लोगोंकी सहायतासे पुनः आ सके।

गङ्गा, यमुना और सरयूके तटपर गड़े हुए यज्ञयूप सद्धर्मियोंकी छातीमें ठुकी हुई कीलोंकी तरह अब भी खटकते हैं। स्कन्दगुप्तमें चतुर्थ अङ्कके पंचम दृश्यमें श्रमण कहता है—'विधर्मी विदेशी की शरणमें भी यदि प्राण बच जाँय और धर्मकी रक्षा हो········जिस राष्ट्र और समाजसे हमारी सुख शान्तिमें बाधा पड़ती हो' उसका हमें तिरस्कार करना ही पड़ेगा।[५]' धातुसेनका विचार है कि' अहंकारमूलक आतमवादका खण्डन करके गौतमने विश्वात्मवादको नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते, तो इतनी करुणाकी आवश्यकता क्या थी? उपनिषदोंकी नेति नेतिसे ही गौतमका आत्मवाद पूर्ण है।[६] प्रख्यातकीर्ति की मध्यस्थतामें एक ही मूलधर्मकी दो शाखाओंके रूपमें विकसित होनेकी वास्तविकताने तात्कालिक संघर्ष भले टाल दिया हो, पर युद्ध-वृत्ति स्वीकार करने वाले बौद्धोंके ह्रासकी

१. पृ० २३८ पं० १५-१८। २. पृ० २३६, पं० १०।
३. पृ० २६१, पं० ६-८।
४. स्कन्दगुप्त, अं० ४, दृश्य ५, पृ० ११६, पं० ८-१३।
५. पृ० ११७, पं० ९-१५। ६. पृ० ११९, पं० ३-१२

ओर स्पष्ट संकेत है। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' पुस्तकमें प्रसादने स्पष्ट लिखा है कि, ये विवेक और आनन्दकी विशुद्ध धारायें अपनी परिणतिमें अनात्म और दुःखमय कर्मवादी बौद्ध हीन सम्प्रदाय तथा दूसरी ओर आत्मवादी आनन्दमय रहस्य-सम्प्रदाय के रूपमें प्रकट हुई। अनात्मवाद से विचलित होकर बुद्धमें ही सत्ता मानकर बौद्धोंका एकदल महायानका अनुयायी बना। वैदिक बहुदेव पूजासे शून्यवादका समन्वय ही महायान सम्प्रदाय था। बौद्ध अनात्मवाद और वैदिक आत्मवादके मिश्रण-से मायावादका गठन हुआ। वास्तवमें इसीलिये जगत्को मिथ्या दुःखमय मानकर सच्चिदानन्दकी जगत्से परे कल्पना हुई। डा० राममूर्तिने अपने हिन्दी साहित्यके इतिहासमें लिखा है—बौद्धधर्मकी करुणा (या दुःखवाद) समग्र संसारको दुःख पीड़ित मानकर इससे विरत होनेकी सम्भावना प्रगट करती है, जबकि—प्रसादने काम मंगलसे मंडित श्रेयः सम्पन्न विश्वमें रहते हुए मानवता के विजय की कामना की है।

दक्षिणके श्रीपर्वतसे जिस मन्त्रवादका बौद्धोंमें प्रचार हो रहा था–वही धीरे-धीरे वज्रयानमें परिणत हुआ।[1] बौद्धोंने बुद्ध,धर्म और संघको छोड़-कर इस त्रिरत्नके स्थानपर कामिनी, काम और सुराको प्रतिष्ठित किया। धारणी मन्त्रोंकी योजनाकी।[2] बौद्ध विज्ञानवादी थे। पूर्वके ये विज्ञानवादी ठीक उसी तरह व्यक्तिगत स्वार्थोंके उपासक रहे, जैसे वर्त्तमान पश्चिम अपनी वैज्ञानिक साधनामें सामूहिक स्वार्थोंका भयंकर उपासक है।[3] प्रसादके उक्त विचार हैं। बौद्ध ह्रासके इस इति-हाससे यह सिद्ध है कि, वे बौद्ध धर्मकी दुर्बलतासे परिचित हैं। प्रसाद साहित्यमें करुणाका जो प्रसार है, वह बौद्ध दर्शनका प्रभाव नहीं अपितु शैव दर्शनकी मान्यताका परिचायक है।

बौद्धधर्म वास्तवमें मध्यम मार्ग है। क्योंकि वह दो अन्तोंका परिहार करता है। 'उच्छेद' और 'शाश्वत' दो अन्त होते हैं। जो कहता है–आत्मा है, वह शाश्वत दृष्टिके पूर्वान्तमें अनुपतित होता है। और जो जो कहता है—आत्मा नहीं है, वह उच्छेद दृष्टिके दूसरे अन्तमें अनुपतित होता है। दोनों अन्तोंका परिहार करनेके कारण यह मध्यमा प्रतिपदा

---

१. स्कन्दगुप्त, पृ० ६१, पं० १। २. पं० २-७। ३. पृ० ६२, पं० ११-१३।

मार्ग है। गौतमने यही कहा है—मैंने मध्यम मार्ग खोज निकाला है ………यह आर्य आष्टांगिक मध्यम मार्ग है।' अभिनव गुप्त पादाचार्यके 'तन्त्रालोक' प्रथम आह्निक श्लोक ८४ में इस मध्यमार्गका बड़ा ही सुन्दर विवेचन है। जयरथने अपने अद्भुत भाष्यमें इसका विशद विश्लेषण किया है। अभिनवगुप्त कहते हैं—'प्रकाशावस्थितं ज्ञानं भावाभावादि मध्यतः………तस्य सर्वं प्रसिद्धयति' जयरथका उदाहरण है—

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत्,
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते।
भावे त्यक्त निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत्,
तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यतिभावना॥

इस अतिभावनाकी मध्यावस्थामें स्थिति बना लेनेसे शिवतत्त्वका प्रकाशन होता है। छान्दोग्यमें भी दहरोपासनाके प्रसङ्गमें शून्य आकाशका उल्लेख है। उसी शून्यमें मध्यस्थिति होनी चाहिये। प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र १७मे मध्यविकाससे चिदानन्द उपलब्धिकी चर्चा है। प्रसादको भी यही मध्यावस्थान प्रिय है, वह 'मध्यमा प्रतिपदा' नहीं। इसके कई कारण हैं। बुद्धके चार आर्य सत्वोंमें वह प्रकाश नहीं, जो स्वप्रकाश शिवमें है। बुद्धके प्रतीत्यसमुत्पाद[1] जिसमें अविद्याको दुःखका मूल कारण और कारणोंकी परम्पराकी सर्जिका माना है और बारह प्रकारकी कारण-परम्पराका उल्लेख किया है, वह सब शैवागमके सदाशिव और मायाके सम्पर्कमें अन्तर्भूत हैं। प्रतीत्यसमुत्पादवादी बौद्धोंने तो आत्माके शाश्वत सिद्धान्त पर ही कुठाराघात किया है। "अय भिक्खवो परिपूरो बालधम्मो[2]" की घोषणा भारतीय मान्यतापर करकापातके ही सदृश है। बुद्ध धर्मके सार सर्वस्व निर्वाणकी स्थिति भी प्रत्यभिज्ञावादी जीवन्मुक्तिसे प्राप्त परामृतमयी अनुत्तर विमर्श दशाके सामने महत्त्व हीन है। जहां तक प्रज्ञा और करुणाके सिद्धान्तका प्रश्न है, ये दोनों सिद्धान्त भी औपनिषदिक ऋण हैं। प्रज्ञा तो 'प्रज्ञानं ब्रह्मकी' व्यतिरेक बुद्धिसे बुद्धको प्राप्त है और करुणा ! यह तो द्वैतमूलक उपासनाका प्राण है। श्रीकृष्णको आलम्बन मानकर जिस आनन्द और प्रेमकी सृष्टि व्यासने की, वहां गोपिकायें रोती रोती थककर

१. विशुद्ध मग्ग परिच्छेद १७। २. मज्झिमनिकाय १।१।२।

वृजिनार्णवसे उद्धारकी प्रार्थनामें ही प्रवृत्त होती हैं[१]। करुणा श्रुतियोंसे विमृग्य, मुकुन्द पदवी है। उद्धवको भावमुग्ध होकर कहना पड़ा है—

आसामहोचरण-रेणु-जुषाममीषां वृन्दावने किमपि गुल्म लतौषधीनाम्।
या दुष्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्[२]॥

यही करुणा आगे सर्वभूतहित-रतिरूपमें विकसित हो गयी है। प्रसादकी करुणा धाराका स्रोत वेद, उपनिषद् पुराणोंकी परम्परासे आने वाली करुणा ही है। विशाखका सत्यशील भिक्षु धर्मकी जो छीछालेदर करता है, उससे यह बात अक्षरशः सिद्ध हो जाती है कि, प्रसादके हृदयमें बौद्धों-के लिये कितना सम्मानजनक भाव था। अजातशत्रुमें गौतमके उद्देश्यकी पावनताकी ओर ध्यान केन्द्रित किया गया है। उसमें केवल यह दिखाने-का प्रयत्न है कि, हिंसाको मान्यता देने वाले आर्यावर्तको गौतम बुद्धने किस प्रकार प्रभावित किया। उसमें प्रसादकी मान्यताका दिग्दर्शक कोई प्रयास नहीं है।

प्रसादने अपने साहित्यमें बौद्धधर्मके जो चित्र प्रस्तुत किये हैं—वे सचमुच विरूप और विकृत हैं। केवल दो स्थल ऐसे हैं, जहां लगता है कि, उन्होंने उसके प्रति अपनी आस्था व्यक्तकी है। प्रथम स्थल है अजात शत्रु नाटक और दूसरा स्थल है 'लहर' की 'अरी वरुणाकी शान्त कछार' कविता। यह कविता जागरण अंक १, ११ फरवरी सन् १९३२ में सर्व-प्रथम प्रकाशित हुई थी। इस कविताका मूल स्वर यही है कि, इस भूमिपर सदा ऐसे लोग आये हैं, आते रहे हैं। यह काशीका इतिहास ही है। तात्का-लिक वर्तमानमें अरी वरुणाकी कछार तेरे द्वारपर तथागत भी आया था। अपने सन्देशोंको लेकर, प्राणियोंके उद्धारका पावन उद्देश्य लेकर सुगति सुधारनेका सन्देश देने ही वह आया था। पर इससे हुआ क्या? इस कवितासे बौद्ध धर्मका समर्थन नहीं होता। जो बात जैसी है-वैसी व्यक्त करनेमें किसी प्रकारके संकोचके लिये कोई कारण ही नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि, मूलगन्ध कुटी विहारके आयोजकोंके आग्रहपर यह कविता बनी थी। तीसरी बात कि, भारतीय सनातन धर्मने तो बुद्धको

१. श्रीमद्भागवत १ स्कन्ध १० अ० ४७। ३१-३२।
२. अ० ४७। ६१।

विष्णुका अवतार ही मान रखा है। अवताररूपमें उनकी सश्रद्ध प्रार्थना भी होती है[१]। श्रीकृष्णने स्पष्ट कहा है—संसारमें जो कुछ भी विभूतिमान् सत्य है, वह भगवान्का ही अंश है[२]। चौथी बात यह है कि, यह महत्ता अपरोक्षतः वरुणाकी कछारको मिलती है। उसके द्वारका ही यह माहात्म्य है। साध्यकी प्राप्तिमें साधनका महत्त्व अकल्पित है। साध्यकी सिद्धि की यहां चर्चा भी नहीं है। हाँ स्वरूपका संकेत मात्र है।

रही अजातशत्रु नाटक की बात। प्रसाद असाधारण साहित्यकार थे। उनका बौद्धधर्मका अध्ययन भी व्यापक था किन्तु उससे वे कभी प्रभावित नहीं हुए। अजातशत्रुके कथा प्रसंगसे ही यह ज्ञात हो जाता है। किसी किसी सिद्धान्तके या धर्मके मंडन और खण्डन दोनोंसे उसकी गहन जानकारी का ज्ञान होता है। इतिहासके रहस्योंके उद्घाटक जिज्ञासु प्रसादका स्वाध्याय और उनके प्रबुद्ध संस्कार दोनोंने भारतीय ज्ञान परम्पराकी समस्त प्रवृत्तियोंका मर्म उनके सामने खोलकर रख दिया। वेदकी यह वाणी है कि, सरस्वती जब प्रसन्न होती हैं, तब वत्सके लिये सवत्साके स्तनोंकी तरह, प्रियके लिये प्रेयसीकी तरह स्वयम् अपने रहस्यको खोलकर रख देती है।[३] प्रसाद सरस्वतीके वरद पुत्र थे। उनके समक्ष विश्वधर्मका रहस्य स्पष्टतः उद्घाटित था। गौतमबुद्ध राजवंशके थे। कोशल, कौशाम्बी और मगध तथा काशीके राजघरानोंके सम्पर्कमें रहना स्वाभाविक भी था। वहां उन्हें अपमान भी मिला। उन्हें ढोंगी मुनिकी पदवी भी मिली और द्वेष पूर्ण छलनामयी राजनीतिने परिस्थितिको इसप्रकारका मोड़ दिया, जिसमें बुद्धको सफलता मिल गयी। बुद्धके सिद्धान्तोंको राज्याश्रयमें विकसित होनेका आधार मिल गया। वह युग जन राजनीतिका नहीं था। राजतन्त्रमें यही होता है। वह राजधर्म बन गया। जनताने उसे कभी नहीं अपनाया। अजातशत्रु की सौतेली बहन ही सबसे पहले बुद्धसे प्रभावित प्रतीत होती है। छलना अपने पुत्रकी हिंसा नीतिकी समर्थिका रही है। कोशलराजकुमार विरुद्धक अजातका

---

१. श्रीमद्भागवत स्कन्ध १, अध्याय ३।२४।

२. श्रीमद्भगवद् गीता, अध्याय १०।४१।

३. मुण्डक खण्ड २। ३, ऋग्वेदीय सरस्वती रहस्योपनिषद् मं० ८-९।

समर्थक है। परिस्थितियोंने भारतमें यवन मुसलमान अंग्रेज राज्य और धर्म यहाँ ला दिया। इससे इन राज्यों और धर्मोंका कोई कवि यदि वर्णन करे, तो वह समर्थक या प्रभावित नहीं कहा जा सकता।

जगत्‌को असत्य मानने वाला साहित्यकार हो ही नहीं सकता। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू' के अनुसार कवि एक लोकोत्तर सृष्टिका सर्जक है।[१] वह पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति, यदेवेह तदमुत्र[२] का पक्षपाती है। यही कारण है कि प्रसाद घोषणा करते हैं—

अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो, ॥[३]

यह पद्य शाश्वत 'चरैवेति चरैवेति' का प्रतिपादक है। यह साहित्य भी है और दर्शन भी। 'हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्गसे स्वयं प्रभा समुज्ज्वला प्रबुद्ध शुद्धभारती'की पुकार देशवासियोंको सुनाने वाला मनीषी प्रसाद स्वातन्त्र्य शक्तिके वैचित्र्यावभासका द्रष्टा है।[४] मिथ्याके मरणमन्त्रका मालाकार नहीं। आश्चर्य तो तब होता है, जब प्रसादके कृष्णभी प्रत्यभिज्ञावादी भाषाका प्रयोग करते हैं। जनमेजयके नागयज्ञमें ही अर्जुनसे वे अपने विचार प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि, द्वन्द्व कल्पित है, भ्रम है। उसी का निराकरण आवश्यक है। दिनका अप्रत्यक्ष होना ही रात्रि है, आलोकका अदर्शन ही अन्धकार है। ये विपक्षी द्वन्द्व अभाव हैं। अभावकी कोई सत्ता नहीं होती।[५] यही कारण है कि, जीव दुःख की भँवरमें भी आनन्दकी उत्कट अभिलाषा करता है। रात्रिके अन्धकारमें दीपक जलाता है।

जिन पदार्थों की शक्ति अप्रकाशित रहती है, उन्हें लोग जड़ कहते हैं। वे जब किसी विशेष मात्रामें मिलते हैं, तब उनमें एक शक्ति उत्पन्न होती है। स्पन्दन होता है, जिसे जड़ता नहीं कह सकते। वास्तवमें

---

१. ईशोपनिषद् १।८। २. कठ० २।१।१०।
३. चन्द्रगुप्त, पृ० २३१, पं० १४-१५।
४. तन्त्रालोक, आ० २।१००।
५. जनमेजयका नागयज्ञ १।१, पृ० ११, पं० २२-२६।

सर्वत्र शुद्ध चेतन है। जड़ता कहां ? यह तो एक भ्रमात्मक कल्पना है। ……उस चेतनके अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं जाती और न उसका चेतन स्वभाव उससे भिन्न होता है। वही एक अद्वैत है। यह पूर्ण सत्य है कि, जड़के रूपमें चेतन प्रकाशित होता है। अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है। असत्यका भ्रम दूर करना होगा। मानवताकी घोषणा करनी होगी। सबको अपनी समतामें ले आना होगा।[1] यह सारी घोषणा गीता तत्त्व दर्शनके[2] प्रतिकूल और प्रत्यभिज्ञावादके प्रकाश-अप्रकाश, जड़-चेतन[3], भाव-अभाव[4], बिम्ब-प्रतिबिम्ब[5] भावकी मात्र व्याख्या है। वे अभिनव गुप्तके तन्त्रालोककी भाषा बोल रहे हैं। वन्यप्रान्तमें मानवताका विकासकर आनन्दके प्रसारकी परिभाषाका उद्घाटन[6] कर रहे हैं। अर्जुनसे वे सुधामें मिले हुए गरलको निकालकर पीनेका आग्रह करते हैं और साम्य के लिये विषमतामें आग लगा देने की सम्मति प्रदान करते हैं।[7]

आद्य शंकराचार्यने जिस 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्तका प्रवर्तन किया[8], उसके अनुसार ब्रह्मही पारमार्थिक सत्ता है। जगत् मिथ्या है—माया और अविद्याका प्रसार है। तत्त्व विवेकके सम्बन्धमें उनका कहना है कि 'तत्त्वविवेको नाम आत्मा सत्यम्। तदन्यत्सर्वं मिथ्येति ज्ञानमेव।[9]' तत्त्वबोध नामक अपने लघु ग्रन्थमें उन्होंने आत्मा या ब्रह्मकी परिभाषा यों दी है :—'स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरेभ्यो व्यतिरिक्तः पंचकोशातीतःसन् अवस्थात्रयसाक्षी चतुर्विंशतितत्त्वाधारः अविद्यामायोपाधिना-प्रतीयमानाभ्यां जीवेश्वराभ्यां भिन्नः सच्चिदानन्दरूपो यस्तिष्ठति स आत्मा ब्रह्मेति।[10]' उनके अनुसार आनन्दकी परिभाषा है–देशकाल वस्तु-परिच्छेदशून्य आत्मा आनन्दः[11]।' वे मायाको ब्रह्माश्रया[12] मानते हुए भी

१. पृ० १२, पं० १-२०।
२. तन्त्रालोक आ०२ । ९-२०, ३०, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा २।३।
३. आ० १। १७६, ९। १४४। ४. आ० ५। ९२, ९। १९५
५. आ० ३। १३-६३।
६. जनमेजयका नाग यज्ञ ११९, पृ० १२, पं० २६-२७।
७. पृ० १४, पं० ७-९।
८. तत्त्वबोध पृ० ७, वचन ७, १४। ९. पृ० १०, वचन १९।
१०. वचन २१। ११. तत्त्वबोध, वचन २१, ९७। १२. वचन ९९।

सान्त मानते हैं और पंचीकरण सिद्धान्तके अनुसार पंचीकृत पंचमहाभूतों-से प्रत्येक ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति मानते हैं। शरीराभिमानी जीव और अनन्त ब्रह्माण्डाभिमानी ईश्वर है। इस तरह पिण्ड ब्रह्माण्ड दोनों अभिमान मूलक हैं। जीवेश्वरकी भेद दृष्टि आत्मामें ही कल्पित है। जब तक उपाधिभेदसे जीवेश्वर भेदबुद्धिकी निवृत्ति नहीं होती, तबतक जन्म-मरणरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होती। इसप्रकार ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव केवलम्' इस शास्त्रोपदेश, गुरूपदेश, या स्वानुभवसे भी जो ब्रह्मतत्त्वको जान लेता है, उसे सर्वभूतोंमें ब्रह्मबुद्धि उत्पन्न हो जाती है और वही जीवन्मुक्त तत्त्ववेत्ता है।[१]

ब्रह्मसूत्र भाष्यके आनन्द मयाधिकरणमें आचार्य शंकरने अपना विचार प्रगट करते हुए कहा—"द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते। नामरूप विकार भेदोपाधि विशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।" इसका समर्थन वृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय आरण्यक, श्रीमद्भगवद् गीता आदिके उद्धरणोंसे किया है। उपास्य उपासकका सार व्यवहार अविद्या-वस्थाका द्योतक है। उपासना अभ्युदय, ब्रह्ममुक्ति, और कर्मसमृद्धि के लिये ही होती है। जन्मसे लेकर अनावृत्ति पर्यन्त जीवनका संचरण इस-मतमें मिथ्यामूलक और असत्य हो जाता है।[२] प्रत्यभिज्ञावादीको पदे-पदे शिवत्वका बोध होता है। वह बोधमी बड़ाही मनोहर! मित्रवत् या दर्म्पात्तिवत्। क्षेमराजका यह उदाहरण इसी प्रसंगमें काव्य और कला तथा अन्य निबन्धमें प्रसादने उद्धृतकिया है—

'प्राप्ते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्त्योर्जीवात्मपरमात्मनोः[३] ॥'

यही समरसानन्द प्रसादको अभीष्ट है, शाङ्कर वेदान्तका शुष्क माया-वाद नहीं! विवर्त्तवाद नहीं। यह सत्य है कि, आचार्य शङ्कर भी ब्रह्म बुद्धि हो जानेपर जीवन्मुक्तता की सर्वातिशायी दशापर पहुँचनेकी बात स्वीकार करते हैं किन्तु यह उनकी चिन्तनशैलीका चमत्कार है। जगत्

---

१. तत्त्वबोध वचन १४०, १४४, १५३, १६३ इत्यादि।

२. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, अध्याय १, पाद १, आनन्दमयाधिकरण, पृ० ३४

३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५६, पं० १-२।

को असत्य और मिथ्या मानकर वे प्रथम ही बुद्धिभेद उत्पन्न कर देते हैं। वृहदारण्यक श्रुति ४।३।१० का उद्धरण देकर ब्रह्मसूत्र के तृतीयाध्यायके द्वितीयचरणके तृतीय सूत्रमें मायामय विश्वको उन्होंने स्वप्नवत् समर्थित किया है। यह सत्य है कि, स्वप्नको आधार मानकर कोई साधना उपासना अभ्यास या चिन्तन आदि नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि, शांकर दृष्टिके विरुद्ध रामानुज और वल्लभने अपना प्रबल पक्ष प्रस्तुत किया और रामानुजने तो यहां तक कह दिया कि, उपनिषदोंमें निर्गुण नहीं अपितु सगुण ब्रह्मकी ही स्थापना की गयी है।[1] शङ्करको प्रच्छन्न बौद्ध भी कहा गया।[2]

शांकर वेदान्तमें ब्रह्म जितने शब्दोंके द्वारा परिभाषित किया गया है—आत्माकी जो स्थिति बतायी गयी है–उसमें सबसे बड़ादोष है–ब्रह्मकी निष्क्रियता। उसमें कर्त्तृत्व नहीं है। प्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार परम शिवका स्वभाव ही विमर्श है। प्रकाश है। स्वातन्त्र्य शक्ति समन्वित है ८। वह शक्ति शक्तिमान् सब कुछ है। चित्, आनन्द, एषणा, ज्ञान और क्रियारूप पञ्चस्वभावके[3] अनुसार वही शिव है, शक्ति है, इच्छा है, ज्ञान है और क्रिया भी है। शाम्भव, शाक्त, मन्त्रमहेश, मन्त्रेश्वर मन्त्र भी वही है। वह परमप्रकाश है। विश्वरूपमें वही व्यक्त है। तन्त्रालोकके जड़ और चितिके सभी प्रसङ्गोंमें अनेकशः इस तथ्यको स्पष्ट किया गया है। आह्निक ९ के १४४ श्लोकमें स्पष्ट है—'चिदधिष्ठानके विना जड़ क्षम नहीं हो सकता। यहां तककि अणु भी, जड़-पुद्गल भी, पशु-पाशबद्ध भी सभी शिव ही हैं[4]। शिवके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। उसका कर्त्तृत्व स्वभाव है। उसकी क्रिया ही ज्ञान है। ज्ञान ही क्रिया है। ज्ञानका क्रियाकी ओर उन्मुखता ही इच्छा है। वही उन्मेष है। वह इच्छाज्ञान और क्रियामय स्वातन्त्र्यशक्ति सम्पन्न स्वतन्त्र 'स्व' में स्वतः स्थित रहता हुआ सर्वको

१. हिन्दीसाहित्यका इतिहास–राममूर्ति शर्मा, पृ० ५७-६०।

२. ब्रह्मसूत्र, रामानुज भाष्य, सूत्र प्रकाशिका,
छायावाद काव्य तथा दर्शन पृ० ११४, पं० २४।

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा १।८ का० १-११

४. तन्त्रालोक आ० ९।५०।

आत्मसात् करता है। जीव ही शिव है। अपूर्ण अहन्ता पूर्णाहन्ता परामर्श-में परिणत हो जाती है। प्रत्यभिज्ञा दर्शनमें आत्मा पंचकृत्य कर्तृत्व सम्पन्न है[१]। शांकर वेदान्तके अनुसार आत्मामें इसप्रकारका वैशिष्ट्य ही नहीं है। साथ ही इसका सबसे बड़ा दोष शक्तिको मिथ्या मानना है। माया ब्रह्मके आश्रयमें रहते हुए भी मिथ्या कैसे हो सकती है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शनमें शिव और शक्ति दो तत्त्व केवल उपचारके लिए हैं। प्रत्यभिज्ञा हृदयमें 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः[२] और 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वम्[३] उन्मीलयति' सूत्रों द्वारा शिवस्वातन्त्र्यवत् शक्तिस्वातन्त्र्यका प्रति-पादनकर दोनोंके अद्वैतबोधको शश्वत् बोध मान लिया गया है। बोध महा समुद्रमें उल्लासिनी ऊर्मिमालायें ही तो विश्व है[४]। जल और बोचि-अवस्था भेद मात्र है, वास्तविक भेद नहीं है। इसलिये मिथ्यात्वका मिथ्याप्रकल्पन इस दर्शनमें नहीं। वास्तवमें वेदान्त व्यवहारमें खरा उतरने वाला दर्शन नहीं है। प्रसाद इन सारे दृष्टि विन्दुओंसे पूर्णतया परिचित हैं। स्वभावतः उनकी रुझान प्रत्यभिज्ञादर्शनकी ओर हुई। साथ ही वेदान्त उनके संस्कार, पारिवारिक मान्यताओं और नव चेतनाके विरुद्ध पड़ता था। इसलिये उन्होंने प्रत्यभिज्ञावादको अपने समस्त साहित्य में बड़ी सुन्दरतासे उसी तरह मिला दिया है, जिस तरह नीरको क्षीरमें मिश्रित कर दिया जाता है। यह तो 'हंस' बननेपर विवेक बुद्धिसे ही जाना जा सकता है कि, नीर और क्षीरका कियदंश कहां है, किस प्रकारका है और उसमें लावण्य और माधुर्य कितना है ?

—डॉ० परमहंस मिश्र

---

१. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् सूत्र १०।
२. सूत्र १।
३. सूत्र २।
४. तन्त्रालोक आ०३। १०२।

विषयानुक्रम

●

प्रसाद और प्रत्यभिज्ञादर्शन

प्रसाद

: १ :

प्रसाद साहित्यके संदर्भमें दर्शनके अध्ययनका प्रकार

कवि क्रान्तदर्शी होता है। वह शब्दार्थका संविधाता है[१]। काव्य संसारका वह प्रजापति होता है। समस्त विश्व और विश्वातीत उसकी प्रतिभाको परिधिमें आ सिमटते हैं। वह स्वयं 'स्व' और 'पर' के सहभावका अनुभव कर लेता है। सहितके सौहित्यको साहित्य में व्यक्त कर लेता है। 'संगच्छध्वम्, संवदध्वम, संवो मनांसि जानताम्[२]' उसकी श्रुति है। सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै[३] उसकी प्रेरणा है और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' उसके मंगलमय उद्गार हैं। इसीलिये काव्यका, कविकर्मका एक अर्थ साहित्य भी है। साहित्यमें सत्यका आधान होता है। साहित्य सत्यका सुकृत[४] है। साहित्यमें सत्य सहृदय-हृदय-संवेद्य रस रूप में अवतरित होता है। रसकी अनुभूति साहित्यमें ही होती है।

सत्यके रूपको 'रसो वै सः[५]' की आनन्दानुभूतिके स्तर के अतिरिक्त देखनेकी आकांक्षा का आग्रही व्यक्ति तर्क, चिन्तन, मनन, संकल्प और विकल्पके सहारे सिद्धान्तकी स्थापना करता है। सिद्धान्त का यह स्थापन स्वाध्याय है और यह प्रवचन भी है[६]। यहीं विज्ञानका आरम्भ होता है, संज्ञान और प्रज्ञानका भो आरम्भ होता है और ऐसे सिद्धान्तके अनुसार ही प्रज्ञानको उस रूपसे स्वीकार कर लेते हैं[७]। सिद्धान्त ही विचार बनते हैं और सिद्धान्त ही शास्त्र बन जाते हैं। शास्त्र अनुशासन करते हैं।

---

१. ईशावास्योपनिषद् ८।

२. कृष्णयजुर्वेदीय नारायणोपनिषद् शान्तिपाठ।

३. तै० उपनिषद्। वल्ली २ (शान्तिपाठ)।

४. तैत्तिरीय अ०७। वल्ली २

५. तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली २ अनुवाक ७।

६. वही। वल्ली १ अनु० ९

७. ऐतरेयोपनिषद् अध्याय ३। १–४।

अनुशासन मन और बुद्धिका होता है। इस अनुशासनके द्वारा 'स्व' की रस सत्तामें सर्वकी आनन्ददायिनी अवतारणा नहीं वरन् तर्क, जिज्ञासा, समीक्षा और परीक्षाके द्वारा विश्लेषण और विज्ञानके आधारपर भेद, भेदाभेद और अभेदका कोटिक्रम कल्पित होता है। स्वाध्याय और प्रवचनके इस औपनिषदिक दृष्टिकोणमें साहित्य और दर्शन दोनोंके द्वैविध्यका निर्वचन है। साहित्यमें दर्शनका अध्ययन कोटिक्रमके विश्लेषणके अनुसार अन्वय और व्यतिरेक[१], वाद तर्क, जल्प और वितंडाके आधारपर नहीं, शास्त्रार्थ विनिर्गमन सरणीके अनुसार नहीं वरन् स्वाध्यायके आधारपर ही सम्भव है। कवि 'स्व' के स्वरूपका विस्तार करता है। काव्य में विमर्श, आमर्श, परामर्श और प्रत्यवमर्शके आधारपर प्रकाशका[२] प्रसार करता है। चित्के आवरणको कुशलतासे अनावृतकर चेतनाका संचार करता है। इसप्रकार युगबोध को 'परबोध' या सर्वबोधमें समाहित कर लेता है। इसी आधार पर साहित्यमें दर्शनका अध्ययन किया जा सकता है। साहित्यका उद्‌भव सृष्टिके स्पन्दनकी पहली क्रियासे प्रारम्भ होता है। क्रियामें इच्छा और ज्ञान दोनों मूलतः निहित होते हैं। ज्ञानकी ज्योतिष्मती उषाका प्रकाश क्रियामें अनिवार्यतः विद्यमान रहता है।

साहित्यके उद्‌भव की इस प्रक्रियाके दो पक्ष हैं। १—अभिव्यक्ति और २—अनुभूति। अभिव्यक्ति सहृदयोंके लिये उतनी व्यापक महत्ता नहीं रखती, जितनी कि अनुभूति[४]। अनुभूति आत्मनिष्ठ होती है। जहां आत्मनिष्ठता होती है, आध्यात्मिकता आ ही जाती है और आध्यात्मिकताका तात्त्विकदृष्ट्या विवेचन ही दर्शन कहलाता है। जहां आत्मानुभूतिकी पूर्णता होती है, प्रधानता होती है, वहीं अभिव्यक्ति पूर्ण होती है। अभिव्यक्तिकी पूर्णता ही काव्यगत सौन्दर्यका मूल उपादान तत्त्व बन जाती है। इसप्रकार काव्य और साहित्य तथा दर्शन एक भूमिपर अवतरित हो जाते हैं।

---

१. कारिकावली, सिद्धान्त मुक्तावली का०१४२।

२. तन्त्रालोक आ० २। ९, २०, ३०। आ० ३। १–२, ११६–११७, १२०–१२१।

३. तन्त्रालोक आ०३। १०६, पृ० ११३, पं० ९–१२।

४. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध (काव्य और कला) पृ०४४, पृ०२४–२५।

प्रसादने तुलसी और सूरके राम और कृष्णके वात्सल्य-वर्णनोंका उदाहरण देकर इस विषयको अत्यन्त स्पष्ट किया है[1]। काव्यकी परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा—'काव्य आत्माकी संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञानसे नहीं है। वह एक श्रेय-प्रेयमयी रचनात्मक ज्ञानधारा है। विश्लेषणात्मक तर्कोंसे और विकल्पके आरोपसे भिन्न आत्मा की मनन क्रिया जो वाङ्मय रूपमें अभिव्यक्त होती है, वह निःसंदेह प्राणमयी ओर सत्यके प्रेय श्रेय दोनोंसे परिपूर्ण होती है। इसी कारण हमारे साहित्यका आरम्भ काव्यमय है। वह एक द्रष्टाका अथवा मनीषी कविका सुन्दर दर्शन है[2]।

उनका यह दृढ़ विचार है कि 'सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं। वह एक शाश्वत चेतना है, या चिन्मयी ज्ञानधारा है[3]। इसी चिन्मयी ज्ञानधाराका सम्पर्क जब संकल्पात्मक अनुभूतियोंकी विमर्श-दशासे होता है, तब काव्यका निर्माण हो जाता है और वहीं विमर्श जब अहंता और इदन्ताके परामर्शके प्रकाशसे संवलित होकर बैखरीको क्रमशः मध्यमा, पश्यन्ती और परावाक्[4] के परामृतसे अभिषिक्तकर वैचारिक विभूतिका प्रतिनिधित्व करता है—तब दर्शन बन जाता है। तब साराका सारा रहस्य अद्वैतकी सीमाका स्पर्श कर लेता है। उसी अवस्थामें समरसता और आनन्दवादका स्वारस्य, दर्शन और साहित्यको एक भूमि पर प्रतिष्ठित कर देता है। प्रसाद–साहित्यका मुख्यस्वर साहित्यकी भूमिमें समरसता और आनन्दको ही प्रतिष्ठित करना है[5]। आगमके अनुयायियोंने निगमके आनन्दवाद का ही अनुसरण किया है, विचारोंमें भी और क्रियाओंमें भी[6]।

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध (काव्य और कला) पृ० ४४, पं० ९–२३।

२. वही, पृ० ३७, पं० २५–२६। पृ० ३८, पं० १–६।

३. वही, पृ० ३८, पं० १५–१६।

४. तन्त्रलोक आ० १। २७१।

५. कामायनी, आनन्द, पृ० २९४, पं० १७–२०।

६. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध (रहस्यवाद) पं ९–१३।

साहित्य जब आत्मविश्रान्तिप्रद आमोदानन्द सौन्दर्य परामृत रसको[१] अपने अन्तरालमें संजोकर अरविन्दकी तरह मकरन्द माधुरीका आधान कर लेता है, तब वह अपनी चरमसीमाको पा लेता है। उसी भूमिपर वह ब्रह्मानन्द सहोदर बन जाता है। प्रसादने वर्त्तमान हिन्दी साहित्यको इसी दृष्टिसे निरखा, परखा और लिखा—वर्त्तमान हिन्दीमें इसी अद्वैत रहस्यवादकी सौन्दर्यमयी व्यञ्जना होने लगी है। यही साहित्यमें रहस्य-वादके स्वाभाविक विकास का रूप है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्यके द्वारा अहम् का इदंसे समन्वय करनेका सुन्दर प्रयत्न है[२]'। इस भूमिपर अहन् तथा इदम्को समन्वित दृष्टि दर्शनके रूपमें व्यक्त हो जाती है।

ज्ञानोन्मेषके अरुणोदयमें[३] अन्तःकरणकी विविध वृत्तियोंका वागात्मक ब्रह्मसे[४] जो प्रथम समन्वय हुआ, वह कितना रमणीय और मधुर रहा होगा—यह आज केवल कल्पनाका विषय है। 'अथ' के अन्वेषणमें तथा इतिके अनुसंधानमें कविकी वाणी वरेण्य-वीणापाणिका वरदान लेकर इस तथ्यका रहस्योद्घाटन करनेके लिये उद्यत हो उठती है और कवितामें वही वाणी स्फुटित हो जाती है :—

चल पड़ा नियति चक्र,
चलरहा नियति चक्र,
यह रहा, अनन्त पथ
इति नहीं, मिला न अथ
क्रम चला, चला कभी—
चल रहा, विचित्र रथ[५] !
गतिविचित्र, यतिविचित्र
अतिविचित्र, सरल वक्र ! चल रहा नियतिचक्र।

---

१. तन्त्रालोक, आ० ३। ९२–९५।
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध (रहस्यवाद) पृ० ६८, पं० १–५।
३. कामायनी, आमुख, पृ० ३, पं० ११।
४. श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० १।७, छान्दोग्य अ० ७, खण्ड २।
५. स्वरचित महाकाव्य 'विश्वामित्र' से।

नियति चक्रके इस चंक्रमणमें व्यक्तिकी आश्चर्यमूलक चेतनाके साथ प्रवृत्तिका सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। मानवमन मनोवैज्ञानिक अन्वेषणके द्वारा प्रत्यक्षके आवरणका भेदन करता है[1]। उसके अन्तरालमें चिन्ता, हर्ष, विषाद, क्रोध, निर्वेद, लोभ-मोह, आनन्द आदि बहुतसे भेद स्पष्टरूपसे सामने आते हैं[2]। प्रसादकी यही भेदवादिता 'चित्राधार'से आगे बढ़कर कामायनीके सर्गोंमें समाहित हो जाती है और मानव मनोविज्ञानको एक पावन परिसर प्रदान करती हुई समरसताका संदेश दे जाती है[3]। इसीलिये प्रसादका साहित्य दर्शनकी दृष्टिका प्रकाश विकीर्ण करता हुआ जान पड़ता है। वह रहस्यके अन्तरालमें उसके भीतर पहुँचकर कुछ देखना चाहता है। क्यों देखना चाहता है? इसलिये कि, वह स्वयं भी जिस नाम और रूपसे आवृत है[4], उसके अतिरिक्त कुछ दूसरा ही है। वह अपनी उसी आत्मीयताको परमशिवके विस्तारमें खोजता है। प्रकृतिके प्रत्यक्ष प्रसारमें वह अपनी प्रवृत्तियोंका पोषण करता है अवश्य, किन्तु इस बात के लिये वह अनवरत आकुल रहता है कि, क्षितिजके उस पार नियति नटी किस रहस्यका जाल बुन रही है? एक विकासमयी सत्ताका संकेत उसे विशिष्ट लालसासे संवलित करता रहता है[5]।

प्रत्येक मनुष्य दृश्य या अदृश्य जगत् विषयक, कतिपय श्रद्धाओं, विचारों तथा कल्पनाओंका एक समुदाय मात्र है। निखिल मानवीय कार्य विधानोंकी आधारशिला मानवीय विचार ही हैं[6]। विचारसे ही आचारकी उत्पत्ति होती है और आचारसे ही प्रकृतिके पूर्ण पर्यवेक्षणकी, ब्रह्मके या जगत्के वास्तविक स्वरूपसे परिचित होनेको निष्ठा उत्पन्न होती है। विना देखे-निरेखे, वस्तुकी वास्तविकताका ज्ञान हो नहीं सकता। इसीलिये दर्शन शब्द चाक्षुष-प्रत्यक्षकी सीमाको पारकर ज्ञानसापेक्ष अन्तर्दर्शनका भी पर्यायवाची बन गया है।

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय ७, खण्ड ३।
२. चित्राधार, पृ० १४५, मानस कविता, पं० १–१८।
३. कामायनी, आनन्द, पृ० २९४, पं० १७–२०।
४. छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय ७, पृ० ९।
५. कामायनी, आशा, पृ० २८, पं० १–४।
६. भारतीय दर्शन, (बलदेव उपाध्याय), पृ० ५, श्रीमद्भगवद् गीता अध्याय १७। ३।

जब दर्शन मानवमनका, मानवज्ञानका शासन करने लग जाता है, तब वह शास्त्र बन जाता है। दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम् इसका व्युत्पत्ति-मूलक विग्रह है। प्रश्न होता है—क्या देखा जाय? वस्तुकी तीन अवस्थायें हैं। भूत समुदायभी तीन अवस्थाओंमें हो अवस्थित है। १—अव्यक्तादि, २—व्यक्तमध्य और ३—अव्यक्तनिधन[१]। दृश्य जगत्के अतिरिक्त अव्यक्तसत्ता और अव्यक्त अस्तित्व क्रान्तदर्शी ऋषियोंके प्रिय विचारणीय विषय रहे हैं। विचारक यह सोचनेके लिये विवश है कि, वस्तुका, व्यक्तिका सच्चा स्वरूप क्या है? जड़का जड़त्व और चेतनका चेतनत्व क्या है? ऐहलौकिक आचारसे पारलौकिक आचारका क्या सम्बन्ध है? इस आकर्षक एवं हृदयहारी विश्वका व्यापक सौन्दर्य, इसके बहिरंगका यह मनोहारी रूप, इसके अश्य दृअन्तरङ्गसे किसप्रकार समवेत होता है?

ये ऐसे जीवन्त प्रश्न हैं, जिनके समाधानमें युगोंसे मानव मस्तिष्क जुटा हुआ है। इस समाधानमें ही मानव मनीषाके दो मोड़ उपस्थित होते हैं। १—साहित्य और २—दर्शन। साहित्य सहितका भाव है। सहितयोः शब्दार्थयोः भावः व्यापारः साहित्यम्—इसका विग्रह है। हितके सहित जो वर्तमान हो, वह साहित्य है। व्यक्तिका समष्टि सम्बन्धी हितभाव शेष सृष्टिसे उसे सम्पृक्त करता है। वह अपने स्वका विस्तार 'पर' में करता है अथवा स्वको परमें परिणत कर लेता है[२]।

यह समग्र सृष्टि किसी महाकविकी कविता है। यह अमर काव्य है। यह अजर है। इसका देखना जीवनमें प्रेरणा प्रदान करता है। वेद इसे देखनेका आदेश देता है 'पश्य देवस्य काव्यम् न ममार न जीर्यति'के अनुसार यह विश्व, देवका एक दिव्य काव्य है, जो अमर और अजर है। इस देव-काव्यका रचयिता भी विलक्षण निर्माता है। इसको देखनेवाला शाश्वत सम्वत्सरोंसे यथावत् अर्थोंका विधान करता है। वह मनोषी और स्वयम्भू है[३]।

कवि काव्य संसारका प्रजापति होता है। अपनी रुचिके अनुसार

---

१. श्रीमद्भगवद् गीता, अ० २। २८।

२. कामायनी, आ०, पृ० २८७, पं० ९–१६। पृ० २८८, पं० १–२०।

३. ईशावास्य उपनिषद् ८।

वह काव्य-विश्व का परिवर्तन करता है[1]। उसे स्व 'पर' के हितका सदैव ध्यान रहता है[2]। कविता व्यष्टि और समष्टि सबके लिये प्रयोजनीय है। 'कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि' संसारकी सभ्य और असभ्य सभी जातियोंमें पायी जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता अवश्य होगी। इसका कारण क्या है ? बात यह है कि, मनुष्य अपने ही व्यापारोंका ऐसा घना मण्डल बांधता चला आ रहा है, जिसके भीतर फंसकर वह शेष सृष्टिके साथ अपने हृदयका सम्बन्ध कभी-कभी नहीं रख पाता, इस बातसे मनुष्यकी मनुष्यता जाती रहनेका डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृतिको जागृत रखनेके लिये कविता मनुष्य जातिके साथ लग गयी है। कविता यही प्रयत्न करती है कि, शेष प्रकृतिसे मनुष्यकी दृष्टि फिरने न पावे।''''कविता सृष्टि सौन्दर्यका अनुभव कराती है[3]। इससे स्पष्ट है कि, मनुष्यको शेष सृष्टिके साथ अपने हृदयका सम्बन्ध स्थापन परम आवश्यक है। हृदय स्थापनसे सत्यका, सुन्दरका और शिवत्वका दर्शन होता है। 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की उक्ति (द ट्रथ्, द गुड एण्ड द ब्यूटीफुल) इसी अर्थमें व्यवहृत होती है[4]। श्रीमद्भगवद् गीता का भी विश्वके लिये यही सन्देश है।[5]

सत्य, शिव और सौन्दर्य इन तीनों प्रेरणाप्रद शब्दोंमें सौन्दर्यका विशेष महत्त्व है। सौन्दर्यसे ही आकर्षण उत्पन्न होता है। सौन्दर्य हो कविताका सर्वस्व है। साहित्यके सौहित्यका संवाहक सौन्दर्य ही है। सत्य तो यह है कि, सौन्दर्यकी इस महत्ताको स्वीकार करते हुए भी भारतीय आत्माकी परितृप्ति रूप-सौन्दर्यसे नहीं होती। पार्वती भगवान् शंकर की प्राप्तिके लिये माता-पिता, पुरजन-परिजन सबका परित्यागकर तपस्यामें संलग्न होती हैं। रूप सौन्दर्यको जबतक वे साधन मानकर तपस्या रत रहती हैं— असफल रहती हैं। काम दग्ध होता है और पार्वतीके मनमें रूप-सौन्दर्यके प्रति स्वाभाविक अनास्थाका उदय होता है।

---

१. ध्वन्यालोक (आनन्दवर्द्धन), पृ० ३८२। पं० १५–१६।

२. रामचरित मानस, बालकाण्ड।

३. चिन्तामणि, रामचन्द्रशुक्ल।

४. प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म (आई० ए० रिचार्डस की उक्ति) का श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा अनुवाद।

५. श्रीमद्भगवद् गीता, अ० १७। १५।

कालिदास कह उठते हैं—'निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती' तत्पश्चात् तपस्याके द्वारा समाधिमग्न होकर पार्वती अपनी रूपसृष्टिको अमोघ बनाने का निश्चय करती है। इयेष सा कर्त्तुमवन्ध्यरूपतां, समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः[१]। तपस्या पार्वतीको एक ऐसे उपादानके रूपमें प्राप्त हुई, जिससे रूप सौन्दर्यको सार्थक किया जा सका। भगवान् शंकरको यह विश्वास हो गया कि, पार्वती अब रूप-सौन्दर्यसे नहीं वरन् आत्माके सौन्दर्यसे ओत-प्रोत है, ज्योतिष्मती और विभासित है। यद्यपि रूप-सौन्दर्य तपसे म्लान हो गया होगा किन्तु उस म्लानतामें आत्माका उज्ज्वल आलोक लालित्य बनकर उल्लसित हो गया होगा। सौन्दर्यकी यही अनुभूति हृदयकी उदार वाह्य अनुकृति बनकर श्रद्धाके रूपमें कामायनीमें व्यक्त है[२]। वह नित्य यौवन छविसे दीप्त विश्वकी करुण कामनामूर्तिके रूपमें व्यक्त होती है और जड़तामें भी स्फूर्ति भरनेमें सक्षम रूपसे चित्रित है[३]। यद्यपि सौन्दर्य स्वभावतः आकर्षक होता है और वह शाश्वत रूपसे मनोमुग्धकारी और मनोहारी होता है, फिर भी रूप-सौन्दर्यको भारतीय साहित्यमें महत्व नहीं दिया जाता। रूप-सौन्दर्यपर कोई कामुक भले ही मुग्ध हो जाय किन्तु एक रसज्ञ भावककी तृप्ति उससे नहीं हो सकती। यदि कोई वस्तु सुन्दर है, तो वह इसलिये कि, वह पूर्ण सौन्दर्यके दर्शनका माध्यम है।

प्रसाद छायावादके प्रवर्तक कवि हैं। इनके छायावादमें ईश्वराद्वयवादका ही प्रतिपादन है। ईश्वराद्वयवादका वर्णन अपने सच्चे अर्थमें विसर्गामोद सौन्दर्य संवलित दर्शन है[४]। इसमें आनन्दोदय क्रमसे क्रिया-शक्ति पर्यन्तका उल्लास है। चूंकि शक्ति इसमें नित्योदित है। अतएव परमानन्द प्रकाश यहां पूर्ण सौन्दर्य रूपसे और शाश्वत रूपसे विद्यमान है। प्रसादने अपने काव्यमें इसी दर्शनको प्रतिबिम्बत होने दिया है[५], क्योंकि वे उपाधिगत सौन्दर्यकी छायावादी प्रभाववत्तासे भली भांति परिचित थे[६]।

---

१. कुमार सम्भव, कालिदास।
२. कामायनी, श्रद्धा, पृ० ४६, पं० ५।
३. वही, पृ० ४७, पं० १३–१६।
४. तन्त्रालोक, आ० ३। ९५।
५. छायावाद काव्य तथा दर्शन, पृ० २७६, पं० ८–९।
६. दुर्दशनोऽपि घर्मांशुः पतितः पाथसां पथि। नेत्रानन्दत्वमाप्नोति पश्योपाधेः प्रभावताम्॥ तन्त्रालोक आ० ३। ११८।

कल्पना साहित्यकी प्रेरणाशक्ति है। कल्पना अन्तःके रहस्यका उद्घाटन करती है। यह एक दृश्य-बिम्ब उपस्थित कर देती है। यह नव-नवार्थोद्भाविका शक्ति है। यह नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ही है। प्लेटो और अरस्तू कल्पनाको नित्य आत्मामें उपस्थित मानते हैं। कल्पना और भावना ये दोनों तत्व साहित्यके प्रेरक तत्व हैं। इनके अतिरिक्त मानस-(फैन्टेजिया) व्यामोह (फैन्सी) कल्पना बिम्ब (इमेजरी) काव्य चातुर्थ (सावे) काव्योन्माद (फ्रेन्जी) आकस्मिक स्फुरण (स्पोन्टेनिटी) भाविकता (सेन्टिमैंटिलिटी) उल्लास (एक्स्टेसी) आदिको भी साहित्यकी प्रेरकशक्तिके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है[१]।

प्रसाद साहित्यमें मानस-बिम्ब, कल्पना, प्रतिभा, मनः स्थिति, समाधि एकात्मवादिता, आवेग और सवेग आदिका बड़ा महत्व है। हृदयके रससे संम्पृक्त होकर ये भाव-साहित्यमें आकार ग्रहण कर सके हैं और नानारूपोंमें व्यक्त होकर वर्तमान जीवनको और हिन्दी जगत्‌को प्रभावित कर सके हैं। प्रसादने ऊहा, तर्क और मस्तिष्ककी भूमिपर उन्हें नहीं जाने दिया है। आत्मानुभूतिके[२] संदर्भमें ही ये व्यक्त हुए हैं। यदि यही आत्मानुभूतिसे पृथक् हो जाते तो, वहां दर्शनकी शुष्कता आ जाती। आत्मानुभूतिके सन्दर्भमें इनके रहनेके कारण प्रसाद साहित्य दर्शनसे ओतप्रोत हो गया है। प्रसादका यह साहित्य संवलित दर्शन एक व्यावहारिक जीवन-दर्शन बन गया है[३]।

जगत्‌का प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक पदार्थ एक विशेष दिशाकी ओर संकेत करता है। मानस पटलपर वस्तुका ही बिम्ब प्रतिबिम्बित होता हैं। कल्पनाका आधारभी वस्तु जगत् ही है। प्रतिभा और भावनाका उपयोग-भी सत्‌के अस्तित्वपर ही निर्भर है।

---

१. समीक्षाशास्त्र (अभिनव भरत) पृ० २६६–२८९।

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३७–४४।

३. जयशंकरप्रसाद–वस्तु और कला, पृ० ११७, पं० १७–२४।
प्रसादने श्रद्धाके मुखसे जो अपना जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है, वह एक ही साथ अत्यन्त उदात्त व अत्यन्त व्यावहारिक दर्शन है। समरसताकी साधनाके द्वारा अखण्ड व परिपूर्ण आनन्दकी इसमें सम्भावना छिपी हुई है।

जोवके अन्तःकरणमें दर्पणकी भाँति परमात्माकी चित्सत्ताका प्रतिबिम्ब पड़ता है। यह प्रतिबिम्ब उपाधि है। इससे विम्बका आभास होता है। इसमें द्वैत अद्वैत प्रकाश सभी समरसरूपसे शिवत्त्वभूमिपर भासित होते हैं[1]। संस्कार सम्पन्न मानस पटलपर अन्तःकरणकी चंचल वृत्तियाँ साधनाके बलपर शान्त होने लग जाती हैं। चित्सत्तासे साधकका सुस्थिर और साक्षात्सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सम्बन्धकी इस सुरक्षामें एक प्रकारकी आत्मदृष्टि उत्पन्न होने लगती है। यह आत्मदृष्टि ही दर्शन है।

दर्शनकी सीमाका सम्पर्क होनेपर अन्तःकरणकी वृत्तियाँ शान्त होने लग जाती हैं। द्वैतके द्वैविध्यसे अन्तःकरण छुटकारा पा चुकता है। द्वन्द्वातीत, द्वतभावरहित अद्वैत तत्त्वका प्रकाश प्रसरित होने लग जाता है। आत्मा, जीवात्मा और परमात्माके एकत्वकी प्रतीति होने लगती है। सोहंका सामरस्य सर्वम्में अनुस्यूत हो जाता है। यह अवस्था ज्ञानकी अवस्था है। ज्ञान प्रकाशरूपही होता है। प्रकाशही शिव है। चिति, चेतना और चित् सब ज्ञान रूपही हैं। प्रसाद के साहित्यमें इसी ज्ञानवत्ताका स्वारस्य स्पन्दित है।

कोई शक्ति है—जो आत्मज्ञानको प्रसूत करती है। अथवा आत्मज्ञानके उपरान्त एक स्वतः जागृत विद्या प्रस्फुरित होती है। दोनों बातें ही सत्य हैं। आत्मज्ञानका प्रसव ब्रह्मविद्यासे ही होता है। या आत्मज्ञानसे ही ब्रह्मविद्याका विस्तार होता है। वास्तवमें ये दोनों कथन उपचारमात्र हैं। ब्रह्मविद्या पराविद्या या सद्विद्या है[2]। चित्सत्ताकी स्फूर्तिका प्रकाश ही आत्मज्ञान है। कामायनीकी श्रद्धा चित्सत्ताकी स्फूर्तिका ही महा प्रयास है। उसका आत्मसमर्पण भी इसी उद्देश्यसे होता है कि, बद्ध अणुका उद्धार हो जाय[3]।

लौकिक प्रत्यक्षमें परामृष्ट स्थूल वस्तुएँ स्वतः उद्घोष करती हैं कि, हमारे अन्तरालमें अलौकिक आलोक विद्यमान है। स्थूल जड़ होता है।

---

१. इदं द्वैतमयं भेदः इदमद्वैतमित्यपि, प्रकाशवपुरेवायं भासते परमेश्वरः।

२. तन्त्रालोक आ० ९। ६०।

३. कामायनी, श्रद्धा, पृ० ५७, पं० १३–१६ से पृ० ५९, पं० १–१२ तक।

जड़को चिदधिष्ठान[1] कहते हैं। लोकमें अलौकिक आलोकका आभास होता है। छायावाद और रहस्यवाद इसी आभास दर्शनसे प्रसूत दो शुक्ति-मुक्ता-माणिक हैं। छायावाद और रहस्यवादकी चरम परिणति आनन्दवाद और समरसतावादमें ही होती है और यही प्रसादका प्रतिपाद्य है। इसी समरसताकी साम्य अनुभूतिके उपरान्त ऋषियोंने अपनी छन्दस्वती वाणीका विस्तार किया था। गीताने इसी सन्दर्भमें समदर्शनका सन्देश दिया। बौद्ध जैन सिद्धसन्त सबकी वाणीका यही मुख्य स्वर है।

इसी प्रकारके वाङ्मयके विधिवत् अध्ययन से, उपनिषदों, अन्य ऋषिप्रणीत ग्रन्थों, विचारकों और महापुरुषोंकी कृतियोंके स्वाध्यायसे स्पष्टतः वास्तविकताके दर्शन होते हैं। जगद् 'इदम्' का और उस सूक्ष्म स्थूल प्रसारका प्रसरमात्र है। जब यह प्रसर विचारकी सीमामें आ जाता है, तो उसका अस्तित्व शास्त्रका रूप ग्रहण कर लेता है और वही दर्शन शास्त्र बन जाता है।

बाह्य संसारकी उन्नति भौतिकविज्ञानसे सम्भव है। मनु और इडाके सम्पर्कसे सारस्वत नगरकी समृद्धिका चित्रण प्रसादकी इसी दृष्टिका समर्थक है[2]। अन्तर्जगत्की उन्नति भौतिक विज्ञानसे शिल्प और कलासे अथवा सिद्धियोंके अध्यवसायसे असम्भव है। इसे प्रवृत्ति मार्ग कहते हैं। प्रवृत्तिमें अन्तर्जगत् उन्नत होनेकी अपेक्षा इच्छा रूप अभिलाषके मलसे[3] आवृत हो जाता है। प्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार षट्कंचुक समावृत शिव ही जीव, अणु पशु, पुद्गल और सकल पुरुष हो जाते हैं[4]। इसलिये अन्तर्जगत्की उन्नतिकी आकांक्षा आवश्यक होती है। यद्यपि भोगेच्छाकी उत्पत्तिके कारण भी शिव ही हैं। यही उनकी शक्ति है[5]। माया निर्वैर-परिपन्थिनी दुर्घटकारिणी देव शक्ति है। यह जीवको सत्पथसे हटाकर उत्पथमें प्रवृत्त कर देती है[6]।

---

१. तन्त्रालोक, आ० ९। १४४।
२. कामायनी, स्वप्न, पृ० १८१, पं० ९–२०। पृ० १८२, पं० १–२०। पृ० १८३, पं० १–४।
३. तन्त्रालोक आ० ९। ७०–७४। पृ० ६५।
४. वही, आ० ९। १४४–१४५।
५. वही, आ० १। १०१, वही, आ० ९। १४८।
६ तन्त्रालोक, आ० ८। ३३२–३३६।

जगत् जीव माया ईश्वर आत्मा ब्रह्म शिव आदिके पारस्परिक रहस्य-गर्भ सम्बन्धोंकी परिकल्पना दर्शन जगत्‌की तट-सीमा है। प्रकाशकी सरिताका बहाव जीवत्व और शिवत्वके दो कूलोंके मध्य होता है। इन दो कूलोंका उद्‌गम एक विन्दुसे होता है और इनकी विश्रान्ति विमर्शके महोदधिमें होती है। विन्दु और महोदधिका मेधाकी धरापर अनुसंधान ही दर्शन है। पदार्थवादका अभिसन्धान न्याय और वैशेषिक, योग सांख्य तथा मीमांसाका अभिसंधान कर्म, दैवी और उत्तरमीमांसा (वेदान्त) दर्शन करते हैं[1]। इनमें दो स्थूल विज्ञानवादी, दो मध्यमें स्थित होकर अपनी तत्व-चिन्तन शैलीके अनुयायी और तीन अन्तिम कारणविज्ञानवादी हैं[2]। काश्मीरके शैवदर्शनमें विश्वमें शिवत्त्वका अनुदर्शन करनेकी सिद्धान्त-वादिताको स्वीकार किया गया है। उसके अनुसार संसारको असत्य मानने-का कोई कारण ही नहीं है। जगत्‌की सत्ताको शिवकी सत्तासे अभिन्न मानकर पराहन्तापरामर्शके द्वारा 'सर्व'को 'स्व'में प्रत्यक्ष कर लेना ही परम पुरुषार्थ है। स्वात्मावरण परिछिन्न शिवका[3] यह दर्शन ही वास्तविक दर्शन है।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटीको तटस्थ ज्ञान कहते हैं। सत् चित् आनन्दमय-अद्वैत भावापन्न आत्मामें जो ज्ञानकी अवस्थिति रहती है, उसे स्वरूप ज्ञान कहते हैं[4]। स्वरूपज्ञानका सम्बन्ध अन्तर्जगत्‌से है। तट-स्थज्ञानमें बाह्य और आन्तर दोनों ज्ञानोंकी अनुभूतियोंके लिये अवकाश रहता है। बहिर्गत्‌में बुद्धि तत्त्वकी सहायतासे शिल्पका, कलाका एवं वस्तुके अनुकरणपर आधारित स्थूल भौतिक विज्ञानका क्रमविकास होता है। सभ्यताकी सीमामें ही अपने इन्द्रिय सुखको, लीला-विलासको प्रमुखता देते हुए व्यक्ति 'इह' को सब कुछ मानने लगता है। यह सब आभास दशा-का आयाम है। आभास मुख्य बिम्ब या वस्तुका होता है। विश्वको भी एक आभास ही मानते हैं। भेद, अभेद और भेदाभेदाभासके तीनों स्तरों-पर, अपर और परापरके त्रित्वके संदर्भमें केवल एक शिव ही भासित होता

१. सत्यार्थ विवेक, पृ० २१८, पं० ८–१२।

२. वही, पृ० २१९, पं० १–५।

३. तन्त्रालोक, आ० १, पृ० ७४, पं० ११–१६।

४. धर्मविज्ञान (आधुनिक विज्ञान और सनातनधर्म) पृ० २।

है। साहित्य इसीको विभाव, अनुभाव और संचारी भावोंसे निष्पन्न रसावस्थाकी अभेदभूमिपर अवतरित करता है। मानव जीवन जड़ बनकर नहीं रह सकता। इसे बुद्धिका वरदान मिला है। विवेक और विमर्शकी शक्तियोंसे यह समन्वित है। भावकी[१] भव्य विभूति इसके पास है। यह विश्वको देखता है, सुनता है, विचार करता है और सदसत्का[२] निर्धारणभी करता है। इस स्तरपर उसकी चेतनाका प्रकाश उद्भासित होता है। विश्वका प्रत्येक वस्तुतत्व उसकी चिन्ताके निकषपर चढ़ा दिया जाता है। खरे खोटेकी प्रतीति वह अपने ढंगसे कर लेता है। कविकी अनुभूतियां उसे काव्यमें अभिव्यक्त कर देती हैं। अनुकूल और प्रतिकूल चित्रण होता है। राम और रावण नायक प्रतिनायक बनकर विश्वको जीवन दिशाका युगपद् संकेत करते हैं। राम बननेकी प्रवृत्तिका परिष्कार होता है। दर्शन यहां चरितार्थ हो जाता है। दर्शन भी दुःख निवृत्तिके लिये ही उपायोंका अन्वेषण गवेषण करता है। सांख्यों और बौद्धोंका विकास ही दुःख-निवृत्तिकी आधार शिलापर हुआ है[३]। सुखका स्वरूपभी भिन्न-भिन्न है। एकका सुख दूसरेके लिये दुःख बन जाता है। इसलिये सर्वातिशायी सुखकी उपलब्धि दर्शनका लक्ष्य है। साहित्य इसी सर्वोच्च सुखकी सत्ता 'रस[४]' में स्वीकार करता है। साहित्यमें दर्शन उसी अवस्थामें प्रतिष्ठित हो जाता है, जब साहित्यकार रसको परिणतिको 'स्व' से सर्वको और सर्वसे स्वकी ओर चलने वाली भावधाराओंको अन्योन्याश्रितकर आनन्दकी प्रतिष्ठा कर देता है।

तुलसी, सूर, कबीर, जायसी और संतसाहित्यमें जिस एकत्वका संकेत है, वह साहित्यके आलोकसे उद्भासित सर्वातिशायी दर्शनका हो

---

१. तन्त्रालोक, आ० ५ । ९२, आ० ९ । १९५ ।

२. सत् है क्योंकि निरन्तर इसका परिलक्षित अस्तित्व है ।
असत् क्योंकि सरितावत् इसका दर्शन क्षणिक अनित्य है ।
सत् भी और असत् भी कितना वृहत् विरोधाभास है ।
दीख रहा है स्वप्न किन्तु सत् विकसित विपुल विलासहै ॥
स्वरचित विश्वामित्र महाकाव्यसे ।

३. सांख्यतत्त्व कौमुदी ।

४. तन्त्रालोक, आ० १ । १२१, भरतनाट्यशास्त्र (विभावानुभावसंचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः) ।

अनुदर्शन है और इसी दृष्टिकोणको अपनाकर साहित्यमें दर्शनका अध्ययन श्रेयस्कर होता है।

प्रसादकी दार्शनिक दृष्टि साहित्यके स्वारस्यसे संचालित होती हुई चलती है। प्रसादके जीवनमें साहित्य और दर्शन दोनों समान रूपसे अभिव्यक्त हुए हैं। उनके जीवनका आदर्श ही यह रहा है कि, समाजकी समस्त भेदवादिता एकत्वमें परिणत हो जाय, समस्त आदर्श और व्यवहारकी दृष्टि एक हो जाय। इसी जीवनदृष्टिको उन्होंने अपनाया। यह एक सुयोगही रहा कि, वे शैव परिवारमें उत्पन्न हुए थे। शैवदृष्टि उनको प्रत्यभिज्ञादर्शनके गूढ़ मन्तव्योंसे स्पष्टतः प्राप्त हुई थी।[१] अपनी कृतियों कंकाल, इरावती, कामना, लहर, झरना, आंसू और कामायनी सबमें उन्होंने अपनी इसी जीवनदृष्टिको प्रतिध्वनित किया है। परमशिवके परामृत तत्त्वको समरसतासे समन्वित करके उन्होंने कामायनीके माध्यमसे विश्वको एक प्रत्यभिज्ञावादी जीवन दृष्टि प्रदान की है। श्रद्धाने श्रद्धासर्ग में जो कुछ कहा है, उसका मुख्य स्वर उसी आनन्दकी उपलब्धि करना रहा है[२]। वह मनुको स्पष्ट रूपसे यह बतला देना चाहती है कि, यह जगत् वास्तवमें अभिशाप नहीं है। जो व्यक्ति इसे ज्वालाओंका मूल समझता है, वह भ्रममें है। वास्तवमें यह विश्व ईशका रहस्यमय वरदान है[३]।

प्रसादकी यह प्रत्यभिज्ञावादी मान्यता कामायनीके श्रद्धा सर्गमें और आनन्दसर्गमें स्पष्टरूपसे व्यक्त हुई है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि, महाचिति ही इस विश्वमें सजग भावसे लीलामय आनन्द कर रही है। उसीकी लीलाके कारण इस विश्वका अभिराम उन्मूलन होता है। यही कारण है कि, सभी इस विश्वमें अनुरक्त होते हुए दीख पड़ते हैं।[४] यह सर्ग केवल इच्छाका परिणाम है। यह काम मंगलके श्रेयसे मण्डित है। इसे तिरस्कृत करना और इसे असफल बनानेकी चेष्टा करना बुद्धिमत्ताका कार्य नहीं[५]।

---

१. जयशंकर प्रसाद :—वस्तु और कला, पृ० ११६, पं० २–१५।

२. वही, पं० १–३।

३. जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत्की ज्वालाओंका मूल।
ईशका वह रहस्य वरदान, कभी मत इसको जाओ भूल।
कामायनी, श्रद्धा, पृ० ५३पं० १३-१६। ४. कामायनी, श्रद्धा, पृ०१-४।

५. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र २, कामायनी, पृ० ५३, पं० ५–८।

"साहित्यकार जीवनका दान करता है। वह साहित्यके अन्तःपुरमें दर्शनका दीप जलाता है। जीवनको स्वीकृति प्रदान करता है। जीवनके सर्वोच्च आनन्द (काव्यमें रस) की वर्षा करता है। विश्वकी जड़ताको नष्ट करके शक्ति, आनन्द और उल्लाससे भर देता है। यही उसके दर्शनकी व्यावहारिकता है। जो दर्शन जन-जनके द्वारा सहज व स्वीकार्य न हो, वह तत्त्वज्ञानीका दर्शन हो सकता है, कविका नहीं। 'प्रसाद' ने श्रद्धाके मुखसे जो अपना जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है, वह एकही साथ अत्यन्त उदात्त व अत्यन्त व्यावहारिक दर्शन है।[१] 'उपर्युक्त दृष्टिकोणके अनुसार प्रसादने अन्य दार्शनिक सिद्धान्तोंकी अपेक्षा प्रत्यभिज्ञादर्शनको ही स्वीकार किया। प्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार जगत् सत्य है। जहां आचार्य शंकरने जगत्को असत्य, मिथ्या, भ्रान्ति या विवर्त्त[२] माना है तथा सांख्यशास्त्रमें जगत् परिणाम माना गया है, वहीं प्रत्यभिज्ञादर्शनमें जगत्को परमशिवका स्वरूप ही माना गया है। चूंकि जगत् परमशिवका ही प्रतिबिम्ब है। उसीका शरीर है। इसलिये वह उतनाही सुन्दर, उतना ही सत्य और उतनाही पवित्र है, जितना स्वयम् परमशिव[३]।

हिन्दी साहित्यके उत्कर्षके लिये प्रसादने इस प्रकारका व्यावहारिक दर्शन प्रस्तुतकर बहुत बड़ा कल्याण किया। उन्होंने यह स्पष्टरूपसे बतलाने की चेष्टाकी है कि, यह विश्व चेतन पुरातन पुरुष और प्रकृतिसे पुलकित और स्व शक्तिसे ही तरंगायित आनन्द महोदधि है। यहांपर सभी एक कुटुम्बीके ही समान हैं। जिस प्रकार एक अवयवीके अन्तर्गत अनेक अवयव होते हैं, उसी प्रकार इस परमशिवरूपी अवयवीके हम सभी अवयव हैं! इस विश्वमें कोई भी व्यक्ति शापित और तापित नहीं है, न कोई यहां पापी है। यह समस्त जीवनकी वसुधा समतल है। जो जहां है, वहीं समरस है। इस अभेद समुद्रमें प्राणोंकी सृष्टिका क्रम दृष्टिगोचर होता है। यह समस्त सचराचर मूर्त्त विश्व अपने दुःख और सुखसे पुलकित है। वास्तवमें यह चितिका विराट् मंगल वपु है। यह सत्य है, सतत है और चिर सुन्दर है।[४] हिन्दी साहित्यमें प्रसाद ही सर्वप्रथम महाकवि हैं, जिन्होंने विश्वकी सत्यताको प्रतिष्ठाकर एक अभिनव देन हिन्दी साहित्यको प्रदान की है।

---

१. जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला, पृ० ११७, पं० २३–३०।
२. वेदान्तसार ५३।
३. परमार्थसार, पृ० ९७। ४. का० आनन्द पृ० २८८, पं०१९–२०।

प्रसाद

: २ :

प्रसाद साहित्यके सन्दर्भमें तन्त्र, आगम और दर्शनकी परम्परायें

प्रसादने प्रत्यभिज्ञादर्शनको ही अपने काव्यमें प्रतिष्ठित किया है। प्रत्यभिज्ञादर्शन कश्मीर शैवदर्शनके अन्तर्गत आता है। इस दर्शनमें जीवन और जगत्के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। परमशिव ही चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, और क्रियारूपोंमें शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्याके शुद्ध 'अध्वा'के स्तरसे मायाके स्तरपर अवतरित होकर अशुद्ध अध्वाके क्षेत्रमें भी व्यक्त हैं। वही जगत्में, जड़-चेतनमें, जीव, शिव और पृथ्वी पर्यन्त पदार्थ वर्गमें व्यक्त हैं। इसीलिये इनमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं। जो अन्तर दीख पड़ता है, वह भी केवल औपाधिक है। औपाधिकता भी बड़ी मनोहारिणी और प्रभावशालिनी होती है[१]।

इस दर्शनके द्वारा जगत् त्याज्य नहीं रह जाता वरन् शिवरूपमें इसका महत्त्व और बढ़ जाता है तथा जगत् और जीवनके प्रति आस्था[२] रखते हुए भी जीवन्मुक्ति[३] सम्भव हो जाती है। स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है[४]। समस्त भेदवादिताका समूल उन्मूलन हो जाता है[५]। जीवनमें नई आस्थाका उदय इस दर्शनके अध्ययनसे होता है।

भारतीय दार्शनिक परम्पराका स्रोत निगम है[६]। निगमके बाद औपनिषदिक, पौराणिक एवम् अन्य तन्त्र और आगमिक परम्पराओंका परिशीलनभी मनीषी विचारकोंने किया है। प्रसाद साहित्यके सन्दर्भमें अपनी उस परम्पराकी परिधिका परिदर्शन भी यहाँ प्रसङ्गतः समुचित है। भारतकी अपनी एक स्वस्थ और समृद्ध परम्परा है। कुछ लोग इसे सेमेटिक और मैसोपोटामिया या सुमेरियन माननेकी बात करते हैं। उनका सप्रमाण उत्तर प्रसादने दिया है[७]।

---

१. तन्त्रालोक आ० ३। ११८।

२. कामायनी, श्रद्धा, पृ० ५३, पं० १–१६।

३. तन्त्रालोक आ० ३। २७१–७२।

४. तन्त्रालोक आ० १। १५१।

५. तन्त्रालोक आ० ४। १३।

६. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५५, पं० ९–१०।

७. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४९।

पुराणोंमें इतिहास और धार्मिक आरोपित–प्रतीक–गाथाओंका बड़ा मिश्रण हो गया है। शैव परम्परा और विरोधियोंके मतवादके वैषम्यका एक मनोहर आख्यान श्रीमद्भागवतमें आया है। दक्ष ब्रह्माके सहस्रपरिवत्सर-सत्रमें सम्मिलित हुए। अन्य आहूत अग्नि, अमर, मुनीश्वर समुदायने अभ्युत्थान पूर्वक उनकी अभ्यर्थना की। उस सभामें शिव भी उपस्थित थे। उनसे अभ्युत्थान न प्राप्त करनेके कारण वे अत्यन्त उत्तेजित हो गये। दक्षने उन्हें यज्ञ भागसे वंचित हो जानेका शाप तक दे डाला। नन्दीश्वर और दक्षका परस्पर शापानुक्रोश, एक दूसरे पर आचार सम्बन्धी वैषम्यका आरोप और प्रत्यारोप तो चल ही रहा था, भृगुने भी शिवके पक्षधरोंको कठिन शाप दे डाला। उनके शापमें शैव आचारका, साम्प्रदायिक व्यवहारका भगवान् व्यासने सांकेतिक चित्रण किया है[१]। प्रधान वैदिकधाराके अनुयायी आर्योंका और भारतीय रूद्रमतवादी आर्योंका यह एक पारिषदिक संघर्ष था[२]।

कामायनीके आमुखमें इसप्रकारकी गाथाओंमें इतिहासके मिश्रणका संकेत है[३]। आर्यों और व्रात्योंकी परिषदों और स्वाध्याय मण्डलोंकी चर्चा भी है[४]। ये परिषदें सत्रों और यज्ञोंके अवसरोंपर हुआ करती थीं, जहाँ जीवनकी आचार सम्बन्धिनी संगतियोंपर विचार किया जाता था। श्रीमद्भागवतके उक्त आख्यानमें[५] शैवागमकी पूर्वपरम्पराका पूरा क्रम निर्दिष्ट है। पार्वतीने स्पष्ट ही कहा है कि, वेद-वादोंका अनुवर्त्तन आत्मामें रमण करनेवाला मुनि नहीं कर सकता[६]। दक्ष यज्ञ विध्वंस[७] पूषण, भृगु और भगकी वीरभद्र द्वारा दुर्दशा[८] और देव यजनका[९] दाह यह सभी शैव-

---

१. श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४, अध्याय २।
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५२, पं० २४–२५।
३. कामायनी, आमुख पृ० ३–४।
४. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५३, पं० ५–६।
५. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ४, अध्याय २—अ० ७।
६. वही स्कन्ध ४। ४। १९।
७. ,, ,, ४। ५। १–१६।
८. ,, ,, ४। ५। १७–२१।
९. ,, ,, ४। ५। २६।

सामर्थ्य के प्रतिपादक हैं। आख्यानके अन्तमें व्यासने शैव और वैष्णवमत-वादका समन्वय किया है[१]। शैवागमके आकर ग्रन्थ तन्त्रालोकमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दोंका बहुल प्रयोग यहां परिलक्षित है। वेदवादविपन्न पशु, विस्मृतात्मगतिं, जड़, कर्ममयी अविद्यामें विद्या बुद्धि, सच्छास्त्र परिपन्थी नष्टशौच, जटा भस्म अस्थिधारी, शिवदीक्षा[२], नीललोहित[३], कृतानुग्रहविग्रह[४], मायामय[५], माया[६], भूमा[७], विमर्श[८], शक्ति[९], इत्यादि शब्दोंमें शैवमतवाद और सम्प्रदायका इतिहास सुरक्षित है।

बौद्ध धर्मसे पहलेकी इनकी मान्यताका अक्षुण्णरूपसे रूपांकन वहां है। श्रीमद्भागवतके ही तीन और शब्द बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। १—कर्म-तन्त्र[१०], २—देवतन्त्र[११] और ३—आत्मतन्त्र[१२]। इन तीनों शब्दोंमें पूरा जीवनदर्शन चित्रित है। जीवनके ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों क्षेत्रोंमें तन्त्र शब्दके समर्थ प्रयोगसे तन्त्रोंके प्रचारके अनुमानको सहारा मिलता है।

तन्त्र भारतीय मनीषियोंको अद्भुत प्रतिभा का प्रतिपादक, शेमुषीका अनुशासक वह शास्त्र है, जिसमें व्यापकरूपसे ज्ञानके विस्तारका प्रयत्न है। तन्यते विस्तार्य्यते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम्के अनुसार इसमें ज्ञानके विस्तार-की अनन्त साधन-विधियां निर्दिष्ट हैं। तन्त्रोंकी अपनी विशिष्ट साधन पद्धति है, अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है। यह अत्यन्त उदात्त विचारोंका

---

१. श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४, अध्याय ७, श्लोक ५२–५४।
२. वही, स्कन्ध ४। ३। २२–३२।
३. ,, ,, ४। ६ ४१।
४. ,, ,, ४। ७। २४, २९।
५. ,, ,, ४। ७। ३१।
६. ,, ,, ४। ७। ३७, ४४।
७. ,, ,, ४। ७। ३७।
८. ,, ,, ४। ७। ४२।
९. ,, ,, ४। ७। ५९।
१०. श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४। २। २२
११. वही, स्कन्ध ७। १३। २९।
१२. ,, ,, ४। ७ २६।

प्रचारक है। जीवन में जागर्याका विज्ञापक है और प्राञ्जलताकी ज्योतिष्मती प्रवृत्तियोंका परिचायक है। 'तन् विस्तारे' धातुसे 'सर्वधातुभ्यष्ट्रन्'[1] उणादिसूत्रके अनुसार ष्ट्रन् प्रत्यय लगकर तन्त्रशब्द निष्पन्न होता है। अनुशासनात्मक होनेके कारण यह शास्त्र है।

अन्य भारतीय शास्त्रोंकी भांति तन्त्रशास्त्रकाभी एक अपना दर्शन है, स्वतन्त्र दृष्टिकोण है और स्वस्थमतवादोंका शक्त स्वरूप इसमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। स्वतन्त्र चिन्तनकी इनकी अपनी दिव्य पावन परम्परा है। मानव जीवनमें दिव्यताका आधान आवश्यक होता है। मानवताको उच्च आदर्शोंसे अनुप्राणितकर हम देवत्वकी ओर अग्रसर होते हैं। मानवताकी शोभा इसीमें है कि, देवताभी इसकी दिव्यताके गीत गायें। महाभागवत भारतोय क्रान्तदर्शी ऋषियोंकी यही महत्ता थी कि, देवताभी उनके महत्वका गान करते थे[2]।

विश्वकी हेयता और उपादेयताका तात्त्विक विवेचन तन्त्रमें है[3]। तन्त्रमें पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र इनपांचों उपासनाके अंगोंका वैज्ञानिक दृष्टिसे प्रतिपादन है। इसकी सुविचारित आचार पद्धति है। इस पद्धतिका आचरण विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्ति ही कर सकते हैं। यही कारण है कि, इसकी अधिकार सीमामें बहुतसी ऐसी बातें आती हैं, जो नितान्त गोप्य मानी जाती हैं। वेदान्त भी अधिकारको आवश्यक मानता है[4]। विवेक, विराग, शम आदि छः सम्पत्तियां और मुमुक्षा इन चार अधिकारोंसे अधिकृत व्यक्ति ही वेदान्तके श्रवण, मनन और आचरणका अधिकारी माना जाता है।

तन्त्रकी सफलता इसीमें है कि, वह कर्म तन्त्र, देवतन्त्रको आत्मतन्त्रमें परिणत करदे। कर्मतन्त्र और देवतन्त्र आत्मतन्त्रसे व्यतिरिक्त नहीं हैं। यह भेद-बुद्धि समाप्त करना ही स्वात्म विश्रान्ति दायक हो सकता है। प्रत्यभिज्ञादर्शनकी यही मान्यता है। अनीशताको ईश्वरत्त्वमें बदल

---

१. सिद्धान्तकौमुदी, पृ० ६३७, सूत्र ४८०४।

२. श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५। ६। १३। अध्याय १९। २१–२३।

३. मालिनीविजयोत्तर तन्त्र। अध्याय १। १–१७।

४. तत्त्वबोध, वचन १–१०।

देनेकी महती निष्ठा एवम् क्रियाओंकी अमोघताका महान् अध्यवसाय तन्त्रशास्त्रकी अपनी विशेषतायें हैं।

भारतवर्षकी मनीषाका क्षेत्र विपुल और विस्तृत है। उसका महान् उद्देश्य है। तीनों वेद, सांख्य, योग, पशुपतिमत (शैवसिद्धांत) वैष्णवमत आदि विभिन्न प्रस्थानोंमें से अपनी रुचिकी विचित्रताके अनुसार कोई शैव दर्शनको और कोई वैष्णवमतको ही स्वीकार करता है। रास्ते दो प्रकारके ही है। १—ऋजु और २—कुटिल। चाहे किसी पथसे चलें—समुद्रमें नदियोंकी तरह, उसी एक परम उपास्यमें लीन होना ही जीवनका महान् पुरुषार्थ है[1]।

तन्त्रोंको वेदोंके समान ही मान्यता प्राप्त हो गई थी[2]। भारतवर्षमें एक ऐसा समय था, जबकि तन्त्रशास्त्रोंके प्रचारसे ससाजका अत्यन्त कल्याण हुआ। इस शास्त्रका क्षेत्र बड़ा व्यापक है। अधिकार और अधिकारी की सीमा तोड़कर तन्त्र जनसाधारणका विषय बन गया था। इसमें सर्ग प्रतिसर्ग से लेकर, व्यवहार और राजनीतिसे लेकर जीवनकी समस्त पद्धतियों और प्रवृत्तियोंका वर्णन उपलब्ध है[3]।

भारतवर्षमें उपासनाकी ५ पद्धतियाँ प्रचलित हैं। १–वैष्णव, २–गाणपत्य, ३–शाक्त, ४–सौर, और ५–शैव मतवाद। इन पाँचों उपासना पद्धतियोंके स्वतन्त्र मार्ग हैं और इनके स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं।

तन्त्रोंमें तीनप्रकारके आचार दृष्टिगोचर होते हैं। १–वामाचार, २–दक्षिणाचार और ३—दिव्याचार[4]। वामाचार प्रवृत्तिपरक और दक्षिणाचार निवृत्तिपरक होता है। दिव्याचार दोनोंसे विलक्षण, महत्व-पूर्ण और जीवनके लिए श्रेयका प्रसारक होता है[5]। जीवोंके उद्धारके लिये भगवान् शंकरने ही तन्त्रोंका निर्माण किया था। ये निगम और आगमसे ही उत्पन्न हैं—ये मुक्ति और भुक्ति दोनोंके प्रदायक हैं[6]।

---

१. शिव महिम्न स्तोत्र ७।
२. धर्मकल्पद्रुम खण्ड १, पृ० ३१०–३११।
३. धर्मकल्पद्रुम खण्ड १, पृ० ३०९–३१०।
४. धर्मकल्पद्रुम खण्ड १, पृ० ३१६, पं० ४–५।
५. वही, खण्ड १, पृ० ३१६, पं० २४–२७।
६. महानिर्वाण तन्त्र, शिवपार्वती संवाद। धर्मकल्पद्रुम, पृ० ३२१–३२५।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सुस्पष्ट विदित हो जाता है कि, भारतीय जीवनके व्यापक क्षेत्रको तन्त्रशास्त्र प्रभावित करता है। भारतीय जीवन-का यह एक प्रधान अंग है। यद्यपि वैदिक उपासना, पौराणिक उपासना और तांत्रिक उपासना के मध्य कोई व्यवच्छेदिका या कोई लक्ष्मण रेखा नहीं खींची जा सकती, फिरभी तन्त्रकी जीवन पद्धति वैदिक कर्मकाण्डकी जटिल और रीतिबद्ध जोवन पद्धतिसे आगे बढ़कर एक स्वतन्त्र और सरल जीवन पद्धति तथा जीवन दर्शन अपनाने पर जोर देनेवाली है। पंचो-पासनाकी परम्पराओंको भी तन्त्रने स्वीकार किया है, साथ ही ज्ञानकाण्ड प्रधान और कर्मकाण्ड प्रधान तन्त्र भी हैं। शक्ति और शिवकी उपासना इन दोनोंमें प्रचुररूपसे प्राप्त है। इनके आचारभी पर्याप्त स्वतन्त्र हैं। प्रसादने इसी स्वातन्त्र्य पूर्ण जीवन दर्शनको अपने साहित्यमें स्वीकृत किया है।

तन्त्र दो प्रकारके होते हैं। १—वेदानुकूल आचारके प्रचारक और २—वेद-बाह्य आचार प्रचारक। वैष्णवागम और शैवागमके कतिपय सिद्धान्त वेदमूलक हैं। किन्तु अधिकता वेद-बाह्य सिद्धान्तोंकी ही है। शाक्त तन्त्रमें सप्तविध आचारोंमें वामाचारतो मूलतः वेद-बाह्य हैं।

तन्त्रोंकी साधना अद्वैतमार्गी साधना है। वैष्णवतन्त्रवादी कहता है-मैं ही विष्णु हूँ, ब्रह्म हूँ, शक्ति हूँ। मुझमें ही विश्व है। सत्, चित् और आनन्द मैं ही हूँ। इसी प्रकार शैवतन्त्रोंमें भी अद्वैतवादी उपासना ही प्रचलित है। शाक्तों को कल्पनाके अनुसार परमतत्त्व मातृरूपमें स्वीकृत किया गया है। उसमें शिवकी सर्वज्ञता, आदिअन्तहीनता, सच्चिदानन्द स्वरूपता सभी शक्ति स्वरूप हैं[१]।

शैवागमके शैवतन्त्रमें चार सम्प्रदाय माने जाते हैं। १—पाशुपत, शैव, २—कालमुख और ४——कापालिक। इन धार्मिक मतोंके जो प्रव-र्तक ग्रन्थ हैं, वे शैवागमके अन्तर्गत आते हैं। शैव आगमको वैदिक और अवैदिक दो प्रकारका माना गया है[२]। ये तन्त्र तीन प्रकारके हैं। १—द्वैतपरक, २—अद्वैतपरक और ३—द्वैताद्वैतपरक। ये ही क्रमशः शिव-तन्त्र, रुद्रतन्त्र और भैरवतन्त्रनामसे भी अभिहित होते हैं।

---

१. कुलार्णवतन्त्र। १। ६। १०। ऋग्वेद वागाम्भृणीसूत्र।

२. शिवार्कमणि दीपिका २। १। २८।

माहेश्वर मतोंमें पाशुपतमतके केन्द्रस्थान गुजरात और राजपुताना थे। तामिल प्रदेशमें शैव सिद्धान्तका प्रसार हुआ। वीर शैवकी प्रचार-भूमि कर्नाटक प्रदेश था। स्पन्द, त्रिक या प्रत्यभिज्ञादर्शनका प्रचार-स्थान काश्मीर प्रदेश था। इस प्रकार समग्र भारतमें माहेश्वरमतका प्रचार स्पष्ट ही परिलक्षित होता है।

भारतवर्षमें दर्शनकी अक्षुण्ण धारा शाश्वतरूपसे प्रवाहित होती रही है। तन्त्रशास्त्रोंने लोक प्रचलित वस्तु-जडत्वकी भावनामें शक्तिको सत्ताका प्रचार प्रसार किया। इन तन्त्रोंने स्पष्ट घोषित किया है कि, जगत्का यावत् जड़ चेतन समुदाय है, वह शक्तिकाही स्वरूप है[1]।

व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि कवियों पर श्रौत और तार्किक आगमोंका व्यापक रूपसे प्रभाव था। आधुनिक युगके क्रान्तदर्शी कलाकार प्रसाद उसी परम्परा में आते हैं। इन्होंने अभिनवगुप्त पादाचार्यके महान् ग्रन्थ तन्त्रालोकका विशिष्ट अध्ययन किया था। उसी जीवन-दर्शनका महत्त्वपूर्ण आलोक इनके साहित्य पटलपर प्रतिफलित हुआ है।

भारतीय संस्कृतिका मूल मन्त्र वैदिक विचारधारामें शाश्वतरूपसे समाहित है। वैदिक विचारधाराके मूल स्रोत वे वैदिक ग्रन्थ हैं, जिनमें ऋषियोंकी तपः पूत वाणी प्रस्फुटित हुई। वे त्रिकालदर्शी थे। क्रान्तिद्रष्टा थे। स्वयं ब्रह्माने उनका अभ्यानर्षण किया था[2]। उन्होंने एक अरण्य संस्कृतिको जन्म दिया। वहीं वेदोंका प्रादुर्भाव हुआ। मूलरूपमें इसमें चारोंवेदों, उपनिषदों, संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों एवं आरण्यकों के दिव्य सन्देश समाहित हैं, स्मृतियों श्रौत, स्मार्त्त, गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों, दर्शनसूत्रों रामायण-महाभारतादि इतिहास ग्रन्थों और पुराणोंका समृद्ध विचारवैभव इस संस्कृतिमें प्रस्फुटित और विकसित है।

इस सांस्कृतिक विचारधाराके साथही साथ भारतवर्षमें एक दूसरी भावधाराभी प्रवाहित होती रही है। यह धाराभी बड़ी समृद्ध है। इसने

---

१. यच्चकिंचिद् क्वचित् वस्तु सद्सद्वाखिलात्मके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा॥
दुर्गासप्तशती, रात्रि सूक्त।

२. तदेनान् तपस्यमानान् स्वयं ब्रह्म अभ्यानर्षत्। ऐतरेय ब्राह्मण॥

एक ओर यदि वैदिक विचार परम्पराओंको आत्मसात् किया है, तो दूसरी ओर भारतीय जनजीवनसे सम्बद्ध, विविध साधना पद्धतियोंसे सन्नद्ध और विविध स्वच्छन्द विचारोंसे अनुबद्ध होती हुई तथा सन्तोंकी आत्मानुभूतियोंसे भूषित होती हुई अब तक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सुरक्षित रखा है। इसविचार धाराका नाम आगमिक विचारधारा है।

निगम और आगम भारतीय साहित्य और भाषाशास्त्रके सुपरिचित शब्द हैं। निगम शब्द वेदोंका अभिधान करता है। आगम वह विचार-धारा है, जो अन्यान्य विचारोंसे अप्रभावित रहती हुई अपनी स्वतन्त्र तार्किक सत्ताका परिचय देती है। कालप्रवाहकी अनिश्चितताके कारण वैदिक विचारधाराकी तरह यद्यपि इसकी परम्पराके ठोस आधार प्राप्त नहीं है फिर भी इसकी उपलब्ध विपुल सामग्रीपर आश्चर्य होता है। इसने भारतीय चिदाकाशको अपने स्वतन्त्र विचारोंसे चमत्कृत, परम-शिवके प्रकाशसे परिपूरित[1] और महार्चिकी मरीचियोंसे चारु बना दिया है। वैदिक विचारधाराके साथ इसने अपने स्वतन्त्र अस्तित्वको न केवल सुरक्षित रखा वरन् उसको सार्वभौम विस्तार भी दिया। गोस्वामी तुलसीदासने आगमशब्दका उल्लेख अपनी प्रसिद्ध रचना रामायणके आरम्भमें किया है[2]। उसमें प्रयुक्त आगमशब्दका अर्थ भी तन्त्र ही है[3]। आगमने समानरूपसे भारतीय भावजगत्को प्रभावित किया है। यहाँ की समस्त मान्यतायें, सभी परम्परायें और आचार पद्धतियाँ आगमिक विचारधारासे प्रभावित है। आगम स्वाध्यायके दृष्टिकोण से तो अप्रतिम हैं ही, ज्ञान और बोधकी दृष्टिसे भी इन्होंने सभी भारतीय आधुनिक धर्मो और दार्शनिक साहित्यको प्रभावित किया है। साथ ही प्रत्येक धर्मस्वाध्यायीके लिये ये एक उत्कृष्ट आकर्षणके केन्द्र हैं[4]।

---

१. तन्त्रालोक आ० २। ९, २०, ३०।

२. नानापुराण निगमागम सम्मतं यत् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि। रामायण बालकाण्ड ७म श्लोक।

३. रामचरितमानस विजयाटीका, पृ० ४।

४. दे आर अनपैलेटेबुल ऐज रीडिङ्ग बट इनडिस्पेंसेबुल टु द अंडरस्टैं-डिङ्ग आफ होल द लेटर रिलिजस एँड फिलासाफिकल लिटरेचर आफ द इण्डियन्स एण्ड हाइली इंटरेष्टिङ्ग फार द जेनरल साइंस आफ रिलीजन। हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, डा० विन्टरनित्ज, पृ०१८७।

तुलसीने जिस लोकधर्मकी प्रतिष्ठा अपने रामायणमें की है, रामचन्द्रशुक्लने जिस लोकधर्मकी विवेचना अपनी समालोचनामें की है, उस लोकधर्मका मूल उत्स तन्त्र शास्त्र है। पौराणिक लोकधर्मके निर्माणमें तन्त्रका मन्त्र ध्वनित होता हुआ प्रतीत होता है।

व्यवहारदृष्ट्या तन्त्र और आगम ये दोनों समानार्थक शब्द हैं फिरभी इनमें व्युत्पत्तिपरक बड़ा अन्तर है। आगम शब्द किसी प्रसिद्ध विचार-धाराके प्रौढ़ और अप्रतिरुद्ध प्रवाहको सूचित करता है, जो अपने आप चलता आया है[१]। मनीषियों ने इस प्रवाहकी विशद व्याख्याकी, उसपर विचार किया और वही विचार शास्त्रीय स्वरूप प्राप्तकर आगमशास्त्रके रूपमें परिणत हो सके। जहाँ इस प्रकारका विचार विस्तार चल रहा था, उसके विस्तारकी सरणीका, उसकी विधाओंका आकलन हुआ और उसे तन्त्र कहने लगे। यहाँ आकर आगम और तन्त्र समानार्थक हो गये। कुछ लोगोंके मतसे शैवशास्त्र आगम, शाक्तशास्त्र तन्त्र और वैष्णव ग्रन्थ संहिता हैं, किन्तु यह मत अनुमानपर आधारित है।

आगमकी व्याख्यामें सात लक्षणोंका मुख्यतः समावेश है। आगम ग्रन्थोंमें मुख्यतः सृष्टि, प्रलय, देवार्चन, पुरश्चरण, षट्कर्म, चतुर्विध ध्यान योग और साधन इन सातोंका विस्तार पूर्वक निर्देश है। क्रिया, चर्या; ज्ञान और योग ये चारों उक्त सप्तकके सार निष्कर्ष हैं। इन्हीं अर्थोंके विचारके कारण आगम तन्त्ररूपसे विख्यात हो गये[२]। चूंकि आगम पंचवक्त्र भगवान् शंकरसे प्राप्त हैं। इसीलिये इन्हें शैवशास्त्रभी कहते हैं।

कालक्रमानुसार शैवशास्त्रोंमें कई मार्ग प्रचलित हुए। श्रीमदभिनव गुप्तपादाचार्यने अपने तन्त्रालोक नामक ग्रन्थ रत्नमें इनकी विस्तार पूर्वक चर्चा की है। इनमें महार्थ मार्ग[३], अनुत्तरमार्ग कुलाम्नाय, त्रिक (षडर्घ) या प्रत्यभिज्ञा दर्शन मुख्य हैं। नय मार्ग और संविद्मार्ग भी शैवसाधनाके विभिन्न विशिष्ट भूमियोंके निर्देशक मार्ग हैं[४]।

---

१. आगतं पंचवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने............तस्मादागम उच्यते।

२. सर्वे अर्थाः येन तन्यन्ते, त्रायन्ते च भयाज्जनाः। इति तंत्रस्य तन्त्रत्वं तंत्रज्ञाः परिचक्षते। विष्णुसंहिता।

३. महार्थमंजरी (श्री गोपीनाथ कविराज से एक वार्तालापके आधारपर)।

४. तन्त्रालोक द्वितीय आह्निक।

मानव विचार और चिन्ताका प्रवाह दृष्टिकोणोंके कूलमें ही प्रवाहित होता है। दृष्टिकोण और रुचिवैचित्र्य[१] के कारण अनुभूतियोंके अन्तरके परिणाम-स्वरूप विभिन्न दर्शन शास्त्रोंकी उत्पत्ति होती है। जीवनके दो पक्षही विचारणीय होते हैं। १—बन्धन[२] और २—मोक्ष[३], १—इह और २—पर, १—दृष्ट और २—अदृष्ट, १—चर और २—अचर, १—सूक्ष्म और २—स्थूल, १—जड़ और २–चेतन, १–स्व और २–इतर। इस द्वैविध्यकी भूमिपर रहस्य के बीज विचारके उर्वरकसे अंकुरित होते हैं। वही पुष्पित, पल्लवित परिणमित होकर शास्त्र वृक्ष बन जाते हैं। विश्व-मानसको शीतल छाया प्रदान कर शान्तिके अग्रदूत बन जाते हैं।

प्रत्यभिज्ञादर्शनमें उन मूलतत्त्वों पर विचार किया गया है। आरम्भवाद (न्यायवैशेषिक), असत् ख्यातिवाद (बौद्ध), परिणाम-वाद (विज्ञानवादी सांख्ययोग रामानुज) तथा विवर्त्तवाद (शंकर) के प्रतिपाद्य जगत् और ब्रह्म या कार्य और कारणके विचारोंसे भी उत्कृष्ट विचार प्रत्यभिज्ञादर्शन प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि, प्रसाद अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा प्रत्यभिज्ञादर्शनकी सिद्धान्तवादितासे अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होंने उसे अपने साहित्यमें प्रतिष्ठित किया[४]।

---

१. शिवमहिम्न स्तोत्र ७।

२. यत्किचित् परमाद्वैत-संवित्-स्वातन्त्र्य-सुन्दरात्।
पराच्छिवादुक्त-रूपादन्यत्तत्पाश उच्चयते॥
तन्त्रालोक आ० ८। २९२।

३. तन्त्रालोक आ० १। १५६।

४. जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला, पृ० ११६, पं० २–१४, पृ० ११७ पं १४–३१। पृ० ११८–१२२। हिन्दी साहित्य का इतिहा-डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० ४०४, पं० २३–२४।

प्रसाद जीवनवृत्त

: ३ :

भारतवर्ष और काशीका महत्त्व

विश्व परमशिवका ही एक प्रकाश है। विश्वकी सार्थकता भी इसीमें है कि वह अपनी प्रकाशमयताका अनुमापन करे। महाप्रकाशके पावन पन्थका पथिक बने। अपना स्वरूप इतना स्निग्ध और मसृण बना ले, जिसमें प्रकाशका प्रतिबिम्ब पड़ सके। जगत्का यह भौतिकरूप जिसपर जड़ताका आवरण छाया हुआ है—प्रकाश रश्मियोंसे पुलकित नहीं हो पाता। परिणामतः विकसित नहीं हो पाता और उस महाप्रकाशमयी महनीय आभासे आलोकित नहीं हो पाता।

धरा धाममें भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है, जिसने उस आभाका आभास मात्र ही नहीं, उसे पूर्णरूपसे प्राप्तकर आत्मसात् किया और अन्वर्थ रूप से भारत बन गया। इसी दृष्टिविन्दुको लक्ष्यमें रखकर महाभागवत पुराणके रचयिता भगवान् वेदव्यासने भारतवर्षकी प्रशंसाकी है[1]।

वसुन्धराका यह अंचल अपनी चारुताके कारण देववृन्दके मानसका सदैवसे आकर्षणका केन्द्र रहा है। इस उर्वर धरतीमें अवतरित चरित्रोंने अपने चिरन्तन विचारोंसे, अपने चिन्मय आचारसे मर्त्यमें अमृतत्वका संचार कर दिया। भारतीय मनीषियोंके अलोक-सामान्य उत्कर्षका साक्षी हमारा उज्जवल अतीत है और उसी भावसे भावित वर्तमान भी है।

आर्योंका यह आदिदेश है। धराधामकी इस ललाम-लावण्यमयी पुण्य-स्थलीको आर्यावर्तकी संज्ञा देनेका भी एक मात्र यही उद्देश्य था[2]। आर्यावर्त विश्व पुरुषका हृदय देश है। आर्यावर्तका हृदय काशी है। इसी भूमिमें उत्पन्न गुरुवर्योंने समग्र जगत्को आचारकी शिक्षा प्रदानकी थी[3]। गुरुजनोंकी प्रतिभाके परिष्कारकी निकषभूमि यही काशी रही है[4]।

---

१. श्रीमद्भागवत महापुराण स्कन्ध ५, अध्याय ६। १३, अध्याय १९। २१–२३।

२. मनुस्मृति अ० २। २२–२४।

३. वही, अध्याय २। २०।

४. आग्नेय महापुराण अ० ११२। ६–७।

काशीका अपना एक विशेष महत्त्व है। यह विश्वनाथ पुरी है। भूतभावनकी भव्य नगरी है। समस्त विद्याओंकी राजधानी है। जटाजूटके प्रसारमें गंगाकी तरङ्गोंको धारण करनेवाले, माँ अन्नपूर्णाको वामांगमें अधिष्ठितकर विराजमान, नारायणप्रिय अनंगमदमोचन भगवान ही यहाँके अधिपति हैं[१]।

इसी पावन परिवेशमें, इस प्रदेशमें और इस तीर्थस्थलीमें आर्य-परिवारमें उत्पन्न, संस्कृत-संस्कार-सम्पन्न 'प्रसाद' थे, जिन्होंने अपनी शिशु सुलभ सुकुमारतासे, अपनी बाल्यलीलाओं से यहाँकी गलियोंको कमनीय बना दिया। वे यहींके वातावरणमें पले, फूले और फले। अपने स्वरूपको विकसित करने में संलग्न हो गये। नितान्त स्वाभाविक था कि, वे अपने समृद्ध अतीतके समर्थक और भारतवर्षकी विचार धाराओंके संवाहक बन सके, साथही भविष्यके द्रष्टा और क्रान्तदर्शी कवि भी।

काशी कमल है। इसका विश्व विलक्षण एक विशेष मधुकोष है। आनन्दवाद ही उस कोशका मधुरामृत मकरन्द है। यहाँकी मस्ती ही उसके पराग और किंजल्क हैं। दूसरे अरविन्दोंपर भी मधुकर गुंजार करते हैं, किन्तु वे बाहरी होते हैं। प्रसाद एक ऐसे मधुपायी हैं, जिन्होंने विष्णुके नाभिकमलसे समुत्पन्न विधाताके सदृश इसी कमलासनपर विराजमान रहकर स्वतन्त्र सृष्टि-संगीतका साम गान किया और अपनी माधुरीसे, अपनी ओजस्वितासे, अपनी प्रसादतासे विश्वसाहित्यको रस-सिक्त कर दिया।

यदि इस त्रैलोक्य-तिलक तोर्थमें, तीन लोकसे न्यारी काशीमें शंकरकी पुरीमें नामतः जयशंकर उत्पन्न हुए[२], तो यह घटना शंकरके जयके सदृश ही मानी जायेगी। शंकरका जयनशील प्रसाद ही प्रसादरूपमें अवतरित हुआ था। 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' उक्तिके अनुसार साहित्यके इस लोकविश्रुत स्रष्टाको भारतेन्दुकी आह्लादकारिणो आभासे प्रसन्नता मिली, शैवध्वज नामक साक्षात् शंकर सदृश सिद्ध शैवसे शैव दर्शनके आनन्दवादकी प्रकाश राशि मिली और यह प्रकाश राशिही, यह प्रसन्नताही हिन्दी साहित्यमें

---

१. विश्वनाथाष्टक स्तोत्र १।

२. कवि प्रसादकी काव्य साधना, पृ० १४, पं० ६–७।

'प्रसाद' रूपसे साकार होकर उसे प्रसादमय कर गयी। हिन्दी साहित्यके शिवकी, शंकरकी यह प्रसन्नता सचमुच इस तीन लोकसे न्यारे कविको निष्पन्न कर गयी। वह विलक्षण कवि जिसका श्लाघ्य शैशव, कलित कैशोर, बुझती जवानी और करुण अन्त, सभी कुछ विलक्षण था, अपने व्यक्तित्वसे, अपने कृतित्त्वसे और अपने अस्तित्वसे स्वनामधन्य बन गया।

जयशंकर प्रसादकी जन्मदात्री, धात्री और पालयित्री काशीने अपनी पुरातनताके अन्तरालसे चिरनूतन, अधुनातन रमणीयरूपकी नव सर्जनाकी और इसप्रकार नवयुगको भी श्रीसम्पन्न बनाया।

दो प्रसाद

उस युगमें दो ही प्रसाद थे। एक था–महावीर प्रसाद और दूसरे–जयशंकर प्रसाद। जहाँ महावीर प्रसादका प्रसादत्व हिन्दीके ऋक्को यजुष्के संस्कारसे शोभन बनाया, वहीं प्रसादके प्रसादत्वने सामका समन्वय हिन्दी साहित्यमें किया।

भारतेन्दुकी ज्योत्स्नासे जिस समय भारतीय साहित्याकाश ज्योतिर्मय हो रहा था—उस समय प्रसादका जन्म हुआ[१]। इनके जन्म नक्षत्रमें भारतका इन्दु पड़ गया और फलित ज्योतिषके अनुसार चन्द्रकी समस्त आह्लादकारिताका आधान इस बालकमें हो गया।

महावीर प्रसादके युगमें लेखनीमें चमत्कार आया। द्विवेदी–प्रसादके वैचारिक वैमत्यके बावजूद अपनी सत्ताका प्रौढ़ प्रतिपादन प्रसादने किया और एक परम्पराके प्रवर्तक बन गये[२]।

छायावादी युगके तो ये सर्वस्व थे। उसे इन्हींसे आकार, प्रकार और प्रसार मिला। प्रौढ़ता मिली और कामायनीकी संजीवनी शक्तिका अमृत पिलाकर इन्होंने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्यको निष्प्राण होनेसे बचा लिया। वास्तवमें छायावादी युगके ये आदिम और शीर्षस्थ शिल्पी थे।

प्रसादका परिवार

'प्रसाद' का परिवार सच्चे अर्थमें महान् परिवार था। उसमें आभिजात्य अपने आदर्शरूप विद्यमान था। तत्कालीन बनारसका वह एक

---

१. प्रसादका जीवन और साहित्य, पृ० १६, पं० २१-२७। पृ० १७, पं०२-४

२. वही, पृ० १७, पं० १६–पृ० १८, पं० ८ तक।

रईस परिवार था। तम्बाकूके खाने और धूम्रपानमें व्यवहृतकरनेकी प्राचीन प्रथा हमारे यहाँ पहलेसे ही प्रचलित है। संघनेमें भी इसका प्रयोग होता आया है। विविध सुरभित द्रव्योंके सम्मिश्रणसे तैयार इस आघ्रेयको 'सुंघनी' कहते हैं। इस परिवारके लोग इसी सुंघनीका व्यापार करते थे। इसी पदार्थके आधारपर 'प्रसाद' के पितामहकी जन प्रचलित संज्ञा हो गयी थी 'सुंघनी साहु'[1]।

'सुंघनी साहु' अपने समयके परम उदार व्यक्ति थे। काशीमें ही नहीं अन्यत्र व्यापारियों और उच्च श्रेणीके लोगोंमें उनकी प्रसिद्धि थी। यह उनकी मान्यता केवल धनपर आधृत नहीं थी, मात्र उनके ऐश्वर्यपर आश्रित नहीं थी और न ही उसके विभवपर अवलम्बित थी। इसका कुछ विशेष कारण था। और वह था साहुजी का 'औदार्य'! उनका व्यवहार और उनका विशाल हृदय! यही कारण था कि 'सुंघनी साहु' का घर तत्कालीन बनारसका सच्चा चित्र बन गया था। क्या सांस्कृतिक दृष्टिकोणसे, क्या सामाजिक दृष्टिकोणसे या लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे– उनका घर बनारस शब्दकी अन्वर्थताको व्यक्त करता था।

'सुंघनी साहु' के दरबारमें सबका सम्मान होता था। कवि और पण्डित जाते थे, शायर और सपूत आते थे, मंगन और दाता भी। यह वह घर था, जहाँसे सभी सन्तुष्ट होकर लौटते थे, यहाँ तककी पहलवान भी[2]।

सचमुच वह दरबार था। वहाँ जनरंजक राजा की आत्माका निवास था। उसी राजाके उस राजत्वकालमें बालक प्रसादका शैशव विकसित हुआ। यह बालक प्रसादका सौभाग्य था कि, उसे इसप्रकारकी परम्परागत सहृदयताका संस्कार बाल्यकालसे ही मिला। उसी वातावरणका पूरा प्रभाव प्रसादपर पड़ा।

बालक प्रसादको पितामहकी उदारता, विशाल हृदयता और सरसता स्वतः प्राप्त हो सकी। वे शैव थे। शिवरत्न उनका सार्थक नाम था। कान्यकुब्जके गहरवार नरेशोंकी राजधानी काशी भी थी। उनका

१. प्रसादकी दार्शनिक चेतना। पृ० १५७, पं० २३।
२. प्रसादकाव्यकोश-सुधाकर पाण्डेय। कवि प्रसादकी काव्य साधना, पृ० १५। पं० ४–१५।

राष्ट्रधर्म शैव था। यथा राजा तथा प्रजा। उस समय शैवधर्म भारतमें अपने चरम उत्कर्षपर था। काशी पुरी शैव सम्प्रदायका एक प्रधान गढ़ थी। काशीखण्डमें बलिया और गाजीपुरके पूर्वी उत्तरप्रदेशके जिले भी आते हैं। इन जनपदोंमें वहां पहले तांत्रिकोंका शाक्तमत गांवोंमेंप्रचलित था, प्रतिग्राममें कालिकाके स्थान और चबूतरे बने हुए थे—शैव सम्प्रदायके अनुसार और गहरवार राजाओंके प्रभावसे ग्राम ग्राममें शिवमन्दिर स्थापित हुए[1]।

'प्रसाद' का वंश मूलतः गाजीपुरी है। वे लोग काशोमें कब आ बसे, यह तो अभो निर्णीत नहीं है किन्तु यह तो स्पष्ट है कि, यह परिवार शैव मतावलम्बी बहुत ही पहले से था। वह सम्प्रदायवाद का युग था। सन् १९२० तक सारी मान्यतायें जो धर्मसे सम्बद्ध थीं, साम्प्रदायिकता में ही अन्तर्भुक्त थीं।

बाबू शिवरत्न साहु वर्तमान प्रसादपरिवारके संस्कारक थे[2]। उनके चरित्रको सभी विशेषतायें परम्परारूपसे आगे बढ़ चलीं। वे केवल धरोहर रूपसे ही सुरक्षित नहीं रहीं, हिमालयसे गंगाकी भांति प्रवाहित होकर अनन्त समुद्रमें मिल सकीं। उन्हींका सम्मिलित बिन्दु 'प्रसाद' का व्यक्तित्व था। यही कारण था कि 'प्रसाद' का आनन्दवाद लहर और झरनाके उपरान्त अमृत–मानवताके आदि स्रोत 'मनोरवसर्पण[3]' तक पहुँचकर विश्वको इच्छा, क्रिया और ज्ञानके समन्वयका संदेश दे सका।

पिता श्री देवीप्रसादजी तो 'पिताधर्मः पितास्वर्गः पिता हि परमं तपः' के प्रतीक थे। पिताके सारे संस्कार इन्हें उत्तराधिकाररूपमें प्राप्त थे। मानो वे स्वयं छोटे महादेव ही हों।

मां तो धर्म मूर्त्ति ही थीं। प्रसादने अपने बाल्य जीवनके ग्यारहवें बसन्तमें देशके विभिन्न स्थानोंकी वासन्ती आभाका अवलोकन किया। मां के साथ बालक प्रसादकी यह यात्रा आश्चर्य, कुतूहल और जिज्ञासाको जन्म देनेवाली सिद्ध हुई। सबसे अधिक ध्यान देनेकी बात यह थी कि, उन्होंने जिन-जिन स्थानोंकी यात्रायें की, सभी किसी न किसी रूपमें

---

१. स्वर्गीय-पं० शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र' से व्यक्तिगत बातचीतके आधारपर
२. प्रसादकी दार्शनिक चेतना, पृ० १५७, पं० २१–२८।
३. कामायनी आमुख, पृ० ७।

शिवसे सम्बन्धित हैं। धारा क्षेत्रके धारेश्वर, ओंकारेश्वरमें इसी नामसे प्रसिद्ध ओंकारेश्वर, पुष्कर क्षेत्रके पुष्करेश्वर, उज्जैनके महाकालेश्वर सभी हिन्दू शास्त्रोंमें प्रसिद्ध उपास्यदेव हैं। इस प्रकार प्रसाद वहांसे शिवतत्त्वके संस्कार लेकर लौटे। वे व्रज भी गये और अयोध्या भी। इन स्थानोंमें भी उन्होंने मांके मुखसे यही सुना कि 'बेटे ये कृष्ण भगवान् और ये भगवान् राम सभी भगवान् शिवके ही स्वरूप हैं।'

संस्कारतो प्रत्येक हृदयपर पड़ते हैं किन्तु उस हृदयके संस्कार जड़ और सुषुप्त नहीं रह सकते, जो जीवनकी अनुभूतियोंसे विकसित हो जाते हैं। प्रसादके किशोर हृदय पर इस तीर्थ यात्राका अनुपम प्रभाव पड़ा। वे शैव मात्र न रह सके, शिवत्वके नायक बन गये। वे दर्शक मात्र न रह सके, दृश्य और श्रव्यमें उस माधुरीको उतार गये, जिसे हम 'प्रसाद साहित्य'के नामसे पुकारते हैं।

पिता-पितामहकी सहृदयता, धार्मिकता, उदारता और व्यवहार-वादिताके सभी तत्त्वोंको लेकर 'प्रसाद' 'प्रसाद' बन सके। इसमें उनका कम था, पूर्व पुरुषोंका अधिक। धर्मके सम्बन्धमें यह उल्लेखनीय है कि, शिवतत्वकी पूर्वजोंसे प्राप्त आस्थाको उन्होंने एक स्वरूप प्रदान किया। उसे एक परिनिष्ठित सिद्धान्तका आधार दिया। अभिनवगुप्त पादाचार्यका 'तंत्रालोक' उनके हाथोंका आभूषण था, दुनियावी दूषण-राशिको भस्मसात् करनेके लिये वह पूषण था। 'तंत्रालोक' काश्मीरके शैव मतवादोंका शिरोमणि आकर ग्रन्थ है। प्रत्यभिज्ञादर्शनका वह प्रवर्तक है। प्रसादने अपने शिवत्त्वको तन्त्रालोकके आलोकमें ही उद्-भासित किया। उनकी आस्था शास्त्रीय बन गयी और कामायनीसे उसका शृङ्गार हो सका।

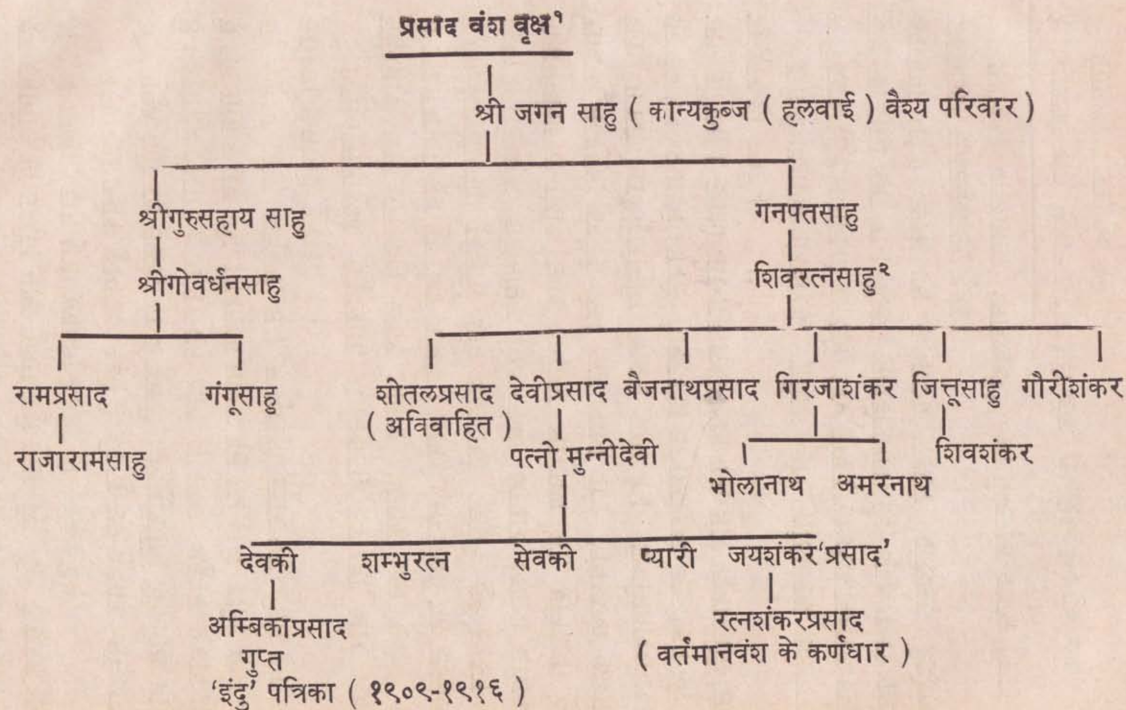
इसी वैभवशाली परिवारमें, धार्मिक और सांस्कृतिक वातावरणमें, साहित्यिक और संगीतकी धारामें वि० सम्वत् १९४६ माघशुक्ल दशमीमें प्रसादका जन्म हुआ था। पिता श्रीदेवीप्रसादजीके अन्य पाँचों भाई बड़े अपव्ययी थे[1]। उनके इस स्वभावके कारण परिवार विशेषरूपसे अर्थाभावके संकटसे ग्रस्त हुआ।

प्रसादका पहलानाम 'झारखंडी[2]' था। उनके माता पिता तथा

---

१. प्रसादकी याद, हिमालय दीपावली अंक, सं० २००३। पृ० ४।

२. प्रसादका काव्य, पृ० २२।



१. प्रसादकी दार्शनिक चेतना, पृ० १५८–१५९।

२. प्रसादका जीवन और साहित्य, पृ० १०, पं० १३–२१।

समस्त परिवारने पुत्रकी दीर्घायुके लिये इष्टदेव शंकरसे बड़ी प्रार्थनाकी थी। वैद्यनाथधामके झारखण्डसे लेकर उज्जयिनीके महाकालतकके ज्योतिर्लिङ्गोंकी आराधनाके फलस्वरूप पुत्ररत्नका जन्म हुआ था। इस ईश्वरीय अनुकम्पाका स्मरण रखनेके लिये शैशवमें उन्हें झारखंडी कहकर पुकारा[1] जाता था। वैद्यनाथ धाममें सम्पन्न हुआ, उनका नामकरण संस्कार। तीनवर्षके उपरान्त केदारेश्वरके मंदिरमें परम्परानुकूल इनका प्रथम क्षौर संस्कार (चूड़ाकर्म) सम्पन्न हुआ। 'षष्ठेऽन्नप्राशनं मास यद्वेष्टं मगलं[2] कुले'—के अनुसार छठेंमास उनका अन्नप्राशन हुआ। शैशवमें प्रतिभापरीक्षाके प्रसङ्गमें उनके समक्ष मसिपात्र, लेखनी एवं अन्य कई आकर्षक वस्तुएँ रखी गयी थीं। उनमेंसे प्रसादने लेखनी चुन ली। इस घटनाने उनके साहित्यिक उत्कर्षका संकेत उसी समय कर दिया था[3]।

विन्ध्यक्षेत्रमें कुछ संस्कारोंके लिये ही लगभग पांच, छः वर्षकी अवस्थामें यात्रा करनी पड़ी थी। शिशुके सुकुमार हृदयपर प्राकृतिक सुषमाकी अमिट छाप पड़ी थी। बाल्यकालके उस शिशु सुलभ सौन्दर्यबोध से प्राकृतिक गिरिमालाओंके अनुपम सौन्दर्यका समन्वय हो गया और बालकका हृदय उससे प्रभावित हुआ। यही कारण है कि, प्रसाद साहित्यमें उपलब्ध प्रकृतिवर्णन प्रसादकी प्रत्यग्र दृष्टिके अन्तःपूत चित्रोंसे परिपूरित हैं।

नव वर्षकी अवस्थामें प्रसादको एक और यात्रामें सम्मिलित होना पड़ा। यह यात्रा तीर्थ यात्रा थी। तीर्थ यात्राका महत्व हमारे यहां बहुत प्राचीनकालसे ही है। पुराणोंमें तीर्थ यात्राका महत्व वर्णित है[4]। तीर्थ यात्रा करने वाला श्रद्धावान् व्यक्ति समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। उसमें नयी प्रतिभाका और अभिनव श्रद्धाभावनाका श्रीगणेश होता है। प्रसादके परिवारमें तीर्थयात्रा सम्बन्धी यह धारणाबहुत पहलेसे ही विद्यमान थी। दूसरी तीर्थ यात्रामें प्रसादको चित्रकूट, नैमिषारण्य, मथुरा, ओंकारेश्वर, धाराक्षेत्र, उज्जैन जाना पड़ा। वहाँ उन्हें शिवत्त्वकी

---

१. प्रसादका काव्य, पृ० २२।

२. मनुस्मृति २। ३४, याज्ञवल्क्य स्मृति १। १२।

३. प्रसादका बचपन सुमित्रा जुलाई १९५१।

४. वायुपुराण ७७। १२५, स्कन्दपुराण ५६ ! ५२।

संस्कारवादिता प्राप्त हुई। वे अपनी पारिवारिक आस्थाके अनुसार भविष्यत्के पथपर अग्रसर हुए और समग्र हिन्दी जगत्को परमशिवके पावन प्रकाशसे प्रकाशमान कर गये।

पारिवारिक वातावरण—

नियति अपने कमनीयकरोंसे बालक प्रसादका निर्माण कर रही थी। अदृष्ट सृष्टिका सृजन-संरभ प्रतिक्षण पारिचालित था। वह शिवके शिवत्त्वसे संवलित हो रहा था। उसकी सुषुप्त संस्कार वादिता स्पन्दित हो रही थी। वह देखता—रास्तेके अभावग्रस्त भिखमंगोंके उठे कंगाल हाथ पितामहके दिये हुए द्रव्यसे निहाल हो उठे हैं। जाड़ेमें ठिठुरता गरीब, पितामहकी शालसे शीतरक्षित हो सानन्द हो उठा है, तो उस आत्मामें एक अदृश्य-उल्लास स्थान बना लेता। शीशेकी तरह स्वच्छ आत्मामें इस प्रकारके सैकड़ों प्रतिबिम्ब अपना सूक्ष्म संस्कार छोड़ते और अचेतन मनके कोषमें सभी एकत्र हो जाते।

घरका वातावरणभी[1] महत्त्वपूर्ण था। चाहे पितामहका दरबार हो या पिताका-वे कलाकार जो रामनगरके राजाके यहां सम्मान प्राप्तकरने जाते, वे सभी यहां अवश्य पधारते। उनका जमघट अवश्य होता। दरबार सज जाता। काव्यकी आत्माका शृंगार महोत्सव नित्य रचाया जाता। रसोंका समुद्र उमड़ता रहता। शिशु प्रसाद शिवत्त्वके रंगमें ज्यों ज्यों डूबता गया त्यों त्यों संस्कार-श्वेतित आत्माका संवाहक वनता गया।

जिस काशीमें वे उत्पन्न हुए थे, वह काशी तीन लोकसे न्यारी है। यहांका वातावरण न्यारा, यहाँके लोग निराले और जो कुछ भी है, सब अनूठा। काशी वाले सदैवसे ही जीवनका मूल्य समझते रहे हैं। नश्वरतामें जो लहरें काशीमें हिलारें लेती हैं। उनका दर्शन अन्यत्र दुर्लभ है। यहां पंडित साधक विद्वान् और मूर्ख सब अपने रंगमें रमे रहते हैं। मस्ती काशीकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है। यहांके लोग जीवनकी लीलाके नायक भी होते हैं और द्रष्टा भी। सब अपने अपने में मस्त।.........क्योंकि जीवनका क्या मूल्य है, काशीके लोग पहचानते हैं।.........कालसिन्धुमें खड़ा

१. कविप्रसादकी काव्य साधना, पृ० १३, पं० १६।

चिरन्तन अटल ज्योतिस्तम्भ है। प्रसाद ऐसे ही सच्चे बनारसी वातावरणमें शिवत्त्वके अमृतसे अभिषिक्त हुए थे [१]।

परिवारकी आस्था

भारतमें शिवाराधनकी परम्परा वैदिक और तान्त्रिक दोनों पद्धतियों के मिश्रित रूपमें पायी जाती हैं। साधारण भक्तको इन पद्धतियों और उनके साम्प्रदायिक स्वरूपके महत्त्वका ध्यान नहीं रहता। हिन्दू धर्मके महान् आयाममें परम्पराओंका साधारणीकरण सा हो गया है। आगे चलकर जितने समन्वयवादी सन्त हुए, उन्होंने साधारणीकरणकी इसी धाराको महत्त्व प्रदान किया है।

प्रसादके परिवारकी शैव आस्थाभी मिश्रित आस्था थी। शिवकी पूजा होनी चाहिये। वे हमारे पूज्य हैं? इष्ट हैं और श्रद्धेय है—इसी रूपमें उनकी पूजा होती थी। इस बात की चिन्ता किसीको नहीं थी कि, देवता शिव यजुर्वेद वर्णित रुद्राष्टाध्यायीके अधिष्ठाता देवता हैं या शैव या पाशुपत मतके मान्य महादेव! वेद वर्णित 'शिवाय च शिवतराय च' के प्रतिनिधि हैं या तन्त्र प्राप्त शिव शासनके[२] प्रतीक हैं।

बालक प्रसादके लिये शिव श्रद्धास्पद बन गये थे। पितामहकी अंगुलियां पकड़े एक सुन्दर बालक महादेवके मन्दिर में आता, कठिनाई से चौखट लांघता और विश्वनाथके समक्ष अपनी अंगुलियोंके कुसुम-सुकुमार, अरविन्द अरुण, दशपर्वपूरित अंकुर जोड़ देता। साथ ही अपने पितामहके बद्धकरको भी निहार लेता कि, हमारी यह कर-योजनकी प्रक्रिया तदनुकूल है या नहीं? यह था मूलतः शिवभक्त बालक प्रसाद।

वही शैव आस्थासे सम्पन्न बालक प्रतिभाशाली प्रसादके रूपमें प्रख्यात हुआ। वह अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि बालक था। आठ नव वर्षकी अवस्थामें ही उसने अमरकोश और लघुकौमुदी कंठस्थ कर ली थी। आगे चलकर उसने सम्पूर्ण वैदिक साहित्यका गहन अध्ययन किया और अपने स्वच्छ हृदय दर्पणमें परमशिवके महत्प्रकाशका प्रतिबिम्बन किया एवं समग्र हिन्दी साहित्यको आलोकित कर दिया।

---

१. प्रसादका काव्यकोश, जन्मप्रसङ्ग।

२. तन्त्रालोक आ० १, १ पृ० १, पं० १–४।

आरम्भिक सरस्वतीपीठ

प्रसादजी की दी हुई यह संज्ञा उस प्रारम्भिक पाठशालाकी है, जहाँ उन्होंने अक्षरज्ञान प्राप्त किया था। इस पाठशालाके संयोजक थे, श्रीमोहिनीलाल गुप्त। वे स्वयं एक अच्छे कवि थे। उनके सम्पर्कका सहज प्रभाव भी बालहृदयपर अंकित हुआ हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। यद्यपि प्रसाद उस समय बालक थे, पर वह बाल हृदय साधारण बालकोंसा नहीं था। वह उस स्वच्छ दर्पणके समान था, जिसपर सूर्यके समान प्रकाशका प्रतिबिम्ब अपने वास्तविकरूपमें पड़ता हुआ भी दूसरोंको आलोकित करता रहता है।

परिस्थितियाँ

प्रसादके जीवनमें अनेक प्रकारकी संकटापन्न परिस्थितियाँ आयीं, जिनका उन्होंने डटकर मुकाबिला किया। उनके ऊपर आपदाओंका पहाड़सा टूट पड़ा। कामायनीके प्रारम्भमें हिमगिरिके उत्तुंग शिखरपर शिलाकी शीतल छांहमें बैठनेवाले जिस पुरुषका चित्रण प्रसादने किया है, वह मानो प्रसादका ही चित्र है[1]।

प्रसादने कठिनाइयोंसे कभी समझौता नहीं किया। जीवन और मरणको चुनौती देते हुए वे आगे बढ़ते गये। अपने कहे जानेवालोंसे ही उन्हें अपार दुःख, अपरिमित वेदना और अनन्त क्लेश हुआ था। सम्पत्तिपर अधिकारकी लालसासे कुटुम्बियोंके षड्यन्त्रभी चले थे पर वे शंकरके विषपानके सदृश उसे गलेमें ही रख सके, उसे नीचे नहीं उतारा। विषके नीचे उतरनेपर हृदयमन्दिरके दूषित हो जानेका भय था।

श्रीविनोद शंकर व्यासने उनका संस्मरण लिखते हुए यह चर्चाकी है कि, मुझसे जब कभी वे अपनी जीवनकी कहानी सुनाते, तो उनका चेहरा तमतमा उठता! आँखें भर आतीं और ललाटपर संसारकी कठोरताको एक रेखा स्पष्ट खिंच जाती थी[2]।'

प्रसादका अन्तः साक्ष्य

प्रसादके मानसिक विषादकी रूप रेखा कामायनीके पृष्ठोंमें यत्र तत्र

---

१. कामायनी, चिन्ता, पं० १–४।

२ प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ४।

अंकित है। वे अपने परिवार सर्गके अग्रदूत थे। उन्हें यह लग रहाथा कि, मैं असफल हो चुका हूँ। विलीन हो चुका हूँ। परिवारको अद्‌भुत उत्कर्षकी और न ले जाकर, समृद्धिकी-ऐश्वर्यकी उच्चता न प्रदानकर मैं रक्षकही भक्षक बन गया हूँ अथवा मानो अपने ही अपना मीन हो गया हूँ[1]।

उन्होंने जीवनके कितने उत्थान पतन देखे, उच्चता और नीचताकी ऊर्ध्व व निम्नगामी प्रवृत्तियोंको परखा, उनमें हलचल पैदाकर देनेवाले तूफानोंकी फलवत्तासे वे प्रभावित हुए और पाया कि, जीवनके दो पक्षों बाह्य और आन्तरमें प्रदर्शन और विलास ही पड़े हुए हैं। ऊपर से तो परिवारकी प्रतिष्ठाकी पृष्ठभूमिमें शिवत्त्वका प्रदर्शन और भीतर भीतर कामकी उपासना एवम् वासनाका श्रृंगार! कामरिपुकी नगरीमें कामका वरण! यह उन्हें खल गया। उन्होंने कामकी तूफानी आंधियोंके, पुनः पुनः प्रत्यावर्तन पर अपनी चिन्ता व्यक्तकी[2]।

उन्हें परिवारका भविष्य निराशापूर्ण दीख पड़ा। जहां मणियोंके ही दीप प्रज्वलित हों, जहाँ पितामह-पिता और भ्राताके उच्चस्तरीय चरित्रकी चारुताका दिगन्तव्यापी प्रकाश शाश्वत प्रभा बिखेर रहे हों, वहीं अन्धकार ने अपना स्थान कैसे बना लिया? वे तड़प उठे और अपने निराशापूर्ण भविष्य, देवदम्भके महामेधमें सब कुछ के हविष्य बन जानेकी चिन्तासे तिलमिला उठे[3]।

कहां अमरताके चमकीले पुतलोंके जयनाद और कहां विषादके वे दिन! उनके हृदयमें विषादकी प्रतिध्वनि मानो शाश्वतरूपसे उन्हें कम्पित करती हुई जगत्‌की वेदनासे संपर्क स्थापित करने लग जाती थीं[4]।

विषादके ऐसे वातावरणसे वे एक निश्चित धारणापर मानो पहुंच रहे थे। उन्हें लग रहा था कि, प्रकृतिपर विजय नहीं पायी जा सकती। धर्म

---

१. कामायनी, चिन्ता, पृ० ७, पं० १–४।
२. वही, चिन्ता, पृ० ७, पं० ५–८।
३. वही, चिन्ता, पृ० ७, पं० ९–१२।
४. वही, चिन्ता, पृ० ७, पं० १३–१६।

का, आभिजात्यका और साहु घरानेकी साधुताकाजो महाभाव मनमें घर किये बैठा था, वह केवल मद था। एकमात्र अहंमन्यता थी। मानसिक विलासितासे गला कभी नहीं छूट सकता। उन्हें प्रकृतिकी दुर्जेयता और अपनी भ्रान्तिके सम्बन्धमें तथा अपने भोलेपनके सम्बन्धमें एक प्रकारका विरागसा उत्पन्न हुआ और उन्हें अनुभव हुआ कि, इस जगत्में सभी लोग विलासिताके मदमें केवल तिर रहे हैं[१]। परिवारके सदस्योंकी मृत्यु, माता-पिताकी मृत्यु और सगे सम्बन्धियोंकी मृत्युसे उन्हें बड़ा आघात लगा था। ऋणका बोझ बढ़ चला था। मानो विपत्तिके पारावारमें सभी कुछ डूब गया हो एवं सारा विभव समाप्त हो गया हो। उनकी देव सुखोंकी तल शय्यापर मानसिक व्यथाके जलधिका महानाद उमड़ता हुआ सुनाई पड़ता था[२]। मानो देव जातिका समस्त सुखविश्वासही नष्ट हो गया था[३]।

ऐसी परिस्थितियोंमें अपनी जीवन-नौकाको प्रलयके महाज्वारसे उबार लेनेकी चेष्टामें संलग्न प्रसादका प्रत्यभिज्ञादर्शनसे जब संपर्क हुआ, तो उन्हें एक विशेष आनन्दकी उपलब्धि हुई। उनकी मान्यताओंको एक राजपथ प्राप्त हुआ और उन्होंने स्वतन्त्र मार्गका निर्धारण किया।

प्रसादने वैदिक मतवादको प्रत्यभिज्ञादर्शनकी अपेक्षा मान्यता नहीं दी। वैदिक मतवादमें विश्वदेव, सविता, पूषा, सोम और पवमान तथा वरुण आदि प्रत्यक्ष देवके रूपमें स्वीकृत हैं। इन सब देवताओंके लिये पृथक् पृथक् स्तुतियां हैं। प्रायः इनमेंसे सबके लिये पृथक् पृथक् सूक्तोंकी रचना भी की गयी है किन्तु प्रसाद प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके प्रभावके कारण उन्हें देवरूपसे स्वीकार नहीं कर सके। उनका यह स्पष्ट मत था कि, संसारमें चाहे जो भी हो, चाहे वह देव हो या मनुष्य ये सभी परिवर्तनके पुतले हैं। सभी गर्व रथमें तुरंगके समान जुते हुए हैं या जोते जा रहे हैं।

गर्वके रथमें जुतना प्रत्यभिज्ञादर्शनकी दृष्टिसे मलसे प्रभावित होना है। शुभाशुभ क्रियाओंमें अनुरक्त रहनेवाला 'पशु' (भूत समुदाय) देह

---

१. कामायनी, चिन्ता, पृ० ७, पं० १७-२०।

२. कामायनी, चिन्ता, पृ० ८, पं० १-४।

३. कामायनी, चिन्ता, पृ० ८, पं० १२ तथा तन्त्रालोक आ० ८, पृ० २१४-२२८।

और इन्द्रिय आदिके कार्य करता है। वह सकल और समल दशाओंमें रहता हुआ अहंकारके कारण अपने वास्तविक स्वरूपको विस्मृत कर बैठता है। इस विस्मृतिको दूर हटाकर 'स्व'की स्मृतिके आधारपर अपने व्यक्तित्वको शिवत्वसे सम्पृक्त करनेकी चेष्टा ही जीवनका लक्ष्य होना चाहिये। इसी सिद्धान्तको उन्होंने अपने समस्त कृतित्वमें प्रतिपादित किया है।

व्यवसाय

प्रसादजी एक व्यापारी परिवारके सदस्य थे। यद्यपि प्रारम्भमें उनके परिवारके ऊपर ऋणका बड़ा भार हो गया था किन्तु इससे वे घबड़ाये नहीं। वीरतापूर्वक कठिनाइयोंका सामना करते रहे और ऋणके चुकानेके प्रयत्नमें लगे रहे। ऋणको वे नारकीय यातना मानते थे। सन् १९३०-३१ में वे ऋणसे मुक्त हो चुके थे[१]। चौक स्थित विशाल भव्य भवन बेंच देनेसे उनके व्यवसायको यद्यपि धक्का लगा था परन्तु उनकी साख बनी रही थी। विगत वैभवकी गरिमा उनके सामने ही ध्वस्त हो गयी थी। पूर्वजोंका ठाट बाट, दानधर्म, कलाविदोंका सम्मान-सत्कार आदि इन्होंने आँखोंके सामने विलीन होते देखा था। किशोर हृदयकी भावुकता स्वर्णिम अतीतको भुला न सकी। परिवारमें अनवरत परिवर्तनोंसे उनके मर्मका गहरी चोट लगी, जिसके कारण उनकी सम्पूर्ण चेतना एक गहरी वेदनासे परिप्लावित हो उठी। उसी वेदनाकी वेदीपर उनके साहित्यका सृजन प्रारम्भ हुआ। प्रलयके उपरान्त मानो एकाकी मनु नवीन सृष्टिमें दत्तचित्त हुआ हो[२]।

इसी वेदनासे प्रभावित होकर अपने व्यावसायिक बही खातोंके कागजोंपर उन्होंने तुकबन्दी आरम्भ कर दी थी। रसीदों और व्यापार सम्बन्धी पत्रोंपर सवैयोंकी रचना होने लगी थी। उनके बड़े भाई शम्भु रत्नजीको जब इसका पता लगा, तो उनसे उन्हें झिड़कियाँ भी सहनी पड़ीं किन्तु प्रसादका मानस व्यवसायकी ओर प्रवृत्त न रह सका। वे अपने कविकर्म कलापमें निरन्तर संलग्न रहने लगे।

प्रसादका जीवन गोवर्द्धन सरायवाली हवेलीमें बीता। दोपहर सोकर

---

१. प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ३।
२. प्रसादकी दार्शनिक चेतना, पृ० १६३।

उठनेके उपरान्त प्रतिदिन दो तीन घण्टे, वे गोपनीय व्यवसाय सम्बन्धी मिश्रण सूत्रों और विधियों का प्रयोग करते, स्वयं श्रम करते और तब बाहर निकलते थे[१]। उन्हें सभी प्रकारके इत्र, सुंघनी और टाइलेट आदि बनाना दक्षतापूर्वक आता था।

प्रसादने सुर्तीका विशेष ढंगसे साहित्यिक नामकरण किया था। जैसे १—नागकन्या (उत्तम तम्बाकू), २—रागिणी (गुजराती सुर्ती)। ३—केशर कुसुम (चुनी हुई दुर्लभ तम्बाकू), ४—पराग (सुंघनी मंजन), ५—कौमुदी (सुर्ती विहीन उत्पादन) ६—मृगमद (किमाम), ७—कृष्णतमाल (मोहिनी जर्दाकी एक नवीन कल्पना) ८—कस्तूरिका (मुश्की गोलियाँ) आदि।

इन प्रयोगोंके आधारपर इस निश्चयपर पहुँचा जा सकता है कि, अपने व्यापारको उत्कर्ष और प्रकर्षकी दिशामें अग्रसर करनेके लिये वे किसप्रकार प्रयत्नशील थे। सुर्तीके इसप्रकारके नामकरणमें उनकी साहित्यिक और व्यावसायिक प्रतिभाका स्पष्ट पता चलता है।

शैवप्रभाव

प्रसादजीका परिवार शिवत्वकी आस्थासे सम्पन्न शैव परिवार था। प्रसादने अपने परिवारकी उस पारम्परिक आस्थाको तन्त्रालोक नामक कश्मीर शैव दर्शनके शिरोमणि ग्रन्थके सिद्धान्तोंसे उद्भासित किया।

इस प्रसङ्गमें श्रीदीनबन्धु ब्रह्मचारीका[२] नाम आदर के साथ लिये जाने योग्य है। ब्रह्मचारीजी शास्त्रोंके निष्णात एवं पारङ्गत विद्वान थे। उन्होंने ही प्रसादकी प्रतिभाको सँवारा, उसे विकसित बनानेमें अपने व्यक्तित्वको लगा दिया और प्रसादके जीवनमें दार्शनिकताका श्रीगणेश कर दिया।

इसके पूर्वके प्रसाद एक भावुक कवि थे। अपने अग्रज श्रीशम्भु रत्नजीसे छिपे-छिपे दुकानकी बहियोंपर कविताका अभ्यास करनेवाले नव कवि थे और अपनी अज्ञानतामें, अपनी बद्धमूलतामें सीमित संकुचित व्यक्तित्वके

---

१. प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० २४।

२. प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ३ तथा कविप्रसादकी काव्य साधना पृ० २३।

प्रतीक थे। किन्तु श्री ब्रह्मचारीजीके सम्पर्कमें जानेके उपरान्त प्रसाद वैदिक, औपनिषदिक, पौराणिक और तान्त्रिक उपासना पद्धतियोंके रहस्यसे परिचित हो सके। ब्रह्मचारीजीने शास्त्रकी बारीकियोंको क्रमिक-रूपसे प्रसादके विद्यार्थीको समझाया। वेद, शास्त्र, उपनिषद् पुराण और महाकाव्य आदि सभी उनके लिये हस्तामलकवत् थे। उन्होंने विशेषरूपसे शैव शास्त्रका अध्ययन किया था। प्रसादको भी शैवशास्त्रकी सिद्धान्त-वादितासे परिचित कराया। प्रसादने उनके सम्पर्कके कारण समस्त शैवमतवादोंका अध्ययन किया, उन्हें निरखा, परखा और अपनी धारणा-में उन्हें धारित किया। यह स्पष्ट है कि, वैदिक शैवमतावादकी अपेक्षा सुरुचिपूर्ण और आत्माको तृप्ति प्रदान करने वाला तांत्रिक शैवमतवाद ही प्रसादको अत्यन्त प्रिय और हृदयग्राही सिद्ध हुआ[1]। इसके कई कारण थे—

१—वैदिक शैवमतवादमें कर्मकाण्डके विविध विधानोंका विपुल बाहुल्य है। प्रसाद कर्मकाण्डके स्थानपर व्यावहारिक साधनाको महत्त्व देनेवाले कलाकार थे।

२—शिव सच्चिदानन्दके साकार विग्रह हैं। उमा शक्तिकी सगुणा-वस्था का नाम है। परमात्माही लीलाके लिये उमा महेश्वर आदि सगुणरूप धारण करते हैं। वैदिक मतवादी ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूपी त्रिदेववो त्रिरूपा-धिष्ठित ब्रह्म ही मानते हैं[2]। प्रसादको यह मतवाद प्रिय नहीं था क्योंकि इसके अनुसार शिवकी मौलिकता शिवमें न रहकर ब्रह्ममें समाहित हो जाती है, जो शिवाद्वयवादके विपरीत है।

३—प्रसादजीने बौद्ध साहित्यका प्रचुर अध्ययन किया था। विभिन्न विद्वानोंने इसपर अपनी सम्मतियां दी हैं। भगवान् बुद्धका धर्म मध्यम-मार्गी धर्म है। वह न तो वैदिक यज्ञ यागादिको उपयोगी मानता है और न लोक परलोक सम्बन्धी तत्त्वचिन्तनको। वह देव, या बहुदेववादी नहीं। वह विश्व और आत्माकी चर्चामें न पड़कर जीवनके चरमलक्ष्य (साध्य) और उसकी प्राप्तिके उपाय (साधन) परही विचार करता है।

---

१. कविप्रसादकी काव्य साधना, पृ० २३। पं० २५–२७।

२. योग वाशिष्ठ, निर्वाण प्रकरण, सर्ग ३। ८२–८३।

प्रसादजी उपर्युक्तमतवादसे प्रभावित तो थे पर उस पथके पथिक नहीं थे। वेदमूलक शैवमतवादकी मान्यतायें बौद्ध प्रभावमें बाधक थीं। यही कारण था कि, द्वैतपरक या द्वैताद्वैतपरक वैदिक-शैव-सिद्धान्तसे उनकी अरुचि हुई। चूंकि वे जन्मजात शैव[१] थे और संस्कारतः भी शैव थे। इसी लिये शिवकी उपासनाका अद्वैत परक मत ही उन्हें अभीष्ट हुआ।

४—वैदिक और औपनिषदिक ब्रह्मवादके अनुसार ब्रह्म विश्वसे परे अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न तत्त्व है। वह सत्य है, निर्मल है और निर्विकार है। फिरभी वह निष्क्रिय है। कर्तृत्वविहीन है। इसके स्थानपर शैवतन्त्रका ईश्वराद्वयवाद परमेश्वरको परम स्वतन्त्र मानता है और साथही कर्त्तृव शक्ति सम्पन्न मानता है। प्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार शिव सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह इन पांच कृत्योंका कर्त्ता है। प्रसाद ऐसे ही अनुग्रहकारी शिवके उपासक थे। १—चित्, २—आनन्द, ३—इच्छा, ४—ज्ञान, और ५—क्रिया इन पांचों रूपोंमें शिव विश्वमें अपनी लीलाका प्रसार कर रहे हैं। प्रसाद ऐसे ही कर्तृत्व सम्पन्न शिवके उपासक थे। निष्क्रिय उपास्यकी अपेक्षा सक्रिय सर्वतन्त्र उपास्यकी ओर स्वभावतः उनकी प्रवृत्ति उन्मुख हुई।

५—गृहोद्यानमें पूर्व पुरुषोंका स्थापित शिवमन्दिर, उसीके सामने टहलते और गुनगुनाते कविका शिवत्वसे आप्यायित हृदय मन्दिर! दोनोंमें शिवकी प्रतिष्ठा। एकमें वैदिक विधिसे प्रतिष्ठा हुई थी किन्तु दूसरे हृदय-मन्दिरमें शिवकी प्रतिष्ठा प्रत्यभिज्ञादर्शनके तन्त्रसे हुई। तन्त्रशास्त्रके उनके अध्ययनने उनको परमशिवकी ओर प्रवृत्त कर दिया।

६—उनका परिवार शैव था[२]। परिवारसे जिन लोगोंका सम्पर्क था, उनमें साधारणसे लेकर असाधारण व्यक्ति भी थे। अनपढ़से लेकर सुपठित विद्वान् भी थे, अनुरक्त और विरक्त सभी थे।

विरक्तोंमें दो व्यक्ति उल्लेख्य है। १—श्रीदीनबन्धु ब्रह्मचारी और २—श्री शैवध्ववजी महाराज सिद्ध शैव। इन दोनों विरक्त महामानवोंने प्रसादके लौकिक अवसादको, उनके अशिवको निरस्त करनेमें अपना

---

१. कविप्रसादकी काव्य साधना, पृ० २३।

२, वही, पृ० २३, पं० २५–२७।

पूरा योगदान किया। दोनों शैव थे। अतः इन दोनोंकी तान्त्रिक तात्त्विकताका प्रभाव पड़े विना कैसे रह सकता था ? अतः प्रसाद शिवत्वके साधक बन गये। काव्यका उन्हें विस्तृत क्षेत्र मिला। उस क्षेत्रमें उन्होंने वही वीज वपन किये, जो उन्हें इसप्रकार प्राप्त हुए थे वे बीज शिवत्वसे संवलित थे, शिवमय थे।

७—वे सुंघनी साहुके वंशज थे। सुर्तीके व्यापारी थे। सुर्ती विश्वकी मादकताकी प्रतीक है। सुर्तीको सुगन्धिसे वासित करनेकी प्रक्रियाका अर्थ है—अपने भूतभावको-देहभावको-द्वैतभावको, अभूतभाव, अदेह भाव अद्वैतभावसे भावित करना ! साधनाके धनी इस कलाकारके मनमें बैठा शिवका संस्कार यदि इसप्रकार शिवत्व सम्पन्न हो सका, तो इसमें क्या आश्चर्य ? वासित करनेका यह व्यापार तन्त्र मय होता है, सिद्धान्तमात्र ही नहीं। क्रियामय होता है। इसीलिये उन्होंने तन्त्रोंको साधना प्रणालीको स्वभावतः अपनाया और उसमें अपने हृदयका रस भर दिया।

साहित्यकी प्रवृत्ति शिवके लिये, कल्याणके लिये ही होतो है। 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये'[1] के उद्देश्यवाक्यमें शिवेतरक्षति अर्थात् शिवत्त्वकी सुरक्षा ही काव्यका उद्देश्य होता है। शिवकी नमस्कृतिसे प्रारम्भ होनेवाला प्रसाद साहित्य शिवकी समरसतामें[2] एक रस होकर समत्वका संदेश दे गया।

प्रसादजीका साहित्यिक जीवन शिवत्त्वकी सम्पूर्ण व्याख्या है। उनकी प्रथम कृति उर्वशो (१९०९) से यह स्पष्ट ही परिलक्षित होता है कि, प्रसादके इष्टदेव शिव थे। उर्वशी पुस्तकके निवेदनके प्रारम्भमें ही जो वाक्य सर्वप्रथम छपा हुआ है, वह है—'श्रीशिवजी सहाय'। वैश्य एवं व्यापारो परिवारोंका यह प्रसिद्ध वाक्य है। 'श्रीलक्ष्मीजी सदा सहाय' 'श्रीगणेशजी सदा सहाय' आदि। वहाँ द्रव्य प्राप्तिमें बाधाहीनताके उद्देश्यसे उनकी वन्दनाकी जाती है। पर यहाँ इस साहित्यिक कृतिके प्रथम वाक्यके रूपमें आपने इष्टका स्मरण करना ही अभिप्रेत है। प्राचीन पद्धतिके

---

१. काव्यप्रकाश उल्लास १ कारिका २, पृ० ५, पं० २–३।

२. कामायनी, आनन्द पृ० २९४, पं० १७–२० । पृ० २८८, पं० १–४।

अनुसार कार्यारम्भके समय देवस्मरण मांगलिक होता है। मंगलाचरणकी प्रथा भारतीय भक्तिभावनाका भव्य उदाहरण है। इसमें संदेह नहीं कि, शिव कविकी सदा सहायता करते रहे। मूल पुस्तके आरम्भमें भी 'ॐ नमः शिवाय' छपा है। 'ॐ नमः शिवाय' शिवका षडक्षर मन्त्र है। मन्त्र संहितामें और शैव तन्त्र ग्रन्थोंमें इस मन्त्रकी महत्ताका पूरा वर्णन मिलता है। मंगलाचरणका सोरठा भी—

शम्भुनयन प्रतिबिम्ब, जयति शैलजा वदन पै।
राजत विधुके विम्ब, मन हु नील कमलावली॥

भगवान् शंकरके प्रभावका द्योतक है। शम्भुके नयनका प्रतिबिम्ब नील कमलावली बनकर विधुके बिम्बपर प्रतिबिम्बित है। प्रसादके अनुसार वही सब कुछ है। उसकी जानकारीसे शिवत्वकी प्राप्ति हो सकती है। कवि उस परमतत्त्वका दर्शन कर सका था, जिसे प्राप्तकर व्यक्ति परम माहेश्वरत्वके उच्च स्तरपर विराजमान हो जाता है। जो व्यक्ति परावरतत्त्वका दर्शन कर लेता है, मन्त्र और तन्त्रोंमें निष्णात हो जाता है, वह आत्मवशी हो जाता है[1]।

प्रसादकी दिनचर्या

प्रसाद नियमतः ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर उपनिषदोंका अध्ययन करते थे। अध्ययनके उपरान्त वे कविता लेखन करते थे। तदनन्तर बेनियाबाग या गंगातटपर परिक्रमणके लिये वे निकल पड़ते थे। रास्तेमें कभी श्रीप्रेमचन्द्र श्रीगहमरी या श्रीव्याससे मुलाकातें भी होतीं, वहीं उनसे साहित्यिक चर्चायें भी चलतीं। लौटते समय डा० एच० सिंहके यहाँ भी वे कभी-कभी बैठा करते थे। तेल मालिश कराना उनका नित्यका स्वभाव था। दससे ग्यारह बजेके बीच प्रातःकाल दिनमें वे निखरी चारपाईपर बैठते और वहीं मालिश कराते। इसके बाद उनके बैठनेका स्थान दुकान होती। दोपहरमें भोजनोपरान्त वे नियमित शयन करते थे। शयनोपरान्त वे सुर्तीके विविध मिश्रणोंके कार्यमें लग जाते और फिर सन्ध्याको दूकान

---

१. मन्त्रेषु यन्त्र-तन्त्रेषु निष्णातश्चेद् भवेद्वशी।
दृष्टे परावरे तत्त्वे स एव च भवेद् वशी॥
—जपसूत्रम्–स्वामीप्रत्यगानन्द।

सँभालनेमें लग जाते। दूकानसे लगभग दस बजे रात लौटते। भोजनोपरान्त कुछ विश्रामकर वे लिखने बैठ जाते। कभी-कभी तो वे रातभर लिखते ही रह जाते थे। उनका लैम्प जलता ही रह जाता था। यदि कभी कोई मित्र रातको भी आया और यदि कविताकी चर्चा प्रारम्भ हुई, तो वे उससे बड़ी ही गम्भीरताके साथ विचार विनिमय करते। सन् १९३५-३६ के मध्यकी बात है—एकबार दस बजे रातके लगभग श्रीनारायण चतुर्वेदीजी उनके यहाँ आये। उन्होंने कामायनी सुनाना शुरू किया। एक बजे तक वे सुनाते ही रह गये।

वे स्वभावके बड़े ही सरल और सहृदय व्यक्ति थे। गोबर्द्धन सरायके डा हरिवंश सहाय उनके परिचितों और आत्मीय व्यक्तियोंमें से थे। उन्हें यह पता था कि डा० साहबको निमोनिया हो गयी है। सन्ध्याके समय आवश्यक कार्यमें रह जानेके कारण वे पता न लगा सके। १ बजे रातको नींद खुलनेपर अपने मालिशवाले नौकरको भेजकर उन्होंने बीमारीके सम्बन्धमें पूछ ताछ की। इससे उनकी सहृदयताका स्पष्ट पता चलता है[1]।

उनके वार्तालापके मुख्य विषय द्वैत और अद्वैत सम्बन्धी सिद्धान्त थे। डा० हरिवंश सहायसे वार्तालापके प्रसंगमें उन्होंने स्पष्ट ही कहा था—'मैं स्वयं ईश्वराद्वयवादी हूँ'। उनकी मान्यता थी कि, जन्म तो होना ही नहीं है। इसका एकमात्र कारण शिवत्वकी उपलब्धि थी। जो व्यक्ति परमशिवकी उपलब्धिकर लेता है, वह स्वयं जीवनमुक्त हो जाता है। उसके लिये जन्म और मृत्यु कोई महत्वकी बातें नहीं रह जातीं।

श्रीरामनाथ सुमनसे उनका बड़ा अन्तरंग सम्बन्ध था। प्रोफेसर रामशरणजी मुरादाबादसे सुमनजीका सम्बन्ध था और इस प्रकार ड० हरिवंश सहायसे भी उनका सम्बन्ध था।

श्रीदीनबन्धु ब्रह्मचारी

श्रीदीनबन्धु ब्रह्मचारी 'प्रसादके गुरु नहीं थे।' प्रसादजी किसीको

---

१. डा० हरिवंश सहाय, गोवर्द्धन सराय, वाराणसी से व्यक्तिगत बातचीतके आधारपर।

गुरु बनाने या स्वयं बननेके पक्षपाती नहीं थे। उनके गुरु जगद्गुरु भगवान् शंकर ही थे। उन्हें ही वे गुरु मानते थे। एक बार एक व्यक्ति उनसे शिष्य बननेकी प्रार्थना करने लगा। उन्होंने आर्द्र होकर कहा—जब हमारे यहाँ—'गुरुर्ब्रह्मा गुर्रुविष्णुः'की उत्कृष्ट आदर्शवादिता है, तो मैं इस योग्य कैसे हो सकता हूँ? मैं गुरुत्वकी गरिमासे निश्चय ही संवलित नहीं हूँ। इसीप्रकार ब्रह्मचारीजी भी उनके गुरु नहीं थे। बहुतसी पुस्तकोंमें यह उल्लेख मिलता है कि, श्रीब्रह्मचारीजीने उन्हें समग्र औपनिषदिक, आगमिक, और दार्शनिक ज्ञान प्रदान किया—यह अतिशयोक्ति है। वास्तवमें श्रीदीनबन्धुचारी एक सहृदय और उच्च आशयवान् सन्त थे। उनका स्वाध्याय उच्चश्रेणीका था। उन्होंने शास्त्रीय विषयोंका मन्थन किया था, निदिध्यासनके स्तरपर वे यौगिक गरिमासे संवलित थे। प्रसादजी ऐसे व्यक्तियोंसे मिलनेमें आनन्दका अनुभव करते थे। उनके सान्निध्यसे लाभ उठानेमें भी वे संकोच नहीं करते थे। 'वादे-वादे जायते तत्त्व बोधः' के ये पक्षपाती थे।[1]

दीनबन्धुजी शैव थे। वे वैष्णव, शाक्त या सूर्योपासक तथा इन सब विषयोंके प्रखर पारखी थे। वे प्रसादजीके घरके पास ही श्रीदेवीदत्त शुक्लजीके घर रहते थे। श्रीशुक्लजीका परिवार काशीके पण्डित परिवारोंका शिरोमणि परिवार था। ऐसे उत्कृष्ट परिवारमें ही श्रीदीनबन्धु ब्रह्मचारी रहते थे। उसी मुहल्लेमें सुंघनी साहुका परिवार भी निवास करता था। दोनों परिवार सांस्कृतिक दृष्टिसे महान् थे। दोनोंका मधुर सम्पर्क था। आना जाना था और प्रेम परिचय था। उसी क्रममें श्रीब्रह्मचारीजी भी प्रसाद परिवारमें आये और प्रसादसे उनका घनिष्ठ सम्पर्क हो गया।

यह स्वाभाविक बात है कि, ऐसे उत्कृष्टकोटिके दो व्यक्ति जब एकत्र होंगे, तो दार्शनिक चर्चा छिड़करके ही रहेगी। दोनो विद्वान् घण्टों एकान्तमें विचार विमर्श करते रहते। 'प्रसाद' जी उस अद्भुत ब्रह्मचारीके अमृत अनुभवोंको आत्मसात् करते थे।

वे गुरु नहीं तो गुरुस्तरीय व्यक्ति या गुरुमित्रतो कहे ही जा सकते हैं।

---

१. कविप्रसादकी काव्य साधना, पृ० २३, पं० १७-२०।

मित्रतो बराबरीका होता है, पर कभी-कभी मित्र बराबरीसे ऊपरका होता है। उदाहरणके रूपमें कृष्ण और अर्जुन को लिया जा सकता है। कृष्ण अर्जुनके मित्र थे-सखा थे पर गुरुभी थे। सारथि भी थे और जीवन-की दार्शनिक उत्कृष्टताके स्तरपर अर्जुनको ला बिठाने वाले अमर गीता गायक भी।

यह दूसरी बात है कि अर्जुनको व्यामोहके प्रसङ्गमें अपने मित्रकी शरण ग्रहण करनी पड़ी ! प्रपन्न होना पड़ा और 'शाधि माम्' की याचना करनी पड़ी। कृष्णको अपना महान् अनुशास्ता मानना पड़ा। इसी आधार पर यह कल्पना करनेको हिन्दीका विद्यार्थी बाध्य है कि, प्रसाद अपने संदिग्ध स्थलोंके लिये आदरणीय ब्रह्मचारीजीका आश्रय लिये होगें। उन्होंने अपनी जिज्ञासाओंका समाधान अपने मित्रसे कराया होगा, अपने सन्देहोंका निराकरण कराया होगा एवं अपने विवेकके आवरणोंको भग्न करनेमें सहायता ग्रहणकी होगी।

इसप्रकार वर्णमें गुरु ब्रह्मचारी विद्याकी गुरुताको स्वतः प्राप्त कर गये हों, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। न तो कभी ब्रह्मचारीजीने किसी प्रसंगमें प्रसादको अपना शिष्य कहा था और न प्रसादजीने उन्हें अपना मित्र या गुरु। यह उन दोनोंका सम्पर्क ही था, जिसके आधारपर लोगोंने यह लिखा कि, श्री ब्रह्मचारीजीने उन्हें समग्र ज्ञान विज्ञान सिखाया[१]।

प्रसादजी परिवारके संस्कारोंसे शैव थे[२]। अन्ततकवे शैव बने रहे। उस निष्ठामें रञ्चमात्रभी परिवर्तन नहीं आने पाया। वरन् उत्तरोत्तर उत्कर्ष ही होता रहा। शिवत्त्वका परिवेश बढ़ता रहा। अपनी प्राण-वत्तामें प्रत्यभिज्ञाके शुभ्रका सम्मिश्रण वे करते रहे।

काशी निवासकी आस्थामें मुक्ति ही हेतु होती है[३]। यहां शिव ही तारकमन्त्र[४] देकर जीवत्त्वको शिवत्त्वमें पर्यवसित करते हैं। इस लौकिक जीवनमें जो शिवत्त्वकी प्राप्ति नहीं कर सकता--उसे पारलौकिक जीवनमें

१. कविप्रसादकी काव्यसाधना, पृ० २३, पं० १७--२०।

२. कविप्रसादकी काव्यसाधना, पृ० २३। पं० २५–२७।

३. काश्यां मरणान्मुक्तिः, काशीखण्ड।

४. 'ॐ रां रामाय नमः'।

भी यदि शिवत्त्व उपलब्ध हो, तो भला उसकी उपेक्षा कैसेकी जा सकती है ? भारतीय समाजमें काशीवासके मूलमें यही भावना भरी होती है। श्री ब्रह्मचारीजी काशीवास करते थे। उन्हें न केवल पारलौकिक शिवत्त्व की ही अभिलाषा थी, वरन् अपने ऐहिक जीवनमें भी उन्होंने सत्यं और शिवम्‌की प्राप्तिकी साधनाकी थी। प्रसादसे उनके प्रेमका, स्नेहका, मैत्री-का प्रगाढ़ परिचयका, आत्मीयताका और एकान्त गोष्ठियोंमें पारस्परिक विचार विनिमयका यही रहस्य था।

एक बार डा० राजेन्द्र नारायण शर्मा ने प्रसादसे उनके बारेमें भी पूछा था। प्रसादने तुरत प्रश्नसूचक उत्तर दिया था--'अर्जुनके मित्र के रहल ?' 'कृष्णक मित्र के रहल ? मित्र त एकाधे कोई हो सकेला।' पर उस एकाधमें किसी नामकी चर्चा उन्होंने नहीं की थी। उनकी मित्रताका आदर्श भी बड़ा ऊँचा था। 'समानशीलव्यसनेषु मैत्री' को तो वे साधारण स्तरकी मैत्री मानते थे। उनकी मैत्री उत्कृष्ट श्रेणीकी भावनासे भरित थी। मन, वाणी, कर्म, मान-सम्मान, गरिमा-गौरव साथही भोजन-छाजन आदि सभी स्तरोंपर उच्च सौन्दर्य हो, अन्तर रहित आत्मीयता हो—ऐसी मैत्रीको ही वे मान्यता देते थे।

सिद्ध शैव श्री शैवध्वज

असाधारण, असामान्य आकृतिमें, अलौकिक वेशभूषामें एक लम्बे भरे दोहरे शरीरके महामानवको काशीकी गलियोंमें घूमते और अपनी मस्तीमें रमते झूमते चलनेवाले आकर्षक व्यक्तित्त्व सम्पन्न, मानवरूपधारी दिव्य देवताको गंगा और विश्वनाथकी सन्निधिमें जीवन यापन करते—उस समयकी अनगिनत आँखोंने देखा था। वे भाग्यशाली थे।

ऐसे ही वे अनुपम महापुरुष थे—श्री शैवध्वजजी। आपाद मस्तक विभूतिभूषित, विभूति भी इधर-उधर की नहीं—महाश्मानको, मणि-कर्णिकाकी, हरिश्चन्द्रघाटकी-मुर्दोंकी ! चरणोंमें पादुका कभी होती कभी नहीं भी। पुष्ट पिण्डलियोंमें उनके चरण दृढ़ताके साथ जमते और मस्तीसे उठते। जानु और जङ्घोंके ऊपर लम्बमान व्याघ्र चर्म ! कसकर बन्धी हुई मूंजकी सेखला, सिंहके समान कटि प्रदेश, विस्तृत वक्षस्थल, शरीरके मांसल अंग-प्रत्यङ्ग। लम्बमान भुजाओंमें सर्वदा धारित त्रिशूल,

त्रिशूलमें बँधा लाल वस्त्र और सर्वदा मालावेष्टित उसका मध्यभाग ! लाल-लाल आँखें किसी अलौकिक आलोकसे ओत-प्रोत। कण्ठमें कभी रुद्राक्षकी मोटी दुहरी माला और कभी नागकी कुण्डली। कानोंमें और हाथोंके जोड़ोंमें रुद्राक्षकी मोटी मनिकायें, धतूर फल खानेके कारण एक विचित्र मस्तीके आलममें रहनेवाले, फक्कड़ और निर्भीक महात्मा ! ऐसे थे श्री शैवध्वजजी महाराज।

तीन लोकसे न्यारी काशीमें ऐसे अद्‌भुत साधुका संचरण शिवभक्तोंको ही नहीं वरन् समस्त काशी वासियों अथ च अन्य सम्पर्कमें आनेवाले तीर्थ यात्रियोंके लिये भी एक महत्त्वपूर्ण श्रद्धाका आधार था। वे निरन्तर 'शिवोऽहम्'का घननाद करते हुए चलते, कोई यदि पीछेसे राम या कृष्ण कह देता, उनकी जय बोल देता, विशेषकर उन्हें सुनाकर, तो वे तनकर खड़े हो जाते, उनकी गम्भीर दृष्टिसे उस दिशामें प्रेम, स्नेह, क्रोध, श्रद्धा और माधुर्यकी धारा प्रवाहित हो जाती ! लोग मौन हो जाते। कुछ महादेव कहकर उन्हें आगे बढ़नेकी याद सी दिला देते और वे आगे बढ़ जाते। महात्मा शैवध्वजका निवास था—प्रसादका वह शिवमन्दिर, जो उनके पूर्वजोंकी कीर्त्तिका स्तम्भ है और आज भी वह प्रेरणाका स्रोत बना हुआ है। मानवरूपमें वे देव थे। मानो भैरव वहीं उस रूपमें विश्वनाथकी भूतभावनकी भव्य नगरीका अहर्निश अवलोकन करते डोल रहे हों।

उन महात्माका प्रसादके ऊपर महाप्रभाव था। उनसे प्रसादने क्या ग्रहण किया—इसका स्पष्ट अथवा अस्पष्ट उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं है, पर यह ध्रुव सत्य है कि, उन महापुरुषके मङ्गलमय आशीर्वाद-अमृतसे प्रसाद अवश्य ही आप्यायित हुए।

भारतीय साहित्यके उस अव्यवस्थित और शक्तिक्लान्त परिप्रेक्ष्यमें कामायनी जैसे महाकाव्यकी सृष्टि विना दिव्य प्रेरणाओंके असम्भव थी। मानव प्रतिभाके बल बूतेकी बात वह प्रतीत ही नहीं होती। कामायनीके महाप्राणत्वकी पृष्ठभूमिमें महात्मा शैवध्वजका सहवास किसी अगाध निष्ठाका आधान करनेमें अवश्य ही सफल हुआ। 'प्रसाद' उनसे अप्रभावित रहे हों—इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह भी परिवारकी परम्पराका प्रतीक सिद्धान्त ही जहाँ मूर्त्तिमन्त होकर वातावरणको अधिकाधिक शैवस्वारस्यसे समन्वित बना रहा हो। नित्य-

प्रतिकी उनकी अपनी उपासना प्रक्रियाका निरीक्षण, उनके विचारोंके आदान-प्रदान एवं व्यक्तित्वकी पारस्परिक परिष्कृति यह सारी बातें एक अभिनव भविष्यकी सर्जनाकी मूल प्रक्रियाकी ओर संकेत कर रही थीं।

वीर शिवाजी महाराजके जीवनका निर्माण समर्थ गुरुरामदासने किया था। वह राजनीतिके क्षेत्रकी एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। उसीप्रकार प्रसादके जीवनके परिष्कारमें इन दो सन्त पुरुषों, श्रीब्रह्मचारीजी एवं श्री शैवध्वजजीका मूक दाय भी अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। प्रसादके सन्दर्भमें, इनके अध्ययनके परिप्रेक्ष्यमें और प्रसादके निर्माणके मूल अनुसन्धानके प्रसङ्गमें इन दोनों महात्माओंका विस्मरण नहीं किया जा सकता[1]।

प्रतिभाका परिष्कार

दो शताब्दियोंकी वयः सन्धिमें भारतेन्दुकी साहित्यसुधासे पोषित एक भावुक कवि तथा नाटककारके रूपमें प्रसादका आविर्भाव हुआ। बंकिमचन्द्र, द्विजेन्द्रलाल राय, रवीन्द्रनाथ और शरच्चन्द्र सदृश अप्रतिम बंगविभूतियोंकी प्रतिभाके स्वारस्यका आस्वादन प्रसादने किया, उसे आत्मसात् किया और अपनी वंशीका मधुरवादन किया। उस स्वर माधुरीसे समग्र हिन्दी साहित्य मुखरित हो उठा।

घरपर ही उन्हें उर्दू साहित्यके अध्ययनका भी अवसर मिला था। उर्दूकी सम्पूर्ण लाक्षणिकताकोभी उन्होंने अपना लिया। उसकी कलाका अविकल तो नहीं किन्तु लाक्षणिक तत्त्व अवश्य ग्रहण किया।

उनका व्यक्तित्त्व इतना महान् था, प्रतिभा इतनी प्रखर थी कि, द्विवेदी युगकी साहित्यिक मान्यताओंके समानान्तर, एक तरहसे प्रतिकूल ही अपना मार्ग चुना, उस मार्गके लिये दिशा निर्देश किया, प्रकाशकी व्यवस्था भी की। अपना चिन्तन उसे दिया। यहां तक कि, अपने जीवन-मधुसे मिश्रित कर मधुमती भूमिका तक पहुँचाया। उनकी समस्त रचनाओंमें विश्वकी अमर वाणी प्रतिबिम्बित है। उनकी भारतीकी वीणा-

---

१. ११ सितम्बर १९६६ रविवारको डा० राजेन्द्रनारायण शर्मासे बातचीतके आधारपर।

झंकृतिमें आनन्दवादके स्वर-ताल हैं। अभेदवादकी मूर्च्छनायें हैं और समरसताका[१] स्वारस्य है, जिनसे सारा सहृदयवर्ग आप्यायित है।

प्रसादका जन्म मध्यवित्त समाजमें हुआ था[२]। पिछले दो सौ वर्षोंका इतिहास इसी मध्यवित्त समाजके मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक ओर राष्ट्रीय संघर्षोंकी कहानी है। यूरोपीय सामन्ती व्यवस्थाने उद्योगपतियोंको जन्म दिया। भारतीय सामन्ती व्यवस्था इस क्रम विकासको प्राप्त नहीं हुई। मध्यवित्तवर्गने हिन्दू राष्ट्रीयता, प्राचीन गौरव, पश्चिमी सभ्यता और प्रजातन्त्रके चार स्तम्भोंपर भारतीय संस्कृतिका भव्य भवन निर्मित किया।

प्रसादके जन्मके समय इस मध्यवित्त समाजका कोई निश्चित जीवन-दर्शन नहीं था। भारतेन्दुने उस अवस्थाको दुइरंगी कहा है[३]–प्रसादजी इसी मध्यवित्त समाजमें उत्पन्न होनेके कारण प्रथमतः अनिश्चित जीवन-दर्शनके कारण अनेकप्रकारके मानसिक अवसादके शिकार बने। उनके सुखके सपने टूटे। स्वयंके भी और उनके रचित पात्रोंके भी। 'अमृतके सरोवरमें स्वर्ण कमल खिल रहा था। भ्रमर वंशी बजा रहा था। सौरभ और परागकी चहल पहल थी। सबेरे सूर्यकी किरणें उसे चूमनेको लौटती थीं। सन्ध्यामें शीतल चांदनी उसे अपनी चादरसे ढक देती थीं। उस मधुर सौन्दर्य, उस अतीन्द्रिय जगत्की साकार कल्पनाकी ओर उन्होंने हाथ बढ़ाया ही था कि, वहीं स्वप्न टूट गया'।

स्वप्न टूटनेकी यह बात मध्यवित्तीय समाजके ऊपर पड़ने वाली परिस्थितियोंके विषम वज्राघातकी ही द्योतक है[४]। प्रसादने पश्चिमी सभ्यताको बड़े ही विषादकी दृष्टिसे देखा। अपनी कामना (१९२७) नामक पुस्तकमें उन्होंने उसका बड़ा शक्तिशाली रूपक उपस्थित किया है। उसमें

---

१. कामायनी, आनन्द, पृ० २९४, पं० १७–२०।

२. प्रसादकी विचारधारा, पृ० २२।

३. भारतमें एहि समय भई है, सब कुछ विनहि प्रमान हो दुइरंगी, आधे पुरान पुरानहि माने, आधे भये किरिस्तान हो दुइरंगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

४. स्कन्दगुप्त, अ० २।

यह दिखलानेकी चेष्टाकी है कि, पूर्वकी सांस्कृतिक विजय अवश्यम्भावी है। पहले प्रसाद भाग्यवादी थे। बादमें कर्मलिपिको अखण्डनीय मानने लगे थे[१]। तदनन्तर उनकी प्रतिभाका क्रमिक विकास प्रारम्भ हुआ।

उनका प्रौढ़ काव्य युग १९२६ से प्रारम्भ होता है[२]। १९२६ से प्रारम्भकर जीवनके अन्तिमवर्षों तक उनकी प्रौढ़तम रचनायें हिन्दी साहित्य जगत्‌को रस-सिक्त करती रहीं। कामायनीका निर्माणकार्य १९२६ से ही प्रारम्भ हुआ। उस समय उनकी मानसिक स्थिति अपेक्षाकृत शान्त थी। विगतसे जहां वे व्यथित थे, वर्तमानसे बहुत कुछ सन्तुष्ट हो चले थे। कामायनोकी रचनाके अन्तः साक्ष्यके आधारपर यह बात कही जा सकती है। उस समयतक अभी उनका शरीर स्वस्थ था। दृढ़ मांस-पेशियोंसे सुगठित अवयवोंसे ऊर्ज्जस्वल व्यक्तित्वसे वे प्रभान्वित थे। उनको यह अनुभूत होता था कि, अभी स्फीतशिराओंमें स्वस्थ रक्तका संचार हो रहा है[३]। विगतकी चिन्ताओंकी कातरता और पौरुष-भूषित वर्तमान दोनोंकी धूपछांहीं आभासे भावित कमल कोशके भीतर मकरन्दका मधुमय स्रोत बनता हुआ जान पड़ता था[४]।

उनके जीवनकी नौका अब महावटसे बंध चुकी थी। प्रत्यभिज्ञादर्शनके प्रभावसे वे परमशिवका आश्रय पा चुके थे। उन्हें ठहरनेके लिए एक स्थल मिल गया था। जहां चंचल नौका तिमिंगिलोंके आघातोंसे अपने अस्तित्वके प्रति संशयापन्न थी, वहां अब उसे एक सूखी जमीन मिल गयी थी। जलप्लावन उतर चुका था और मही (महनीय भावाधारा) निकलने लग गयी थी[५]।

कहानी तो अतीत की हो, विगतकी ही होती है। और इनका विगत तो करुणासे विकल था ही। मही क्या निकलने लगी-मानो मर्म वेदना ही निकल रही हो। वेदनासे वेद्यको उपलब्धि सम्भव है। भावनाकी उसी

---

१. जनमेजयका नागयज्ञ, अ० ३। २।

२, प्रसादका जीवन साहित्य, पृ० ५२, पं० ६।

३. कामायनी। चिन्ता, पृ० ४, पं० १–४।

४. वही। चिन्ता, पृ० ४, पं० ५–८।

५. ,, ,, पृ० ४, पं० ९–१२।

उच्च भूमिपर प्रकृति पहचानी सी लगने लग जाती है और वह मुस्कराती है कि, भला जीवत्वका शिवत्वकी ओर प्रयाण तो हुआ[१]।

हिमगिरिके उतुङ्ग शिखरपर बैठने वाला व्यक्ति ही प्रलय जलदकी अकाल क्रूरताका परिदर्शन कर सकता है। प्रसाद परमशिवत्त्वके उत्तुङ्ग शिखरपर विराजमान हो गये थे। उन्हें एकत्त्वकी प्रधानताकी दिव्य अनुभूति हो गयी थी। जड़ चेतनमें एकभावका अनुदर्शन, जड़में चिद-धिष्ठान[२] की महानुभूतिने उन्हें रहस्यात्मक अभिव्यक्तिकी ओर प्रेरित कर दिया।

शिवाद्वयवादीके समक्ष प्रलयसिन्धुकी लहरोंका सकरुण अवसान अवश्यम्भावी है[३]। ऐसे हीं तपस्वी मनु-प्रसाद थे। कामायनीके इन चित्रोंमें एक ओर प्रसादका विगत जीवन और दूसरी ओर उनकी प्रत्यभिज्ञादर्शन की परिनिष्ठाका प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित है। कामायनी उनकी प्रत्यभिज्ञादर्शन सम्बन्धी आस्थाका अप्रतिम प्रतीक और चमत्कारपूर्ण चित्र है।

उनके साहित्यिक जीवनका आरम्भ कविके रूपमें ही हुआ था[४]। अपने अध्यवसायके बलपर वे सफल नाटककार, उपन्यासकार, कहानी-कार, निबन्धकार एवं महाकविके रूपमें हिन्दी साहित्यमें प्रतिष्ठित हुए। साहित्यके विविध अंगोंके योगदानको इसरूपमें देखा जा सकता है[५]।

१–चम्पू–उर्वशी (१९०९), प्रेमराज्य (१९१०)।

२–काव्य-चित्राधार (१९०८-९), कानन कुसुम (१९१२), करुणालय (गीतिनाट्य १९१३), प्रेमपथिक (१९१३), महाराणाका महत्त्व (१९१४)। आंसू (१ २५-२६), झरना (१९२७), लहर (१९३५), कामायनी (१९३६)

३–नाटक-सज्जन (१९१०–११), कल्याणी परिणय (१९१३), प्रायश्चित (१९१४), राज्यश्री (१९१६), विशाख (१९२१), अजातशत्रु (१९२२),

१. कामायनी। चिन्ता, पृ० ४, पं० १३–१६।
२. तन्त्रालोक आ० ९। १४४।
३. कामायनी, चिन्ता, पृ० १, पं० १–१६।
४. जयशंकरप्रसाद (नन्ददुलारे वाजपेयी) पृ० २५, पं० १५।
५. प्रसादका जीवन और साहित्य, पृ० १२, पं० २४–३२ से पृ० १३, पं० १–१० तक।

जनमेजयका नाग यज्ञ (१९२६), कामना (१९२७), स्कन्दगुप्त (१९२९), एकघूंट (१९२९), चन्द्रगुप्त (१९३१) और ध्रुवस्वामिनी (१९३३)।

४–कहानी संग्रह-छाया (१९१२), चित्राधारको कहानियां (१९१८), प्रतिध्वनि (१९२६), आकाशदीप (१९२९), आंधी (१९३१), इन्द्रजाल (१९३६)।

५–उपन्यास-कंकाल (१९२९), तितली (१९३४), इरावती (अपूर्ण)

६–निबन्ध-काव्य और कला तथा निबन्ध (१९३०)

७–सम्पादकीय-इन्दु (१९०९-१९१६), जागरण (१९२८), हंस (१९२८)।

उनके काव्यके मुख्य और प्रिय वर्ण्य विषय हैं–अतीतकी दुःख-सुखमयी स्मृतियां, प्रकृतिका आलम्बन और उद्दीपन पक्ष, अन्तर्द्वन्द्व, यौवन और शृंगार, सम्पूर्ण समाधान कारक प्रत्यभिज्ञावादी दार्शनिकता, दर्शनशासित प्रेम, परिष्कृत सौन्दर्य, सर्वांगपूर्ण जीवनदर्शन, नारी पुरुषका जागतिक महत्त्व और उनके सम्बन्धका समर्थ चित्रण, विज्ञान सम्मत विकासकी सार्थकता, मनोविज्ञानके साथ मानव सभ्यता का विकास आदि।

नाटकोंके मुख्य विषय-चरित्र विषयक नूतन उद्भावनायें, इतिहासका उज्ज्वल पक्ष, घटनाओं और चरित्रोंके स्वतन्त्र निर्माणमें दर्शित जीवनकी ज्वलन्त समस्यायें और संघर्षोंकी राजनयिक योजनायें। बौद्ध और ब्राह्मण धर्मका तुलनात्मक स्वरूप, समाजपर उनका प्रभाव, कंचुकांचित जीवका विपुल व्यामोह और पाशबद्धताके प्रतीक चित्रण आदि हैं।

कहानियों और उपन्यासोंमें उन्होंने जीवनकी बहुमुखी भावधाराका हिन्दुत्वके सामाजिक परिवेशमें आलोड़न किया है। प्रासङ्गिक और आनुषङ्गिक चित्रोंमें कल्पनाके पुट, मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक पार्श्वभूमि, उन्मुक्त वायुमंडलकी विस्मयकारक और साहसिक घटनावलीके बीच मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक चित्रण[१] मुख्यरूपसे वर्णनके विषय बनाये गये हैं।

प्रसादजी स्त्री पुरुषके समानाधिकार और स्वातन्त्र्यके समर्थक थे।

१, जयशंकरप्रसाद, पृ० २६–२८।

प्रसादकी प्रकृतिके पौरुष गुण सम्पन्न होनेके कारण उनके साहित्यमें शक्ति और आनन्दका प्राधान्य है[१]। शक्ति और आनन्दकी उपासनाका सन्देश ही उनका मुख्य स्वर है।

प्रसादकी दृष्टि समन्वयात्मक है। वे संवर्षात्मक जीवनदर्शनके अनुयायी नहीं हैं[२]। जीवन वसुधाको समतल देखनेका उनका स्वानुभव प्रत्यभिज्ञादर्शनपर ही आधारित है[३]। उनका दृष्टिकोण इतना पावन हो गया है कि, उन्हें यहां कोई शापित या तापित नहीं दीख पड़ता है। शिवकी सर्वमयताके महाभावसे भावित व्यक्तिकी भावभूमिकी भव्यता हिन्दी साहित्यमें अन्यत्र दुर्लभ है।

कामायनीमें प्रसादजी चिदात्मकताकी उच्चभूमिपर पहुँचकर ही पश्यन्तीकी भाषामें बोलते हैं। सचराचर विश्वको अपने दुःख सुखसे पुलकित देखना और चितिके विराट् मंगल वपुका दर्शन करा देना उन्हींका काम था। जगत्को मिथ्या मानने वालोंको वे यह सीख सी देते हैं कि, यह जगत् मिथ्या नहीं, सत्य है, अनित्य नहीं, सतत है और विरूप नहीं, चिर सुन्दर है[४]।

कामायनीके आनन्दसर्गमें विश्वके लिये दिया हुआ प्रसादका सन्देश स्वाभाविक है। कामायनी अणु अणु, कण कणको अपना समझनेकी दृढ़-निष्ठा व्यक्त करती है। 'मैं की मेरी चेतना' बनकर सर्वका स्पर्श करती है। परिस्थितियोंकी मादक घूंट पीकरभी उषा और निशामें जागरण और शयनके रहस्यका उद्घाटन करती है[५]। स्वयम् श्रद्धाकी स्वीकृति तथा श्रद्धापुत्रके लिये इड़ाकी स्वीकृति कामायनीके माध्यमसे मानव जातिके जीवनदर्शनकी एक उपलब्धिके समान है। सचमुच कामायनी प्रसादके कृतित्वकी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है[६]।

---

१. वही. पृ० ३४–३५।
२. जयशंकर प्रसाद भूमिका, पृ० १२, पं० २९–३१।
३. कामायनी, आनन्द, पृ० २८८, पं० १–४।
४. कामायनी, आ० पृ० २८८, पं० १७–२०।
५. कामायनी, आनन्द, पृ० २८९, पं० १–१२।
६. जयशंकरप्रसाद, पृ० २६, पं० १५।

प्रसाद भावकी जिस उच्च भूमिपर विराजमान हैं, वहांसे समस्त जीवन वसुधा समतल दृष्टिगोचर होती है। जो जहां है, वहीं समरस है, फिर शापित और तापित होनेका वहां प्रश्न हो नहीं उठता[१]। उस विन्दु-पर समरसतावाद[२], बिम्बप्रतिबिम्बवाद[३], अभेदवाद[४], चितिमाहात्म्यवाद[५] सभी ईश्वराद्वयवादमें समाहित हो जाते है। वहां आभासवाद[६] भी प्रकाशवादमें परिणत हो जाता है। जड़ या चेतनकी समरसताको सर्वोत्कृष्ट भावस्तर पर पहुँचाकर कामायनी-चेतनाके विकासमें अखण्ड आनन्दकी अनुभूति भरती हुई शिवत्वका सन्देश देती है।

प्रसाद विकासके पक्षपातीथे। उनकी उर्वशीके[७] रूपमें चित्रित नारीत्वका विकास कामायनीके नारीत्वमें और भी विकसित हुआ है। देवध्वंसावशेष एवम् असहाय उल्काके समान शून्यमें भ्रांत फिरनेवाले मनुको[८] जड़ चेतनसामरस्यके अखण्ड आनन्दकी भूमिपर अधिष्ठितकर प्रसाद स्वतः आनन्द मग्न हो जाते हैं[९]।

४-प्रसादको चिन्तनधारामें दार्शनिकताका श्रीगणेश

भक्तिमें जब तर्क और विचारकी तरङ्गोंका स्पन्दन होता है, तब दार्शनिकताका श्रीगणेश हो जाता है। नववर्षकी अवस्थामें किशोर-प्रसादकी प्रसन्नरचनाके रूपमें सरस्वतीका प्रथम उद्गीथ प्रादुर्भूत हुआ[१०]। उसमें भक्तिकी आभाका प्रोद्भास है। पारिवारिक शिवालयमें

---

१. कामायनी, आनन्द पृ० २८८, पं १–४।
२. वही, आनन्द, पृ० २८८, पं० १–८।
३. कामायनी, आनन्द, पृ० २८८, पं० ९–१२।
४. वही, आनन्द, पृ० २८८, पं० १३–१६, पृ० २८९, पं० १–२०।
५. कामायनी, पृ० २८८, पं० १७–२०।
६. कामायनी, आनन्द, पृ० २९४, पं० ९–१२।
७. चित्राधार, उर्वशी।
८. कामायनी, श्रद्धा, पृ० ४८, पं० ९–१२।
९. कामायनी, आनन्द, पृ० २९४, पं० १७–२०।
१०. प्रसादके संस्मरण—डाँ राजेन्द्र नारायण शर्मा-साप्ताहिक आज ता०१५-११-३५ पृ० ७।

प्रतिदिन प्रभात-सायम् पूजन, आरार्त्तिक्य विधान, व्रतों पर्वों और अन्यान्य अवसरोंपर कीर्तन गायन और नर्त्तनका आयोजन, श्रद्धालु सत्संगियों, भक्तप्रवरों और संत सज्जनोंके समागमके साथ ही साथ परिवारके लोगों, गुरुजनों, माता-पिता सबकी व्यक्तिनिष्ठ उपासना, यह सब एक किशोरके हृदयको विचारप्रवण बनानेके लिये पर्याप्त थे। मांकी गोदसे उतरते ही सबको भवसिन्धुमें जीवनकी नौका के खेवैयाका आधार मिल जाता है। प्रसादको भी मांके अंकसे उतरनेपर भवसिन्धु खेवैयाका महान् आश्रय मिल गया[१]। प्रथमतः शिव एक आराध्यके रूपमें उनकी सगुणभक्तिके आधार थे। पर आगे उनका वही शिव अष्टमूर्तिमें व्यक्त विश्व-व्याप्त शिव बन गया[२]। धरा, कीलाल, वैश्वानर, आकाश, समीर, दिनेश, और सज्जनमनुष्यमें उसी परमेश्वर शिवकी 'प्रभावती सुखमा' की[३] अनुभूति उन्हें होने लगी। फिर सुखदायी कल्पनाका प्रत्यक्ष हुआ। भूत और भविष्यत्के अन्तरालमें प्रकृति नटी द्वारा बुने जाने वाले संसारका एक अनोखे रूपकके संदर्भमें अनुभव हुआ और उनका हीतल शीतल हो उठा[४]। शैशवके चित्र, कहीं प्रेममय संसार और नवप्रेमिकाके प्यार, कल्पित छायाचित्र और तुम रचहु वहु जग भिन्न[५] के अभिव्यञ्जन, कवि प्रसादकी नयी दिशाका संकेत देने लगे। उन्हें कल्पनाका सुख मिला और उनका चित्तमराल सुख चाहि निरन्तर असीम तरंगमालिकामें खेलने लगा था[६]। चित्राधारकी कविताओंमें प्रसादकी चिन्तनधारामें दार्शनिकता स्पष्ट परिलक्षित है, जो क्रमशः उनकी प्रेमराज्य, प्रेमपथिक, काननकुसुम, झरना, आंसू, लहरसे लहराती हुई कामायनीके आनन्दवादमें समाहित हो गयी है। निष्कर्षतः नारी स्वातन्त्र्य, मानवताकी विजय, विश्वबन्धुत्व, समाजसेवा, वर्त्तमान आर्थिक ह्रासके समुत्थान और सर्वाङ्गीण देशोन्नयनका व्यापक परिवेश प्रसादके युगबोध का परिचायक है।

---

१. चित्राधार मकरन्द विन्दु, पृ० १८३।
२. चित्राधार अष्टमूर्ति, पृ० १४१।
३. ,, पृ० १४२।
४. ,, पृ० १४३, पं० १–७।
५. ,, पृ० १४३, पं० ९–१६।
६. ,, पृ० १४५, पं० १७–१८।

५—युगपरिप्रेक्ष्य

नये कविको अपनी कविताओंके प्रकाशनमें बड़ी कठिनाई होती है। प्रकाशकों या सम्पादकोंसे उसे प्रायः प्रश्रय प्राप्त नहीं होता। परिणामतः कई प्रतिभायें प्रकाशमें आनेसे पहले ही समाप्त हो जाती हैं। प्रोत्साहनके अभावमें वे मुरझा जाती हैं। प्रसादके सामनेभी यह कठिनाई थी। इसी कारण उन्होंने भानजे श्री अम्बिका प्रसाद गुप्तको एक पत्र प्रकाशित करनेकी प्रेरणा दी। इन्दुका प्रकाशन श्रावण शुक्ल सं० १९६६ से प्रारम्भ हुआ। इन्दु पत्रमें प्रसादकी ज्योत्स्नाका शीतल और आकर्षक प्रसार हुआ, जिससे हिन्दी जगत् ज्योतिष्मान् हो उठा। उनकी सर्व-प्रथम कविताका प्रकाशन भारतेन्दु पत्रमें सं० १९६३में हुआ। उनकी अन्तिम महनीय और कमनीय लोकोत्तर कृति कामायनीका प्रकाशन-संवत् १९९२-१९९३ है[1]। सन् १९०६ में उनकी प्रथम कविता निर्मित हुई, जिससे रससिद्ध श्री मोहिनीलाल गुप्तभी प्रसन्न हो उठे थे। इस प्रकार उनका कविताकाल सन् १९०६से सन् १९३६ सिद्ध होता है। इन ३०-३१ वर्षोंकी हिन्दी साहित्यकी ऐतिहासिक प्रवृत्तियोंका सिंहावलोकन प्रसाद साहित्यके परिप्रेक्ष्यको समझनेमें सहायक हो सकता है।

भारतेन्दु युग—(१८६५-१९०० ई०) काशीका हिन्दी साहित्यके उत्थानमें अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतेन्दुको उत्पन्न करनेका श्रेय काशीको ही है। श्री हनुमान, रसीले, बेनी, द्विज, रामकृष्ण वर्मा, जगन्नाथदास रत्नाकर, किशोरी लाल गोस्वामी आदि कवि भारतेन्दु कालीन शैलीको अपनाकर ब्रज भाषामें कविता कर रहे थे।[2] यद्यपि सन् १९०३ में महावीर प्रसाद द्विवेदीकी सरस्वतीका प्रकाशन प्रारम्भ हो गया था पर अभी उसका प्रभाव नहीं था। प्रसादकी प्रारम्भिक रचनाओं पर भारतेन्दु की शैलीका ही प्रभाव प्रतीत होता है। भारतेन्दु ने रामलीला नामक एक चम्पूकी रचना की थी। प्रसादने 'उर्वशी और बभ्रुवाहन' नामक दो चम्पू हिन्दी साहित्यको दिये। भारतेन्दुने छोटे प्रबन्धकाव्य देवी छद्मलीला, रानी छद्मलीला, तन्मय छद्मलीला

---

१. आमुखमें हस्ताक्षरका दिनाङ्क (महारात्रि १९९२)।

२. प्रसादकी याद संस्मरण २, ले०—रायकृष्णदास, हिमालय, कृष्ण-जन्माष्टमी सं० २००३, पृ० ६।

आदि लिखे थे। प्रसादने भी अयोध्याका उद्धार, वनमिलन, प्रेमराज्य, प्रेम पथिक आदि लघु प्रबन्ध काव्योंकी रचना की। पत्र निबन्ध प्रणाली भी प्रसादने भारतेन्दुकी पद्धतिपर ही लिखी, भारतेन्दु प्रकाश विदाई मानस, शरद्पूर्णिमा आदि बाईस पद्य निबन्धोंकी रचना की[१]। चित्राधार में ही संगृहीत तेइस कवित्त ३ सवैये और मकरन्द विन्दुके १४ पद भारतेन्दुके फुटकर पदोंके आधारपर रचित कवितायें हैं।[२] सज्जन[३] और प्रायश्चित नाटक[४] सत्य हरिश्चन्द्र और नीलदेवीके अनुकरणपर लिखे गये थे। भारतेन्दुने प्रिंस एलबर्टकी मृत्युपर शोक प्रकाश किया, तो प्रसादने सप्तम एडवर्डकी मृत्युपर अपने शोकोद्गार व्यक्त किये थे।[५]

शैलीकी अनुकरणात्मकताकी इस प्रवृत्तिने प्रसादको साहित्यके प्रमुख विधानोंकी संविधात्री शक्ति प्रदानकी। उनका अभ्यास बढ़ता गया। व्रजभाषा काव्य क्षेत्रमें प्रसादके कवित्वका संस्फुरण भारतेन्दु युगके आकर्षणके कारण ही सम्पन्न हुआ। समस्या पूर्त्तियोंके रूपमें कवित्वशक्तिके प्रदर्शनके युगानुकूल चित्राधारके कवित्त और सवैयोंकी रचना हुई।[६] वर्ण्य विषयोंके वैविध्यकी ओर ध्यान देकर युग प्रवृत्तिके प्रवाहके अनुरूपही प्रसादने 'रसाल'[७] उद्यानलता[८] नीरद[९], शरद्[१०] पूर्णिमा, इन्द्रधनुष[११] संध्यातारा[१२] विस्तृत[१३] प्रेम आदि प्राकृतिक दृश्यचित्रण प्रस्तुत किया। शैलीकी यह भारतेन्दु कालीन समृद्धि प्रसादको विरासतमें मिली। प्रसाद उसे अपनानेसे नहीं चूके।

---

१. चित्राधार पृ० १४१ से १७२ तक।
२. वही ,, पृ० १७५–१८८ तक।
३. वही ,, पृ० ९९–११४।
४. वही ,, पृ० ८९–९८।
५. प्रसादका विकासात्मक अध्ययन, पृ० १६।
६. चित्राधार पृ० १७५–१८३।
७. चित्राधार, पृ० १५१।
८. वही , पृ० १५३। ९. चित्राधार पृ० १६०।
१०. ,, ,, पृ० १६१। ११. ,, ,, पृ० १६४।
१२. ,, ,, पृ० १६२। १३, ,, ,, पृ० १६२।

द्विवेदी युग—(सन् १९०० से १९१५ तक) यद्यपि द्विवेदीजी हिन्दी की तात्कालिक प्रतीक सरस्वतीमें १९०३ में आये, पर लेखकके रूपमें वे बहुत पहले उसमें आ गये थे। कविताके सम्बन्धमें उनके विचार बड़े स्पष्ट थे। विचित्र वर्णाभरण संयुक्त और सुरम्य रसराशि-रंजित अलौकिकानन्द विधायिनी खड़ी बोलीकी रचनाके प्रसारके वे पक्षपाती थे।[१] द्विवेदीजीने 'कविकर्त्तव्य'[२] के माध्यमसे छन्द, भाषा, रूपविधान, तथा अर्थ-वैचित्र्य सभी अन्तरंग और बहिरंग विषयोंपर अपना अभिमत व्यक्त किया[३]। इस युगकी सबसे बड़ी विशेषता इतिवृत्तात्मकता और बौद्धिकताका साहित्यभूमिमें अधिष्ठान है। प्रसादकी काननकुसुम, करुणालय गीतिनाट्य महाराणाका महत्त्व, प्रेम पथिक रचनायें इसी कालमें आती हैं, जिनमें इतिवृत्तात्मकता, उपदेशात्मकता, नीतिपरकता एवं बाह्य वर्णनकी प्रधानता है। कल्पनाकी अपेक्षा बौद्धिकताका विशेष उल्लास है। प्रकृति चित्रणभी आलम्बन विधानके अन्तर्गत है। प्रेम पथिकमें अवश्य कुछ स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्तिका परिचय मिलता है। हिन्दी साहित्यके इतिहासके काव्यखण्डकी नयीधाराके द्वितीय उत्थानके अन्तर्गत जिसका समय १९१८ तक जाता है, द्विवेदीके प्रभावका युग माना जाता है[४]। इसकी विशेषतायें प्रसादमें हैं। खड़ी बोलीको प्रसादने पूर्णतया अपना लिया।

छायावादी युग—(१९१९ से १९३६) द्विवेदी युगके श्रीधर पाठक, मैथिलीशरणगुप्त और मुकुटधर पाण्डेय आदिमें स्वच्छन्दप्रवृत्तियोंके दर्शन की चर्चा रामचन्द्रशुक्लने अपने इतिहासमें की है। पर हिन्दीमें छायावादी

---

१. सुरम्यरूपे रसराशिरंजिते विचित्रवर्णाभरणे कहां गयी ?
अलौकिककानन्दविधायिनी महा कवीन्द्र कान्ते कविते अहो कहां ?

२. रसज्ञरंजनका निबन्ध। हिन्दी साहित्यका इतिहास डा० रामभूर्त्ति त्रिपाठी, पृ० ६८०, प० १३–१६।

३. हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृ० ३८१, प० ३–४।

४. रामचन्द्रशुक्ल–हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृ० ५७४।

युगके प्रवर्त्तक प्रसाद ही माने गये हैं[१]। स्वच्छन्द मनोवृत्तियोंके प्रतीक-रूपमें प्रसादने करुणालय (सं० १९६९), महाराणाका महत्व, (सं० १९७१) आदिकृतियोंमें नये नये मात्रिक छन्दोंमें अतुकान्त प्रणालीका प्रवर्तन किया। 'इन्दु' पत्रिकामें प्रकाशित उनकी रचनायें उनका छायावादका प्रवर्तक होना सिद्ध करती हैं। रामचन्द्र शुक्लने झरनाके द्वितीय संस्करण-में छायावाद कही जानेवाली विशेषताएं स्फुटरूपसे देखीं[२]। मधुमयी प्रतिभा, जागरूक भावुकता, बंग साहित्यके परिशीलनसे पद-लालित्यकी गूंज, प्रेम विलासमय मधुरपक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्तिके कारण प्रसादको संयोग वियोगवाली रहस्यभावनामें रमने वाले कविके रूपमें श्री शुक्लने चित्रित किया है[३]। छायावादकी वृहत्त्रयी (प्रसाद-पंत-निराला) ने हिन्दी साहित्यको पूर्ण समृद्ध किया। इनमें प्रसादकी देन बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है। झरनाके बाद प्रसादके आंसू और लहर उत्कृष्टतम कृतियां हैं। छायावादी युग प्रसादकी रसमयी रचनाओंका स्वर्ण युग है। इन रच-नाओंमें ध्वन्यात्मकता लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार-वक्रताके साथ स्वानुभूतिकी विवृति रूप छायावादकी सभी विशेषतायें उपलब्ध हैं। आन्तर स्पर्शके साथ भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्तिकी कान्तिके प्रसाद पक्षपाती थे[४]। इसयुगकी प्रसादकी कहानियों, निबन्धों, कविताओं, नाटक और गीत आदि सभी साहित्य-विधानोंमें जैसा वैलक्षण्य, चरित्र-चित्रण और भावनिरूपणका कला-नैपुण्य, समीक्षा और गवेषणाकी उद्घाटिका प्रवृत्तिका दर्शन, सूक्ष्म-पर्यवेक्षणका श्लक्ष्णरूप, निरूपायित है, वह अद्भुत है।

टैगोर की गीताञ्जलिकी सौन्दर्य-प्रधान रचनाओंनेभी प्रसादको आकृष्ट किया। 'सत्यम्' 'शिवम्' 'सुन्दरम्' के समर्थक होनेके नाते प्रसादने सच्चिदानन्दकी सत् सत्तामें चित्के प्रकाश और उसमें व्याप्त सौन्दर्यके उत्सका दर्शनकर आनन्दकी सत्तामें उसे समाहित करनेका सन्देश विश्व-

---

१. प्रसादका विकासात्मक अध्ययन, पृ० ७३।

२. हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृ० ६४६, पं० २२–३१, पृ० ६४७, पं० १–८।

३. वही, पृ० ६४७, पं० ९–२०।

४. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२६, पं० ७–११।

को दिया। यही कारण है कि, विश्वात्माके स्निग्ध शान्त गम्भीर मनोहारी रूपको प्रसादका चातक आकाशमें नीलनीरदके माध्यमसे देखता है। इन्दु तो मानो सौन्दर्यका एक ही विन्दु है। वस्तुतः प्रिय-दर्शन सौन्दर्यकी आभा ही विश्वमें व्याप्त है। प्रसादका प्राकृतिक और जागतिक सौन्दर्य आध्यात्मिक सौन्दर्यमें परिणत हो गया है[१]। विश्व अनुरागकी अरुणिमा के क्रान्तदर्शी[२] प्रसादने अपनी सौन्दर्य साधनाको अपनी ज्वालासे तपाकर मानवताके सिरकी रोली बना दिया[३]। यह सचराचर मूर्त विश्व चितिका विराट् मंगल वपु और सत्य सतत चिर-सुन्दर बनकर कामायनीमें खिल उठा[४]। इस प्रकार प्रसाद साहित्यमें युगीन सत्य सर्वात्मना प्रतिफलित हुआ और हिन्दी संसारमें प्रसादने प्रकाशमान प्रभाकरकी भांति अपनो उर्ज्जस्वल आभाका अपने अनुसार प्रसार किया।

प्रसादने युगको पूरी तरह समझा और उसे साहित्यमें स्थान दिया। राष्ट्रके गौरवके जागरूक उद्‌गाताने वाग्-यज्ञके सभी अध्वर्युयोंको अपनी युगानुभूतिसे भावित कर दिया। हिन्दीकी प्रसाद भूमिपर वैदिक विद्याका विलास, औपनिषदिक ब्रह्मका विकास, पौराणिकताका प्रकाश और ऐतिहासिकताका ह्रास सब कुछ एक अभिनव आभासे प्रोद्‌भासित हुआ। आधुनिक युगकी प्रचलित सुधारवादी प्रवृत्तियोंकी प्रतिनिधि संस्थाओं जैसे ब्राह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन, प्रार्थना समाज सबका गद्यसाहित्यमें यत्र तत्र विशद प्रतीक विश्लेषण है। ईश्वरकी सत्तापर अटूट विश्वास रखते हुए भी उक्त संस्थाओंमें सामाजिक स्तरपर साम्यका स्वर मुखरित है। प्रसादकी प्रत्यभिज्ञावादी विचारधाराके यह सर्वथा अनुकूल था। इसलिये प्रसादने किसीकी सिद्धान्तवादिताको स्वीकार नहीं किया। उनका कंकाल उपन्यास तत्कालीन समाजके कंकालका नग्न चित्र उपस्थित करता है। प्रसादकी यह मान्यता थी कि, शिवदर्पणमें प्रकाशित, प्रतिबिम्बित यह विश्व शिवके

१, कानन कुसुम-सौन्दर्य, पृ० ५६–५७।
२. झरना पृ० ६५, पं० १३।
३. आंसू, पृ० ६१, पं० ४–८
४, कामायनी, पृ० २८८, पं० १७–२०।

अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिये 'शुद्ध अध्वा' की काव्यकृतियोंके अतिरिक्त उन्होंने उपन्यासों और कहानियोंमें 'अशुद्ध अध्वा' के 'मल' और बन्धनके मूल स्वरूपका भी उसी सच्चाई और नैपुण्यके साथ वर्णन किया।

वर्णव्यवस्थाके प्रतिकूल प्रसाद सबमें समरसताके समर्थक थे। यद्यपि वर्ण व्यवस्थावादी भी सर्वत्र ब्रह्म सत्ताका सद्भाव मानकर सर्वत्र समदर्शिताका पांडित्य बोध प्रदर्शित करते हैं[१]। किन्तु प्रसाद ऐसी थोथी दार्शनिक प्रदर्शनपूर्ण सामाजिकताको अनुचित मानते हैं[२]। कंकालमें निरंजन, किशोरी, कृष्णशरण, विजय, यमुना, मंगल, घण्टी और बाथम ये सभी समाजकी वर्णव्यवस्थाका रहस्य उद्घाटित करते हैं[३]। वर्ण-व्यवस्थाके उनके विचार हैं—सज्जनों! वर्णभेद सामाजिक जीवनका क्रियात्मक विभाग है। यह जनताके कल्याणके लिये बना परन्तु द्वेषकी सृष्टिमें दम्भका मिथ्या गर्व उत्पन्न करनेमें वह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण बुद्धिसे इसका आरम्भ हुआ, वह न रहा। गुण कर्मानुसार वर्णोंकी स्थिति नष्ट होकर आभिजात्यके अभिमानमें परिणत हो गयी[४]'।

६—व्यक्तित्व

प्रसाद नूतन और पुरातनके बीच एक कड़ी थे। वे उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दीकी मिश्रित सृष्टि थे। परिणामतः वे नूतन और पुरातन सबके प्रिय थे[५]। जहां तक उनके नूतनकी ओर झुकनेका प्रश्न था, प्रत्यभिज्ञादर्शनके अध्येता प्रत्येक व्यक्तिका यही सम्मत हो सकता है

---

१. विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिनः॥ श्रीमद्भगवद्गीता ५। १८। सर्वभूतात्मभूतात्मा........। श्रीमद्भगवद्गीता ५। ७। श्वयुवमघोनामतद्धिते। पाणिनि अष्टाध्यायी ६। ४। १३३।

२. चन्द्रगुप्त, पृ० ९१–९२।

३. कंकाल, पृ० २९७–३०३।

४. कंकाल, पृ० २९८, पं० २३–२५, पृ० २९९, पं० १–८।

५. कविप्रसादकी काव्यसाधना-परिचय, पृ० २६, पं० २–६।

कि, उन्होंने नूतनको दिग्भ्रान्त होनेसे बचाया। उसकी निःसारतामें, उसकी रिक्ततामें, उसके संशयापन्न और असंतुलित वैचारिक परिवेशमें प्रत्यभिज्ञाका स्वारस्य, उसकी दर्शन सरणी और उसके परिनिष्ठित परामर्शका सामञ्जस्य अभिनिविष्ट कर दिया। इनके जीवनपर बौद्ध संस्कृति, उपनिषद् दीनबन्धु ब्रह्मचारी, दादा, बड़े भाई, शैव तत्त्वज्ञान, कविसत्सङ्ग तथा अनेक कौटुम्बिक परिवर्तनों और मानसिक उथल पुथलने प्रभाव डाला है।[1] हिंन्दीमें शक्ति और आनन्दकी चैतन्य सरिता जैसी उनके काव्यमें मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।[2] प्रसादका लक्ष्य था—उस स्थान तक पहुँचना, जहां जानेके बाद कोई राह शेष नहीं रह जाती।[3] कामायनीमें पहुँचकर समरसता और आनन्दके घने वातावरणमें उनकी विजय यात्रा समाप्त हुई।[4]

पारिवारिक परिवेशकी परिनिष्ठा, वातावरणके वैचित्र्यकी चारुता, स्वाध्यायकी अनुसन्धानात्मक अध्यवसाय-शीलता और स्वानुभूत भावप्रवाहकी भव्यता सबका एकीभूत प्रकाशही प्रसादका व्यक्तित्व बनकर हिन्दी साहित्यमें प्रकाश विकीर्णकर सका।

प्रसादके सामाजिक विचार बड़े क्रान्तिकारी थे। चूंकि वे प्रत्यभिज्ञावादी थे, अतः सनातन वैदिक वर्णाश्रम धर्म उनकी प्रवृत्तिके अनुकूल नहीं था। उनका विचार था—जातिमें जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्त्तनोंके स्तर आवरणस्वरूप बन जाते हैं, उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकताको खोजनेकी चेष्टाभी साहित्यमें तथ्यवादकी सहायता करती है।[5]

उन्होंने इस तथ्यका उद्घाटन किया है कि, भारतीय नरेशोंकी उपस्थिति भारतके साम्राज्यको नहीं बचा सकी। फलतः उनकी वास्तविक सत्तामें अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनोंने पतनमें और विवेकदम्भपूर्ण आडम्बरोंने अपराधोंमें कोई रुकावट नहीं डाली।

---

१. कवि प्रसादकी काव्य साधना-परिचय, पृ० २४, पं० १–४।
२. वही, अनुक्रम, पृ० ३, पं० १५–१६।
३. यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।
४. कविप्रसादकी काव्यसाधना, पृ० ११०, पं० ६, कामायनी, प्रेमपथिक पृ० २९४, पं० १७–२०।
५. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ११९, पं० १–३।

७-कर्तृत्व

प्रसादके कर्तृत्वका समय १९०६-१९३६ है। उस समय काशी हिन्दी साहित्यका एक बड़ा भारी केन्द्र था। प्रेमचन्द, दीन, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, बेचन शर्मा उग्र तथा हरिऔध आदि उनके समकालीन थे। सबकी साधनास्थली काशी ही थी।

स्वर्गीय श्री उग्रके विचारमें प्रसाद गरीबोंके नहीं अमीरोंके कवि थे, इमारत पसन्द। रायकृष्णदास भी उनके अमीर मित्र थे। दीन और प्रेमचन्द चूँकि अन्वर्थतः दीन थे, इसलिये प्रसादके अन्तरङ्ग नहीं थे।[१] उग्रजीके इस विचारसे सभी समीक्षक सहमत नहीं हो सकते। कारण प्रसाद साहित्यमें कंकालका चित्र प्रत्यक्षतः यथार्थतः गरीबीको चित्रित करता है। उनका आंसू काव्य अभाव और विरहका ही काव्य है। और अभाव ही गरीबी है। नाराके रूपमें या राजनैतिक स्टेटके रूपमें जिस साम्यवादी गरीबीको फूंक-फूंक कर जगाया जाता है, उसे प्रसादमें खोजना अनुचित है। यदि भारतीय संस्कृतिके वास्तविक चित्रको अमीरीका चित्रण और इसी आधारपर प्रसादको अमीरोंका कवि कोई मान ले, तो वह उसकी स्वेच्छाका ही परिचायक हो सकता है। वास्तवमें गरीबी और अमीरीके झगड़ेसे ऊपर उठकर महेश्वरकी माहेश्वर्य-सुधासे विश्वको अभिषिक्त करनेके उत्सुक महाकविके व्यक्तित्वमें नारेकी बात ढूँढना समीक्षाके क्षेत्रमें विक्षेपके सदृश है। प्रसादका कवि भावनाकी जिस पावन भूमिपर विराजमान है, वहां सत्यका दर्शन है और साहित्यका शृंगार है। वहाँ कहीं ओछापन नहीं।

प्रसाद साहित्य आभिजात्य पूर्ण प्रतीकोंसे परिपूर्ण है—इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाया जाना चाहिये कि, वे अमीरोंके कवि हैं। ऐसी कोई विभाजन रेखा प्रसाद साहित्यके आधारपर नहीं बनायी जा सकती। प्रेमचन्द्रके पास सिवाय असन्तोषको व्यक्त करनेके और कुछ दार्शनिक, सांस्कृतिक या शास्त्रीय स्वाध्यायका धन नहीं था। प्रसादने जो कर दिखाया, वह प्रसादका ही प्रसादत्व था। प्रसादके कवित्त्वकालमें इसप्रकारकी वर्गवादी समस्याका सूत्रपात भी नहीं था, केवल द्विवेदी

---

१. प्रसादका जीवन और साहित्य पृ० १८, पं० ९–१८।

कालीन जड़ता थी। पग पग पर नियमों परम्पराओंके जकड़बन्धनके विरुद्ध काव्यधारामें स्वातन्त्र्य शक्तिका बिगुल उन्होंने बजाया। प्रगतिशील सिद्धान्तोंकी स्थापना उन्होंने की और नयी काव्य-विधाकी नींव डाली। डा० रामरतन भटनागरने स्पष्ट लिखा है कि, प्रसादने अपने संस्कारोंके बलपर नये विचारोंको प्राप्त किया[१]। नये विचारोंका यह प्रकाश प्रसादको प्रत्यभिज्ञादर्शनसे मिला, जिसमें स्वेच्छासे ही स्वभित्तिमें विश्व-निर्माणके सिद्धान्तका महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन है[२]।

साहित्यकी समस्या एक बड़ी समस्या है। ····जीवन एक रासायनिक संश्लेषणकी क्रियामात्र नहीं है। उसे समझनेके लिये न जाने कितने संस्कारों, कितनी अनुभूतियों और समाज एवं राष्ट्रके कितने विचारक्रमोंके घात-प्रतिघातसे गुजरना पड़ता है। फिर रचनाकारके जीवनक्रमका साहित्यमें जो प्रकाश पड़ता है—वह भी शैली, समयकी गति एवं भाषाकी व्यंजनाशक्तिके अनुसार कई रंगोंमें सामने आता है। इसलिये बहुत बार तो सुलझाते-सुलझाते यह समस्या और भी जटिल हो जाती है[३]।

प्रसादके कैशोरमें वज्रकर्कशकालके कशाघातोंने मृत्युकी दारुणताको यदि प्रत्यक्ष कर दिया था, तो उनकी युवा वयःसन्धिमें जीवनने अपने अनपेक्षित विप्रिय परिणामोंसे उन्हें विपन्न बना डाला था। जीवन और मरणकी करुण पीड़ाओंकी अवतारणा अकारण ही उनके मानस सागरको आलोडित करती, लोल लहरकी घातें कल-कल ध्वनिसे उनसे कुछ बीती-बीती बातें करतीं और स्वतः संसारके रहस्यका उद्‌घाटन हो जाता[४]। यही कारण है कि, संसृतिके क्षत-विक्षत पगोंका[५] चाक्षुषप्रत्यक्ष करनेमें कवि सक्षम हो सका, तम और प्रकाश के झगड़ेको सुलझानेमें कवि उलझ सका, तथा उसे यह अनुभव हो गया कि, इस उलझनसे

---

१. प्रसादका जीवन और साहित्य, पृ० ७५, पं० १५–२०।
२. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति-प्रत्यभिज्ञा हृदयम्। सूत्र २।
३. कवि प्रसादकी काव्य साधना परिचय, पृ० ११, पं० ३–२२।
४. आंसू पृ० यं० ।
५. अशोककी चिन्ता, पु० ५०, यं० १–२।

विजयपानेका पथ नवज्योतिसे प्रशस्त हो सकता है।[1] उसे यह नवज्योति प्रत्यभिज्ञादर्शनसे प्राप्त हो सकी, जिसमें उसे परमशिव आंख मिचौनी खेलते हुए 'स्व' रूपमें ही प्रत्यक्ष प्राप्त हो गये।

परमशिवका प्रसाद प्राप्तकर प्रसाद इतने समर्थ हो सके कि, उन्होंने एक नये काव्यकी परम्पराका सूत्रपात किया। पहलेकी न तो इस प्रकारकी कोई शैली थी और न ही कोई मानदण्ड। उन्होंने स्वतः एक निश्चित सिद्धान्तका अभिनव आयोजन किया, उसके अनुरूप काव्योंकी रचना की और उसे प्रौढ़ताके उच्चतम शिखरपर ला बिठाया। उनके महाप्रयासमें, महान् अध्यवसायमें और महाप्राण प्रयत्नमें एक अद्भुत निष्ठा थी, प्रतिभाका ऊर्जस्वल आवेग था और मेधाकी महनीयता थी, जिसके बलपर उन्होंने हिन्दी-साहित्य-संसारको एक दर्शनका दृष्टिकोण प्रदान किया तथा एक दर्शनको साहित्यकी संप्रतिष्ठा दी।

प्रसाद सुकवि थे।[2] उनकी कविताओंके अध्ययनके उपरान्त सहृदयोंका शिरश्चालन, उनके हृदयोंका स्पन्दन और आनन्दका संवर्द्धन सहज संभाव्य है। प्रारम्भसे अन्ततककी कविताओंमें एक वैलक्षण्य सर्वत्र विद्यमान है। अभिनव शब्द संयोजन, नव नवार्थ उद्भावन और कमनीय कल्पनाओंका आकल्पन प्रसादकी कविताओंमें सर्वत्र पदे-पदे उपलब्ध है। वे सरस्वतीके वरदपुत्र थे। उन्होंने किसी कविके वर्णनका स्वारस्य ग्रहण नहीं किया, अनुकरण नहीं किया। दूसरे कवियोंके वर्णनको वे 'परस्व' समझते थे। स्वानुगत विषयके सम्बन्धमें किसीसे वाद नहीं करते थे। केवल मां की अनुकम्पाने उनके लिये यथेष्ट रूपसे अघटितको भी घटित कर दिया। किसी भी सुकविके लिये भगवती सरस्वती ऐसा करती ही है।[3] प्राक्तन पुण्य और अभ्यासके परिपाकसे सुपक्व प्रसादकी कवितामें परोपरचित अर्थका परिग्रह दृष्टिगोचर नहीं होता।

उनके युगके प्रारम्भमें ही भारतेन्दुकी आभा समग्र भारतको आलोक प्रदान कर रही थी, कविता क्षेत्रके महारथी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्री पं० श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर शर्मा, मैथिली शरण गुप्त,

---

१. आंसू
२. ध्वन्यालोक उद्योत ४ श्लोक १२०, पृ० ४५३, पं० १–४।
३. वही, श्लोक १२१।

राय देवीप्रसाद पूर्ण, पं० कामता प्रसाद गुरु एवं पं० रामचरित उपाध्याय खड़ी बोलीको परिमार्जित कर रहे थे और उसे कविताके उपयुक्त बना रहे थे।[१] इस महाप्रयासकी अध्यवसायशील वेलामें प्रसाद अपने व्यक्तित्वके महत्त्वको स्थापित कर सके। यद्यपि कविके लिये प्रारम्भमें अनुकरण विहित है—पर प्रसादने किसीका अनुकरण नहीं किया। यदि अनुकरण किया, तो केवल शैलीका। यद्यपि उन्होंने भारतेन्दु प्रशस्तिमें अपनी वाणीका सदुपयोग किया और साहित्यके क्षेत्रमें उनके महत्त्वको शिरोधार्य किया है[२], फिर भी हरिश्चन्द्रकी किसी कविताका अनुवाद या उसकी छायाका अधिग्रहण प्रसादने नहीं किया है। यद्यपि कविके लिये अन्य साम्य वर्जित नहीं है और अनुकरणसे कवि निन्दित भी नहीं होता[३], फिरभी प्रसाद सर्वदा 'स्व' की अभिव्यक्तिमें ही तन्मय रहे। 'एकरि नमस्कारे प्रभु एकरि नमस्कारे[४]' वाली कवितामें नमस्कार शब्दका प्रयोग और प्रसादकी 'उस मन्दिरके नाथको, निरुपम निर्भय स्वस्थको। नमस्कार मेरा सदा—पूरे विश्वगृहस्थको[५]।' कवितामें नमस्कार शब्दके प्रयोगको अनुकरण कहना प्रत्यभिज्ञादर्शनके स्वाध्यायके अभावका परिचायक है। यहांका प्रयुक्त स्वस्थ शब्द अभिनवगुप्त पादाचार्य के मंगल श्लोक अथवा दुर्गासप्तशतीके 'दुर्गे स्मृता' श्लोकका ही स्मारक है[६]।

भारतेन्दु द्वारा प्रचलित सभी प्रणालियोंपर प्रसादकी रचनायें उपलब्ध हैं[७]। प्रसादजी एक सफल प्रयोक्ता थे। उनका प्रयास सर्वतोमुखी था[८]।

●

---

१. प्रसादका विकासात्मक अध्ययन अ० प्रथम, पृ० ११ पं० ११-१३।
२. चित्राधार (भारतेन्दु प्रकाश (पृ० १६६, काव्य कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ११७।
३. ध्वन्यालोक श्लोक ११७-१२०।
४. टैगोर, गीतांजलि।
५. कानन कुसुम, पृ० १०, पं० १०६।
६. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी १. १.१। दुर्गासप्तशती अ० । १३।
७. प्रसादका विकासात्मक अध्ययन पृ० १५, पं० १७–२७, पृ० १६, पं० १–२३।
८. वही, पृ० १६, पं० २४–२७।

प्रत्यभिज्ञादर्शन

: २ :

१—तत्त्वभूमि

क—भारतीय दर्शनोंका उत्स

भारतवर्षकी सनातन साधनाके बीज निगम और आगममें ही निहित हैं। श्रीमद्भागवत तो कल्पवृक्षका चू पड़ने वाला परिपक्व अमृतमधुर फल माना जाता है[१]। शिवशक्तिवादका समन्वय उक्त पुराणमें है[२]। जिस प्रकार निगम और आगमका समन्वय श्रीमद्भागवतमें है, उसीप्रकार श्रीरामचरितमानस भी दोनोंका सार निष्कर्ष है[३]। श्रीमद्भागवत और रामचरितमानसकी तरह ही समस्त शैव मतवादोंका सार निष्कर्ष कश्मीर शैव दर्शन है। कश्मीर शैव दर्शनको ही प्रत्यभिज्ञादर्शन कहते हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शनमें जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन है, वह सर्वेश्वरवाद या शिवाद्वयवाद है। इसके अनुसार शिव ही सब कुछ है। शिव ही सर्वरूपमें-भासमान हैं। जड़ चेतनमें उसीका प्रकाश विलसित है। माया, ममता, शक्ति, भक्ति, और संस्कृति सभी कुछ शिव ही है। सांख्यके २५ तत्त्वोंके अतिरिरिक्त ६ कंचुक तत्त्वोंकी मान्यता देनेके कारण ३१ तत्त्वों सहित शुद्ध अध्वासे संयुक्त ३६ तत्त्वमय शिव सर्वातिशायी तत्त्व है।

सर्वदर्शन संग्रहमें श्रीमाधवाचार्यने प्रत्यभिज्ञादर्शनका विवेचन किया है। इसके पहलेसे ही प्रत्यभिज्ञा दर्शनका विवेचन और सिद्धान्त स्थापन ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, प्रत्यभिज्ञा हृदयम् आदि ग्रन्थोंमें है। कश्मीर-में इसकी धारा प्रवहमान थी। सर रामकृष्ण गोपालने कश्मीर शैवागम-

---

१. निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्, पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥ श्रीमद्भागवत, मा० ६ । ८०

२. श्रीमद्भागवत माहात्म्य, ६ । ८१ ।

३. नानापुराणनिगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि । रामचरितमानस-बालकाण्ड प्रारम्भ श्लो० ७ ।

को दो भागोंमें बांटा है। १—स्पन्दशास्त्र और २—प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। दोनोंके प्रवर्तक क्रमशः वसुगुप्त और आचार्य सोमानन्द है। महापण्डित श्रीमान् गोपीनाथजी कविराजके अनुसार स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा दोनोंका अर्थ प्रत्यभिज्ञा दर्शनमें निहित है[1]। त्रिकदर्शन, षडर्धदर्शन और माहेश्वर दर्शन भी इसीके पर्यायवाची शब्द हैं। माधवाचार्यने इसके दार्शनिक दृष्टिकोणको अन्यदर्शनों के संदर्भमें निकषायित किया है।

भारतीय दर्शनशास्त्रके इतिहासमें द्वैत अद्वैत, द्वैताद्वैत आदि अनेक दार्शनिक मतवादोंकी परम्परा है। कश्मीरके शैव विचारकोंने एक नये दर्शनका सूत्रपात किया। तन्त्रालोकमें इसे परमाद्वयामृत परिप्लावित कहा गया है[2]। अभिनव गुप्त पादाचार्यके अनुसार शिव, रुद्र और भैरव नामक तन्त्र भेद, भेदाभेद और अभेद नामक तीन दृष्टि विन्दुओंसे समन्वित ज्ञानसत्ताके प्रकाशक हैं[3]। ये तीनों विचार परा, पश्यन्ती और मध्यमा नामक वाक्में निवास करते हैं[4]। इस विचारमें पारमार्थिक विमर्शकी प्रतिष्ठा है। स्वरूपाधिष्ठित साधकका सारा बाह्यान्तरभेद विमर्शके द्वारा समाप्त हो जाता है। स्वरूपमें साधककी विश्रान्ति हो जाती है और सोहम् की अनुभूति उसे प्राप्त हो जाती है[5]। यही इस दर्शनकी उच्चभूमि है। यह अद्वैतवाद ही है, पर यह अद्वैत अन्य अद्वैत मतवादोंसे विलक्षण है।

भारतीय विचार भूमिमें अद्वैतवादकी विभिन्न व्याख्यायें विकसित, पल्लवित और पुष्पित हुई हैं। आचार्य गौडपादने माण्डूक्यकारिकामें,

---

१. भारतीय संस्कृतिसाधना, भाग १, पृ० २, पं० १।
२. तन्त्रालोक, कश्मीर शैविज्म, पृ० ४५।
३. तन्त्रयज्ञे रुद्रशिवभैरवाख्यं त्रिधा। वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसंस्था विजृम्भते। भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना। तन्त्रालोक आ० १, पृ० ४५, पं० १–६।
४. पुष्पे गन्धः तिले, तैलं, देहे, जीवो, जले रसः। यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तः प्रतिष्ठितम्। तन्त्रालोक। आ० १, पृ० ४५, पं० ८–१२।
५. इदमित्यस्य विच्छिन्न विमर्शस्य कृतार्थता। या स्वस्वरूपे विश्रान्ति-विमर्शः सोऽहमित्ययम्। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, पृ० १८।

आचार्य शंकरने ब्रह्मसूत्रों और उपनिषद् भाष्योंमें ब्रह्माद्वैतवादका निरूपण किया है। आचार्य श्री कण्ठ, रामानुज, वल्लभ भी किन्हीं अंशोंमें अद्वैतवादके ही समर्थक हैं। भगवान् बुद्धका एक नाम ही 'अद्वयवादी' था। बौद्धमतवाद अद्वैतका ही प्रतिपादक है।

सौत्रान्तिकों, वैभाषिकों, योगाचारमतवादियों और माध्यमिकोंका एक मात्र 'शून्यवाद' ही स्वीकृत सिद्धान्त है[1]। शब्द ब्रह्मवादी वैयाकरण भी अद्वैतवादी और कर्त्ताके स्वातन्त्र्यके पक्षपाती हैं[2]। शाक्तभी अद्वैतवादी ही हैं। इसप्रकार भारतवर्षमें, शब्दाद्वैत, ब्रह्माद्वैत, शून्याद्वैत, शाक्ताद्वैत आदि प्राचीनतम अद्वैतमतवाद पाये जाते हैं। गाणपत्य गणपति तत्त्व और सौर सूर्यतत्त्वमें भी अद्वैतभावका दर्शन करते हैं।

वेदमें अद्वैतमतवादका बीज ही नहीं विद्यमान है अपितु पूर्ण प्रतिपादन है[3]। आगमभी अद्वैतवादका प्रतिपादक है। वैष्णवागमसे पांचरात्रमतवाद और भागवत मतवाद उत्कृष्ट हैं। शैवागमसे प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द (त्रिक कश्मीर दर्शन) और व्याकरणशास्त्र समुद्भूत हैं। शाक्तागमसे त्रिपुरा सिद्धान्त, शक्तियामल, देवी विलास आदि शक्तिवादके स्वरूप विकसित हुए हैं। त्रिक दर्शन अर्थात् प्रत्यभिज्ञा दर्शन कट्टर अद्वैतवादी है। भारतीय दर्शनोंमें शिव, ब्रह्म, माया और जगत्को लेकर बड़ा विवेचन हुआ है। दर्शनोंकी मान्यताओंमें सूक्ष्म और तात्त्विक अन्तर हैं। दर्शनके अध्येताके लिये उन अन्तरोंका, दृष्टिके वैचित्र्यका बड़ा महत्त्व है। भारतवर्षमें अत्यधिक प्रचलित ब्रह्मवाद और शिवाद्वयवादके दृष्टिकोण संक्षेपमें इस प्रकार हैं।

ख—शाङ्कर ब्रह्मवाद

माया सत् एवम् असत् दोनोंसे विलक्षण और अनिर्वचनीय है। परमार्थ दृष्टिसे माया मिथ्या है। व्यवहार दृष्टिसे सत्य भासित होती है।

---

१. भिन्नापि देशना भिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा-बोधि-विवरणम्।

२. स्वतन्त्रः कर्त्ता-अष्टाध्यायी-पाणिनि। १. ४. ४५।

३. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्॥
पुरुषसूक्त। श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ३—१४।

व्यवहारवादमें कोई वस्तु सत्य हो और विचार भूमिमें वह अनिर्वचनीय हो, इससे अद्वैततत्त्वकी सिद्धि होती है। क्योंकि अन्तमें द्वैत विगलित होकर अनिर्वचनीय अद्वैतसत्ता ही शेष रह जाती है।

विश्वका मूल ब्रह्म है। वह अद्वय, अनीह, अकल, निष्कल और निष्क्रिय है। द्वैतभाव अज्ञान है। शुद्ध ब्रह्म विवर्त्तात्मक अनादि व्यवहारका अधिष्ठान है। उसका कर्त्तृत्व और स्वातन्त्र्य दोनों कल्पित और अवास्तविक हैं। उसमें स्वरूप दृष्टिसे स्रष्टृत्व आरोपित और अध्यस्त होता है। माया और अविद्यासे आवृत ब्रह्म ही जीवत्व और ईश्वरत्वको प्राप्त करता है। व्यवहार अनादिकालसे प्रवाहित हो रहा है। यह सब मायाका ही प्रभाव है।

ब्रह्म जब मायासे आवृत होता है, तो उसका ब्रह्मरूप च्युत हो जाता है। वह जीव या ईश्वर बन जाता है। शरीराभिमान और ब्रह्माण्डाभिमानसे वह अभिभूत हो जाता है[1]। कहीं वह कार्योपाधि जीव हो जाता है, कहीं कारणोपाधि ईश्वर हो जाता है। कार्य (अविद्या) और कारण (माया) इन दोनोंसे रहित होनेपर वह पूर्णबोध ब्रह्म स्वरूपाधिष्ठान चैतन्य रूप होता है।

अज्ञान आत्माकी शक्ति है। आत्मा विश्वोत्तीर्ण, सच्चिदानन्द, एक सत्य, निर्मल, निरहंकार, अनादि, अनन्त, शान्त, सृष्टिस्थिति संहारका हेतु, भाव अभाव विहीन, स्वप्रकाश और नित्यमुक्त है। उसमें कर्त्तृत्व नहीं है। वह शुद्ध, साक्षी और अधिष्ठान चैतन्यात्मक है। स्फुरण आत्माका नहीं, विश्वका होता है। अतः यह स्फुरणात्मक विश्व या माया या अविद्या या सृष्टि सत्य होते हुए भी असत् हैं। केवल ब्रह्म ही सत्य है[2]।

---

१. तत्त्वबोध, पृ० ३०, पं० ७–८। पृ० ३१, पं० १–५, वाक्य १२५–१२९

२. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या। तत्त्वबोध वचन १४०। पञ्चदशी प्र० ७। १११–११३, प्र० १३। १०५, प्र० १४। १। कल्याण, उपनिषद् अंक पृ० ९०, पं० २७–२८।

ग—शिवाद्वयवाद

माया शिवकी अव्यतिरेकिणी शक्ति है। शिवकी शक्ति ही माया है[1]। जो वस्तु कभी असत् है, वह सत् नहीं हो सकती। असत्का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। शिवही सर्वरूपमें भासित है। वह नट की तरह विविध रूपरंग ग्रहणकर विश्वमंचपर अभिनव नाटकका सूत्र संचालन करता है।[2] ईश्वराद्वयवादी विश्वको शिवका स्वेच्छा परिगृहीत रूप ही मानता है।[3] प्रश्न यह है कि, द्वैतकी स्फुरणाका कारण क्या है ? यदि द्वैतकी स्फुरणा अज्ञान है, तो इसका आश्रय कौन है ? इसका द्रष्टा कौन है ? ब्रह्मवादके पास इसका कोई उत्तर नहीं। शिवाद्वयवादके अनुसार स्वतन्त्र शिवही सब कुछ है। आश्रय भी, द्रष्टा भी, स्पन्द भी और स्फुरण का उल्लास भी।

ब्रह्मवादके अनुसार यदि ब्रह्मका कर्तृत्व कल्पित है, तो यह कल्पना कौन करता है ? जीव, ईश्वर या ब्रह्म ? ब्रह्ममें जीवभाव या ईश्वर भाव कहांसे और क्यों आ जाता है ? प्रवाह रूपसे इसे अनादि माननेपर भी अद्वैतको सिद्धिमें बाधा ही पड़ती है। इसमें यह भी पता नहीं चलता कि, अज्ञानकी प्रवृत्तिका रहस्य क्या है ? स्वप्रकाश ज्ञानसूर्यको अज्ञानका अन्धकार क्यों ढकता है ? इसके अधीन जब ब्रह्म होते हैं, तो जीवभाव और ईश्वरभाव क्यों होता है ? प्रश्न का समाधान नहीं हो पाता। वह ज्यों का त्यों रह जाता है कि, अज्ञान उत्पन्न ही क्यों हुआ ? शिवाद्वयवाद में इसका उत्तर है। शिवकी इच्छा शक्तिसे ही ज्ञान और क्रिया दोनों ही सम्पन्न हो जाते हैं।

स्वातन्त्र्यशक्तिके कारण शिव अपने रूपको ढकभी सकता है और अनावृत भी कर सकता है। ढकनेपर परम शिवका स्वरूप च्युत नहीं होता। वह गुप्त भी है, प्रकट भी है। अज्ञान उसकी स्वातन्त्र्य शक्तिका ही विजृम्भण है। सूर्यसे मेघ उत्पन्न होते हैं। मेघ उन्हें ढकते भी हैं और

---

१. तन्त्रालोक, आ० ८। ३०८, ३३२-३३६। आ० ९। १४९-१५४, १६४।

२. तन्त्रालोक, आ० ९। ९८-९९।

३. तन्त्रालोक, आ० १। १०२, आ० ९। ३५, ३९, ६०, ६५।

उन्हीं से प्रकाशित भी हैं। सूर्य तो ढक जाने पर भी अनावृत है। उसी तरह विश्वभी शिवका स्वरूप-विमर्श है। खेल-खेल[1] में वह लीलानायक यह महारास रच रहा है। घरौंदे बना भी रहा है—बिगाड़ भी रहा है।

अज्ञान भी शिवका स्वभाव[2] है। यह स्वातन्त्र्यका उल्लास है। स्वातन्त्र्य मूलक, स्वातन्त्र्यात्मक[3] और कर्तृत्वरूप है। विमर्श ही आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान और क्रिया उसके लिये एक ही हैं। उसकी क्रिया ज्ञानसे अलग नहीं। क्योंकि वह ज्ञाताका धर्म है। वह कर्तृत्व सम्पन्न है। अतः उसका ज्ञान ही उसकी क्रिया है। ज्ञान और क्रिया की ओर वह इच्छा शक्तिके द्वारा उन्मुख होता है। वह इच्छामय है। ज्ञानमय है, क्रियामय है। ऐश्वर्य सम्पन्न है, विमर्श स्वरूप है और पूर्णाहन्ता, शक्ति संकुल स्वतन्त्रात्मा शिव है। वह ५ कृत्य 'सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह' सब कुछ करनेमें समर्थ है।

उपर्युक्त विश्लेषणसे यह सिद्ध हो जाता है कि, ब्रह्मवादमें अद्वैतका आग्रह मात्र है। इस विचार भूमिमें द्वैतानुभूति अपास्त नहीं होती, वरन् सत्यासत्यमें हेयोपादेयकल्पनाके कारण द्वैतता रह ही जाती है।[4] ब्रह्म-वादकी सबसे बड़ी दुर्बलता अद्वैतको द्वैतसे विलक्षण माननेमें ही है। अद्वैतसे विलक्षण होनेके कारण द्वैत असत् अतएव हेय हो जाता है। विपरीत इसके आगम मतवादके अनुसार अद्वैतका अर्थ द्वैतकी समरसता में पर्यवसित होता है। जहां दो का सामरस्य हो जायेगा, वहां द्वैतानुभूति रह नहीं सकती। यही समरसताका अधिकार है।[5] वहां एक अखण्ड चेतना आनन्द महोदधिकी तरङ्गोंमें आनन्द रूपमें ही तरंगित होती रहती हैं।

---

१ तन्त्रालोक, आ० १। १०१, पृ० १९५।

२. वही, आ० १। १४४, १४६।

३. तन्त्रालोक आ० १। २५–२६, ३०–५०।

४. तत्रहि अद्वैतमाग्रहेणोपपाद्यमानमपिपर्यवसायित्वमनिवार्यम्। महार्थमंजरी।

५. कामायनी, श्रद्धा, पृ० ५४, पं० ५–८, पृ० २९४, पं० १७–२०।

सांख्यशास्त्रका पुरुष और वेदान्तका ब्रह्म शैव मदवादकी ज्ञानधारा-की अपरावस्थायें हैं। यह उत्तमोत्तम सर्वातिशायी अवस्थाकी अनुभूतिके तत्त्व नहीं हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शनका पुरुष १२वां तत्त्व है[१]। यह अपरावस्था का प्रथम तत्त्व है। परापरा और परा नामक शिव दर्शनकी उत्तम दो अवस्थायें अभी शेष ही रह जाती है।

पुर्यष्टकमें[२] (लिंग शरीरमें) जीवको अहं प्रतीति होती है। जीवको तीन व्याप्तियोंको पूर्ण करना आवश्यक होता है। १—आत्म व्याप्ति, २—विद्या व्याप्ति और ३—शिव व्याप्ति। आत्मोपासनाके ही ये तीन सोपान हैं। इससे ज्ञानकी प्राप्ति होती है और तब शिवत्त्वकी उपलब्धि होती है[३]। अखण्डित सद्भाव शिवत्त्वका दर्शन हो जाता है। साधक शिवमय हो जाता है और अखण्डित सद्भाव आत्मतत्त्वका महाबोध हो जाता है अर्थात् शिवके साक्षात्कारमें आत्मज्ञान ही कारण बनता है[४]।

आत्माके ऊपर आणव, कार्म और मायीय मलोंका[५] आवरण आ पड़ता है। कला, विद्या, राग, काल और नियतिके[६] सहयोगसे माया अधोरेशके सम्पर्कसे सृष्टिका उत्पादन कर देती है[७]। कलासे क्षिति पर्यन्त ३१ तत्त्व अशुद्ध अध्वा' है। इनको साधनाके बलपर क्षोण करना आवश्यक होता है। कंचुकोंका बन्धन जहां क्षीण हुआ, प्रकाशरूपा परा संविद्का तादात्म्य सम्भव है। वहींसे निर्विकल्प ज्ञानका प्रारम्भ होता है। पूर्णाहन्ताका परामर्श होता है[८]। अनुपाय विज्ञानके आधारपर जीव-न्मुक्ति हो जाती है[९]। यही परममाहेश्वर अवस्था है। जीवनका यही लोकोत्तर लक्ष्य है।

---

१. षट्त्रिंशतत्त्व संदोहः-क्षेमराज। का० ६।
२. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, पृ० १४८, पं० ३०। तन्त्रालोक आ०८। ४१३।
३. स्वच्छन्द तन्त्र, उद्योत क्षेमराज ४। ३९१-३९२।
४. तन्त्रालोक, आ० ४। २७५-२७७।
५. तन्त्रालोक, आ० ९। २०६, पं० १-५, ८-९, आ० ९। १४२, १४६।
६. तन्त्रालोक, आ० ९ ४५-४७, १७४-२०७।
७. ,, ,,। ६१, १४९। पृ० ५६ पं० ४-५।
८. ,, आ० ३। २७०।
९. तन्त्रालोक आ० ३। २७१।

पूर्णहन्ता परामर्श शक्तिवाद और शिववादकी अद्वय अनुभूतिकी महादशा है[१]। शिव-शक्ति और प्रकाश-विमर्श सब शिवशक्ति-समन्वयात्मक-परात्परदशाकी महानुभूति है। प्रत्यभिज्ञादर्शनकी सिद्धान्तवादिताका यही सार निष्कर्ष है, जिसे प्रसादने आत्मसात् किया और अपने साहित्यमें विशेषरूपसे कामायनीमें अभिव्यक्त कर दिया है[२]।

मायाको अनिर्वचनीय कहकर ब्रह्मको सत्य सिद्ध करनेकेकारण वेदान्त-सिद्धान्त स्वतः बाधित हो जाता है। आचार्य शंकरका ब्रह्मवाद अद्वैतवादका उत्कर्ष चाहता है। इस उत्कर्षके स्थानपर उसका अपकर्ष ही सिद्ध हो जाता है[३]। मायाकी मिथ्या को अनुभूतिमें जो ब्रह्मबोध होगा, वह भी निश्चय ही माया कल्पित ही होगा। इसी लिये ईश्वराद्वयवादी शैवागमोंमें माया और शिव दोनों सत्य हैं। और यही ब्रह्मवादसे इसकी विशिष्टता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की सार्थकता भी मायात्मक विवर्त्तको ब्रह्म माननेमें ही निहित है।

---

१. तन्त्रालोक, आ० १। ५।

२. कामायनी, आनन्द, पृ० २९४, पं० १७-२०।

३. शंकर ब्रह्मको सत्य और मायाको अनिर्वचनीय कहते हैं। इसलिये वाक्य द्वारा जितना ही अद्वैतभावका उत्कर्ष दिखानेकी चेष्टा की गयी है, उतना ही पूर्णभावप्रकाशमें बाधा पड़ी है। वे मायाको सत्य नहीं मान सकते। इसीसे उनका अद्वैतभाव व्यावृत्तिमूलक (एक्सक्लयूसिव) सत्याभासमूलक (बेस्ड आन रिनन्सियेशन और इलिमेशन) है, अनुवृत्ति किंवा ग्रहणमूलक (आल इम्ब्रेसिङ्ग) नहीं। माया ब्रह्मशक्ति है, ब्रह्माश्रित है, पर ब्रह्म सत्य है, और माया मिथ्या यह कैसे? परन्तु विचारदृष्टि से माया सदसद्विलक्षण है। मायाको स्वीकारकर उसको ब्रह्ममयी नित्या और सत्यस्वरूपा मानने से ब्रह्म और मायाकी एकरसता हो जाती है। यह एकरसता मायाको त्यागकर या तुच्छ समझकर नहीं बल्कि उसको अपनी ही शक्ति समझने में है।....सुतरां जो सूर्य है, वही मेघ है क्योंकि वह उसीकी शक्ति है। मायामेघ भी इसीप्रकार ब्रह्मसे आविर्भूत होता है, उसीके आश्रयसे आत्मप्रकाश करता है और उसीमें विश्राम लाभ करता है। जो माया है, वही ब्रह्म है। भारतीय-संस्कृति और साधना, पं० गोपीनाथ कविराज, पृ० ५-६।

शक्ति सत्य है। अतः शक्तिमान भी सत्य है। जीव और जगत् भी सत्य है। सब कुछ शिवमय है। यह विश्ववैचित्र्य उसी परमशिवका विलास है[1]। यह भेद उसी अभेदका आत्मप्रकाश है। शिव यदि सूर्य हैं, तो शक्ति उसकी रश्मियोंकी मनोहर मालिका है। इस तत्त्वको आत्मसात् करने वाले महापुरुष इस जगत्को उसी परमशिवकी क्रीडाके रूपमें देखते हैं[2]। ऐसे लोग जीवन्मुक्त होते हैं। यही साम्यदर्शन है। इस उच्च विचारभूमिमें न भेद रहता है और न अभेद। न जल न लहर। इसी बातको आचार्य शङ्करने प्रकारान्तरसे स्वीकार भी किया है। वास्तवमें समुद्र और तरङ्गमें कोई अन्तर नहीं होता।

व्यक्तिको जब समरसताकी अनुभूति हो जाती है, तो वह अखण्ड आनन्दकी उपलब्धि कर लेता है। इतना ही नहीं, वह स्वयं अखण्ड आनन्दमय हो जाता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन केवल ज्ञानमूलक ही नहीं, वह भक्तिमूलक भी है। यह ईश्वराद्वयवादकी दूसरी सबसे बड़ी विशेषता है। ब्रह्मवादमें भक्तिके लिये-कोई स्थान नहीं, जबकि ईश्वराद्वयवादमें ज्ञान और भक्ति दोनोंका समन्वय है। प्रत्यभिज्ञादर्शनमें जिसे हम पूर्णाहन्ताका चमत्कार कहते हैं, वह वास्तवमें ज्ञान और भक्तिकी समन्वयात्मक स्थिति है। चित् अवस्था यदि ज्ञानकी अवस्था है, तो आनन्दकी अवस्था भक्तिका स्वरूप है। शिव और शक्ति दोनों अभिन्न हैं। जहां व्यवहार दृष्टिसे संसारकी सृष्टि और संहारकी चर्चा होती है, वहां केवल शिव शक्तिका उन्मेष मात्र ही मानना चाहिये। वहां शिवता और शक्तिमत्ता अभेद भावसे कार्य और कारण दोनो रूपोंमें विद्यमान रहते हैं। यही परमभाव है। यह भाव भक्तिपरक अद्वैतके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसीलिये अभिनव गुप्तने दास्य प्राप्तिकी घोषणा स्पष्ट रूपसे की है, जो प्रत्यभिज्ञाके उपपादनमें प्रवृत्त करती है[3]। भक्तिहीनको माया उत्पथमें पतित कर देती है[4]।

---

१. तन्त्रालोक आ० ३। १०२–१०४

२. इति वा यस्य संवितिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः। स्पन्दकारिका।

३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, कारिका १, पृ० ५–६।

४. तन्त्रालोक, आ० ८। ३३४–३३५, पं०१५–१८, पृ० २२५।

भेदके निरस्त हो जानेपर भक्त भगवान्‌मय हो जाता है। शिव यदि समुद्र है, तो भक्ति तरङ्ग है। द्वैतभावसे मोह उत्पन्न होता है, किन्तु अद्वैतबोधकी उपायावस्थामें समुद्रमें द्वैतकी लहरी उठे, तो वह अद्वैतसे भी सुन्दर होती है। समरसानन्दमें द्वैतभी अमृतोपम हो जाता है। वहाँ जीवात्मा परमात्मा मित्र और दम्पतिमात्र रह जाते हैं[१]। वास्तवमें अद्वैत भक्तिमें सेव्यसेवकरूप द्वैत भाव आवश्यक है। इसको 'स्वभावका स्वरस' कहा गया है[२]। यह पराभक्ति है। सुभक्ति है। साधन भक्ति पथमें रहने वाला भक्त स्वका अनुसन्धान करता है। 'स्व' को परसे भरता है। यह भक्तिभरित भक्तहृदय इस अमृतको पीकर कृतार्थ हो जाता है। भक्तिलक्ष्मी से समृद्ध साधकके लिये कुछ याचितव्य शेष नहीं रह जाता[३]।

त्रिकदर्शनमें दास्य भक्ति ही स्वीकृत है[४]। समस्त शैवागम दास्य भक्तिको ही स्वीकार करता है। शान्त भक्तिसे दास्यभाव प्रस्फुटित होता है और सख्यमें या माधुर्यमें सर्वत्र दास्यभाव ही स्फुरित होता रहता है। यह भाव विश्वातीत की विश्वात्मकताका आस्वाद है। दोनो भावोंकी समरसता में ही ज्ञान और भक्तिकी समरसता निहित है। समरसता

---

१. द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।
जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः॥
बोधसार, पृ० २०० । २०१,

२. स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम्।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः।

३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी अ०१। १। १, पृ० १७,
पं० १२–१३।

४. कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्याप्युपकार मिच्छन्।
समस्त सम्पत्समवाप्ति हेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि॥
ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी का० १, पृ० ५–६।

पात्रमें ही होती है। पात्र वही है, जिसमें परमेश्वर अपनी स्वरूप स्वतन्त्रता भर दे। पात्र ही दास है, जिसे स्वामी उसका सभी अभिलषित पदार्थ दे दे[1]।

इसी भक्तिभावके कारण हम उस चिदात्माको देव कहते हैं। वह दिव्य शक्ति सम्पन्न है। वही समस्त पदार्थ समुदायकी सृष्टि करता है। वही अन्तः स्थित विश्वको बाह्यरूपसे प्रकाशित कर देता है। ऐसे परमशिवके प्रति दास्यभावकी लहरी यदि भेदापगमकी अवस्थामें भी उठे, तो वह वरेण्य ही होगी।

घ—सृष्टि और परमाणुवाद

वह परमशिव निरुपादान विश्वका निर्माण कर देता है। वह सृष्टिका निरुपादान निर्माता है। परमाणुवादी सोपादान निर्मिति मानते हैं। परमाणुसे द्व्यणुक फिर त्रसरेणु और इसी क्रमसे समग्र सृष्टि। परन्तु सदाशिव चिदात्मदेव अन्तःस्थित अर्थ समूहको बाहर प्रकाशित कर देते हैं। योगी भी अपनी इच्छासे विना परमाणुओंके संघटन किये ही पदार्थका निर्माण कर लेते हैं। परमाणुवादी तो सृष्टिको उपादान सापेक्ष मानता है। यह निरुपादान सृष्टि कैसे? परमाणुसापेक्षवादी कह सकते हैं कि, योगी ज्योंही इच्छा करता है, त्यों ही परमाणु संघटित हो जाते हैं। इस प्रश्नका ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिणीकारने खण्डन किया है[2]।

संवित् स्वातन्त्र्यमयी है। जब उसमें इच्छाका उदय होता है, तब अप्रतिघातरूप इच्छाके कारण अन्तःस्थित अर्थात् ज्ञानरूपमें अथवा आत्माके साथ अभिन्नरूपमें अवस्थित पदार्थ समूह ज्ञेयरूपमें अवभासित होते हैं। जो 'अहं' रूपसे द्रष्टाके साथ एकाकार रहता है, वही 'इदं' रूपमें पृथक् भावमें परिस्फुट हो जाता है। कल्पित प्रमाता अर्थात् देहादिमें तादात्म्यबोधयुक्त द्रष्टाके समीप परिच्छिन्न संवित्के सामने यह पदार्थ बाह्य प्रतीत होता है[3]।

---

१. दीयतेऽस्मै स्वामिना सर्वं यथाभिलषितमिति दासः। परमेश्वरस्वरूपस्वातन्त्र्यपात्रमित्यर्थः। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ७२, पं० १७–१८।

२. नहि एवं वक्तुं शक्यम्। परमाणवो योगीच्छया झटिति सङ्घटिताः कार्यमारप्स्यन्त इति। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, पृ० १३८।

३. भारतीय संस्कृति और साधना–पं० गोपीनाथ कविराज।

योगियोंकी इच्छाका यहीं रहस्य है। विश्वामित्र इसके प्रमाण हैं। उन्होंने इच्छा मात्र की और एक अभिनव विश्वका निर्माण हो गया। यहां सृष्टिमें अवान्तर अवयवोंका व्यवधान निश्चित रूपसे नहीं होता। जैसे लौकिक दृष्टिसे कुम्भकार मिट्टीके सूखे कण लाता है, आर्द्र करता है, मिट्टीका लोंदा बनाता है, चक्रपर रखता है, दण्ड और सूत्र सम्भालता है और दो अंशोंको मिलाकर एक घड़ा बना देता है। योगीकी सृष्टिमें इन सब क्रियाओंकी कोई अपेक्षा नहीं[1]। यह जगत् रूपी चित्र तो निरुपादान है। विना आधारके ही विना पट या पटलके ही कलानाथ भगवान् भूत-भावनके द्वारा यह स्वरूप ग्रहण कर लेता है–विस्तार पा लेता है[2]।

शिवाद्वयवादी प्रमाता और प्रमेयको एकही मानते हैं। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयसे वस्तुतत्त्वका मान उपलब्ध होता है। जीव पाशबद्ध है, मायासे वह अन्ध हो चुका है और कर्मग्रस्त है। उसे विद्या, गुरुकृपा, दीक्षा आदिके प्रभावसे प्रत्यभिज्ञान हो जाता है[3]। यह प्रत्यभिज्ञान ही प्रत्यभिज्ञादर्शन है। यहां न कोई बद्ध है, न कोई मुक्त। प्रत्यभिज्ञादर्शन सुप्त-चैतन्य-तत्त्वको जागृत करने वाला दर्शन है। बद्ध पुरुष जहां भेदभिन्न जगत्का दर्शन करता है, मुक्त (महेश्वरत्वप्राप्त) पुरुष 'स्व' से अभिन्न समग्र जगत्को देखता है[4]।

बीजसे अंकुर तभी निकलते हैं जब खाद, मिट्टी जल आदिका सहकार उसे प्राप्त होता है। यहां उसे प्रत्यभिज्ञानकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी प्रकार बद्धको मुक्त होनेमें किसी सहकारकी आवश्यकता नहीं पड़ती। वास्तवमें अर्थक्रिया दो प्रकारसे सम्पन्न होती है। एकको बाह्य

---

१. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ७६, पं० १८–२०। तन्त्रालोक, आ० ९, पृ० ३३, तन्त्रालोक। २५–२६ पं० १–१५।

२. निरुपादान-संभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै, कलानाथाय शूलिने।
सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ७७, पं० ५–६।

३. एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः,
विद्यादि ज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते।

४. मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते। ....। तत्त्वार्थ संग्रह, पृ० ७७।

और दूसरीको आन्तरिका या भावनात्मिका कहते हैं। पहली क्रियामें सहकारकी अपेक्षा होती है। जैसे खाद मिट्टी जल आदिके संस्कारसे अंकुर उत्पन्न हुआ।

दूसरी क्रिया बड़ी चमत्कार पूर्ण होती है। जिस वस्तुका बीज है—बीजसे वही अंकुर निकलता है। आमकी गुठलीसे आमका वृक्ष उगेगा। आमके वृक्षसे आमका बीज ही बनेगा। आमसे अमरूद नहीं। दूसरी क्रियामें इसीलिये प्रत्यभिज्ञान अपेक्षित हो जाता है। प्रमाता जीव ईश्वरत्वके प्रत्यभिज्ञान होनेके कारण जो वह था, वह वही हो जाता है। 'ईश्वर ही मैं हूँ, यह विभूतिरूपा आत्मसिद्धि, उसे प्राप्त हो जाती है। यह चमत्कारपूर्ण जीवात्म परमात्मका अभिन्नत्व उसे प्रत्यभिज्ञात हो जाता है। वह वास्तवमें वही बन जाता है, जो है।

एक स्त्री है। उसने नायकके गुणोंका श्रवण किया है। उसके हृदयमें नायकके प्रति अनुराग बद्ध हो गया है। नायकका विरह उसे असह्य हो गया है। वह चित्र बनाती है। अपने भावोंको उसमें सजाती है। भावविभोर होनेके कारण यदि अकस्मात् नायक आ भी जाय, तो वह उसे साधारण जन समझकर अपने परम प्रियतमके रूपमें हृदयंगम नहीं करती। किन्तु दूतीके कहनेपर उसके अनन्त आकर्षक गुणोंका स्मरण करते ही प्रत्यभिज्ञाके उदित होते ही तत्काल प्रियतमत्वको पा लेती है।[1]

'स्व' की संकुचित सत्ता विराट् पर ही निर्भर है। यह स्वात्म स्थिति विश्वेश्वर की ही स्थिति है। इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होने पर पूर्णाहन्ता चमत्कारमयी पूर्णैकात्म्य प्रथा उदित हो जाती है।[2]

---

१. तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तस्याः स्थितोऽप्यन्तिके,
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न नीतो यया।
लोकस्यैष तथानवेक्षित गुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो,
नैवायं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥
सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ७७, पं० २२-२५, पृ० ७८, पं० १-९।

२. तन्त्रालोक आ० १। २७५।

यदि एक बार प्रमाणसे, शास्त्रस्त्राध्यायसे या गुरु वचनसे यह ज्ञान हो जाय कि, 'मैं, शिव ही हूँ, मैं' वही शिव हूँ, जो सर्वव्यापक है, महेश्वर है ! दृढ़तापूर्वक यह धारणा हो जाय, तो सारा काम ही बन जाय ! उस समय न कार्य शेष रह जाते हैं, न कारणकी करणीयता रह जाती है और भावना भी उस चिन्मयानुभूतिके बहुत नीचे रह जाती है। जिसे सुवर्णका ज्ञान हो गया, उसे निकष (कसौटी) पर कसने और उसके सम्बन्ध में विचारकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।[1]

यह सब प्रत्यभिज्ञाके बलसे ही साध्य है। यह स्थिति विधि-निषेधसे ऊपर की स्थिति है। वहां मैं ही कर्त्ता, ज्ञाता और आदि सिद्ध महेश्वर हूँ, यह भाव दृढ़ हो जाता है। मोहके व्यामोहमें ग्रस्त प्रमाता इस महा-भावका तबतक अनुभव नहीं कर पाता, जब तक उसकी शक्तिका विकास नहीं हो पाता। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र ही वह शास्त्र है, जिसके बलसे शक्तिका आविष्कार होता है और आत्मामें ही अपनी इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्तियोंसे सर्वज्ञ विलसित हो जाता है एवं विमर्श रूप महेश्वरसे महाबोध भी उल्लसित हो जाता है।[2]

चिद्रूप परमेश्वर ही स्वेच्छावश इस विश्वका अवभासन करते हैं। इस आभासन क्रियामें नियतिके अनुरूप बीजसे अंकुर ही होता है और मिट्टीसे घट ही।

---

१. एक बारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः ।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्या दृढात्मना ॥
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा,
ज्ञाते सुवर्णे करणं भावनां वा परित्यजेत् ॥ शिवदृष्टि ।
सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ७३, पं० २०–२४ ऋषिभाष्य पृ० ३५४ ।

२. कर्त्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे ।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धि वा विदधीत कः ?
किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते ।
शक्त्याविष्करणेनैवं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ॥ सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ७५ । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, विमर्शिणी,कारिका २, पृ० २९, पं० ४--५ । कारिका ३, पृ० ३५ । पं० ६--८ ।

अर्थकी प्रतीति आन्तरत्व, ग्राह्यत्व और बाह्यत्व भेदसे तीन प्रकार से होती है। पहले अन्तरमनके गोचर होनेसे पूर्व ही स्वसंविद्रूप से पदार्थ स्फुरित होता है। यह उसका आन्तरत्व है। फिर अन्तःकरण-वेद्य होता है और सुख दुःखकी तरह ग्राह्यत्व विशिष्ट होता है। आन्तरत्व के बाद बहिर्भावत्व प्राप्त करनेके कारण उसका बाह्यत्वभी सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार संविदात्मामें अवस्थित अर्थ मात्रका बाह्य अवभास भी हो जाता है।[1]

कुम्भकारभी वास्तवमें घटका कर्त्ता नहीं है। मिट्टी जड़ है। वह कुम्भकारके अनुरोधको स्वीकार नहीं कर सकती। कुम्भकार स्वेच्छामात्र से घड़ेका निर्माण नहीं कर सकता। उसमें भी मिट्टी आदिको अपेक्षा होती है। इसी प्रकार पट (वस्त्र) निर्माणमें भी समझना चाहिये।

वास्तवमें कुम्भकार चित्तमें घट-निर्माणकी बात सोचता है। सोचनेसे घट आदिका बाह्यावभास तो हो नहीं सकता। उसी दशामें परमशिवकी स्वेच्छासे नियति द्वारा कुम्भकारके मनमें इसका निर्माण किया गया। इस प्रकारका जो अभिमान होता है, वह भी उस परमशिवकी सर्वातिशायी महिमा का ही माहात्म्य है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि, जो स्वतन्त्र नहीं है, वह कदापि कर्त्ता नहीं बन सकता।[2]

स्वतन्त्रता जड़ शरीरमें गृहीताभिमानी कुम्भकारमें नहीं हो सकती। वह तो चिन्मात्र शरीर परमेश्वरमें ही हो सकती है।[3] स्वातन्त्र्य स्वप्रकाश

---

१. स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावरातस्य भासनम्।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्त्तते॥
तन्त्रालोक आ० ९। पृ०, १०, पं०१८–१९।
कार्यकारणता लोके सान्तर्विपरिवर्त्तिनः।
उभयेन्द्रियवेद्यत्वं तस्य कस्यापि शक्तितः॥
तन्त्रालोक आ० ९। पृ० ११, पं० ६-७।

२. अस्वतन्त्रस्य कर्तृत्वं न हि जातूपपद्यते।
स्वतन्त्रता च चिन्मात्रवपुषः परमेशितुः। तन्त्रालोक, आ० ९। ९,

३. स्वतन्त्रता चिन्मात्रवपुषः परमेशितुः। स्वतन्त्रं च जडं चेति तदन्योन्यं विरुध्यते॥ तन्त्रालोक आ० ९। ९,

होता है और जाड्यत्व परप्रकाश होता है। इनमें तादात्म्य या किसी प्रकारका संयोग व्यवहार विरुद्ध है। इसीलिये जड़ वस्तु भी संविन्निष्ट होनेके कारण परप्रकाशात्मक प्रमाताकी अपेक्षा रखती है।

जिस वस्तुका जो रूप जिस धर्मका अनुयायी होकर भासित होता है, वही उसका उपादान कारण होता है।[1] कृत्तिकाके बाद रोहिणीका उदय इसका दृष्टान्त नहीं बन सकता, न ही घटमें दण्ड आदि उदाहरण बन सकते हैं। इसका उदाहरण एक मात्र मृत्तिका है। घटके निर्माणमें वही कारण बनती है[2]।

धूमका उपादान कारण अग्नि नहीं है वरन् आर्द्र इन्धन आदि हैं। चन्द्रकान्तमणिके द्रवमें उपादान कारण चन्द्र नहीं है वरन् किरणें हैं अन्यथा चन्द्रकान्त यदि उपादान माना जाय, तो क्षण-क्षण द्रव होनेके कारण उसका क्षरण ही हो जाय।

योगी की इच्छामात्रसे अंकुरोत्पत्ति होती है; स्वप्नमें घट और पटका निर्माण हो जाता है। यह ईश्वरेच्छाके नियमसे ही सम्भव होता है[3]।

यह निरुपादन सृष्टि है। इसलिये यह निश्चय है कि, कार्य कारणता का निबन्धक परमेशकी इच्छाशक्तिका प्रतीक नियम ही है[4]। इस नियमके आधारपर यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि, वस्तुतः चिन्मयही सर्व वस्तुमात्रका एक मात्र कारण है[5]। हेतुके भेदसे फलमें भेद नहीं हो सकता। इसलिये समग्रवस्तु समूहकी उत्पत्तिकी मूल कारण परमेशकी परा संवित् ही है।

---

१. तन्त्रालोक, आ० ९, २४।

२. अनपेक्षानुवृत्तेश्च भेदैरप्यर्थान्तराश्रये। तस्योपादानहेतुत्वं मृदः कुण्डादिके यथा॥ तन्त्रालोक, आ० ९, पृ० ३१, पं० ९-१०।

३. योगीच्छानन्तरोद्भूत तथाभूताङ्कुरो यतः।
इष्टे तथाविधाकारे नियमो भासते यतः॥
स्वप्ने घटपटादीनां हेतुस्तद्वत्स्वभावता।
भासते नियमेनैव बाधाशून्येन तावति॥ तन्त्रालोक, आ०९। २६-२७।

४. ततो यावति याद्रूप्यान्नियमो बाधवर्जितः। भाति तावद् ताद्रूप्यादृढहेतु-फलात्मता। तन्त्रालोक, आ० ९। २८।

५. तथाभूते च नियमे हेतुतद्वत्त्वकारिणी। वस्तुतस् चिन्मयस्यैव हेतुता तद्धि-सर्वंगम्। तन्त्रालोक आ० ९। २९।

एक एक वस्तुके निर्माणमें विश्वैकविग्रह शिव ही कर्त्ता हैं। पुरुषका कर्तृत्वाभिमान भी-विभु की ही कृति है[१]। शिव स्वतन्त्र दृग्‌रूप ही है। स्वातन्त्र्याभासनके भेदानुसार स्वतः पांच प्रकारसे विभाजित हो जाते हैं[२]। वास्तवमें शैवशास्त्रके अनुसार सर्ववस्तु सर्वात्मक ही है। फिरभी तत्तत् तत्त्वोंकी प्रधानताके कारण शिवमें भी भेदभावका निरूपण होता है। इसीलिये चिदानन्दैषणाज्ञान क्रिया ये पांच भेद मान लिये गये हैं[३]।

शिव चिन्मात्र स्वभाव है। वह पूर्ण है, अतएव निराशंस है। वह परमस्वतन्त्र है। स्वतन्त्रताके माहात्म्यसे व्यक्त होनेका अभिलाष उसमें उल्लसित होता है। परिणामस्वरूप परानन्दकी चमत्कृति उत्पन्न होती है। चमत्कारोंके तारतम्यमें सर्वप्रथम अहं परामर्श होता है। इस अवस्थामें शक्ति दशामें अधिशायित शिव स्फुरित हो जाते हैं। यही सृष्टिका रहस्य है।

तत्पश्चात् परामर्शकी अहम् इदम् यह दो शाखायें उद्‌भूत होती हैं। अहमंश शुद्ध चिन्मात्रको अधिकृत करता है। जब परमेश्वर इस शुद्ध चिन्मात्राधिकरण अहमंशमें इदमंशको उल्लसित करते हैं, उस समय जिस वस्तुका जो रूप जिस धर्मका अनुयायी होकर भासित होता है, यही उसका उपादान कारण होता है।

अनन्त चित्र विचित्र भाव राशिका कल्पनामय उन्मीलन होता है। भावमात्र होनेके कारण उसमें अस्फुटता रहती है और इच्छामात्रकी प्रधानता होती है। इच्छामात्र प्रधान इस तत्त्वको सदाशिव तत्त्व कहते हैं।

---

१. तस्मादेकैकनिर्माणे शिवो विश्वैकविग्रहः। कर्त्तेति पुंसः कर्तृत्वाभिमानोऽपि विभोः कृतिः ॥ तन्त्रालोक आ० ९। ३८,

२. तन्त्रालोक आ० ९। ५०, ४९।

३. चिदानन्दैषणाज्ञानक्रियाणां सुस्फुटत्वतः।
शिवशक्तिसदेशानविद्याख्यं तत्त्वपंचकम् ॥
चिदानन्दैषणाज्ञानक्रिया पंचमहातनुः।
विवर्तते महेशानस्तत्त्ववर्गेषु पंचधा ॥ तन्त्रालोक, आ० ९। ५०

उस समयके तात्त्विक सामञ्जस्यका स्वरूप है–'अहम् इदम्'। इस अवस्थामें भावराशि फिर स्फुटताको धारण करती है। उसी अधिकृति में इदमंशमें अहमंशका सेचन होता है। यह निषिञ्चन ज्ञानशक्तिप्रधान ईश्वर तत्त्वकी अवस्था है। इसका रूप होता है-'इदम् अहम्' अर्थात् ज्ञानमें यह स्फुरणा होती है कि, यह मैं ही हूँ।[१]

यहां भेदभाव प्ररूढ़ हो जाता है। इदमंशका स्फुरण अनन्तरूपोंमें उद्भासित होता है। इसी इदमंशमें अहमंशभी समुल्लासित होता है। पुनः मैं हूँ-यह परामर्श होने लग जाता है। यह क्रियाशक्ति प्रधान सद्विद्यातत्त्व है।

यद्यपि परमशिवका ही यह एक चिद्घन ऐश्वर्य है फिर भी बाह्य उन्मुखताके व्यापारके कारण इस प्रकार भेद अद्वैत परमेश्वरमें भासित हो जाते हैं [२]।

इसप्रकार पञ्चधा विभक्त[३] होनेकी औपचारिकताके अतिरिक्त अनन्तरूपोंमें भी वही अप्रच्युत प्राच्यस्वरूप अनवच्छिन्न परप्रकाशात्मा परमशिव भासमान हो रहे हैं। अनन्तानन्त भावराशियोंमें, भूतवस्तुओंमें और भुवनादि भेदभिन्नतामें भी वही विभु अपने विभवका प्रभाव प्रसार प्रकाश कर रहा है[४]।

---

१. स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं जगदात्मतया समाच्छाद्य। निवसन् स एव निखिलानुग्रह-निरतः सदा-शिवोऽभिहितः ॥षट् त्रिंशत्तत्त्व-सन्दोहः। कारिका ३। स्वातन्त्र्यान्मुक्तामात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः। प्रभुरीशादि संकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत्। चित्तत्त्वस्याबलस्यैय चबनाभासपूर्वकम्। किञ्चिच्चलनं तत्त्वं सदाशिवेश्वरोभयम्। पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, प्रक्रियाविमर्श २९८–३००।

२. निराशंसात्पूर्णादहमिति पुरा भासयति यत्,........
तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम्।

तन्त्रालोक आ० १। पृ० ५१, पं० ५–६।

३. तन्त्रालोक, आ० १। ४९।

४. तन्त्रालोक, आ० १। ५१–५३।

(ङ) तत्त्व-विभाग

३१ अशुद्ध अध्वा (५ महाभूत, ५ तन्मात्रायें, १० इन्द्रियाँ, ३ मन, बुद्धि, अहंकार, २ प्रकृति, पुरुष, ६ कंचुक) और ५ शुद्ध अध्वा (१ शुद्धविद्या, १ ईश्वर, १ सदाशिव, १ शक्ति और १ शिव) के अनुसार प्रत्यभिज्ञादर्शनमें ३६ तत्त्व माने जाते हैं।[१] शिव पैंतीस तत्त्ववाले भी स्वीकृत हैं।[२] स्वातन्त्र्यके कारण ही शिवमें भेद उत्पन्न होता है। भेदमें जो रूपगुण होते हैं, उन्हींके अनुसार उनका नाम रखा जाता है[३]। कालसदनसे लेकर वीरभद्र भुवनपर्यन्त धृति, काठिन्य और गरिमा आदि गुणोंसे विशिष्ट रहनेके कारण प्रथम तत्त्वका नाम धरा रखा गया है[४]। कार्यकारण भाव शिवेच्छा-परिकल्पित होता है[५]। बीज कारण है। वह जड़ है। अंकुर उत्पन्न होता है, तो इससे बीजका क्या? वास्तवमें बीजका यही महत्त्व है—या कारणका यही महत्त्व है कि, कार्यको परिदृश्यमानसत्ताक बना देता है। जैसे बीजसे अंकुर। अंकुर बीजसे अलग भासित है। बीज और अंकुरके उदाहरणमें और घट तथा मृद्के दृष्टान्तमें अन्तर है। मृद् पहलेसे ही है। घट उसीसे निर्मित हुआ पर अंकुर नया उत्पन्न हुआ। वह उपादान रूपसे पहलेसे ही उसमें नहीं है। इसलिये एक जगह सत् कार्य है और दूसरी जगह असत्कार्य है। अंकुरका असत्रूप ही परमार्थ है। पर वास्तवमें स्वरूप विरुद्ध सत्त्वकी उत्पत्ति असम्भव है क्योंकि असत् नामका कोई पदार्थ है ही नहीं। जब वह है हो नहीं, तो सत्से उसका विरोध हो ही नहीं सकता। सत्त्व तो सत् असत् उभयमें अधिष्ठित है। व्यवहारमात्रमें जो दीख पड़ता है कि, सत्से असत् उत्पन्न हुआ, वह तो सत्की व्यापकता का ही बोधक है।

---

१. तन्त्रालोक, आ० ९, पृ० २, पं० १७, पृ० ६, पं० १२–२१।

२. तन्त्रालोक, आ० ९, पृ० ३, पं० १।

पञ्चत्रिंशत्तत्त्वी शिवनायस्यैव शक्तिरुक्तेयम्
तनोति सर्वम् इति तत् परं रूपं तस्य भावस्तत्त्वम्।

३. तन्त्रालोक आ० ९, पृ० ३। पं० ७–१५।

४. धृत्यायवभासाद्धरा।

५. तन्त्रालोक, आ० ९। ७।

अतः यह कहा जा सकता है कि बीजमें ही अंकुर विद्यमान है। ऐसी अवस्थामें बीज भी सत् और अंकुर भी सत् है। किसीका किसीसे कोई विरोध नहीं। यदि बीजकी सत्तामें अंकुरकी सत्ता है, तो सर्वदा ही होनी चाहिये। इसमें अन्यथात्वके लिये स्थान नहीं है। यहाँ अन्यथात्व और तथात्व दोनोंका सम्मिश्रण ही लक्ष्य है। यह तथात्व ही ३६ तत्त्वोंमें परिदृश्यमान है।[१] यह लोक अपने मूल तत्त्वसे भेद-भिन्न परिदृश्यमान होता हुआ स्वका विस्मरणकर परार्थका चिन्तन कभी नहीं कर पाता। परिणामतः वह अपने भैरवीभावसे भ्रष्ट हो जाता है। किन्तु यह साधक अपने समस्त भावमलको या भवमलको ध्वस्त कर देता है, तो वह उस परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करनेमें समर्थ हो जाता है।[२]

यह सिद्धान्त ही है कि, नर[३] शक्ति शिवात्मक होती है। प्रत्यभिज्ञा दर्शनके अनुसार व्यक्तिका परम लक्ष्य परमात्माकी, परमशिवके अनुग्रह[४] शक्तिकी उपलब्धिकर परमशिवमय होना ही है। यही कारण है कि, श्री जयशंकर प्रसादने इस दार्शनिक रहस्योंको अपने साहित्यमें परिणत कर परमशिवत्वका सन्देश हिन्दी साहित्यके माध्यमसे दिया है।

●

---

१. आमहाप्रलयस्थायि सर्वप्राणचुपभोगकृत्।
तत्त्वमित्युच्यते तज्ज्ञैर्नशरीरघटाद्यतः॥ तन्त्रालोक आ० ९, पृ० ६, पं०३–४।

२. स्वं कर्तव्यं किमपि कलयन् लोक एष नोपारार्थ्यं प्रतिघटयते कांचन स्वप्रवृत्तिम्। यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः, कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्त्तव्यमात्रम्। तन्त्रालोक आ० २। ३९।

३. नरशक्तिशिवात्मकः। आ० ३।११२। (तन्त्रालोक)

४. तन्त्रालोक। आ० २। ३८,

२–तत्त्वपीठिका

क–इतिहास

वैदिक युगमें ही शैवसिद्धान्तोंकी पूर्ण प्रतिष्ठा भारतीय मनीषाकी मुख्य भूमिपर हो चुकी थी आगे चलकर महाभारतकालसे लेकर युद्धकाल तक शैव तन्त्रोंका विशेष प्राबल्य था। शैवागमोंकी सिद्धान्तवादिताके समक्ष वैष्णव तन्त्रभी न टिक सके। शैवमतमें गुह्यतान्त्रिकी प्रणालियोंका प्रचलन था। इनका इतना प्रभाव पड़ा कि, वैष्णव और बौद्ध दोनों धर्मों की जड़ें एक प्रकारसे हिल सी गयीं। पूर्व मध्ययुगमें उत्तर भारतमें जो धर्म सर्वाधिक प्रचलित था, वह शैव धर्म ही था। गहरवार[१], चेदि[२], चन्देल[३] और उड़ीसा का सभी राजन्यवर्ग[४] परममाहेश्वर मतवादको मानने वाला ही था। हरवर्मा और विद्यादेव नामक आसामके ये दोनों नृप इसी पद्धतिमें दीक्षित थे। बङ्गदेशके विजयसेन, बल्लालसेन आदि और पश्चिम भारतके देवपाल, परमार आदि भी इसी मत के अनुयायी थे।

---

१. चन्द्रदेव (EL, XIV, 197-200) मदनपाल (IA, VIV,101-FF) गोविन्दचन्द्र (JASB XXXI, 123-24) और हरिश्चन्द्र IE, xPP, 97-98)

२. लक्ष्मीकर्ण (EI IK, PP, 305FF) यशकर्ण (EI,xII, 210FF) नरसिंहदेव (IA,xVIII, PP. 211-213) जयसिंह (IA, xVII-324 FF) विजयसिंह (IA xVII,227-30)

३. देववर्मन् (IA, xVI, 205FF) मदनवर्मा (IA, xVI, 202, 207-10) परमारडी (EI, PP. 135-70) त्रैलोक्यवर्मदेव (EI,xVI, PP. 272-77)

४. महाभावगुप्त जनमेजय (EI, xI, PP, 93-94) महाशिवगुप्त ययादि (JBGRS, 11, 45-59) महाभावगुप्त द्वितीय (EI, III, PP 355-59) रणभंज)EI, xII PP 321-55) विश्वाभञ्ज (EI, Ix, 271-75) नेत्रभंज (EI, xVIII, 293-95) कुलस्तम्भ (EI, xII, PP, 156-59) रणस्तम्भ (JBORS, II, PP 396-400).

कुछ ऐसे राजा भी हुए, जिन्होंने अपने साम्राज्य शिवके ऊपर न्योछावर कर दिये। कुछने शैवमतप्रचारमें अपने राज्यका पूरा उपयोग किया। इस प्रकारके उदाहरण भारतीय तत्कालीन इतिहासमें भरे पड़े है। अपनी मान्यताओंका प्रचलन और जन जनमें उनका प्रसारण ही उन्हें अपेक्षित था। मतमपूर क्षेत्रके अवन्तिवर्माने[1] अपना राज्य पूरा शैव सिद्धान्तके विस्तारमें अर्पित कर दिया था। इसी प्रकार दाहलके चेदि-नरेशने भी अपने राज्यको परमेष्टदेव शिवके लिये अर्पित कर दिया था।

उज्जैनके महाकालेश्वरकी सेवाके लिये पूरे मालवा प्रान्तका अर्पण एक सोलंकी राजाने कर दिया था, यह बात इतिहास प्रसिद्ध है। परमार राजपूतोंको उसने उसके प्रबन्धमें नियुक्त भी किया था[2]। उन्हें उसका ध्यान था कि, जिस उद्देश्यके लिये यह अर्पण सम्पन्न हो रहा है, उसका दुरुपयोग न होने पाये। साथ ही भारतीय जीवन पद्धतिमें रसोपभोगके अनन्तर भूपति लोग अरण्य निवास करते हुए अपना जीवन वानप्रस्थमें व्यतीत करते थे—यह भी प्रमाणित हो जाता है।

अचलगढ़से प्राप्त एक लेखमें एक ऐसे विजय राज्यकी सत्ताका पता चलता है, जहांके शासक परनिरंजन और परममाहेश्वर थे[3]। यह राज्य पूर्णतया शैव प्रभावसे भावित था। ऐसे राज्य जिनके राजा शैव थे, एक प्रकारसे शैव सम्प्रदायके प्रचार केन्द्र थे। उनके नरेश परम भट्टारक और परममाहेश्वर एवं महाराजाधिराज होते थे। ऐसे एक

---

१. गत्वा तपस्यन्तमुपेन्द्रपूर्वे पुरे तदा श्रीमदवन्तिवर्मा, भृशं समाराध्य तमात्मभूमिं कथंचिदानीय चकार पूताम्। अथोपसम्प्राप्य च सम्यगैशीं दीक्षां च दक्षो गुरुदक्षिणार्थम्, निवेद्य तस्मै निजराज्यसारं स्वजन्म साफल्यमवाप भूयः॥ १३, इ, आई, आई, पी, ३५५।

२. देवादेशाद् भुजद्वये लग्ने सति तं मालवदेशं सान्तः पुरं तस्मै देवाय दत्त्वा, तद्रक्षाधिकृतान् नियोज्य स्वयमेव तापसीं दीक्षामंगीचक्रे। प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० ११।

३. महाशैले श्रीअचलेश्वरमहामठात् परमभट्टारक परममाहेश्वरः परनिरंजनः कंदर्पदर्पदलनस्ववंशउद्योतकर राज्यश्री सर्वेश्वर महामुनीन्द्र विजय-राज्ये। ५-७ जे० उड़ीसा। एच० आर०, १९५२, आई०, पृ० ५०।

राजा वामदेव भी हो चुके हैं। यही नहीं, मध्यभारतके समस्त मूर्द्धन्य नरेश जैसे चन्देरीके प्रतिहार, चेदि और परमारवंशके राजपुत्र अथवा पंजाबके वर्मन राजाभी, उस समय शैवभावसे पूर्णतया भावित थे। यह कहा जा सकता है कि, यह नरेशवर्ग गुहावासी शैव सिद्धान्तकी मान्यताओंमें केवल विश्वास ही नहीं करता था, श्रद्धाभी करता था और उसके अनुसार ही अपनी अध्यात्मचर्या सम्पन्न करता था।

चेदिराजाओंके राजगुरु कौन थे? इतिहासके अनुसार चेदि लोग लगभग ढाई सौ वर्षों तक शासन सूत्र संचालन करते रहे। उनके राज्यगुरु यही शैव थे, जिन्होंने उत्तर भारतके इस सुप्रचलित मतको तामिल और आन्ध्रक्षेत्र तक फैलाया और राज्यगुरु बन बैठे।

बादमें चलकर शैवमतके अवान्तर भेदभी प्रचलित हुए। कूर्मपुराण[1] के अनुसार शैवमत तीन रूपोंमें विभाजित हुआ। १–वैदिक, २–तांत्रिक और ३—मिश्र। मिश्र मतवादमें मुख्य इष्टदेव, अन्य ४ दिव्य देवताओंके साथ पूजित होते थे। वे चारों थे—सूर्य, शक्ति, गणेश और विष्णु। यह मतवाद स्मार्त्त पंचदेवोपासनाके अधिक समीप है। वैदिक शैव मतवाद और लाकुलीश पाशुपत मतवादोंके अत्यन्त सदृश है और तांत्रिक मतवाद संभवतः कालानन शैवों द्वारा प्रचार में आया। कापालिक लोग भी इसी मतवादके विस्तारक थे। शैवोंके अन्य अवान्तर मतोंमें भी तांत्रिक मतवादको ही मान्यता दी।

आगम और निगमकी भारतीय[2] मान्यतायें परस्पर इस प्रकार समञ्जस रूपसे विकसित हुई हैं, जिनमें अन्तरका देख पाना बड़ा ही कठिन हो जाता है। उदाहरण रूपसे लाकुलीश पाशुपतमतको ले सकते हैं। यह मतवाद आगमसे सम्बद्ध है। पुराणोंमें वैदिक मतवादके रूपमें भी

---

१. तान्त्रिकं वैदिकं मिश्रं त्रिधा पाशुपतं मतम्,
तप्तलिंगार्कशूलादिधारणं तान्त्रिकं शुभम्।
लिंगरुद्राक्षभस्मादिधारणं वैदिकं भवेत्,
रविं शम्भुं तथा शक्तिं विघ्नेशं च जनार्दनम्।
यजन्ति समभावेन मिश्रपाशुपतं हि तत्॥ (कूर्मपुराण-श्रीकरभाष्य)

२. भारतीय संस्कृति और साधना। पृ० १२७।

इसका वर्णन किया गया है। इसका एक प्रमुख कारण यह भी हो सकता है कि, वैदिक वर्ण जातिके सिद्धान्तोंकी मान्यता पहले इन मतवादियोंमें भी प्रचलित थी। शैव सिद्धान्तका आधुनिक रूप पूर्णतया तान्त्रिक है[१]।

काकातीय राजवंशमें रुद्रदेव एक प्रसिद्ध राजा हो चुका है, जिसका समय ११८३ ई० माना जाता है। उसके समयका एक प्रस्तरोत्कीर्ण लेख मलकापुरम्[२]से प्राप्त हुआ है। उसमें शैवमतकी चार शाखाओंका उल्लेख है। १—शैव, २—कालानन, ३—शिवशासन और ४—पाशुपत।[३]

वामन[४] और शिव[५] पुराण में भी इनका उल्लेख है। यामुनाचार्यके आगमप्रामाण्य[६] नामक ग्रन्थमें भी ऐसा ही उल्लेख है। श्री रामानुजाचार्यके

---

१. वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः। वेदेऽपि शिवागमः इति व्यवहारो युक्तः। तस्य कर्त्तृकत्वात्। अतः शिवागमो विविधः त्रैवर्णिक-विषयः सर्वविषयश्चेति। वेदास्त्रैवर्णिकविषयाः सर्वविषयाश्चान्याः उभयोरेकएव शिवः कर्त्ता। अतः कर्तृसामान्यात् उभयमप्येकार्थपरं प्रमाणमेव। शिवार्कमणिदीपिका १।२ ३७,

२. उपेयुषां शैवतपोधनानां कालाननानां शिवशासनानाम्, विद्यार्थिनां पाशुपतव्रतानामप्यन्नवस्त्रादिसमर्पणाय। मलकापुरम्, प्रस्तरोत्कीर्ण, लेख-समय ११८३ ई०।

३. कूर्मपूराणे प्रमाणभूतं वैदिकं पाशुपतमुक्त्वा वामं पाशुपतं सोममिति मोहशास्त्ररूपमवैदिकं पाशुपतमन्यत् संकीर्त्तितम्। शिवार्कमणिदीपिका (अप्पयदीक्षित) २।२ २८।

४. आद्यं शैवं परिख्यातमन्यत् पाशुपतं मुने। तृतीयं कालवदनं चतुर्थं च कपालिनम्। वामन ६।८६-९१,

५. शैवाः सिद्धान्तमार्गस्थाः शैवाः पाशुपतस्तथा। शैवा महाव्रतधराः शैवाः कापालिकाः परे॥ वायवीसंहिता २९।

६. यथा माहेश्वरे तन्त्रे निरुद्धं बहुजल्पितम्।
चतुर्विधाः हि तत्सिद्धचर्यामार्गानुसारिणः।
यथा कापालिकाः कालामुखाः पाशुपतास्तथा।
शैवास्तत्र च कापालमतमेवं प्रचक्षते॥ आगमप्रामाण्य, पृ० २६।

श्रीभाष्यमें भी यह मतवाद उल्लिखित[1] हैं। श्री वाचस्पतिमिश्रका शारीरक भाष्य[2], हरिभद्र सूरिका 'सद्दर्शन समुच्चय'[3] अथ च अन्य आगमिक प्रमाण इन्हीं मार्गोंके अस्तित्वका उल्लेख करते हैं। यथा सुप्रभेदागमके क्रियावादमें 'शैवं पाशुपतं सोमं लाकुलं च चतुर्विधं' के अनुसार इन्हीं चारों मतवादोंका उल्लेख है। ये सभी प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि, उस समय समग्र भारतमें व्यापक रूपसे शैव धर्म प्रचलित था। इसकी अनेक शाखायें थीं। उनका अपना स्वतन्त्र शास्त्रीय स्वरूप था। इनमें निम्नलिखित चार मतवाद अत्यधिक प्रचलनमें थे।

१—शैव मतवाद (शैव सिद्धान्त), २—कालानन (कारुक), ३—पाशुपत (लाकुलीश पाशुपत), और ४—कापालिक (सोमवादसे संयुक्त)[4]।

शिवशासन, अथवा महाव्रतधर नामक मतवादके अतिरिक्त दक्षिण-भारतके कुछ लेख शैवोंके ६ समय या भेदोंका उल्लेख करते हैं। १–भैरव, २–वाम, ३–कालामुख, ४–महाव्रत, ५–पाशुपत और ६–शैव। अन्तिम ४ तो वही हैं, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। भैरव और वाम ये दोनों कापालिक मतवादमें अन्तर्हित हैं। आनन्दगिरिके शंकर

---

१. इदानीं पशुपतिमतस्य वेदविरोधादसामंजस्याच्च नादरणीयतोच्यते। तन्मतानुसारिणश्चतुर्विधाः कापालाः कालामुखाः पाशुपताः शैवाश्चेति।

ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्य ११-२-३५।

२. माहेश्वराः चत्वारः शैवाः पाशुपताः कारुणिककारुकसिद्धान्तिनः कापालिकाश्चेति। शारीरकभाष्य। वाचस्पतिमिश्र (भामती)

३. ते च शैवादिभेदेन चतुर्धा भवन्ति। तदुक्तम्—
आधारभस्मकौपीनजटायज्ञोपवीतिनः।
स्वस्याचारादिभेदेन चतुर्धाः स्युः तपस्विनः।
शैवाः पाशुपताश्चैव महाव्रतधरास्तथा।
तुर्याः कालामुखा मुख्या भेदास्तेषां तपस्विनाम्।

सद्दर्शन-समुच्चय-हरिभद्रसूरि।

४. प्रबोध-चन्द्रोदय, अं० ३।

दिग्विजयमें अन्य ६ मतवादोंका उल्लेख भी मिलता है।[1] इनके अतिरिक्त कुछ अन्य नाम भी शैव साहित्यमें उपलब्ध हैं।[2]

ग—पाशुपत मतवाद

इत मतके संस्थापक श्री श्रीकण्ठ हैं।[3] महाभारतके अनुसार पाशुपतमत पाँच ज्ञानमार्गी परम्पराओंका एक अंग है। इसके प्रवर्तक श्रीकण्ठ उमापति शिव हैं, जो ब्रह्माके पुत्र हैं। शैव सिद्धान्तके प्रमुख ग्रन्थोंमें भी आचार्य श्रीकण्ठका वर्णन उपलब्ध है। ये अखिल भारतीय ख्यातिके आवतारिक महापुरुष थे। श्रीमदभिनवगुप्तने तन्त्रालोकमें भी इनकी श्रद्धाभरित भावनासे चर्चा की है[4]।

१, भुजद्वयलिङ्गधराः शैवाः। फाले त्रिशूलधारिणः रौद्राः।
भुजद्वये डमरुधारिणः उग्राः। फाले लिङ्गधारिणः भट्टाः।
हृदि त्रिशूलं शिरसि पाषाणलिङ्गं च धारिणो जंगमाः।
ललाटे भुजद्वये हृन्नाभिषु लिङ्गधारिणः पाशुपताः इत्युच्यन्ते।
शंकर-दिग्विजय।

२. केचिद् लोकायतं ब्रह्मन्, केचिद् सौमं महामुने।
नाकुलं केचिदिच्छन्ति तथा केचित्त् भैरवम्।

३. साख्यं योगं पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा, ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै। उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः, उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः।
महाभारत, शान्तिपर्व ३.४९।

४. कलिकालुष्याविच्छिन्नस्य निखिलशास्त्रोपनिषद्भूतस्य षडर्धक्रमविज्ञानस्य त्र्यम्बकसन्तानदारेण अवतारकत्वादाद्यं कैलासस्थं श्रीश्रीकण्ठनाथाख्यं गुरुम् उत्कर्षयति—
जयति गुरुरेक एव श्रीश्रीकण्ठो भुवि प्रथितः।
तदपरमतिर्भगवान्, महेश्वरो भूतिराजश्च॥
तन्त्रालोक आ० १, पृ० २८।

शिवदृष्टि[१], बृहद्यामल[२], पिङ्गल मत[३] और शिवपुराण[४] में भी इनका उल्लेख है। शारदा-तिलकमें पाशुपतमतके प्रथम प्रवर्तकके रूपमें आचार्य श्रीकण्ठका वर्णन आता है। तन्त्रालोकमें विश्वविख्यात एक गुरुके[५] रूपमें भी आचार्य श्रीकण्ठका उल्लेख है। रत्नत्रयम् नामक ग्रन्थमें भी श्रीकण्ठ[६] की आदिगुरुके रूपमें प्रार्थना की गयी है। उस प्रसङ्गमें श्री विघ्नेश्वर गणेशकी वन्दना भी है।

श्रीकण्ठका भारतीय दर्शन शास्त्रपर प्रभूत ऋण है। तन्त्रालोकमें इस बातकी चर्चा है कि, श्रीकण्ठने शक्ति तत्त्व और शक्तिमान् तत्त्वका विश्लेषण मांगल्य शास्त्र[७] नामक ग्रन्थमें किया है। तन्त्रालोकमें विभिन्न प्रसङ्गोंमें श्री श्रीकण्ठकी चर्चा है। श्रीकण्ठ वास्तवमें शिवके ही स्वरूप हैं। शिव रूपमें ही उनकी मान्यता है। वे पाशुपतमतके आदि गुरु हैं। तन्त्रसार नामक ग्रन्थमें भी परमपाशुपताचार्यके रूपमें श्रीकण्ठका उल्लेख है[८]। वे सृष्टि संहर्ता भी हैं।[९]

---

१. कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरम्।
   कलापि-ग्रामप्रमुखमुच्छिन्ने शिव-शासने।
   कैलासाद्रौ भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया।
   अनुग्रह्यावतीर्णश्चोदयामास भूतले॥
   तन्त्रालोक, आ० १८, पृ० २७–२८।

२. ज्ञानौघेन समाख्यातः पदबन्ध-जनेन तु।
   श्रीकण्ठस्य प्रसादेन सर्वोऽयं परिणतो मम॥ स्टडी इन तन्त्राज्, पृ० १०२।

३. अस्य तन्त्रस्य का संज्ञा, पिंगलमतसंज्ञाकः कर्त्ता ? भगवान् श्रीकण्ठनाथः कर्त्ता।

४. श्रीकण्ठेन शिवेनोक्ता शिवायै च शिवागमाः।
   शिवाश्रितानां कारुण्यात् श्रेयसामेककारणम्।
   वायवीयसं०, शिवकाण्ड। ९,

५. कश्मीर शैविज्म, पृ० २५।

६. रत्नत्रयम्, पृ० १।

७. शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नम् शक्तिमांस्तु महेश्वरः इति मांगल्यशास्त्रेषु श्रीकण्ठो न्यरूपयत्।

८. श्रीपशुपतिभट्टारकस्य मूर्तिवरपरमपाशुपताचार्य-श्रीकण्ठगुरुणा स्वात्महेतोः ज्ञानपुस्तकम् इति शुभमस्तु।

९. तन्त्रसार, आ० ६, पृ० ५५।

श्रीकण्ठ शैवमतवादमें एक देवकी तरह पूजित और मान्य हैं। अन्य जितने सन्त हुए हैं, उन सबोंसे श्रीकण्ठकी महत्ता स्वतःसिद्ध है। वे गोरक्षनाथ और लाकुलीश नामक आचार्यकी श्रेणीमें नहीं आते। इनका स्थान बहुत ऊपर है। त्रिकदर्शनमें इनका प्रधान स्थान है। शैवमतमें पांच स्रोतोंसे निःसृत सिद्धान्तका ही समादर है। ये पांच स्रोत भगवान् सदाशिवके ही ५ मुख हैं। श्रीकण्ठने इन्हीं सिद्धान्तोंका प्रधान रूपसे स्थापन किया है। अतः वे भगवान् सदाशिवके सदृश ही मान्य और आदरणीय हैं।

सिद्धिके अधिष्ठाताके रूपमें उनकी मान्यता है[१]। लाकुलीशमतवादमें भी उनकी पंचमुखता प्रमाणित की गयी है। शिवसिद्धान्तमें आदिविश्वेश्वरोंमें वे परिगणित हैं[२]। विष्णुधर्मोत्तर-पुराणमें भी उनकी चर्चा है।

श्रीकण्ठने जिस मतका प्रवर्तन किया उसे पाशुपत मत कहते हैं। पाशुपतमतका उल्लेख स्कन्दपुराण[३], महिम्नस्तोत्र[४], अहिर्बुध्न्य-संहिता[५] में भी विशेष रूपसे किया गया है। महाभारतके शान्तिपर्वमें इसका उल्लेख किया गया है। यह मत द्वैताद्वैतपरक है[६]।

---

१. प्रतिलोकं नियुक्तात्मा श्रीकण्ठो हठतो बहुः, सिद्धिर्ददात्यसावेवं श्रीमद्भैरवशासने। तन्त्रालोक आ० ५, पृ० ३०।

२. अनन्तेशः तथा सूक्ष्मः शिवोत्तमः चैकनेत्रकः। एकरुद्रः त्रिमूर्तिश्च श्रीकण्ठश्च शिखण्डिनः। शिवकल्ट-पाठक।

३. स्कन्दपुराण, सूत संहिता (यज्ञवैभव खण्ड २२। ३)।

४. त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति च-महिम्नस्तोत्र।

५, अहिर्बुध्न्य-संहिता, अध्याय ११–१२। इसमें पांच सम्प्रदाय प्रवर्त्तक प्रसिद्ध हैं—

क—अपरान्तरतपा (वेदोद्धारक)

ख—कपिल (सांख्य उद्धारक)

ग—हिरण्यगर्भ (योग उद्धारक)

घ—अहिर्बुध्न्य (पाशुपतमत उद्धारक)

ङ—नारायण (पांचरात्रमत उद्धारक)

६. अभिनवगुप्त (के० सी० पाण्डेय) पृ० १०४।

लाकुलीश पाशुपत-मत लाकुलीश द्वारा ही प्रवर्तित है। लाकुल शिवके ही एक अवतार हैं। इनके कुशिक, गार्ग्य, मैत्रेय और कौरुष ये चार प्रधान शिष्य पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं। इनके समयके विषयमें वैमत्य है। जहां आर० बी० भण्डारकर इन्हें ईसापूर्व दूसरी शताब्दीमें मानते हैं, वहीं डी० आर भण्डारकर इनका समय ईसाकी प्रथम शताब्दीका उत्तरार्द्ध स्वोकार करते हैं। इनके कथनका आधार चन्द्रगुप्त द्वितीयका मथुराका स्तम्भ है। बहुलांशतया द्वितीयमत ही मान्य है। यद्यपि यह भी पूर्णतया प्रामाणिक नहीं है।[१]

श्री बलदेव उपाध्यायके अनुसार १०५ ई०के आस पास ही इनका जन्म मान्य है। कुषाण नरेश हुविष्क के सिक्कोंपर लगुडधारी शिवकी मूर्तियां अब भी मिलती हैं। गुणरत्नने नैयायिकोंको शैव और वैशेषिकों को पाशुपत कहा है।[२] माधवाचार्यने सर्वदर्शन संग्रहमें इस दर्शनको परम पुरुषार्थ साधक माना है और पंचार्थका प्रपञ्च रूप स्वीकार कियाहै।[३]

---

1. The Mathura Ins of Chandra Gupta II G. S. 61 = 380 A. D. mentions Acharya Udita who was tenth from Kushik. Dr. Bhandarkar indentifies Kushik with the hom·onymous disciple of Lakulish and therefore came to the conclusion that lakulish, Who must have florished eleven generations before Udita,might beplaced in second century A. D. But Rajshekhara mention seventeen preceptors florished in this list there are two preceptors of the nam Kushika the direct disciple of Lakulish and the tenth Tirthesh who florished in the sixth generations from Lakulish.

   The identification of Kushik, therefore is not certain, Rashikara the seventeenth Tirthesha has compposed a commentary known as Pancharthi Bhasshya.

   Shaiva Cult, V.S. Pathak.

२. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० ५७२।

३. पंचकास्तु अष्टविज्ञेया : गणश्चैकस्त्रिकात्मक:........ज्ञानं तपो ऽथनित्यत्वं स्थिति: शुद्धिश्च पंचमम्। सर्वदर्शन संग्रह। माधवाचार्य।

घ—शिवशासन

पाशुपतमत ही 'शिव शासन' नामसे भी आगमग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है। पाशुपतमतके प्रवर्तक आचार्य श्रीकण्ठ थे। रुद्रदेवके मलकापुरम् उत्कीर्ण लेखमें शिवशासनका उल्लेख है[१]। यह पंच स्रोतस सिद्धान्त है। तन्त्रालोकमें भी इसका वर्णन आया है[२]। अन्य सभी शैवमत इसी आधारपर प्रचलित हुए हैं, यह कहनेका पर्याप्त आधार है।

ङ—लाकुलीश--लाकुलीश पाशुपत

वास्तवमें पाशुपतमतके संस्थापक तो श्रीकण्ठ ही हैं किन्तु बादमें लाकुलीशने उसीमें एक अन्य मतवाद जोड़ दिया, जिसे लाकुलीश पाशुपत कहते हैं। सर्व दर्शन संग्रहमें लाकुलीश (नाकुलीश) मतका प्रसङ्ग शैव सिद्धान्तवादी दर्शनके रूपमें आया है। लाकुलीश भी पाशुपतमतके संस्थापकोंमें से हैं[३]। कारवणमाहात्म्य तथा अन्य पुराणोंमें इनका उल्लेख है[४]। ये बड़ौदा राज्यके निवासी थे। शिवके अवतारोंके अन्तिम अवतार थे। उज्जैनमें उन्होंने अपने धर्मकी प्रथम दीक्षा दी थी। पंचाध्यायी पाशुपत सूत्रोंमें इस मतकी मूलभित्ति प्राप्त होती है।

आर० बी० भण्डारकर इनको पाशुपतमतके प्रवर्त्तकरूपमें स्वीकार करते हैं। श्रीकण्ठ और लाकुलीशके मत परस्पर बहुत मिलते-जुलते हैं। आधुनिक विद्वान् डा० बागची तो लाकुलीशको श्रीकण्ठका शिष्य तक कहते हैं[५]। तन्त्रालोकके द्वारा यह सिद्ध होता है कि, ये दोनों एक वर्गीय थे। शिव शासनके ये दो प्रामाणिक महापुरुष थे[६]।

---

१. उपेयुषां शैव-तपोधनानां कालाननानां शिवशासनानाम्,
विद्यार्थिनां पाशुपतव्रतानामप्यन्नवस्त्रादि समर्पणाय।

२. तच्च पंचविधं प्रोक्तं शक्तिवैचित्र्यचित्रितम्।
पंचस्रोत इति प्रोक्तं श्रीमत्श्रीकण्ठशासनम्॥

३. तन्त्रालोक आ० १३, पृ० ३४०।

४. गणकारिका, जी० आ० ५, ए पी पी १, पृ० २५।

५. एच० बी० डी०, पृ० ४०५।

६. तन्त्रालोक आ० १२, पृ० ३९६।

श्रीकण्ठ द्वारा निर्मित साहित्य और लाकुलीश द्वारा रचित सिद्धान्त संस्कृत साहित्यके शैव सिद्धान्त सम्बन्धी आगम ग्रन्थोंमें अब भी सुरक्षित हैं। अभिनवगुप्त पादाचार्यने अपने ग्रन्थोंमें इन दोनों आचार्योंके उद्धरण दिये हैं। स्वच्छन्दतन्त्रमें भी लाकुल दर्शनकी चर्चा है[१]।

पाशुपतशास्त्र पंचार्थ नामक ग्रन्थ में ये सभी मतवाद वर्णित हैं। यह प्रसिद्ध है कि, लाकुलीश लगुड धारणकर उत्पन्न हुए थे। शिव ही लाकुलीश हैं। यहां करवन (भृगुकच्छ, करवण, संस्कृतमें कायावरोहणम्) स्थानपर साक्षात् भगवान् शङ्कर एक काया (शव) में अवरोहण किये थे। इसीलिये कायामें अवरोहण करनेके कारण इस स्थानका नाम ही कायावरोहणम् पड़ गया। वासुदेव श्रीकृष्णके अवतार के समय ही शिवजी कायावरोहणमें[२] लाकुलीश रूपसे अवतरित थे। इनके चार शिष्य प्रसिद्ध हैं १—कुशिक, २—गार्ग्य, ३—मित्र, और ४—कौरुष। इनका समय ईसाकी तीसरी और चौथी शताब्दीमें माना जाता है। समयके सम्बन्धमें अन्य विद्वानोंमें भी मतभेद है। लाकुलीशका ध्यान पद्मासनमें अवस्थित और दण्डधारी रूपमें किया जाता है[३]। बहुतसे मन्दिरोंके द्वार पर लाकुलीशकी मूर्त्ति दीख पड़ती है, जिनके हाथमें लगुड रहता है। गुजरातके सोमनाथके मन्दिरमें भी भगवान् लाकुलीशकी मूर्ति है।[४]

लाकुलीश किसी ऐतिहासिक व्यक्ति विशेषका नाम नहीं है। ऐसा डा० केसी पाण्डेयका विचार है।[५] उदयपुर राज्यके इतिहासके अनुसार तिलिणा, बाडोणी नामक स्थानमें भी इनकी मूर्तियाँ हैं।[६]

---

१. आई० बी०, डी० पृ० ३८३।

२. शिवपुराण (सनत्कुमार संहिता) ३१। १२,

३. लकुलीशमूर्ध्वमेढ्ं पद्मासन सुसंस्थितम्।
दक्षिणें मातुलिङ्गं च वामे दण्डं प्रकीर्त्तितम्॥

४. गौरवका प्रतीक : सोमनाथका मन्दिर-लक्ष्मीशंकर व्यास। आज १० नवम्बर, १९७ कालम ४, पं० १०–११, पाशुपत सूत्र १६८।

५. अभिनवगुप्त (के० सी० पाण्डेय) पृ० ७०।

६. उदयपुर राज्यका इतिहास (हीरा चन्द्र ओझा) पृ० ११०४–५।

च—कुशिक, गार्ग्य, कौरुष, मैत्र्य, अनन्त

कुशिक—कुशिक लाकुलीशके सर्वप्रमुख शिष्य थे। मथुराके शिलालेख में भी कुशिकके मतका उल्लेख है। उदयपुरके शिलालेख (समय नरवाहन ९७८ ए० डी०) में भी कुशिकका नामोल्लेख है[1]। जैन तीर्थेशोंमें लाकुलीश और कुशिक ही प्रथम स्थानीय हैं और प्रमुख हैं। उनकी संख्या १८ है[2]। भावसर्वज्ञने अपने गणकारिका-भाष्यमें इनका वर्णन किया है[3]। राजशेखर सूरिने भी इनका उल्लेख किया है। उदिताचार्य एक बहुत बड़े पाशुपत हो चुके हैं। उन्होंने उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक शिवलिंगोंकी स्थापना की। उन्होंने अपनेको भगवान् कुशिकसे दसवीं पीढ़ीका बतलाया है।[4] लाकुलीश कुशिकके गुरु थे[5]। पाशुपत सूत्रके कौन्डिन्यकृत पंचार्थीभाष्यमें जो अनन्तशयन ग्रन्थमालाके १४३ वें पुष्पके रूपमें प्रकाशित है—पाशुपत-सिद्धान्तोंकी प्रामाणिक व्याख्याकी गयी है।

गार्ग्य—गार्ग्य शब्द व्याकरणके अनुसार गर्ग गोत्रोत्पन्न अर्थमें व्यवहृत होता है। अपत्य अर्थमें गर्ग शब्दसे य प्रत्यय होता है और तदनुसार इसका विग्रह गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः बनता है। इससे सिद्ध होता है कि, गर्गके ही गोत्रापत्य गार्ग्य थे[6]। अपत्य अर्थमें ही गोत्रशब्दका अभिधान है।

---

१. इह कुशिक गार्ग्यकौरुष मैत्र्य इति……। १६
ततस्तपस्विनां तेषां चतुर्द्धा आतिरुद्रता।
उदयपुर शिलालेख नरवाहन, ९७८ ए० डी०।

२. नकुलीशो च कौशिकः, गार्ग्यः, मैत्र्यः, कौरुषः, ईशानः, पारमान्यः, कपिलाण्डः, मनुष्यकः, कुशिकः, अत्रिः, पिंगलः, पुष्पकः, बृहदार्यः, अगस्तिः, सन्तानः, राशीकरः, विद्यागुरुश्च एते तेषां तीर्थेशाः पूजनीयाः। सद्दर्शन समुच्चय-हरिभद्र।

३. भावसर्वज्ञ, गणकारिका, पृ० १४,। सर्वदर्शन समुच्चय—यौगमत।

४. मथुरा शिलालेख गुप्त सम्वत् ६१ (३८० ई०) विक्रम द्वितीय राजत्वकाल

५. भारतीय दर्शन, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ५७२।

६. सारस्वत व्याकरण (अनुभूतिस्वरूपाचार्य) अपत्याधिकार, सूत्र७(६।१।२१)

आगम ग्रन्थोंमें गोत्र अब्द अपत्य अर्थके अतिरिक्त शिष्य अर्थमें भी प्रयुक्त होता है।[1] इसके अनुसार गार्ग्य, गर्ग गोत्रोत्पन्न न होकर गर्ग नामक गुरुके सिद्ध शिष्य हैं।

कौरुष—ये लाकुलीशके तृतीय शिष्य थे। कारुक नामसे शैवोंकी एक शाखा का उल्लेख शैव ग्रन्थोंमें है।[2]

मैत्र्य—जैन तीर्थेशोंमें लाकुलीशके चतुर्थ शिष्य मैत्र्यके सम्बन्धमें इतिहास मौन है। उनकी उत्पत्ति, उत्कर्ष, कृतित्व आदिके सम्बन्धमें कुछ भी पता नहीं चलता।[3]

अनन्त—लाकुलीश मतवादके अन्तर्गत अनन्त नामक आचार्यका उल्लेख भी है। अनन्तने इस परम्पराको पुष्ट किया और आगे बढ़ाया। इनसे गोत्र भी चला अर्थात् इनकी शिष्य परम्परा भी चली[4]। हर्षके उत्कीर्ण लेखसे भी अनन्त गोत्रका और उनसे चलने वाले कुलका पता चलता है।[5] ये कुल लाकुलसे सम्बद्ध हैं—यह बात भी इस उत्कीर्ण लेखसे सिद्ध हो जाती है। इसी लेखमें एक सांसारिक कुलका भी उल्लेख है।[6]

---

१. गोत्रं च गुरुसन्तानो मठिका कुलि शब्दतः। तन्त्रालोक आ०३, पृ० २९६

२. जाति आर द ब्रान्च ओरिजिनेटेड विद मैत्रेय इज नाट नोन।
शैव कल्ट, वी० एस० पाठक।

३. शैव वैमल सिद्धान्ता आर्हताः कारुकाश्च ये।
सर्वे ते पशवो ज्ञेया भैरवे मातृमण्डले।
तन्त्रालोक ८। पृ० १८४।

४. भैरवाद् भैरवीं प्राप्तं सिद्धयोगेश्वरी-मतम्।
तस्य स्वच्छन्द-देवेन, स्वच्छन्दाल्लाकुलेन तु।
लाकुलीशादनन्तेन अनन्ताद् गहनाधिपम्।
बी० एस० पाठक शैव कल्ट, पृ० ११ नोट २।

५. महाराजा बली चासौ शम्भुभक्ति गुणोदयः।
श्री हर्षः कुलदेवोस्याः तस्माद् दिव्यः कुलक्रमः ॥२७॥
अनन्त गोत्रे श्रीमान् पंडितः औत्तरेश्वरः।
पंचार्थ-लाकुलाम्नाये विश्वरूपोऽभवद्गुरुः ॥२८॥
उत्कीर्ण लेख, हर्ष।

६. सांसारिक कुलाम्नायस्ततो यस्य विनिर्गमः।
एपीग्राफिका इण्डिका, पृ० १२२।

शिवपुराणकी वायवीय संहितामें एक सिद्धान्तका उल्लेख है, जिसे पंचार्थविद्या कहते हैं।[१] यहाँ उच्चस्तरीय दार्शनिक स्थिति की विवेचना है। सर्वदर्शन संग्रहमें श्रीमाधवाचार्यजीने पाशुपत शास्त्रको पंचार्थ परक कहा है।[२] इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि, पंचार्थ मतवादी भी लाकुलीशके ही पश्चात्–पदी हैं।

उत्तर तन्त्र नामक एक अलग मतवादका उल्लेख काम्बुजके शिलालेख में हैं।[३] अनन्तगोत्रके विश्वरूप का उल्लेखभी उत्तरेश्वरके रूपमें प्रख्यात है। वास्तवमें तान्त्रिकों की सात विद्यायें यहां प्रसिद्ध हैं।[४] नेपाल दरबार की लाइब्रेरीमें निःश्वासतत्त्व संहिता नामक एक ग्रन्थ है, जिसमें उत्तर-तन्त्रके समर्थक उत्तर सूत्र है[५]।

लाकुलीशपाशुपतमतवादका प्रचलन-अपनी पराकाष्ठापर पहुंच गया था। इसमें अनेकानेक भेद प्रभेद और शाखा प्रशाखायें प्रचलित हुईं। विभिन्न-विभिन्न विचारकोंने अपनी-अपनी अनुभूतियोंको नये-नये रूपोंमें रूपायित किया। न्याय और वैशेषिक दर्शन शैव पाशुपतसिद्धान्तके ही विकसित स्वरूप हैं। आचार्य हरिभद्रने सद्दर्शन समुच्चयमें यह स्पष्ट लिखा है कि, न्यायमतवादी शैव थे और वैशेषिक पाशुपत थे।[६] गुण-रत्नने भी इसका उल्लेख किया है।[७]

---

१. शिवपुराण वायवीय संहिता, २, २४–१६९।

२. केचन माहेश्वराः परमपुरुषार्थ-साधनं पञ्चार्थप्रपञ्चनपरं पाशुपतशास्त्र-माश्रयन्ते। (ज्ञानं तपोथ नित्यत्वं स्थितिः शुद्धिश्च पञ्चमम्) सर्वदर्शन संग्रह, नाकुलीशपाशुपतदर्शनम्, पृ० ६०।

३. द सेम इन्स्क्रीप्सन डिस्क्राईब्स विश्वरूप एज द मास्टर आफ उत्तर तंत्र। दिस तन्त्र आलसो आकर्स इन द............(कम्बुज)।
इन्स्क्रीप्सशन आफ उदयादित्य वर्मन, पृ० १।

४. पादोमूलं तथोद्धारं उत्तरं बृहदुत्तरम्।
कल्पश्च संहिता चैव कथिता तव सुव्रते।

५. स्टडीज इन तन्त्राज, पी पी ६।८।

६. अथ योगमतं ब्रूमः शैवमित्यपराभिधम्।
अक्षपादो गुरुस्तेषां तेन तेह्यक्षपादकाः।
अथ वैशेषिकं ब्रूमः पाशुपतान्यनामकम्-सर्वदर्शन समुच्चय। ११–१२

७. परमशास्त्रेषु नैयायिकाः सदा शिवभक्तत्वाच्छैवाः इत्युच्यन्ते।
वैशेषिकास्तु पाशुपताः।

छ—पंचार्थमतवाद

पंचार्थदर्शन भी पाशुपतोंके एक विशेष दृष्टिकोणकी सूचना देता है। पंचार्थ लाकुलाम्नायके गुरु स्थानीय विश्वरूपकी चर्चा पहले आ चुकी है[1]। कार्य (इफेक्ट) कारण (काज) विधि (रिलिजस प्रैक्टिस) योग और दुःखान्त (सेस्सेशन मीजरीज) यही पाँच सूत्र हैं, जिनके आधार-पर पंचार्थ दर्शनका उद्‌भावन किया गया है।

कार्य—समस्त विश्व चूंकि उसको निर्मिति है। इसलिये यह उसका कार्य है।

कारण—इस सिद्धान्तके अनुसार शिव इस त्रैलोक्यके निर्माता है—शिल्पी हैं। वे ही वेद रचयिता बोधमय कवि हैं और समस्त विश्वकी सृष्टि उनकी इच्छाका ही परिणाम है[2]। इससे उनकी तीन शक्तियोंकी सूचना हो जाती है। १-प्रयत्न, २-बोध और ३—इच्छा। इन तीन शक्तियोंसे सम्पन्न वह अष्टमूर्ति ही विश्वनिर्माणके कारण हैं।

क्रिया—वही इस विश्वके स्वामी (पति) हैं, क्योंकि वे निरतिशय क्रियाशक्ति सम्पन्न हैं[3]। नैयायिक शिवपुरुषके द्वारा निर्मित वेदको पौरुषेय कहते हैं। अतः वही विश्वका और वेदोंका निमित्त कारण है। समस्त जगत्का वह उत्पादक है। अतः उसका मूल कारण है।

विधि—प्रत्येक क्रियाकी एक विशिष्ट विधि होती है। विना विधिके कोई कार्य नहीं सम्पन्न हो सकता। पाशुपतोंमें ही नहीं, विधिकी महत्ता तो सार्वत्रिक है। पाशुपतोंकी विधिमें व्रत, जप और प्रदक्षिणा आदिका महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधकके व्यापारको ही विधि कहते हैं। व्रत और द्वार दो प्रकारकी विधियाँ हैं। क्राथन, स्पन्दन, शृङ्गारण, वन्दन, अवितत् और अवितत्भाषण ये छः द्वार हैं।

---

१. पंचार्थ लाकुलाम्नाये विश्वरूपोऽभवद्गुरुः।
ए० इ० ॥ पृ० १२२। २८,

२. त्रैलोक्यसौध-शिल्पी यस्त्रिवेदी वाक्यसत्कविः।
नित्यप्रयत्नबोधेच्छा सोष्टमूर्त्तिः श्रियेस्तु वः ॥
ए० इ०, पृ० २१०।

३. निरतिशयद्राक् क्रियाशक्तिपतित्वम्। गणकारिका, पृ० ११।
आप्ति पतितान् पशूनित्यतः पतिर्भवति। कौण्डिन्यभाष्य।

योग—भावतेजके शिष्य भावब्रह्म समस्त योग सिद्धान्तोंके आविष्कारक हैं। वे सनत्कुमारके अवतार और ब्रह्मचर्यं व्रती हैं[१]। नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान और समाधिके सिद्ध हो जानेपर मैत्री, मुदिता और करुणा वृत्तियोंका प्रकटीकरण हो जाता है[२]। इस योगका फल दुःखकी निवृत्ति और परमैश्वर्यं लाभ हैं। पातंजलयोगका फल कैवल्य है। भस्मांगराग पाशुपतोंका व्रत है[३]। नग्न रहना, जटा भस्म धारण करना, तल्पगामी होना, महीशयन, भिक्षावृत्ति और हाथमें भोजन—यह इनके परिग्रह हैं[४]। इष्टापूर्त्त विधानभी पाशुपतोंको ग्राह्य है[५]। दो प्रकारके साधक माने गये हैं। १—शिवसाधक और २—लोकमार्गस्थ। शिव साधक इष्ट साधनामें रत रहता है और लोकमार्गस्थ पूर्वविधान (यज्ञ करना या मन्दिर बाग आदि लगाना) द्वारा निवर्त्तक मार्गका अनुगामो होता है।

शिवकी अष्ट मूर्त्तियाँ निम्नलिखित हैं—१—सर्व, २—भाव, २—ईशान, ४—रुद्र, ५—उग्र, ६–भीम, ७—पशुपति, ८—महादेव।

---

१. यो ब्रह्मचर्यविधिनान्यसनत्कुमारः पातंजलागम-निरूपितयोगसंघः।
इण्डियन एण्टीक्वेरी, पृ० २१०।

२. प्राणायामसमाधिसिद्धनियमध्यानासनैरन्वहं········। १३।
मैत्रीतस्य सुधीभिरात्ममुदिता शास्त्रागमे योगिनः,
शिष्याणां करुणाभवेच्च विषयोपेक्षाशिवज्ञानतः।
इण्डियन एन्टीक्वेरी, १७–२१०। १४,

३. मद्यं पीत्वा गुरुदारांश्च गत्वा स्तेयं कृत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा।
भस्मोद्ध्वस्तो भस्मराशौ शयानः रुद्राध्यायी मुच्यते पातकेभ्यः।
पंचार्थभाष्य, पृ० २९।

४. दिगम्बरं, जटाभस्म, तल्पं च विपुलं मही।
भिक्षावृत्तिः करः पात्रं यस्यैतानि परिग्रहः।
(भावनगर शिलालेख)।

५. ज्ञानवाँश्चाभिषिक्तश्च मन्त्राराधनतत्परः।
त्रिविधायास्तु सिद्धिर्वै स्त्रोत्राहः शिवसाधकः।
द्वितीयो लोकमार्गस्थ इष्टापूर्त्तविधौ रतः।
कर्मकृत्फलमाकांक्षं शुभैकस्थो अवग्रहः॥
स्वच्छन्द तन्त्र, पटल ४ भाग २, पृ० ४१–४६।

इस सिद्धान्तके श्रीकण्ठ, अनन्त, लाकुलीश और गोरक्ष ऐसे चार प्रवर्त्तक हैं, जिन्हें देवात्माके रूपमें जनताने स्वीकार किया। इन्हें विद्येश्वर भी कहा गया है[1]। अनन्तको तन्त्रालोकने भी विद्येश्वरकी मान्यता दी है।

दुःखान्त—यह अन्तिमपदार्थ है। पशु पाँचप्रकारके दोषोंसे बन्धन भोग रहा है। दोष ही मल हैं। ये पाँच हैं। १—मिथ्याज्ञान, २—अधर्म, ३—भक्तिहेतु ४—च्युति। ५—पशुत्व। दुःखान्त पदार्थ दो प्रकारका होता है। १—अनात्मक और २—सात्मक। अनात्मक दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिकी अवस्थाको कहते हैं। सात्मक दृक्शक्ति और क्रियाशक्तिसे सम्पन्न होता है। दृक्शक्ति दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान और सर्वज्ञत्व भेदसे पाँच प्रकारकी होती है एवं क्रियाशक्ति मनोजवित्व, कामरूपित्व और विवरणधर्मत्व भेदसे तीन प्रकारकी होती है।

ज—कापालिक, कालानन या कालामुख

इनका प्रचार आजकल बिलकुल नहीं है। एक समय था, जब भारतवर्षमें इनका बहुल प्रचार था। आगम प्रामाण्यमें यामुनाचार्यने इनका वर्णन किया है।[2]

कापालिकोंके मतमें ६ मुद्राएँ नित्यधारण करनी चाहिए। ये मोक्षदायिका हैं। १—कर्णिका, २—कच, ३—कुण्डल, ४—शिखामणि। ५—भस्म ६—यज्ञोपवीत। बहुत सी ऐसी क्रियायें हैं, जिन्हें कापालिक नित्य गुप्त रखते हैं। केवल गुरु दीक्षासे ही वे प्राप्त करते हैं। शिवपुराण वायवीय संहिताके २९वें अध्याय में कापालिकोंका उल्लेख है। साथ ही मतविलास[3], मालतीमाधव[4], कर्पूरमंजरी, प्रबोधचन्द्रोदय आदि

---

१. अनन्तश्च त्रिमूर्तिश्च सूक्ष्मः श्रीकण्ठ एव च।
शिवशिख एकनेत्र एकरुद्रश्च ते क्रमात्।
विष्णुधर्मोत्तर पुराण। अनन्तश्चैव............,
प्रोक्ता विद्येश्वरा इमे। सर्वदर्शन संग्रह।

२. आगमप्रामाण्य-यामुनाचार्य, पृ० ४८।

३. श्वानद्वारा कपाल अपहरणका प्रसङ्ग। वायवीय संहिता, अ० २९।

४. अघोर कंठ, कपाल कुंडला, नामक कापालिक पात्र।
शिवपुराण वायवीय संहिता, अ० २९।

ग्रन्थोंमें[1] भी कापालिकोंका उल्लेख है।[2] कपाली भगवान् शंकरका नाम है। शंकराचार्य निर्मित देव्यपराधक्षमापन स्तोत्रमें शंकरके विशेषणके रूपमें इसका प्रयोग है[3]। कपालोके सदृश वेश भूषा धारणकर साक्षात् शंकरके समान आचार ग्रहण करनेवालोंको 'महाव्रतधर' कहते हैं[4]। महाव्रतधरोंका उल्लेख शिवपुराण, सद्दर्शनसमुच्चय, कथासरित्सागर, यशस्तिलकचम्पू और नलचम्पू आदि ग्रन्थोंमें आया है।

राजशेखरने कापालिकोंकी जगह कालामुखके साथ ही महाव्रतका उल्लेख किया है[5]। जगद्धरने महाव्रतको कापालिक व्रत ही माना है।[6] कथासरित्सागरमें कापालिकोंको महाव्रतिक कहा गया। मतविलासमें शिव ही महाव्रती वर्णित हैं[7]। कापालिकोंके इष्टदेव शिव हैं। ये कपालमाला धारण करते हैं[8]।

---

१. कर्पूरमंजरी १।५।२३,

२. प्रबोध चन्द्रोदय अं० ३, भिक्षु शास्त्रार्थका प्रसङ्ग।

३. कपाली भूतेशो भजति जगदीशैकपदवीम्।
देव्यपराध-क्षमापन-स्तोत्रम्-शंकराचार्य।

४. उदक ग्राहकः तत्र महाव्रतधरोमुनिः।
दिनकरो नाम यः साक्षात् कपालीव शंकरः॥
पूना प्राच्यपरिषद् १९ १९, पृ० ३१९।

५. शैवाः पाशुपताश्चैव महाव्रतधरास्तथा।
तुर्याः कालामुखाः मुख्या भेदाः एते तपस्विनाम्॥ जगद्धर।

६. भण्डारकर, पृ० १८३।

७. आस्थाय प्रयतो महाव्रतमिदं बालेन्दु चूडामणिः।
स्वामी नो मुमुचे पितामहशिरश्च्छेदोद्भवानेव सः॥
मतविलास, पृ० १७।

८. एलीमेन्ट्स आफ हिन्दू इकानोग्रेफी-राव, पृ० २९।
कलियुगे शिवशासनस्थितिमिव महाव्रतिकान्तः पातिभिः
कालामुखैर्वानरैः संकुलामनेकधा भिन्नस्रोतसं।

कालामुख—इस सम्प्रदायमें कपालपाक भोजन, शवभस्मस्नान, लगुडधारण, सुराकुम्भस्थान आदि अनेक विधियाँ गृहीत हैं। इनके द्वारा अनेक सिद्धियोंकी प्राप्तिका उल्लेख है[१]। नलचम्पूमें त्रिविक्रमभट्टने कालामुखोंको भी महाव्रतधारियोंके रूपमें ही वर्णित किया है[२]।

सोमसिद्धान्त—यह सिद्धान्त भी शैव तन्त्रके अन्तर्गत ही परिगणित है[३]। तन्त्राधिकार निर्णय[४] सूतसंहिता[५], वीरमित्रोदय[६], दर्शन कणिका संग्रह[७], प्रबोध चन्द्रोदय आदि ग्रन्थोंमें सोमतन्त्रका उल्लेख है।

प्रभासपट्टनके उत्कीर्णलेखसे यह पता चलता है कि, सोमने सोमनाथका स्वर्णमन्दिर[८] निर्मित किया। शिवके समादेशसे उन्होंने पाशुपतोंको भी अपने मतवादमें स्थान दिया। पुराणोंमें यह उल्लेख है कि, जातूकर्ण्य

---

१. भारतीय दर्शन, पृ० ५८५।

२. नल चम्पू त्रिविक्रम भट्ट, पृ० १६४।

३. लाकुलं सोमतन्त्रञ्च जगाद परमेश्वरः।
ईशानशिवगुरुपद्धति॥ पृ० ६,

४. केचिल्लोकायतं ब्रह्मन् केचित् सौमं महामुने।
नाकुलं केचिदिच्छन्ति तथा केचित्तु भैरवम्॥ तन्त्राधिकार निर्णय।

५. कापालं नाकुलं चैव तयोर्भेदान् द्विजर्षभाः।
तथा पाशुपतं सौमं भैरव-प्रमुखागमान्। सूत संहिता।

६. कूर्मपुराण (वीरमित्रोदय, १, पृ० २२)

७. ननु सोमः कमात्मवादी। तदपि भारते परमात्मस्रोतसे
तस्मै कमात्मने नमः। दर्शनकणिका संग्रह।

८. सोमः सोस्तु जयी स्मरांगदहनो यं निर्मलं निर्ममे,
गौर्याः शापबलेन वै कृतयुगे दृश्यत्वमोपेयुषाम्।
प्रादात् पाशुपतार्यसाधुसुधियां यः स्थानमेतत् स्वयं,
कृत्वा स्वामथ पद्धतिं शशिभृतो देवस्य तस्याज्ञया॥
भावनगर इन्स्क्रीप्शन १८६। १८७।

नामक सत्ताइसवें व्यासके समय स्वयं शिव ही सोम शर्मा रूपमें अवतरित हुये थे। उनके चार शिष्योंका भी उल्लेख है। १—अक्षपाद, २—कणाद, ३—उलूक और ४—वत्स[१]।

सोमनय शब्दका उल्लेख चीनी लेखक तुस्सीने किया। कणाद और अक्षपादके न्याय और वैशेषिक दर्शन भी सोम सिद्धान्तसे सम्बन्धित प्रतीत होते हैं क्योंकि सोम सिद्धान्त भी शैववादकी ही एक शाखा है।

कापालिकों और सोम सिद्धान्तवादियोंकी प्रशंसा प्रबोध चन्द्रोदयमें की गयी है[२]। छत्र चण्डेश्वरमें भी दोनों मतवाद एक रूपमें ही उल्लिखित हैं[३]। तन्त्र साहित्य दोनोंको भिन्न सिद्धान्तवादी सिद्ध करता है[४]। गुजरात और नेपाल इस शाखाके प्रधान क्षेत्र थे। ये लोग अर्द्धनारीश्वरके आराधक प्रतीत होते हैं[५]।

झ—सिद्धमतवाद

ईसाकी ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दीके लगभग भारतमें एक और शैवमतवाद प्रचलित था, जिसे सिद्धमतवाद कहते हैं। इनकी संख्या चौरासी मानी जाती है। ये लोग अवधूतों और नाथोंकी परम्परामें ही आते हैं। अवधूतोंका उल्लेख महाभागवत पुराणमें आया है।

जयचन्दके समय लिखा गया बोध गयाका उत्कीर्ण लेख बतलाता है कि, सम्बद्धसिद्ध शिष्यपरम्परामें एक परमावधूत श्रीमित्रनामक सिद्ध हुए थे[६]। श्रीमित्र तत्कालीन काशीनरेश जयचन्द्रके दीक्षागुरु माने जाते है।

गोरक्ष—एक अद्भुत व्यक्तित्व सम्पन्न सिद्ध पुरुष थे। इनकी मान्यता लाकुलीश पाशुपत भी स्वीकार करते हैं। शार्ङ्गदेवने इन्हें पाशुपतवर्गमें ही लिखा है। आचार्य गोरक्षके समान ही राम और मंजुघोषका भी उल्लेख साहित्यमें मिलता है। रामको शिवरूप भी मानते हैं[७]।

---

१. वायवीयसंहिता, अध्याय ५। २. प्रबोध चन्द्रोदय अं० ३, पृ० ११९।
३. इण्डियन एंन्टीक्वेरी ९, १७४। ४. तन्त्राधिकार निर्णय, पृ० २।
५. प्रबोध चन्द्रोदय, अं० ३।
६. इण्डियन हिस्टारिकल········ पृ० १४।
७. एष रामो व्यापकोऽत्र शिवः परम कारणम्।
एष रामः सकलविश्वावभासनपरः क्रीडापरः परमात्मा परमेश्वरः।
तन्त्रालोक आ० १, पृ० ३६।

ट–कौलमतवाद

इस सिद्धान्तके प्रवर्त्तक कौन थे, यह निश्चित नहीं हो सका है। राजस्थानके जयपुर राज्यके अन्तर्गत शेखावटीके पास रण पल्लिका ग्राममें सांसारिक कुलाम्नायका प्रवर्त्तन हुआ था[1]।

हर्षके शिलालेख (विग्रहपाल चौहान-१०३० विक्रमी) में भी इसका उल्लेख है[2]। इस सिद्धान्तकी परम्परा पूर्व उल्लिखित विश्वरूपसे सम्बद्ध है। अल्लट नामके कवि इस सिद्धान्तके प्रवर्त्तक हैं। पाशुपतमतवाद और कौलमतवादमें लगभग समानता ही है। मत्स्येन्द्रनाथ कौल सम्प्रदायके थे। उनके प्रसिद्ध शिष्य गोरक्षनाथ पाशुपतमतवादी थे।

एक बड़ी विचित्र बात यह है कि, पाशुपतमतके प्रवर्त्तक गुरु विश्वरूप भी अनन्त गोत्रके ही हैं[3]। सिद्ध योगेश्वरी मत, जो भैरवके द्वारा भैरवीको प्राप्त हुआ, स्वच्छन्द देवसे होता हुआ लाकुल तक पहुँचा। लाकुलसे अनन्त और अनन्तसे गहनाधिप नामक सिद्धको यह प्राप्त हुआ। अनन्त यहां लाकुल गोत्रमें दीक्षित प्रतीत होते हैं और सिद्ध योगेश्वरी मतके उल्लिखित आचार्य हैं[4]। सिद्धोंमें ही एक गहनीनाथकी भी गणना है। ये गहनीनाथ ही सिद्धयोगेश्वरी मतके गहनाधिप हैं।

पूर्णसंवित् तत्त्व ही कुल तत्त्व है[5]। उसमें शिवस्वरूप अकुल अवभासित होता है। शिव प्रकाशैकरूपसे विद्योतमान परतत्त्व है। उनकी शक्ति ही सम्पूर्ण जगत्में परिस्फुरित है। कुलका शाक्तप्रसार ही यह जगत् है[6]। यह पराशक्ति ही कौलिकी शक्ति है। इससे प्रभु नित्य अवियुक्त है[7]।

पराकुण्डलिनी शक्ति शिवके साथ सामरस्य अथवा मथ्यमन्थक भाव

---

१. एपीग्राफिका इण्डिका।
२. हर्षका शिलालेख विग्रहपाल चौहान १०३० विक्रमी।
३. एपीग्राफिका इण्डिका।
४. तन्त्रालोक १२, पृ० ३८३।
५. तन्त्रालोक आ० ३, पृ० ७५, पं ५।
६. तन्त्रालोक आ० ३, पृ० ७६ पं० ३–५।
७. तन्त्रालोक आ० ३। ६७।

रूप संघट्टके अनुसार संयुक्त होती है। वही इच्छा, ज्ञान और क्रियारूपता-को प्राप्त करती है। रौद्रो, वामा, अम्बिका और ज्येष्ठाके सम्मिश्रणसे ही अकारकी सृष्टि होती है। 'अकार ही' हकारात्मक विसर्ग होता है। अकार और हकारका युगपत् स्वरूप ही यामल तत्त्व है[1]।

अकुल और कौलिकी शब्दसे व्यपदेश्य शिव और शक्तिका संघट्ट ही विश्वोत्पत्तिका कारण है। स्पन्दन रूप जो स्वकी आत्म उच्छलत्ता, वह प्रकाश और विमर्श दोनोंके संयोगसे उत्पन्न होती है। शिवशक्तिका दो रूप हो जाता है। १—विश्वोत्तीर्ण और २—विश्वमय। दोनों एक रूप हैं। शिव विश्वमय होते हुए भी विश्वोत्तीर्ण हैं [2]।

यामलशास्त्रमें उस परादेवीको कालकर्षिणी कहते हैं। डामरमें उसको श्रीपरा-एवं श्रीपूर्वशास्त्रमें उसे ही माता मानते हैं। विश्वोतीर्ण शिवरूपको 'पर', विश्वमय शाक्तरूपको 'अपर' और सामरस्यरूपको 'परापर', अनुत्तर-प्रकाश रूपा शक्तिको ही मालिनी कहते हैं। मालिनीकी रश्मि, शिव-शक्ति रूप बीज-योनिके परस्पर संघट्टन रूप सामरस्यसे इस विश्व विसर्गका उदय होता है। अनुत्तर प्रकाशरूपा संवित् शिवसे लेकर क्षिति-पर्यन्त जगत्का सर्जन करती है[3]। शिवशक्ति यामलका प्रत्यवमर्श पूर्ण अहमात्मक होता है। वह अपनेमें सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होता है। स्वातन्त्र्य-शक्तिके द्वारा ही विभागका अवभास होता है। यह विभाग ही प्रथमतः तीन रूपोंमें दृष्टिगत होता है। इसे शास्त्रीयभाषामें पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी कहते हैं। यह अनुत्तर पर स्पन्द और यह समुच्छलित आनन्द शिवकी इच्छाके परिणाम हैं। उसीके उन्मेषसे यह महान् वैचित्र्य उत्पन्न होता है। अनुत्तर आनन्द इच्छाशक्तिसे नियोजित होनेपर त्रिकोणका रूप ग्रहण कर लेता है[4]।

जगत् शाक्त प्रसार है। कुलमें उत्पन्न होनेके कारण जगत्को कौल कहते हैं। तस्यामन्तस्तादात्म्येन अस्ति इति कौलिकी शक्तिके अनुसार

---

१. तन्त्रालोक, आ० ३। ६८।
२. तन्त्रालोक, आ० ३। पृ० २२३ पं० १३–१६।
३. वही, पृ० २२४, पं० ३–४।
४. तन्त्रालोक, आ० ३। ९४–९५, पृ० १०५।
कामायनी-इस त्रिकोणके मध्यविन्दु तुम.........ये। रहस्य पृ०-२६२

जगत्में कौलिकी शक्तिकी सत्ता स्वीकारकी जाती है। कौलिकी शक्तिसे प्रभु अवियुक्त रहते हैं[1]। पराशक्ति विश्वापूरण स्वभाववाली होती है। प्रभु उस परा शक्तिसे नित्य अवियुक्त रहते हैं। वर्णमालाका अकार ही उसका स्वरूप है। उसका उच्चारयिता कोई नहीं, प्रतिघातक भी कोई नहीं और प्रेरक भी कोई नहीं है। वह स्वयम् प्राणियोंके हृदयदेशमें उच्चरित होता रहता है।

अकुल तत्त्व भी शिव तत्त्व ही है[2]। कुल साधनामें कौलिक ज्ञानका बड़ा महत्त्व है[3]। कौलिकी शक्ति ही त्रिपुरा शक्ति भी है। ज्ञान, क्रिया और इच्छाशक्तिस्वरूपा यह त्रैलोक्य-सर्जनकी हेतु हैं। इसीलिये इसे त्रिपुरा कहते हैं[4]।

ठ—शैवसिद्धान्त

इस सिद्धान्तके प्रवर्तक गुहावासी माने जाते हैं। गुहावासी 'शंकर' का भी एक नाम है[5]। पुराणों और शिलालेखों दोनोंसे यह बात सिद्ध है। दारुवन नामक स्थानमें ब्रह्माने एक महान् यज्ञ किया था। यज्ञ कर शिवको प्रसन्न करना था। यज्ञसे शिव प्रसन्न हुए[6]। उसी दारुवनमें भगवान् पुरारि गुहावासी रूप धारण किये थे। लिङ्ग पुराणमें भी यह उल्लेख है कि, भगवान् पुरारिने ही गुहावासीका रूप धारण किया था।

वायु और कूर्मपुराणोंसे भी यह सिद्ध होता है कि, गुहावासी शिवके २१ अवतारोंमें से एक अवतार है। तन्त्रालोकमें श्री अभिनव गुप्त पादाचार्यने प्रसङ्गवश शिवसम्प्रदायका एक ऐतिहासिक क्रम दिया है। उनका कहना है कि, कैलाशपर्वतपर साक्षात् शिवरूप श्रीकण्ठ एक वार घूम रहे

---

१. तन्त्रालोक, आ० ३, ६७–७५।
२. तन्त्रालोक, आ० ४। १७०, पृ० १८४–१८५।
३. तन्त्रालोक, आ० ४। ५७–५८।
४. ततो स्वरोर्कसोमाग्नि कलाबीजप्रसूतिभाक्,
उदेत्येक: समालोक: प्रमाणार्थ-प्रमातृद:। (पृ० ७६,)
५. एपिग्राफिका इण्डिका १५, पृ० १७५।
६. भक्त्योपसन्नं स्थिरभक्तिगम्य: पद्मासनं दारुवनेऽतिरम्ये।
विधाय यज्ञं विधिना विधिज्ञः किलानजुग्राह पुरा पुरारि: ॥

थे। उन्होंने समस्त शैव शास्त्र उपनिषद् स्वरूप त्रिकदर्शनके प्रचारके लिये दुर्वासा मुनिको नियुक्त किया। कलिके प्रभावसे और उपदेशकों के अभावके कारण शिव शासन छिन्न भिन्न हो रहा था। इससे वे दुखी थे।

दुर्वासाने सत् सम्प्रदाय मार्गके प्रचारके लिये तीन मानस सिद्धोंको नियुक्त किया। उनके नाम त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ थे। इन तीनोंने क्रमशः अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत सिद्धान्तोंकी व्याख्यायें कीं एवं उनका प्रचार किया[1]।

रुद्रदेवसे सम्बद्ध, मलकापुरम्के उत्कीर्ण लेखके आधारपर यह सिद्ध होता है कि, विश्वेश्वर शम्भु जहां दुर्वासाके मतवादसे सम्बद्ध हैं, वहीं सद्भावशम्भु गुहावासियोंसे सम्बद्ध हैं। गुहावासियोंमें आमर्दक तीर्थनाथ, मत्तमयूर और माधुमतेय ये तीन शाखायें आगे चलकर प्रचलित हुई। इनमें आमर्दक तीर्थनाथ द्वारा जिस मतवादका प्रचार किया गया -वह तन्त्रालोकके अनुसार निश्चित ही द्वैत सिद्धान्तका समर्थक था। आमर्दक तीर्थनाथको रुद्रशम्भु भी कहते हैं। इनका समय ईसापूर्व सातवीं और आठवीं शताब्दियोंका मध्य भाग माना जाता है।

रुद्रदेव काकातीय वंशका राजा था। कल्चुरिराजाभी शैव ही थे। युवराज देवके तीन लाख गावोंके दानसे सद्भाव शम्भुसे सम्बद्ध गोलोकी मठकी स्थापना भी हुई थी[2]।

शैव सिद्धान्तका दर्शन वैशेषिक दर्शन है। यह दो मार्गोंमें विभक्त है। १—आप्त परीक्षा और २– तार्किक परीक्षा। आप्त परीक्षाको सिद्धान्त वैशेषिक और दूसरेको तार्किक वैशेषिक कहते हैं। आप्त परीक्षा इस विभागका विशिष्ट और प्राचीन ग्रन्थ है।

---

१. इत्थं व्युच्छिन्ने शिवशासने कदाचित् कैलाशगिरौ परिभ्रमन् श्रीकण्ठ-मूर्तिः शिवो व्युच्छन्नस्य निखिल-शैव-शास्त्रोपनिषद्भूतस्य षडर्धक्रम-विज्ञानस्य प्रचारार्थं दुर्वाससं मुनिमाजिज्ञपत्, स मुनिः मानसान् सिद्धान् त्र्यम्बक-आमर्दक-श्रीनाथाख्यान् अद्वय-द्वय-द्वयाद्वयमतव्याख्यातॄन् मठिकासु सत्सम्प्रदायमार्गप्रचारयितुं न्युंक्त।

तन्त्रालोक आ० १, पृ० २८।

२. काकातीय नृपरुद्रदेवका मलकापुरम् का लेख।

शैव सिद्धान्तमें योगका विशेष महत्त्व है। इसमें आसन और समाधि आदि का वर्णन भी है[1]। इसी प्रकार क्रियाका भी इस मतवादमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। चर्याकी शुद्धिके विना क्रियामें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। क्रियाशुद्धिसे ही योगका पथ प्रशस्त होता है। चर्या दैनिक आचार पद्धतिका ही दूसरा नाम है। शिवके मन्त्रों द्वारा यज्ञ हवन, तर्पण चर्याके अन्तर्गत ही परिगृहीत हैं[2]।

ड-मिश्रमार्ग

ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीके लगभग देशमें उपासनाकी जो पद्धतियां प्रचलित थीं, जितने विभिन्न सम्प्रदाय और उनके मतवाद थे–उनमें विचित्र सम्मिश्रण हुआ। देशमें शैवोंके अतिरिक्त स्मार्त्तोंका भी बाहुल्य था। स्मार्त्तोंमें पंचदेवोपासनाका सिद्धान्त प्रचलित था। सूर्य, शक्ति, गणपति और विष्णुके साथ ही शिवकी उपासनाका क्रम-परम्परा से ही प्राप्त था[3]। गृहस्थोंके लिये भी यह उतना ही आवश्यक कार्यक्रम था, जितना किसी साधकके लिये[4]।

बादमें त्रिदेव की पूजाका क्रम भी भारत वर्षमें चला[5]। बंगालके विजयसेन नामक राजाने प्रद्युम्नेश्वर मन्दिरका निर्माण कराया। उसमें एक साथ ही उमामहेश्वर तथा लक्ष्मी नारायणको एक मूर्तरूपसे प्रतिष्ठापित किया।

---

१. आसीनस्य जितासनस्य विजने, हृत्पद्ममध्यस्थितस्थाणुध्याननिलीननिश्चलमनः संवेदितान्तर्मुदः। शैवकल्ट, वी० एस० पाठक, पृ० ४३।

२. सातत्यान्नित्य-कृत्याहुतिभिरपचितो''''महामन्त्रपूतान्तरस्य।

शैवकल्ट, पृ० ४४।

३. रविं शम्भुं तथा शक्तिं विघ्नेशं च जनार्दनम्।
यजन्ति समभावेन मिश्रपाशुपतं हि तत्।

४. आदित्यमम्बिकां विष्णुं गणनाथं महेश्वरम्।
पंचयज्ञपरो नित्यं गृहस्थः पंचपूजयेत्।

—स्मृतिमुक्ताफल, पृ० ३८४।

५. दुर्गासप्तशती, रात्रिसूक्त। १२।१३, अ० १।८३-८५।

इसी प्रकार विष्णु-ब्रह्माकी, ब्रह्मा विष्णु और शिवकी उपासनायें भी यहां प्रचलित हुई। पावागढ़, खजुराहो, गुजरात, कालंजर आदिमें शिव, विष्णु, ब्रह्मा और सूर्य इन चारों देवताओंको एक मूर्त्तिमें आरोपित किया गया है। पर भारतवर्षमें इस प्रकारका एक भी मन्दिर ऐसा नहीं है, जहां ऐसे चतुर्विग्रहकी आराधना होती हो। यत्र तत्र पंच मंदिरोंके निर्माण अवश्य हैं, जहां पांचोंकी अलग-अलग प्रतिष्ठा है।

शैवोंमें शिव, शक्ति, कार्त्तिकेय, सरस्वती और गणेशकी उपासनायें भी प्रचलित हुईं। लाकुलीश पाशुपतोंमें कुशिक, गार्ग्य, मैत्रेय, कारुक और पतंजलिको भी देवताकी प्रतिष्ठा मिली।

ऊपरके विवरणसे यह निष्कर्ष निकलता है कि, शैवागमकी विशिष्ट परम्पराओंने भारतीय मानसका बड़े ही समर्थ रूपमें आलोड़न किया। विचारकवर्गने ऐसे सिद्धान्त स्थिर किये, जिनसे उपासनाको वैविध्य मिला, सांस्कृतिक चैतन्यके चमत्कारसे आसेतु हिमाचल चमत्कृत हो उठा।

इन्हीं परम्पराओंमें शैवशास्त्रके उपनिषद् स्वरूप त्रिक दर्शनका भी प्रचार हुआ। इसके मूल प्रचारक दुर्वासा माने जाते हैं। इन्हें साक्षात् भगवान् शंकरने श्रीकण्ठरूपसे प्रेरित किया था, जो इस त्रिक दर्शनके ह्राससे दुःखी थे[1]।

१. श्रीकण्ठ मूर्त्तिः शिवः व्युच्छिन्नस्य निखिल शैव शास्त्रोपनिषद्-
भूतस्य षडर्धक्रम विज्ञानस्य प्रचारार्थं दुर्वाससं मुनिमाजिज्ञपत्।
तन्त्रालोक आ० १, पृ० २८।

३—तत्त्वदीपिका

अ—शक्ति और शक्तिमान्

प्रत्यभिज्ञादर्शन ईश्वराद्वयवादी दर्शन है। इसमें अद्वय ईश्वरकी शक्तिका विमर्श होता है। यह शक्ति भावमयी है। इसमें माताकी कल्पनाकी जाती है। शिव शक्तिमान् है। इसप्रकार शक्ति और शक्तिमान्की अद्वयता भी स्वतः सिद्ध हो जाती है[१]। शक्ति वस्तुतः पदार्थान्तर नहीं होती। अपना रूप ही होती है। विभिन्न कार्योंके विभिन्न परिणामोंके आधारपर फलभेदके द्वारा यह मानने लगते हैं कि, कर्त्तामें इतनी शक्ति है। इसी सिद्धान्तको शैव शास्त्र स्वीकार करते हैं[२]।

यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, शक्ति और शक्तिमान्में अभेदकी कल्पना करनेपर भी शक्तिमें तो भेद कल्पना करनी ही पड़ती है। शक्तिमें भेदकी कल्पनासे शक्तिमान्में भी भेद सिद्ध हो जायेगा। इसप्रकार अद्वयवादको सिद्धि कैसे हो सकती है? यह प्रश्न विचारपूर्ण नहीं है। अग्नि एक शक्तिमान् पदार्थ है। उसमें जलानेकी और पकानेकी दोनों शक्तियाँ हैं, किन्तु वे दोनों अलग-अलग नहीं है। वास्तवमें पृथक् सिद्ध वस्तु ही दूसरे वस्तुसे भेद प्रदर्शित करती है[३]। यहाँ तो शक्तिमान्के अतिरिक्त शक्तिकी पृथक् सिद्धि ही नहीं। उसीप्रकार परमेश्वरकी अनन्तशक्तियोंके अस्तित्वकी कल्पनाके बाद भी ईश्वराद्वयवादमें कोई क्षति नहीं होती।

भेदका एकमात्र स्वभाव भान है। भानके अतिरिक्त जगत्में अन्य

---

१. शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम्।
तेनाद्वयः स एवापि शक्तिमत्परिकल्पने।

तन्त्रलोक आ० १, पृ० ६९, पं० ११-१४।

२. फलभेदादारोपित-भेदः पदार्थात्मा शक्तिः। तन्त्रालोक आ० १, पृ० ७०, पं० ५, पृ० ११।

३. पृथक् सिद्धं वस्तु हि वस्त्वन्तरं भिनत्ति। तन्त्रालोक, आ० १, पृ० १११, पं० २। तन्त्रसार, आ० १, पृ० ६। पं० १-९।

कोई वस्तु ही नहीं है[1] । भेद ही भासमान होता है । उसका भासित होना ही यह सिद्ध करता है कि, वास्तवमें भेदकी सत्ता नहीं है । यह पारमार्थिक भेदवाद शक्ति और शक्तिमान् की नित्य अभेदताको ही सिद्ध करता है । शिव और शक्ति दोनों साथ ही साथ अवभासित होते हैं[2] । शक्ति स्वतन्त्र ही है । शक्तियाँ अनन्त हैं—यह ज्ञान भी वस्तु तादात्म्यसे ही अनुप्राणित है । उदाहरणरूपमें अग्निको लिया जा सकता है । अग्नि तत्त्व ही दिनमें सूर्य, रात्रिमें शशि और मेघमालामें विद्युत् बनकर विराजमान है । अग्निका जो भौतिकरूप है, वह भी उसी तत्त्वका स्वरूप है । इन सबकी अलग-अलग शक्तियाँ हैं । अकेले अग्नि जलानेका, पकानेका और प्रकाश प्रदान करनेका एवं रूप परिवर्तित कर देनेके कामोंमें सर्वथा समर्थ है । वह अनन्त कार्योंका कारण है । क्या अग्निकी ये शक्तियाँ अग्निसे भिन्न हैं ? नहीं । यह तो क्रियामात्रनिष्ठ अग्निका ही कार्यरूपसे व्यपदेशमात्र है । दाह पाक आदि विशेषरूपोंमें शक्त्यन्तरका आभास भी सामर्थ्यरूपी शक्तिका ही उद्रेक मात्र है । इसीलिये यह उक्ति चरितार्थ होती है कि, अग्नि दाह पाकादि कार्यकरनेमें समर्थ है या समर्थ अग्नि दाह पाकादि व्यापार करता है । दोनों बातें एक ही हैं[3] ।

शक्ति और शक्तिमान्का भेद वास्तविक भेद नहीं है । यह तो शक्ति और शक्तिमान्का उपाय और उपेय भावका क्रमिक स्पन्दन मात्र है, जो अवभासित होता है । शिव (शक्तिमान्) अनंश है, अंश रहित है । प्रकाशमात्र रूप है । अनंश होते हुए भी जिस मुखसे (द्वारसे-उपायसे) वह भासित होता है, वह वही है, वही शक्ति है । भावनाका ही यह सब प्रपंच है[4] ।

---

१. न चासौ परमार्थेन न किंचिद्भासनादृते ।
न ह्यस्ति किंचित्तच्छक्तितद्वद्भेदोऽवास्तवः ॥
तन्त्रालोक आ० १, पृ० ७१, पं० १०-१३ ।

२. शिवश्चालुप्तविभवस्तथा सृष्टोऽवभासते ।
स्व-संविन्मातृमुकुरे स्वातन्त्र्याद्भावनादिषु ॥
तन्त्रालोक आ० १ । ७३, पं० १-२ ।

३. तन्त्रालोक, आ० १, पृ० ११२, पं० ९-१२ ।

४. तस्माद्येन मुखेनैष भात्यनंशोऽपि तत्तथा ।
शक्तिरित्येष वस्त्वेव शक्तितद्वत्क्रमः स्फुटः ॥
तन्त्रालोक, आ० १।७४, पृ० ११४, पं० १५-१६ ।

शैवागममें शक्तिको उपायरूप से स्वीकार किया गया है। शक्ति-शक्तिमान्का यही स्वरूप, शब्द और अर्थमें निहित है। अर्थ द्वारा ही शब्दमें प्रवृत्ति होती है। अनुभव से अनुभाव उत्पन्न होता है। अतीन्द्रिय वस्तुओंका भी अनुभव होता है। इस अनुभूतिमें मन ही अध्यक्ष होता है। क्षुधा और तृषाका भी अनुभव और मानस प्रत्यक्ष होता है।

भूखका अनुभव प्रथम अनुभव है। उसका विकल्प है—'यह भूख है'। इस प्रकार दो रूपोंमें यह अनुभव होता है। यह सविकल्प मानस प्रत्यक्ष है। यही दशा शिवत्त्वकी भी है। शिव तत्त्वका शक्ति द्वारा मानस प्रत्यक्ष होता है, बाह्येन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं। अमनस्क और अरूप भी भेददृष्टया मनस्क और रूपवान् भासित होते हैं। मन तो संकल्प विकल्पात्मक है। मनकी गति मानस प्रत्यक्ष तक ही है। मानसप्रत्यक्ष अर्थ का होता है। शक्तिमान्में मनकी गति नहीं है। प्रमाण जिस पदार्थमें प्रवृत्त नहीं होता, वह पदार्थ ज्ञात नहीं हो सकता[1]। मन शिवमें प्रमाण नहीं हो सकता[2]। इसलिये दैशिक शिरोमणि विद्वान् गुरु शिवत्त्वको जानकर दीक्षासे दीक्ष्य शिष्यको शिवत्त्वकी ओर प्रेरित करता है।

ज्ञात उसी समय ज्ञात हो सकता है, जब वह सर्वात्मना ज्ञात हो। अंशतः नहीं। संकल्प-विकल्प मानसिक अनुभावमात्र हैं। इनसे अर्थको, तथ्यको सर्वात्मना नहीं जाना जा सकता है। अनुभव नियतांशमें अभिनिवेशवाला होता है। इसीप्रकार शिवत्त्व शक्तिके द्वारा अनुभावभावित होनेपर भी सर्वात्मना भासित नहीं हो सकता। जैसे हमने आमका पेड़ देखा। रूपतः आमकी अनुभूति हुई। रसरूपसे अनुभूति हुई ही नहीं। फिर अनुभूति अंशतः हुई। यह अंशतः अनुभूति आम वृक्षके ज्ञानमें बाधक नहीं साधक ही बनती है। उसी प्रकार शिवकी अंशतः अनुभूति भी, जिसे हम मानस विकल्पके रूपसे समझते हैं—नाद और विन्दुके माध्यमसे पूर्ण शिवानुभूतिमें परिणत हो जाती है[3]।

---

१. यत्र प्रमाणं न प्रवर्तते तन्नज्ञातं भवेत्। तन्त्रालोक, आ०१। ७५, पृ० ११८, पं० ३–४।

२. अनुभावो विकल्पोऽपि मानसो न मनः शिवे। तन्त्रालोक आ० १। ७५, पृ० ११६, पं० ३–४, पृ० ११७, पं० ४–७।

३. तन्त्रालोक, आ० १, श्लोक १८ का भाष्य, पृ० ३६, पृ० १-७

आ–वाक्

शक्ति तत्त्वका प्रथम परामर्श वाक् रूपमें होता है। वाक् की चार दशायें होती है। १—परा, २—पश्यन्ती, ३—मध्यमा और ४—बैंखरी। इसकी सर्वातिशायी दशा परावाक् है। पश्यन्ती दशामें अन्तःकरण में अहं प्रत्यवमर्शात्मा वाक् उदित होती है। अतएव प्रत्यवमर्शक प्रमाताके द्वारा परामृश्यमान वाच्य अर्थ अहंतासे आच्छादित ही स्फुरित होता है। उसमें भेद नहीं होता।

मध्यमा भूमिमें वेद्यवेदक प्रपञ्चका उदय होता है। वहाँ वाच्य वाचक स्वभाववान् अर्थ उल्लसित होता है। यहीं चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक पांच मुखोंसे पंचवक्त्र महेश्वर ईश्वरदशामें अधिशयित रहते हुए पांचस्रोतमय शास्त्रको अवतरित करते हैं। शिव ही भेद प्रभेदोंके वैचित्र्यसे संवलित होकर विश्वमें प्रवर्तित होते हैं। भेदवाद, भेदाभेदवाद और अभेदवाद के तीन सिद्धान्त इस ज्ञान के माध्यम हैं।

विश्वमें प्रस्फुटित होने की दशाका नाम बैंखरी है। इसी अवस्थामें शास्त्र स्फुट होता है। उपर्युक्त अवस्थाओं में केवल आत्मबोधरूपमें शास्त्र विकसित होते रहते हैं[1]। भगवान् सदाशिवके दश भेद होते हैं। ईशान, तत्पुरुष और सद्योजातसे तीन प्रकारके शास्त्र व्यक्त होते हैं। इनमें एक-एक प्रकारको मिलाकर ६ प्रकारके तन्त्रशास्त्र होते हैं। ये छः तीनके द्विकमें (ईशान+तत्पुरुष, ईशान+सद्योजात और सद्योजात+तत्पुरुष) व्यक्त होते हैं। इसप्रकार शिवका भेद प्रपञ्च प्रसरित होता है[2]।

इ–पंचस्रोत और पंच वक्त्र

शिवके चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, और क्रियारूप पांच मुख हैं। ऐसे पंचवक्त्र महेश्वर ईश्वरदशामें अधिशयित रहते हैं। वेही पंच-स्रोतमय शास्त्रको अवतरित करते हैं। यही शास्त्र भेदवाद, भेदाभेदवाद

---

१. तन्त्रालोक, आ० १, पृ० ३६, पं० ९-१५।

२. ईशतत्पुरुषाज्जातैरुद्भूतैरुद्बुभूषुभिः ।
एककैः षडभिरेकेन त्रिकेन द्व्यात्मकैस्त्रिभिः।
तदित्थं शिवभेदानां दशानामभवत्स्थितिः ॥
तन्त्रालोक, आ० १। पृ० ३७, पं० ४-६।

और अभेदवाद के त्रिभेदसे अवभासित होते हैं। इन्हीं पांच शक्तियों की सहायता से या इन्हीं पांच स्रोतों से ९२ प्रकार की तन्त्र श्रेणियों का प्रवर्तन हुआ है। ये सभी तन्त्र जिन तीन मुख्य शिव श्रेणियों में अन्तर्निहित है, वे है :-शिव (१०), रुद्र (१८) और भैरव (२४) यह सिद्धान्त तन्त्रालोक और मालिनी विजयोत्तर तन्त्रों द्वारा स्वीकृत है[१]।

निगम भी वाक्शक्तिके भेदको स्वीकार करते है, जिनमें परा, पश्यन्ती मध्यमा और तुरीया वाक् का वर्णन आता है[२]। उपर्युक्त भेद स्थिर-भेद नहीं हैं। ये असंख्य हैं[३]। रुद्र, शिव और भैरव भेदसे त्रिधा ज्ञान-सत्ताका विजृम्भण होता है[४]। इसप्रकार भेदयुक्त यह शास्त्र ईश, वाम और अघोरसे मिलकर ६ त्रिकोंमें विभक्त होता है। यह परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाक्देवियों में विश्रान्ति पाता रहता है। यह परमाद्वयामृत परिप्लावित शास्त्र है। भेद, भेदाभेद और अभेदके क्रमसे तीन प्रकारका माना जाता है। इसलिये इसे त्रिक् शास्त्र भी कहते हैं[५]।

ई-ज्ञान और अज्ञान

यह सभी मानते हैं कि, मोक्ष ही एक मात्र उपादेय है। मोक्षका प्रतिपक्ष संसार हेय है। संसारका निमित्त मिथ्याज्ञान होता है।[६] जो व्यक्ति मिथ्याज्ञानी है, उसे माया अमोक्षमें ही मोक्षकी लिप्सा से घुमाती रहती

१. तन्त्रालोक, आ० १, पृ० ४५।

२. चत्वारि वाक् परिमितापदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः
गुहा त्रीणि निहता नेंगयन्ति, तुरीया वाचो मनुष्या वदन्ति।
ऋग्वेद।

३. एकैकं पंचवक्त्रं च वक्त्रं यस्मात् प्रगीयते, दशाष्टादश भेदस्य ततो भेदेष्वसंख्यता। मालिनी विजयोत्तर तन्त्र, तन्त्रालोक, आ० १, पृ०४४, पं० १४–१५।

४. तन्त्रं जज्ञे रुद्र शिव भैरवाख्यमिदं त्रिधा। वस्तुतोहि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ताविजृम्भते। भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना। तन्त्रालोक। आ० १, पृ० ४५। पं० ४–६।

५. तन्त्रालोक, आ० १, पृ० ४५,

६. तत्प्रतिपक्षभूतः संसारः हेयः। तस्य च मिथ्याज्ञानम् निमित्तम्।
तन्त्रालोक आ०१, पृ०५३।

है। माया अज्ञानसे संभूत होती है। अज्ञान ही मल होता है। मल ही संसारके अंकुरका कारण है।[१] मल तीन प्रकारके होते हैं। १—आणव[२], २—मायीय[३] और ३—कार्म[४]। ये तीनों हेय होते हैं।

पंचस्रोतरूप परमेश्वर दर्शनमें पौरुष और बौद्ध भेदसे अज्ञान दो प्रकारका होता है। क्या अज्ञानका अर्थ अपूर्ण ज्ञान है या ज्ञानाभाव मात्र है ? अभिनवगुप्तके मतसे दूसरा अर्थ मान्य नहीं है क्योंकि लोष्ठ आदिमें इस मान्यताके कारण अतिप्रसङ्ग होने लगेगा। चेतना प्रदान करने वाला चेतन होता है। वह पूर्णज्ञान और क्रियावान् होता है। चेतनके भावको ही चैतन्य कहते हैं चैतन्य ही स्वातन्त्र्य है।[५]

ज्ञप्तिमात्र को ही ज्ञान कहते हैं। इसका विग्रह 'ज्ञायते येन इति ज्ञानम्' है। इसमें प्रधानतया क्रिया और करण होते हैं। चेतनामें चिति क्रिया होती है। इसका कर्त्ता ही चित् है। चैतन्यको ही आत्मा कहते हैं। इसमें कर्त्ता क्रिया और कर्म तीनोंका अभिधान है।[६] चेतना और ज्ञान 'संविद्' के व्यापार हैं। संविद् अद्वैत रूप पूर्ण परमेश्वरका अपूर्ण आख्यान अज्ञान है। अज्ञानसे ही बन्ध होता है।[७] यह दो प्रकार का होता है। पौरुष और बौद्ध। अज्ञानही मल है। मल शिवसे उत्पन्न होता

---

१. इह तावत्समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते।
अज्ञानं संसृते र्हेतुः ज्ञानं मोक्षैक-कारणम्।
तन्त्रालोक आ०१।२२,पृ०५४।आ०१।३२।

२. तंत्रालोक आ०१, पृ०५५, पं०३–६।

३. भिन्नवेद्य प्रथात्रैव मायाख्यं मलम्।
तंत्रालोक। आ०१,पृ०५५ पं०७–९।

४. संसार कारणं कर्म संसाराङ्०कुर उच्यते।
तन्त्रालोक, आ० १ २३

५. चेतयति इति चेतनः पूर्णज्ञानक्रियावान्।
तस्य भावः चेत्यम् पूर्णज्ञानक्रिया वत्त्वम्। तं० १।२७।

६. तन्त्रालोक, आ०१, पृ०६०, पं०१२-१७।

७ तन्त्रालोक, आ०१, पृ०६१, पं०२-१०।

है। मल ही शिवके ऊपर आवरण डालने वाले होते हैं।[1] ज्ञानका अभावही अज्ञान होता है। इसे अपूर्ण ज्ञान भी कहते हैं। परमेश्वर ही स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी चेतना और अपने कर्तृत्वका अपसारणकर मलसे आवृत हो जाता है।[2]

यह आवरण पुरुषको पशु बना देता है। जीव शिवत्वको विस्मृतकर अपनेको स्वतन्त्र मान लेता है। यही मलका उन्माद है। विद्या और राग नामक दो तत्त्व परमेश्वर ही उत्पन्न करता है। विद्या द्वारा वह कर्मके कार्य-कारण सम्बन्धोंको स्थिर करता है और उसीमें रम रहता रहता है। राग अशुचि भोगोंमें भी उसे अनुरंजित करता है। परिणामतः शिव जीव बन जाता है। जीवको शास्त्रीय भाषामें पुद्गल कहते हैं। जिस प्रकार मकड़ी अपने को अपने ही प्रपंचजालसे आवृत करती है, उसी प्रकार निर्यति उसे कर्म जाल में नियुक्त कर देती है। फिर कालका प्रभाव भी उस अकाल पुरुष पर होने लगता है।[3]

इसप्रकार 'यह मैं हूं, और मैं यह जानता हूँ की अनुभूतियोंसे भूषित मैं और मेरे का अध्यवसाय स्फुरित हो जाता है। उस समय ६ कंचुकोंसे वह म्लान बन जाता है।[4] ज्ञत्व और कर्त्तृत्व स्थिरभावसे उसके हृदयमें जम जाते हैं। फिर वह विश्व परिव्याप्त परमेश्वर परिमित हो जाता है, अणु हो जाता है। उसपर इस दशामें अपनी चित्की छाया मात्र रहती है। वह छाया में जीने लगता है। सुख दुःख रूप द्वन्द्वों में डूबा उतराया करता है। ऐसी उसकी बुद्धि बन जाती है। यही अज्ञान हैं। यह अज्ञान एक प्रकारका ज्ञान ही है और यही ज्ञान अज्ञान है। यहां ज्ञानहो अज्ञान

---

१. तन्त्रालोक, आ०१, पृ०३७, पृ०७३, पं०१३-१४।

२. तन्त्रालोक, पृ०७४, पं०७-१०।

परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घट-संपादनं महेशस्य।
देवी मयाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्।

३. तन्त्रालोक, आ०१, पृ०७४,

४. अहमित्थमिदं वेद्मि इत्येवमध्यवसायिनी।
षट कंचुकाऽऽ विलाणूत्थ-प्रतिबिम्बनतो यदा॥

बन जाता है[१] यह अज्ञान जड़ होता है। इसमें विकल्प नहीं रह जाता वरन् अविकल्पक अज्ञान होता है।[२]

निमित्तके अभावमें नैमित्तिक का अभाव हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आणवमलके क्षय होनेपर अर्थात् वासनामात्रके क्षय हो जानेपर कार्म और मायीय ये सभी मलभी समाप्त हो जाते हैं। भवके भीषण बन्धन से बद्ध पुरुष निर्बन्ध और उन्मुक्त हो जाता है। परम चिदैक्यसे वह विकस्वर हो जाता है। पराहन्ता परामर्श और निर्विकल्पक ज्ञानसे संवलित शिव हो जाता है।[३]

पौरुषज्ञान निर्विकल्पक होता है। अज्ञानकी स्थितिमें चैतन्यात्मा शिव परिमित जीवके रूपमें भासित होता है और फिर यह समझने लगता है कि, मैं यही हूँ। विकल्प रहित अज्ञान बद्धमूल हो जाता है। बौद्ध और पौरुष ज्ञानोंमें परस्पर पोष्य पोषकता होती है। पहले पराहन्तापरामर्शक निर्विकल्पक ज्ञान होता है, जिसमें कृत्रिम अहंकारके विकल्प नहीं रहते। यह शुद्ध पौरुषज्ञान है। फिर 'सर्वो ममायं विभवः' इस प्रकारका बौद्ध ज्ञान होता है। बौद्धज्ञानमें पौरुषज्ञान कारण बनता है। अज्ञानदशामें भी बौद्ध अज्ञानमें पौरुष अज्ञान कारण बनता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि, क्या यह पौरुष अज्ञान अनादि है? जिस प्रकार पौरुष ज्ञान अनादि है, उसीप्रकार इसे भी अनादि माना जाय? क्या यह अनन्त है? इसका उत्तर सरल है। पौरुष अज्ञान अनादि नहीं होता। अनन्तभी नहीं होता। ज्ञानाभाव ही अज्ञान है और अभाव अनादि नहीं होता।

---

१. धीजर्यते तदा तादृक् ज्ञानमज्ञानशब्दितम्।
बौद्धं तस्य च तत्पौरुनं पोषणीयं च पोष्टृ च॥

तन्त्रालोक, आ०१, ३९-४०।

२. तन्त्रालोक, आ०१।३८, पृ०७६-७७।

३. क्षीणे तु पशुसंस्कारे पुंसः प्राप्तपरस्थितेः।
विकस्वरं तद्विज्ञानं पौरुषं निर्विकल्पकम्॥

तन्त्रालोक, आ०१।४१, पृ०७८, पं०५-६।

उ–दीक्षा

चूँकि गुरुदीक्षाके द्वारा साधकको अपने स्वरूपका परिचय हो जाता जाता है, इसलिये अज्ञानका अन्तभी हो जाता है। दीक्षा की महत्ता इसी स्थानपर ज्ञात होती है। दीक्षामें गुरु विधिपूर्वक ज्ञान प्रदान करता है। परिणामतः अज्ञान का क्षय होता है। दान और क्षय दोनोंके आधार पर दीक्षाशब्दका निर्माण हुआ है।[1] वास्तवमें बन्धन 'मैं वह परमशिव हूँ, यह पाशबद्ध जीव नहीं हूँ, इसप्रकारके ज्ञानका निरोधक होता है। इस निरोध का उन्मूलन दीक्षा करती है।

दीक्षाके द्वारा देहपात होनेपर शिवत्वकी उपलब्धि होती है।[2] यह सत्य है किन्तु बौद्ध अज्ञानका भी समूल उन्मूलन हो जाता है। बन्धन मुक्तिमें अवरोध नहीं रह जाता। इसी दशाका नाम जीवन्मुक्ति है। इससमय अज्ञानका विजृम्भण ज्ञान के द्वारा ध्वस्त कर दिया जाता है [3]

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये सम्प्रदाय की भी आवश्यकता पड़ती है। योग्यतम गुरुके नियन्त्रण में रहकर, उनसे दीक्षित होकर व्यक्ति मुक्त हो जाता है। इसके बाद तो वह यन्त्रवत् जीवित रहता है। वह एक सम्प्रदायमें निरूपित हो जाता है[4]।

ज्ञान के प्रकाशकी प्राप्ति और अज्ञानान्धकारका निरास ही दीक्षाका लक्ष्य है, जो सम्प्रदायसे प्राप्त होती है। मूल प्रश्न आस्थाका है। जिसकी आस्था शिथिल है, वह अज्ञानके गहरे गर्भमें डूबा हुआ है। जो आस्थावान् है, वह गुरु-श्रद्धा-शुश्रूषाके द्वारा एवम् दीक्षाके द्वारा अपनी आस्थाका

---

१. दीयते ज्ञान-सद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः।
दानक्षपण संयुक्ता दीक्षा तेनेह कथ्यते ॥
तन्त्रालोक, आ० १, पृ०८०, पं० १ २।

२. देह पाते शिवं व्रजेत्।
तन्त्रालोक, आ० १, पृ०८०, पं०८।

३. बौद्धज्ञानेन तु यदा बौद्धमज्ञानजृम्भितम्।
विलीयते तदा जीवन्मुक्तिः करतले स्थिता ॥
तन्त्रालोक, आ०१,श्लोक४४, पृ०८१, पं०१४-१७।

४. तन्त्रालोक आ०१, पृ० ८२, पं० ३-४

परिष्कार करता है। इसलिये दीक्षा मुक्तिकी मूल कारण सिद्ध हो जाती है। दीक्षासे पौरुष ज्ञान व्यक्तिके अभिमुख तो रहता है किन्तु तत्काल मुक्ति प्रदान नहीं करता। बौद्ध ज्ञान यहां भी अपेक्षित है। बौद्ध-ज्ञानपूर्वा दीक्षा ही विमोचिका मानी जाती है[१]।

यह निश्चित है कि, दीक्षाके द्वारा अगर पौरुष ज्ञान प्राप्त हो गया और बौद्ध ज्ञान नहीं आया तो मुक्ति भी असम्भव है[२]। बौद्ध ज्ञानके अभावमें पौरुष ज्ञान भी नष्ट प्राय हो जाता है। जहां बौद्ध अज्ञान नष्ट हुआ—विकल्पोंका उन्मूलन हुआ—कि मुक्ति हुई।[३] जिसके जीवन कालमें विकल्प शेष हैं—वह देहपातके अनन्तर शिवतातो प्राप्त करेगा किन्तु निर्विकल्पक पुरुष जीवन्मुक्त ही हो जाता है[४]।

ऊ–आवेश और तादात्म्य (ज्ञप्ति और सिद्धि)

आवेश तीन प्रकारके होते हैं। (१)शाम्भव, (२) शाक्त और (३) आणव। अस्वतन्त्र जड़ और सीमित बुद्धिसे युक्त प्रमाता अपने संकुचित रूपका निमज्जन करने का अभ्यास करता है। इसी अभ्यासके आधारपर स्वतन्त्र-बोध होता है। प्रमाता और प्रमेयका अभेद सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यही आवेश है[५]।

वास्तव में चिन्मय पारमार्थिक रूप ही विज्ञेय है। समस्त इन्द्रियोंके समूहको प्रसूत करनेके कारण बुद्धि मां की तरह है। बुद्धि में ही चित्की छाया संक्रमित होती है। यह संक्रमण परिमित प्रमाताको भी प्रभावित

---

१. तन्त्रालोक आ०१, ४५।

२. देहसद्भावपर्यन्त मात्मभावी यतो धियि।
देहान्तेऽपि न मोक्षः स्यात् पौरुषाज्ञनहानितः। तन्त्रालोक आ० १।४९,

३. बौद्धाज्ञाननिवृत्तौ तु विकल्पोन्मूलनाद् ध्रुवम्। तदैवमोक्ष........
तन्त्रालोक आ० १।५०,

४. विकल्पयुक्तचित्तस्तु पिण्डपाताच्छिवं व्रजेत्।
इतरस्तु तदैवैति शास्त्रस्यात्र प्रधानतः। तन्त्रालोक आ० १।५१,

५. मुख्यत्वं कर्तृतायास्तु बोधस्य च चिदात्मनः।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम्॥
तन्त्रालोक आ०१।१७३, पृ० २०६, पं० ५-६,

करता है और बुद्धिमें आत्माभिनिवेश उत्पन्न कर देता है। इससे अनन्य-साधारण बौद्धप्रधान आत्मबोधकी स्थिति उत्पन्न होती है। हृदय निर्मल हो जाता है। उसकी परिम्लानता समाप्त हो जाती है। वह अनन्यताकी ओर उन्मुख हो जाता है। उस उच्च भावनाभूमिमें अनन्यताकी पराकाष्ठा उपस्थित होनेपर स्वतः प्रकाशमान आत्मा प्रकाशित होने लगता है। यही चैतन्यका समावेश है[1]। इसे ही दूसरे शब्दों में 'तादात्म्य करते हैं। 'बोधैकात्म्य ही समावेश है। शिवतादात्म्यको शांभव समावेश कहते हैं। वहां अन्य भावनाओंके अपेक्षा नहीं रहती। संवित्तिमें विकल्प नहीं होता है।

शिव तादात्म्य शिवसेही होता है। शक्ति और अणुसे नहीं क्योंकि शक्ति और अणुकी उत्पत्ति भी शिवसे होती है। ज्ञान और क्रियाकी इच्छात्मक स्थिति ही समावेश है। वहां द्वैत शून्यता हो जाती है और विकल्प विगलित हो जाता है।

हृदयकी निर्मलतामें तारतम्य होता है। आवेशके द्वारा निर्मलता सुसज्जित होती है। यद्यपि जड़ नील पीत आदिका आवेश भी प्रमातामें होता है किन्तु वह समावेश दर्पण में नीलपीतादि छायाकी तरह वहीं तक सीमित है। वास्तवमें समावेश बोधात्मक हो होता है। वहीं तादात्म्य सम्पन्न होता है।

किसी वस्तुकी जानकारीके समय तीन बातें स्पष्टरूपसे सामने आती हैं। १—जिसकी जानकारी होती है। २—जिससे वस्तुका ज्ञापन या सूचन होता है अथवा ज्ञाता और वस्तुका, ज्ञाता ज्ञेयभाव सम्पन्न स्थापन होता है। ३—स्वयं ज्ञाता, जो वस्तुकी जानकारी प्राप्त करता है। उसीको प्रमाता भी कहते हैं। वस्तु ज्ञेय है और जानकारी प्रमा है।

प्रश्न यह होता है कि, वस्तुकी जानकारी क्या वस्तुकी ज्ञापक या सूचक है? या वस्तु को सिद्धि भी जानकारीसे हो सकती है? वास्तवमें

---

१. अस्वतन्त्रस्य जडस्य बुद्धचादेर्मितस्य प्रमातुः स्वम् असाधारणं, तत् संकुचितं यद्रूपं तस्य निमज्जनं गुणीभावः, तदवलम्ब्य परेण स्वतन्त्रेण बोधेन या तद्रूपता तादात्म्यं स आवेशः।

तन्त्रालोक, आ० १,। १७३–१७४॥

सिद्धि तो क्रियासे निष्पन्न होती है। जानकारीसे सूचना या ज्ञप्ति भले ही मिल जाय। क्योंकि यह सिद्धान्त ही है कि, ज्ञान तो ज्ञापक होता है, कारक नहीं होता। ज्ञापक पदार्थकी सूचना देता है। ज्ञानमें कर्तृत्व नहीं, केवल ज्ञापकत्व है। इसोलिये ज्ञानसे वस्तुकी ज्ञप्ति ही होती है—उसकी सिद्धि नहीं।

वस्तुका इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है। एक प्रकारसे इन्द्रियों द्वारा वस्तुको ग्रहण करना ही प्रत्यक्ष करना है। इसीलिये जब कोई व्यक्ति वस्तुको प्रत्यक्ष करता है, तो वह वस्तुओंका ग्राहक कहलाता है। वस्तु गृहीत होती है अर्थात् गृहीतका ग्राहकके द्वारा ग्रहण होता है। गृहीत होनेकी स्थिति विकल्पके कारण होती है। विकल्पके कारण ही वस्तु गृहीत हुआ–यह भाव आता है। पर ग्रहण करता हूँ–यह भाव की उच्चकोटि है। यहाँ विकल्प पीछे हट जाता है और अविकल्पता आ जाती है। ग्राहक वस्तु-मय और वस्तु ग्राहकमय बन जाती है। यह भाव अविकल्पक भाव है[1]।

उस स्थितिमें जबकि अविकल्प संवित्ति अर्थात् ज्ञान होता है–वस्तुकी स्फुरणा होती है। यही स्फुरण वस्तुकी सिद्धि है। यह वस्तुको स्फुरत्ता ही अविकल्पक आत्म-संवित्तिकी अवस्थामें सिद्धि कहलाती है[2]। किसी पदार्थमें यह स्फुरणशोलता नित्य अवस्थित है। स्फुरणशोलताका अर्थ है–वस्तुकी आभासमानता। यही वह विन्दु है, जहां प्रत्यभिज्ञादर्शनमें आभासवादका सिद्धान्त प्रचलित होता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि, जिन पदार्थोंको हम विकल्परूप मानते हैं, वहां भी आत्मभावस्थितिमें अविकल्पकता विद्यमान है। यदि अविकल्पात्मकता विद्यमान है, तो स्फुरणशीलता भी निश्चित रूपसे है। यदि स्फुरत्ता है, तो फिर वस्तुकी सिद्धि भी है। किन्तु बात ऐसी होती नहीं। सभी विकल्प स्मृति मात्र है[3]। स्मृति वहीं प्रवृत्त होती है, जहां पूर्वानुभूति होती है। व्यवहार दो प्रकारका होता है। १–विकल्प सापेक्ष और २–

---

१. गृहीतमिति सुस्पष्टा निश्चयस्य यतः प्रथा।
गृहणामीत्यविकल्पैक्यबलात्तु प्रतिपद्यते ॥
तन्त्रालोक. आ०१। १८१, पृ०२१२, पं०१–६

२. तन्त्रालोक आ०१ । १८३, पृ० २१२। इक्के १८२, पं० १५–१६

३. सर्वो विकल्पः स्मृतिः ॥ तन्त्रालोक आ०१, १८३, पृ०२१३, पं० ७।

विकल्प निरपेक्ष। चूंकि विकल्प स्मृतिरूप होता है[1]। इसलिये विकल्प भी वस्तुसापेक्ष न रहकर वस्तुनिरपेक्ष हो गया। इस विचार प्रसङ्गमें यह बात सिद्ध हुई कि; जिसमें जिसकी अपेक्षा नहीं होती, वह वस्तु उसकी सिद्धिमें कारण नहीं मानी जा सकती।

इसप्रकार निर्विकल्प-सिद्ध अर्थमें ही विकल्प प्रवृत्त होता है-वह इसके अतिरिक्त कुछ नहीं करता। वह तो संवित्तिमें पृथक्ताका, अनैर्मल्यका एक भ्रम है। विकल्पसे सिद्ध पदार्थ अनुगम्यमान होते हैं।[2] इतने मात्रमें ही विकल्प की सार्थकता है। व्यवहारमें यह देखा जाता है कि,एक जौहरी रात्रिको भी केवल जवाहरात या मणिगणके स्पर्शमात्रसे यह बता देता है, कि यह मणि अधिक मूल्यवान् है और यह कम। यह क्या है? केवल विकल्प निरपेक्ष व्यवहार का प्रमाण है।[3]

आभासवाद में जन्मान्तरवादकी, पूर्व जन्मवादकी सत्ता भी मान्य है। जन्मोंके अभ्यासके कारण ही विकल्प होता है। संवित्ति में निर्मलता भी आती है।[4] यही निर्मलता वस्तुकी सिद्धिमें कारण है। निर्मलता हृदयमें होती है। निर्मलतासे ही आवेश और तादात्म्य की सिद्धि होती है।

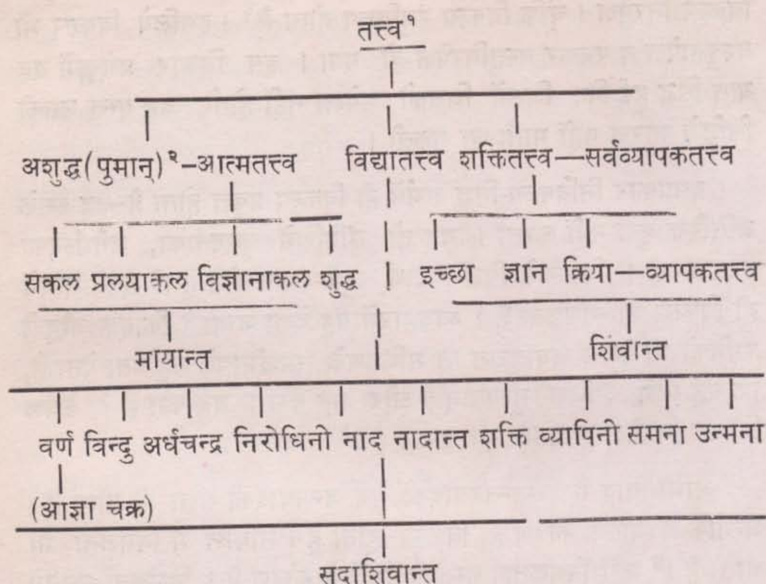
भूत५, तत्त्व३०, आत्मा३, मन्त्रेश१० और शक्ति२=५० प्रकारके आवेश होते हैं। इनके पृथक्-पृथक् स्तर होते हैं। ये अनुभूति के विषय हैं।

साधक श्रुतज्ञानसे या चिन्तनसे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में आविष्ट होता है। उसीमें अभेदभावसे तन्मय हो जाता है। इस तन्मयतामें आवेश कारण बनता है और समस्त तत्त्व विभाजन उस व्यक्तिके लिये उपचार-मात्र रह जाते हैं।

जिसप्रकार पासमें पड़े हुए घड़े को देखकर, उसके सम्बन्धमें उत्पन्न अनुभूतियोंके कारण भेद बुद्धि उत्पन्न होती है, उसीप्रकार इस विश्वको देखकर इसके सम्बन्धमें भी भेद बुद्धि उत्पन्न होती है। घड़ा निरंश होता है। अखंड होता है, फिर भी उसके रंग लाल आदि, उसकी गोलाई

---

१. तन्त्रालोक, आ० १।१८३।
२. सिद्धं हि विकल्पेनानुगम्यते। तन्त्रालोक, आ०१।१८१।
३. तन्त्रालोक, आ०१।१८४, पृ०२१४, पं०१-१४।
४. तन्त्रालोक, आ०१।१८५, पृ०२१५, पं०१-४।



चिपटापन आदिके सामान्यतया आभासित होने के कारण स्वभावतः उसकी अखंडतामें भी भेद का आभास होता है, उसीप्रकार भूतादि तत्वोंमें एक शाश्वत आभास स्फुरित होता है।

पदार्थकी शक्ति ही पदार्थ का धर्म है। शक्ति समवाय सम्बन्ध (नित्य-सम्बन्ध) से शक्तिमान् में रहती है। इसी प्रकार धर्मीमें धर्म रहता है। धर्मके अवगम होनेसे धर्मीका आभास या ज्ञान होता है। चिन्तन-मननसे धर्मीकी अनन्त स्थितियोंकी अनुभूति होती है। यह विकल्पोंकी प्रत्यक्ष अनुभूति है। इससे प्रेरणा मिलती रहती है कि, इस पदार्थ में कोई शाश्वत सत्ता निरन्तर स्फुरित हो रही है। इस संस्कारका अवलम्बनकर साधक परमेश्वर में समाविष्ट हो पाता है। समावेशको इस स्थितिमें क्रमशः यह भाव भी होने लगता है कि, ये समस्त विकल्प व्यर्थ हैं–एक परमेश्वर सदाशिव ही सत्य हैं। वही समस्त धर्मोंके एक मात्र

१. एतत्तात्त्वान्तरे यत् पुंविद्याशक्त्यात्मकं त्रयम् ।
अम्भोधिकाष्ठाज्वलन-संख्यैर्भेदैर्यतः क्रमात् ॥
तन्त्रालोक आ०१।१८७-१८८,

स्थान हैं। अनन्तशक्ति सम्पन्न शिव ही पूर्ण हैं और इस तरहकी धारणाके हो जानेपर अभेद रूपसे साधकका अवस्थान शिवमें हो जाता है[1]। अखण्ड शिवकी निर्विकल्पक प्रतीति बहुत ही ऊंची स्थिति है। विशेष धर्मोंके कारण भेदयुक्त प्रतीति ऐन्द्रियिक प्रतीति है। ऐन्द्रियिक प्रतीतिसे सविशेष पदार्थोंकी अनुभूति होती है। अनुभूतियां वास्तवमें हैं क्या? अन्तःकरणमें पदार्थसे सम्बन्धित अनेक अवान्तर धर्मों (गुणों) से भावित भावनायें उत्पन्न होती हैं। उनका आकार स्फुट नहीं होता। विशेष भावनासे पदार्थकी विशिष्टता सिद्ध होती है[2]। किन्तु जब अखण्ड शिवमें निर्विकल्प प्रतीति होने लगती है, उस समय अवान्तर धर्मोंसे भावित भावनायें नहीं होतीं, उस समय साधकका शिवमें अभेदरूपसे अवस्थान हो जाता है। स्वरूपका प्रथन हो जाता है और उसे ही हम मोक्ष कहते हैं[3]।

शिवमें अवस्थान शुद्ध ज्ञानके द्वारा होता है। इस अवस्था में चित्तकी वासनाका क्षय हो जाता है। वासनाका क्षय हो जाना ही संसारसे छुटकारा पाना है और संसारसे छुटकारा पाना ही मोक्ष है। इस प्रकार ज्ञान और मोक्ष एक हो जाते हैं।

ऋ—मोक्ष और मोक्ष विषयक मतवाद

ज्ञान मोक्षका एकमात्र कारण है। ज्ञान कारण है और मोक्ष उसका परिणाम है। इन दोनोमें कार्य कारण सम्बन्ध है। यह मत उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि ज्ञान और मोक्षमें अभेद सम्बन्ध है। स्वतन्त्र आत्मा के ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी मोक्ष नामक पर्दाथकी अलग सत्ता नहीं। ज्ञान मोक्षमें कार्य कारण भाव सम्बन्धकी कल्पना केवल उपचारवाद है। वस्तुतः मोक्ष स्वरूप-ज्ञानके अतिरिक्त दूसरी कोई चीज नहीं है।

---

१. धर्मिणं शक्तिमन्तं परमेश्वरम् अभेदेनाधिशेरते।

तन्त्रालोक आ०१, पृ० २२३, पं०१,

२. तत्स्वरूपमविकल्पमक्षजा कल्पनेन विषयीकरोति चेत्।
अन्तरुल्लिखितचित्रसंविदो नो भवेयुरनुभूतयः स्फुटाः॥

तन्त्रालोक आ० १।२०१, पृ०२२६, पं०१–१३

३. तन्त्रालोक आ० १। १५६–१५७, पृ० १९२, पं० १०–१७।

स्वरूपका प्रथन आत्मसंवित् मात्र है। इच्छा, क्रिया नामक शक्तियां भी संविद् चैतन्यके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनके अनुसार शक्ति और शक्तिमान्में कोई भेद नहीं होता। इसलिये शिव धर्मी (धर्मवान्) और शक्तियां धर्म हैं, यह कथन प्रकरण विरुद्ध और सिद्धान्त विरुद्ध है। इसलिये 'पत्युर्धर्माः शक्तयः स्युः' सन्दिग्ध वाक्य हो जाता है। इस काणाद-सिद्धान्तके अनुसार आत्मा धर्मी है। वे कहते हैं-आत्मत्वाभिसम्बन्धादात्मा अर्थात् आत्मत्वके अभिसम्बन्धसे ही आत्मा भासित है। उसके गुणोंकी संख्या भी परिगणित है।[२] इसके अनुसार धर्म रूप गुणोंका आश्रय कोई धर्मी होता है। उसी धर्मीमें ये आगमापायी भिन्न धर्म समवेत रूपसे स्थिर रहते हैं।

काणाद सिद्धान्तकी ये बातें प्रत्यभिज्ञा दर्शनके विपरीत हैं। धर्म भिन्नता अर्थात् शक्तिभिन्नताकी कल्पना ही विकल्प है। यहां तो ईश्वराद्वयवादको ही मान्यता दी जाती है। एक ही शिव है। वही क्रीडा कर रहा है। भिन्न रूपसे भासित पदार्थ उसीके स्वरूप हैं। वही शिव उन रूपों में खेल रहा है।[३]

यह आवश्यक नहीं कि कारण सदा कार्यरूपमें परिणत होते हैं[४]। कार्यकारणवादके अनुसार यदि ज्ञान रूपी कारण कार्यरूपी मोक्षमें परिणत न हुआ, तब तो ज्ञान रहते भी मोक्ष असम्भव हो जायेगा। पर ऐसा होता नहीं। इसलिये आत्मप्रथन (यथातत्त्वम् ज्ञानम्) के अतिरिक्त मोक्ष अलग माना ही नहीं जा सकता। आत्माका यथातत्त्वज्ञान ही मोक्ष है। अतः उसमें धर्मिधर्मभाव सम्बन्धकी कल्पनाभी विपरीत कल्पना है। ज्ञानी तो भगवान् की भी आत्मा है[५]।

---

१. तन्त्रालोक, आ०१ । १५६-१५७, पृ० १५२, पं० १०-१७,

२. तन्त्रालोक, आ०१ । १५८, पृ० १९४, पं० ८-९ ।

३. इत्थं नानाविधैः रूपैः स्थावरैः जङ्गमैरपि ।
क्रीडया प्रसृतो नित्यमेक एव शिवः प्रभुः ।
तन्त्रालोक आ०१, पृ०१९५, पं० १३-१४ ।

४. नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति ।
तन्त्रालोक आ०१, पृ० १९६, पं० १५-१७ ।

५. ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः । श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ७, श्लोक १८ ।

ज्ञान और क्रिया में अभेद संबन्ध है। ज्ञानके अतिरिक्त कोई क्रिया होती ही नहीं। ज्ञान ही, अर्थात् तत्त्वमें आरूढ़ मति ही क्रिया है[१]। ज्ञानके विना क्रियाका अस्तित्त्व ही क्या है[२] ? उपायके भेदसे मोक्षमें भी भेद हो जाता है—यह बात भी इसी कारण निर्मूल हो जाती है[३]।

उपायभेदसे यदि उपेयमें भी भेद होने लगे, तो कुम्भकारके घड़ा निर्माण करते समय, दण्ड, सूत्र, मृत्तिका, चक्र और जल आदि जितने उपाय प्रयुक्त होते हैं—सबके अनुसार घड़ा दण्डके समान, सूत्रके समान, चक्रके समान और जल आदिके समान बनने लग जाये। अतः इसप्रकार की कुकल्पनासे बुद्धि ही कलुषित होती है—परिणाम कुछ नहीं होता। इच्छा, क्रिया और ज्ञानके तीनभेद युक्त उपायोंके रहते हुए भी उपेय मोक्ष एक ही है[४]।

आत्मज्ञान ही मोक्ष है। इसमें किसीप्रकारका विवाद नहीं[५]। स्वतन्त्र आत्माके अतिरिक्त तुच्छ और अतुच्छ कोई पदार्थ संसारमें नहीं। स्वतन्त्र आत्मज्ञानके अतिरिक्त मोक्ष नामके किसी अतिरिक्त पदार्थकी कल्पना भी नहीं हो सकती[६]। यदि तुच्छ पदार्थकी कल्पनाकी जायेगी, तो वह बन्धके अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। यदि अतुच्छकी कल्पना होगी, तो पारमार्थिक होनेकेकारण स्वतन्त्र आत्मासे उससे पार्थक्य नहीं होगा[७]। क्योंकि आत्माके अतिरिक्त स्वरूपका प्रथन नहीं होता और स्वरूपका प्रथन ही मोक्ष होता है। 'स्व' का रूप 'आत्मसंविद्' होता है। इसलिये यह कहा जा सकता

---

१. तन्त्रालोक, आ०१। १५०–१५१, पृ० १८८–८९।

२. एवं ज्ञानस्वभावैव क्रिया स्थूलत्वमात्मनि।
यतो वहति तेनास्यां चित्रता दृश्यतां किल
तन्त्रालोक, आ०१, । १६३। पृ० १९८ पं० ५–११,

३. अनेन चैतत्प्रध्वस्तं यत्केचन शशङ्किरे।
उपायभेदान्मोक्षेऽपि भेदः स्यादितिसूरयः ॥
तन्त्रालोक आ०१, १६५, पृ० २०० पं०५–८।

४. तन्त्रालोक आ०१। १६६, पृ० २०२, पं० १–४।

५. तन्त्रालोक, आ०१, पृ० ६२, पं० १२-१३

६. तन्त्रालोक आ०१ ,, १। ३१, पृ० ६२, पं० १–६।

७. ,, ,, १। १५६, पृ० १७२, पं०१०–१३, पृ०६२, पं० ७–९।

है कि, जो आत्माका लक्षण है, वही मोक्षका भी लक्षण है। रागादि विषयोंसे अकलुषित अन्तःकरण वाला व्यक्ति अपने कर्तृत्वका ध्यान नहीं करता है। वह ज्ञान और अज्ञानकी पृष्ठ भूमिसे ऊपर उठकर स्वरूप संविद्‌के प्रकाशमें मानो परिणत हो जाता है और वही उसकी जीवन्-मुक्ति की अवस्था है[1]।

योगाचारमत

योगाचार मार्गमें प्रवृत्त चिन्तकोंकी ज्ञानानुभूति है—'रागाद्यकलुषोऽहं भवामि'। वास्तवमें चित्ततो स्वभावसे ही भास्वर है। वह अविद्या (अनादि) के वशीभूत होकर रागादि आगन्तुक मलोंसे आवृत हो जाता है। यहीं संसार आविर्भूत होता है। चिन्तक अपनी भावनाके बलसे, आध्यात्मिक अनुष्ठानोंसे उन सभी आगन्तुक मलोंका निराकरण करता है। वह मलोंका आश्रय बना हुआ था। अपनी इस आश्रयताको वह समाप्त कर देता है। फलतः अविनश्वर ज्योतिरूप स्वरूपकी अभिव्यक्ति हो जाती है और यही मोक्ष है[2]।

यह मत कुछ असंगतियोंसे परिपूर्ण है। भावनाको यहां साधन बनाया गया है। भावना एक क्षण स्थायी भाव है। एकतो चित्त स्वयं चंचल, दूसरे उससे उत्पन्न भावना कहां तक स्थायी रह सकती है[3]?

ऐसी क्षणक्षयी वृत्तिसे साध्यकी सिद्धि कैसे सम्भव है? लोक व्यवहारमें यह प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है कि, स्थायी तिल आदि पदार्थ स्थायी कुसुम राशिसे वासित किये जाते हैं। यदि भावनामें भी इतनी स्थायिता होती, तो यह सम्भवभी हो जाता। अतएव प्रतिक्षण अपूर्व और अद्‌भुत रूपोंमें परिणत होते रहने वाले चित्तको जिससे कोई अतिशयता, कोई विशेषता नहीं प्राप्त हुई, उसको प्रभास्वर बना देनेमें भावना कदापि समर्थ नहीं हो सकती।

दूसरी विचारणीय बात है कि, चित्तसे सम्बद्ध सभी क्षण तो मलयुक्त

---

१. तन्त्रालोक आ० १। ३३, पृ० ६४।
२. ,, ,, १ पृ० ६४, पं० ४–१३।
३. ,, ,, १ पृ० ६५, पं० १–८।

हैं।[1] जो मल युक्त होता है, वह अपने सदृश ही किसी अन्य क्षणको उत्पत्ति कर सकता है। मलयुक्तसे मलयुक्त पदार्थ ही उपलब्ध हो सकता है। 'स्व सदृशारम्भण' सिद्धान्त ही व्यवहार सिद्ध और मान्य है। ऐसी स्थितिमें विसदृश अर्थात् स्वभावविरोधी प्रभास्वर क्षणोंको उत्पन्न करने में भावना कदापि समर्थ नहीं हो सकती।

इस क्षण भंगुरताके कारण जब भावना इतना भी काम नहीं कर सकती, तो उससे यह आशा करना कि, आश्रय में परिवर्त्तन भावना द्वारा सम्भव है–अयथार्थ है। इसलिये क्षणिकवादियोंका यह मोक्षका सिद्धान्त वास्तवमें अशुद्ध है।

जो बद्ध होता है, वही छुटकारा चाहता है।[2] छुटकारा पाकर वह बन्धन से निवृत्त हो जाता है। जो समल चित्तक्षण स्वसदृश जिस चित्तक्षणको उत्पन्न करेगा क्या वह एक ही क्षण होगा ? नहीं। वह भी अनन्तप्रकारका हो सकता है। तो बन्धन भी अनन्तप्रकारका होगा। बन्धन मलकी सन्तान है। मल जब भावनाको दूषित कर चुका है, तो फिर उस भावनाकी चर्चा ही क्या ? मोक्षतो इस सिद्धान्तसे बहुत दूर की बात रह जाती है।

माध्यमिक

माध्यमिक[3] मतवादियोंकी इस सम्बन्धमें कुछ दूसरी ही धारणा है। ये कहते हैं—योगी की एक ऐसी अवस्था आती है, जब उसे 'अन्तःसंविद्' होता है। 'अन्तःसंविद्' रूपतामें 'शून्योऽहम्' (मैं शून्य हूँ) यह अनुभूति होती है। इस अनुभूतिका ज्ञानही मोक्ष है। ये लोग 'सर्वभाव' में असर्वभाव (नैःस्वभाव) और 'संविद्' में भी इसी 'नैःस्व'भावका मिथ्यादर्शन करते हैं। ये लोग शून्यताकी अनुभूतिमें ही मोक्ष की बात करते हैं।[4]

---

१. तन्त्रालोक, आ० १, पृ०६५, पं० ९-१६।
२. तन्त्रालोक, आ० १, पृ० ६६, पं० ३-४।
३. तन्त्रालोक आ०१, पृ० ६६, पं० ६।
४. तन्त्रालोक आ०१, पृ० ६५, ६६, पं० ५–१२।

इनका यह कथनभी शुद्धताकी कसौटीपर खरा नहीं उतरता। संविद् तो स्फुरणामात्र रूपिणी होती है। उसमें मिथ्यात्वकी कल्पनाका अर्थ होगा। 'चिन्तनकी स्थितिमें किसी स्फुरत्ता का होना'। अर्थात् मूर्च्छा। इस दशामें संविद्के स्वतन्त्ररूपका अपाकरण हो जायेगा। उदाहरण स्वरूप एक नील पदार्थको यदि लिया जाय, तो नीलत्वका उससे होने वाला स्फुरण पदार्थके आधीन होनेके कारण जबतक पदार्थ की सत्ता होगी, तबतक होता ही रहेगा। नीलत्वको मिथ्या मान लेने मात्रसे उसकी स्फुरणता थोड़े ही रुक जायेगी। वह तो संविद् रूपसे पदार्थके नाश हो जानेके वावजूद भी नीलत्वकी अनुपस्थितिमें भी स्मृतिमें स्फुरित होकर अपने अस्तित्वकी घोषणा करती ही रहेगी।

वैभाषिक

'हेतुफले संसारः' यह वैभाषिकोंका सिद्धान्त वाक्य है। जिस-प्रकार दीप जलता हुआ शान्त हो जाता है-कारण रूप स्नेह के समाप्त हो जानेसे दीप जलना रूप कार्य समाप्त हो जाता है। उसीप्रकार नैरात्म्यभावनाके अभ्याससे हेतु फलके समाप्त हो जानेपर शान्तिकी उप-लब्धि होती है और यही मोक्ष है।[1] इनका निकष वाक्य है–

'दीपवत् संततिक्षयो मोक्षः'।

उपर्युक्त विचार प्रत्यभिज्ञावादीके लिये नगण्य है। यह सभी अवस्थायें प्रलयाकल अवस्थामें अन्तर्भूत है। प्रलयाकल की सवेद्य और अपवेद्य दो अवस्थायें होती हैं। जहां ब्रह्म आनन्दका विषय बनता है, वहां वह सवेद्य है-वहां स्वात्म परामर्श होता है। वहाँ आत्मा के समस्त गुणों का उच्छेद हो जाता है—वहां सवेद्यता के लिये स्थान ही कहां होता है? प्रलयाकल अवस्था में संसार के कारण का क्षय नहीं होता। अतः उपर्युक्त सभी विकार मल के सर्वथा अपगम के उच्च स्तर के विचार नहीं हैं।

यदि यह मान लिया जाय कि, बन्धका क्षीण हो जाना ही मोक्ष है, तो यह कुछ उसी तरह की बात होगी जैसाकि "अन्धात्तैमिरिको वरः" के अनुसार 'अन्धे से रतौंधी वाला ही अच्छा' की बात होती है। सकल

---

१. दीपो यथा............केवलमेति शान्तिम्॥

तन्त्रालोक आ० पृ०४६–३३–३४।

आत्मा तीन मलों से बद्ध होता है और प्रलयाकल दो मलों से आबद्ध होता है। इस आबद्धता की दशा में या सवेद्यता की दशा में मोक्ष की कल्पना अनुचित है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि, उपर्युक्त सभी सिद्धान्तवादी सद्गुरु के सुज्ञान से वंचित हैं। अतः मोक्ष के स्थान में मायापाश से ही रंजित हैं। इन्हें माया अमोक्ष में मोक्ष की इच्छा से भ्रम में डालती रहती है।[1] वास्तव में ज्ञान ही मोक्ष का स्वरूप है।[2] जब मनुष्यके हृदयमें शोभन तर्ककी उत्पत्ति हो और उसे परमेश्वरकी इच्छाशक्तिकी अनुकम्पासे शुद्ध विद्याकी प्राप्ति हो–तो उसके जीवनका मार्ग ही समुज्ज्वल हो जाय।

सांख्यवादी

सांख्य शास्त्रवादो कहते हैं—'अकर्त्ताऽहं भवामि !' 'मैं अकर्त्ता हो रहा हूँ'। ये अपने ऊपर निष्क्रियताका अरोप करते हैं। ये सोचते हैं—यदि आत्माको निष्क्रियता न मानी जायगी, तो उसकी चेतनात्त्व-सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि जो सक्रिय है, वह सीमित है, भौतिक है, जड़ है चेतनसे परिचालित है। क्रिया तो अचेतनमें ही उपलब्ध है। दूधमें जामन डाल दिया जाय, तो वह दही बन जायेगा, नीबूका रस डाल दें, तो वह छेना हो जायेगा। अतएव दूध सक्रिय है। आत्मामें परिवर्तन असम्भव है। अतएव वह निष्क्रिय है।

विचारका विषय यह है कि, जब अकर्त्ता मान लिया जायेगा, तब मोक्षको क्या आवश्यकता होगी ? तबतो अनिर्मोक्ष होगा? अकिंचित्करतामें स्वरूपमें अवस्थान कैसे होगा ? प्रकृति तो प्रवृत्ति स्वभाव वाली है। यह उदासीन नहीं रह सकती। प्रकृतिमें यह अनुसन्धान कि, 'मैं पुरुष द्वारा देख ली गयी, अतः इस अर्थकी प्रवृत्ति में नहीं करूँगी'—यह असम्भव है। अचेतनमें प्रेक्षाकारिता होती ही नहीं। विवेक-ख्याति होनेपर भी प्रकृति अपनी प्रवृत्तिका विस्तार कर सकती है।

बौद्ध और सांख्योंमें एक बड़ा भारी भेद है कि, बौद्ध तो बुद्धि तत्त्वकी प्रधानता देता है। वह एक मात्र 'संविद् को ही हर्ष, शोक और विषादके

---

१. तन्त्रालोक, आ० १, पृ० ४५, पं० ७।

२. तन्त्रालोक आ० १, २२, पृ० ४५, पं० १२-१३।

विवर्त्तोंमें देखता है[1]। यह तो एक बुद्धि वृत्ति हुई और सिद्ध हुआ कि बुद्धि तत्त्वकी प्राप्ति ही बौद्धोंका मोक्ष है[2]। इसीलिए बुद्धितत्त्वसे नीचे रहने वाला संसार शून्य हो गया। सांख्य सुख दुःखात्मक प्रकृतिसे पुरुषको पृथक् स्वरूपावस्थित मानते हैं। यही पौरुषभाव इनका मोक्ष है[3]। इस प्रकार चूंकि नैरात्म्य दृष्टिसे से आत्मदृष्टिकी विशिष्टता होती है। बौद्धोंके नैरात्म्य भावसे सांख्योंका आत्मभाव उत्कृष्ट हो जाता है।

योग

पातंजल योग–मार्गी विद्वान् ईश्वर प्रणिधानकी बात करते हैं। अतएव वे सांख्योंसे उत्कृष्ट मान्यता वाले कहे जाते हैं[4]। यद्यपि प्रकृतिसे पृथक् पुरुषकी सत्ता दोनों समान रूपसे स्वीकार करते हैं। अनात्म देहादिमें आत्मबुद्धि अविद्याका परिणाम है। भवबन्धनमें यही हेतु है। इसीका नाश होना ही मोक्ष है[5]।

वास्तवमें ज्ञान किसी प्रकारका हो वह मोचक होता ही है। अज्ञानका आवरण ज्ञानके प्रकाशसे ही दूर हो सकता है। यह सत्य है। ऐसी अवस्थामें बौद्धोंका ज्ञान क्या है ? प्रत्यभिज्ञा दर्शनके अनुसार मायीय मल से अंशतः मुक्ति ही उनके ज्ञानका परिणाम है। मौसुल सिद्धान्तवादियोंका

---

१. एकमेवेदं संविद्रूपं हर्ष शोकाद्यनेकाकार विवर्त्तं पश्यामः।
तन्त्रालोक आ०१, पृ० ६९, पं० ३।

२. ब्रह्मा तत्राधिपत्येन बुद्धितत्त्वे व्यवस्थितः।
सर्वज्ञं तमेवाहुः बौद्धानां परमं पदम् ॥
तन्त्रालोक, आ० १, पृ० ६९।पं० ६–७।

३. पौरुषं चैव सांख्यानां सुख-दुःखादि वर्जितं।
तन्त्रालोक आ०१, पृ० ६९, पं० १३।

४. सांख्य पातंजलयोः प्रकृति पृथग्भावेन पुंज्ञानस्य साम्येऽपि सांख्येभ्यः पातंजलानामीश्वर प्रणिधानात् तद्विशिष्यते।
तन्त्रालोक आ०१, पृ० ७०, पं० १–५।

५. अनात्मनि च देहादावात्मबुद्धिस्तु देहिनाम्।
अविद्या तत्कृतो बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ॥
सर्वदर्शन संग्रह पृ० ३१, पं० २३–

कार्ममलसे मुक्त होना ही मोक्ष है। पाशुपतोंका मोक्ष भी केवल आणव मलसे अर्थात् अनात्मामें आत्माभिमान रूपी अहंकारसे मुक्ति मात्र है।

मुक्त मानकर रह जाना कितनी बड़ी विडम्बना है। ऊपर कहे हुए सभी मतवादी इसी दशामें पड़े हुए हैं[१]। एक-एक अवच्छेद ऊर्ध्व स्थितियोंमें भी विद्यमान हैं। प्रत्यभिज्ञाके अनुसार उन्हें अध्वा कहते हैं और यह माना जाता है कि, अध्वा बन्धका कारण होता है। जबतक संसारके बन्धके कारणका सर्वतोभावेन क्षय न हो जाय, तबतक मोक्ष कैसे माना जायेगा। लौकिक बुद्धि रखने वालोंका पुनः पुनः सर्जन और संहार होता ही रहता है[२]। उनकी वही स्थिति होती है, जैसे कुलालचक्र-पर घड़ा रखा जाता है।

प्रत्यभिज्ञावादी मत

प्रश्न यह है कि मोक्ष क्या पदार्थ है ? यह किसीको प्राप्त होता है या नहीं ? इसका उत्तर बहुत सरल है। संसारके जितने अध्वा है, उनके बन्धनोंको सर्वथा अतिक्रान्त कर लेना ही मोक्ष है। वही परम पद है[३]। वही पुरुष साक्षात् मुक्त है, जो सर्वावच्छेद वर्जित हो[४]। शैवसिद्धान्तवादी कभी अधः पतित नहीं होता[५] क्योंकि उसे किसी प्रकारके अवच्छेदका

---

१. तस्मान् मुक्तोप्यवच्छेदादवच्छेदान्तरस्थितेः।
अमुक्तएव मुक्तस्तु सर्वाच्छेद-वर्जितः ॥
तन्त्रालोक आ॰१। ३४, पृ॰७१ पं॰३–४।

२. तन्त्रालोक, आ॰१।३४-३५

३. सर्वाध्वनौ विनिष्क्रान्तं शैवानां परमं पदम्।
तन्त्रालोक आ॰१, पृ॰ ७२, पं॰१०।

४. मुक्तस्तु सर्वावच्छेदवर्जितः।
यः पुनर्निःशेषप्रक्षीणसर्वाध्वबन्धः स एव साक्षान् मुक्तः।
तन्त्रालोक, आ॰ १, पृ॰ ७२, पं॰ ७-१०।

५. शैवः सिद्धौभाति मूर्ध्नीतरेषां,
मुक्तः सृष्टौ पुनरभ्येति नाधः।
तन्त्रालोक, आ॰ १, पृ॰ ७२, पं॰ १२-१३।

भय नहीं रह जाता। इन सबसे वह बहुत ऊपर उठ चुका होता है। शिवामृत-परिप्लुत परमात्मवृत्ति भाव और अभावके द्वयावच्छेद-शून्य दशा में ही सम्भव होती है। ऐसे सावधान व्यक्तिको ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। यही अतिभावना है।[1]

अवच्छेद संकोच विधायक और इदन्ता-परामर्शक होता है। आत्मा सर्वव्यापक तत्त्व है। वह शिव है। शिवका जीवके रूपमें परिणत होना ही संकोच है। तब जीव यह अनुभव करने लगता है कि, यह मैं हूँ—वह नहीं हूँ। 'अयमहमस्मि नापरः' का मिथ्या भाव उद्बुद्ध हो जाता है। परिणामतः 'सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा' की दशा खंडित हो जाती है। इस प्रकारका असत्परामर्श जब साधकके हृदयमें रहेगा, तो मुक्तिसे वह लाखोंकोश दूर हो ही जायेगा। वास्तवमें परिनिष्ठा तो परमशिवमें ही होनी चाहिए[2]। परिनिष्ठासे ही पुष्टि होती है। पुष्टि शुष्कके सरसी-भावको कहते हैं।[3] वह रससे ही हो सकती है।[4] रसावस्था ही आनन्द है और आनन्दकी प्राप्ति ही जीवनमुक्ति में परिणत करती है। उस समय मुक्ति साधकके करतलमें स्थित हो जाती है।[5]

ऋ–बिन्दु विज्ञान

ग्राह्य ग्राहकभावसे सम्बद्ध सभी वस्तुओंकी एक इयत्ता (सीमा) होती है। इयत्ता से स्वरूप गोपन होता है। सीमामें असीमका समन्वय भले ही हो-किन्तु वह पूरी तरह अपना प्रकटीकरण नहीं कर सकता। सीमामें संकोच अवश्य ही रहता है। क्रिया शक्तिके उदित हो जानेपर–उदाहरण स्वरूप चन्द्र, सूर्य और अग्निके प्रज्वलित हो जानेपर प्रकाशका अवि-भाज्य स्वरूप ही दृष्टिगत होता है।[6] संकोच का अवलम्बन करनेपर

---

१. तन्त्रालोक, आ० १, पृ० १२६-१२७।
२. ,, आ० १।१०८, पृ० १५१।
३. ,, ,, १।११८, पृ० १५८।
४. ,, ,, १।१२१, पृ० १५९।
५. ,, ,, १।४४, पृ० ८१।
६. अत्रानुत्तरशक्तिः सा स्वं वपुः प्रकटस्थितम्।
कुर्वन्त्यपि ज्ञेयकलाकालुष्याद्बिन्दुरूपिणी ॥ तन्त्रालोक आ० ३।११०,

स्वरूपका गोपन अवश्यंभावी है। संकोचमें विस्तारका केन्द्रीयकरण हो जाता है। मानो विस्तार ही सिमटकर संकोच बन गया हो। इस प्रकार अविभक्तप्रकाशपुञ्जका केन्द्र ही 'विन्दु' कहलाता है। सूर्य आदि क्रियाशक्तिके आश्रय हैं। इनके माध्यमसे कभी आनन्द दायिनी और कभी तीक्ष्णतम तिग्म रश्मियोंके स्थूलरूपसे वैचित्र्यका क्रिया शक्ति ही स्फुरण करती है।

क्रिया शक्तिके द्वारा ही चन्द्रमाके प्रकाशमें आह्लादकता, सूर्यके प्रकाशमें तीक्ष्णता और अग्निके प्रकाशमें दाहकता इन तीनोंका समावेश होता है। वास्तवमें इन तीनोंको पृथक् करके देखनेका प्रयास रहस्य-दर्शन है। ये तीनों अलग दीखती हुई भी एक ही हैं। यह एकत्व-दर्शन अविभक्त-दर्शन है। इसी अविभक्त-दर्शनको 'विन्दु' की संज्ञा प्रदान की गयी है।[१]

विन्दुका अर्थ परमप्रकाश है। यह सर्ववस्तु-समूहका वेदयिता है। विन्दुकी विश्रान्तिके तीन स्थान हैं। १-हृदय, २-भ्रूमध्य और ३-शिरः-केन्द्र। प्रधानतया विन्दुका निवास हृदय कमल कोष ही है। जिसप्रकार क्षेत्रमें बीज बो देनेसे उसे अंकुरित होनेका अवसर मिलता है, उसी तरह विन्दु का अंकुरण भी भेदभूमिमें ही उत्पन्न होता है।

हृदय पद्मके कोषमें मकरन्द विन्दुका मृदुल माधुर्य अपने अस्तित्वसे अरविन्द को भी महत्व प्रदान करता है। बीज जिसप्रकार खेतके प्रभावसे भावित होकर अपने विभिन्न रूपोंमें विकृत होकर व्यक्त होता रहता है, उसीप्रकार यह विन्दु विकृत नहीं होता। कारण यह है कि, विन्दु संविद्रूप होता है।[२] संवित् परमप्रकाश और विशुद्ध ज्ञानको कहते हैं। ऐसी अवस्थामें यह विन्दु संतत विशुद्ध रहता है, साथ ही विन्दुके मर्मको समझने वाले विज्ञोंको यह संसार-महोदधिसे पार लगा देनेकी शक्ति भी रखता है।

विन्दु ही शब्दरूपसे भी प्रस्फुटित होता है। शब्द या नाद, विन्दुका विस्फार या विस्तार ही है। प्राणायामकी अवस्थामें प्राणके ऊपर और नीचे आने और जाने में 'अ' से लेकर 'ह' पर्यन्त वर्णों में और सूर्य चन्द्रा-

---

१. तन्त्रालोक आ० ३।१११, पृ० ११७–११९।
२. ,, आ० ३, पृ० ११९, पं० १-३।

त्मक या अग्नि सोमात्मक जगत्में भी वही विन्दु रूप परम प्रकाश मूलतः हेतुरूपसे विराजमान है। उसे ही परा जीव कला कहते हैं।[1] उस परमजीव कला की प्राप्ति या गति अत्यन्त उच्च अवस्था है। वहां जाकर फिर वहां से प्रतिनिवर्तमान होनेकी स्थिति ही नहीं उत्पन्न होती।[2] वह स्थान सूर्य, शशाङ्क और पावकके तेजसे भी तेजस्वी है। इसीलिये आह्लादकत्वमें, प्रकाशमानत्वमें और दाहकत्त्वमें अनेक रूपोंमें परिवर्तित होनेके बाद भी विन्दुकी स्थितिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। संविद्के बलसे यह सम्भव है।

नाद और विन्दु शिवकी दो शक्तियां हैं। इन दो शक्तियोंके आधारपर शिव अवश्य ही ज्ञात हो सकते हैं। चित्त चंचल होता है। चंचल पदार्थसे स्थिर ज्ञानकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। चित्तकी चंचलताको दूर करनेके लिये, उसकी स्थिरताका सम्पादन करनेके लिये शैवागममें दो तत्त्वोंकी कल्पना की गयी है। १-नाद और २-विन्दु।[3]

नाद और विन्दु इन दोनोंकी सहायतासे चित्त स्थिर हो जाता है। स्थिर चित्तमें शिवका परम प्रकाश प्रसरित होता है। अतीन्द्रिय सर्वातीत शिव तत्त्वके सूक्ष्म संविद्रूप प्रकाशमें प्रवेश पाकर चित्त सुस्थिर हो जाता है। वहीं ज्ञानका प्रकाश प्राप्त होता है। इसी ज्ञानरूप प्रकाशके सहारे शिवत्त्वके प्रकाशमें चित्त एकीभूत हो जाता है। समना और उन्मना शक्तियोंका स्वारस्य शिवत्त्व को ही प्रकाशित करता है।

लृ—प्रकाश और शिव

आगमोंमें शिवकी कल्पना देवाधिदेव, निरपेक्ष और स्वतन्त्ररूपमें की गयी है[4]। चूंकि वह देशकाल, आकृति आदिके क्रमोंसे रहित है, अतएव निरपेक्ष है। वह विभु है, नित्य है, विश्वमय है और विश्वोतीर्ण भी है। वह चूँकि विभु है, अतः सर्वव्याप्त है। नित्य है, इसलिये आदि अन्त और

---

१. तन्त्रालोक, आ० ३।११३, पृ० ११९, पं० ५-१७।

२. श्रीमद्भगवद् गीता, आ० १५।६।

३. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० ७६। श्लोक ६२१-६२४।

४. तन्त्रालोक आ० १, ५९-६१, पृ० ९८, पं० १-४।

अभाव रहित है। विश्वाकृति है, इसलिये चेतन अचेतन दोनोंकी विचित्रताओंको अवभासित करता है। अवभासनके कारण ही वह प्रकाशमय है। इन विशेषताओंसे विशिष्ट शिव ६ प्रकारके माने गये हैं। १—भुवन, २—विग्रह, ३—ज्योति, ४—आकाश, ५—शब्द और ६—मन्त्र[१]। इन छहोंके ध्यानकी अलग-अलग विधायें हैं, जो साधकोंको तन्मयत्त्व प्रदान करती है[२]। ये विधायें शिवात्मक ही हैं। अतः शिवका ध्यान निश्चित ही शिवत्त्व प्रदान करता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि, जब शिव शिवाकृतियोंमें भासमान है, तो यह छः रूप क्यों ? इसका उत्तर अत्यन्त सरल है। यह भेद तो उपलक्षणमात्र हैं। इन्हीं भेदोंसे निखिल विश्वका संग्रह हो जाता है। दूसरी बात ध्यान देनेकी यह है कि, विश्वके संकोच (विनाश) की अवस्थामें यह विश्वके अतिरिक्त सत्तामात्र रूपसे अवस्थित रहता है[३]। यह अनवच्छिन्न है। अनवच्छिन्नतामें ही उस एक और स्वतन्त्र शक्तिमान्का बोध (प्ररोह) होता है[४]। ऊपर जो शिवके छः स्वरूप बताये गये हैं, वे सभी उसके अनवच्छेदत्वके अवच्छेदक हैं। नियतात्मवृत्ति सीमामें होती है। वह सीमासे परे है। वह सर्वाकृति स्वरूप है। वह निराकृति भी है। जलदर्पणमें पड़ने वाले प्रतिबिम्बकी तरह सारा जगत् उसमें प्रतिबिम्बित है[५]। जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बित घट वास्तविक घटके अतिरिक्त नहीं। वह अलग प्रतिभासित मात्र है। वह उसके अतिरिक्त नहीं। उसी तरह प्रकाशमय शिवसे ही स्थावर जंगमात्मक यह विश्व अपनी इच्छासे ही अपनी रूपसत्ताके अतिरिक्त (स्वप्रकाश भित्तिमें ही) प्रतिभासित हुआ सा प्रत्यक्ष हो रहा है। इसलिए यह एक ही प्रकाशात्मा परमेश्वर सर्वत्र प्रकाशित है। विभुत्व शिवका धर्म है। धर्म उसके 'स्व' रूपके अतिरिक्त नहीं होते। अथवा द्योतक नहीं होते, वरन् उसके अपनेही रूप होते हैं। विभुत्व व्यापकता है।

---

१. तन्त्रालोक, आ०१, पृ० १००, पं० १४-१५। आ० १ पृ०१०१, पं०५-६।
२. ,, ,, १, ६४, पृ०१०१,–१०२
३. ,, ,, १, पृ०१०४, पं० ७-९।
४. तन्त्रालोक, आ०१, पृ०१०३, पं० ९-१२।
५. जलदर्पणवत्तेन सर्वं व्याप्तं चराचरम्। तन्त्रालोक आ०१,। ६६

व्यापकता 'स्व' से अतिरिक्त व्याप्य (आश्रयमें) होती है। मानलिया कि विभुता 'दिक्' आश्रयको व्याप्त करती है। दिक् भी पर-प्रकाशके अतिरिक्त नहीं है। इस प्रकार 'दिक्'की विभुता शिवकी विभुता-में ही समाहित हो जाती है। उसे नित्य भी कहते हैं। यह त्रिकाल वर्त-मान है। वह अकाल कलित है। नित्यधर्मसे अवच्छिन्न होनेपर भी अनित्य है। उसके अतिरिक्त विश्वकी सत्ता नहीं है। वह परमप्रकाश शिव ही सब कुछ है।

उसका एक ही धर्म है, एक ही स्वभाव है। उसे अहं प्रत्यवमर्श कह सकते हैं। यह अहं प्रत्यवमर्श ही सभी अन्यधर्मोंको आत्मसात् करता है। अहं प्रत्यवमर्शका अर्थ है; वह अपने या दूसरेके प्रकाशनमें किसीकी अपेक्षा न करे। अहं प्रत्यवमर्श स्वातन्त्र्य शक्ति है[१]। देशकालकी सीमाओंके परे, अनन्तरूपोंमें उल्लसित होनेकी सामर्थ्यसे सम्पन्न वह पर-मेश्वर ही स्वतन्त्र रूपसे सर्वत्र भासित है। शिवके प्रकाशसे प्रकाशमान सारा प्रमातृवर्ग भी अपनी-अपनी सीमामें विभुता और नित्यताकी व्यवहारवादितासे ग्रस्त है।

वह परमेश्वर अनन्तशक्ति सम्पन्न है—यह कथन भी उसकी स्वा-न्त्र्यशक्तिका ही समर्थन करता है। उपाधिवश नानारूपोंमें व्यवहार होता है। नानारूपोंमें नानात्वके व्यवहार की शक्ति उसकी अनन्तशक्तिताकी ही परिचायक है[२]। शिवके अतिरिक्त स्वातन्त्र्यशक्तिकी कल्पना भी मिथ्या कल्पना है। वास्तवमें शक्ति किसी पदार्थका अपना ही रूप होती है। भेद आरोपित होता है। इस आरोपका कारण फलका भेद और प्रमाताकी दृष्टिका परिणाम है। शिवके अतिरिक्त किसी पदार्थकी सत्ता ही स्वीकार्य नहीं है। शक्ति और शक्तिमान्की कल्पना करने पर भी दोनोंकी अद्वयता-में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

शक्ति शक्तिमें भेद की कल्पना नहींकी जा सकती। अग्निकी दाहिका शक्ति, पाचिका शक्ति और प्रकाशदाशाक्तिमें वस्तुतः क्या भेद है?

---

१. तन्त्रालोक आ० १।६७।पृ० १०६, पं० ७-८। पृ० १०७, पं० ७-८।

२. तन्त्रालोक आ० १।५–६,

क्या इन्हें अलग-अलग किया जा सकता है[१] ? दूसरो वस्तुका पहली वस्तु-से भेद तब होता है, जब वस्तुकी अलग सत्ता हो या उसकी पृथक् सिद्धि हो[२]। यहां तो शक्तिमान्‌के अतिरिक्त शक्तिकी पृथक् सिद्धि ही नहीं है। कौन किससे अलग किया जाय ? अग्निको दाहिका शक्तिसे या दाहिका शक्तिसे अग्निको ? इसीप्रकार परिकल्पित शक्तिके आनन्त्यके सिद्धान्तके अनुसार भी कोई भेद शिवशक्तिमें, प्रकाश या प्रकाशमानतामें सिद्ध नहीं होता।

शिवके अनन्त लीला-विलास प्रकाश रूप ही हैं। वह अप्रकाशके रूपमें भी प्रकाशित ही होता है। अन्धकार भी, जड़त्त्व भी, उसके प्रकाश ही हैं। अप्रकाशका प्रकाश भी प्रकाशमें ही होता है। नित्य प्रकाशात्मक होनेपर भी वह चिरगुप्त है तथा चिरगुप्त होनेपर भी प्रकाशरूप होनेके कारण चिरव्यक्त है।

तत्त्वग्राम शिव

शिव परमतत्त्व स्वरूप हैं। समस्त तत्त्व उनमें ही अन्तर्निहित हैं। मानों सभी तत्त्व उनके उदरस्थ हों[३]। वही परमशिव सर्व–हृदयमें अव-स्थित हैं, सर्व शरीरमें अवस्थित हैं, स्वभावमें और सूक्ष्मतामें भी वही विद्यमान हैं। इन सभी तत्त्वोंकी राशि उन परमशिवमें मोदमान है और उनमें वे भगवान् विद्यमान हैं।

ग्राम शब्द समूह वाचक होता है। जनताकी वसति (बस्ती) को इसी अर्थमें ग्राम कहते हैं। वहां जन समूह निवास करता है। परमशिव तत्त्व ग्राम हैं। सभी त्तत्त्व वहीं निवास करते हैं।

परमशिव प्रकाश स्वरूप हैं। परमशिवके रमृत्वसे परिप्लावित आत्मा ही पहले धमंरूपसे अमिहित किया गया है। संकुचित आत्मा उसका धर्म नहीं हो सकता। संकुचित आत्मा ही मलावरणसे आवृत्त होकर जीवत्त्व प्राप्त करता है और शिवत्त्वसे च्युत हो जाता है।

---

१. तन्त्रालोक, आ०१।७० पृ०११०,–१११
२. ,, ,, पृ०१११, पं० २।
३. ,, ,, पृ०१२४, पं० १५-१६।

उस परमशिवकी स्थिति प्रकाशमय है। पदार्थोंके भाव या अभावके अन्तरालमें ज्ञानरूपसे वह परमशिव विद्यमान है। ज्ञान ही प्रकाश है। प्रकाश ही ज्ञान है। वह अन्यत्रसे आकर कहीं एकत्र विराजमान नहीं है। वह तो स्व स्थानमें ही सर्वत्र है। वह कौन सा पदार्थ है, जो उस महान् व्यापक 'स्व' से अलग हो, अतिरिक्त हो ? यही आत्माकी परमात्मस्थिति है। यह अनुभूतिका विषय है। पदार्थकी भावमयता या उसका अभाव दोनों उसके बाह्य रूप है। बाह्यरूपकी यह वर्त्तना (वृत्ति) जब बन्द हो जाती है और परमार्थसाक्षात्काररूपा द्रष्टामात्रकी स्थिति जब रह जाती है, तभी वह ज्ञेय बनता है[1]। ज्ञेयत्त्व ज्ञानका धर्म है[2]। ज्ञेयकी ज्ञेयता ही ज्ञान है[3]। ज्ञान ही प्रकाश है[4]। प्रकाश ही शिव है। शिव सर्वात्म हैं। सर्व देहस्थिति ही ग्राम धर्म है। इसी ग्रामधर्मतासे युक्त शिव हैं[5]।

ग्रामधर्म प्रत्यभिज्ञा तन्त्रका मुख्य धर्म है। इसकी मान्यता श्रीकण्ठ भी देते हैं[6]। यह परम तत्त्व है। तत्त्ववेत्ता साधक शिवका सर्वत्र अन्वेषण करता है। उसे पाकर उसीमें स्थित हो जाता है। शिवकी भावना परम औषधि है[7]।

शिवरूप महौषधिसे बंधा हुआ मन मुक्त हो जाता है। वह उस स्थितिमें पहुंचता है, जहां न प्राणकी गति है— न अपानकी। उस स्थिति

---

१. तन्त्रालोक, आ०१। १३६, आ०१, पृ० १२९, पं० ९।
आ०१।८५, पृ० १२६, पं० ३–४

२. तन्त्रालोक, आ०१,। पृ० १७७, पं० १५।

३. तन्त्रालोक, आ०१ पृ० १७८ पं० १।

४. तन्त्रालोक आ०१, ८४, पृ० १२६।

५. तन्त्रालोक आ०१, पृ० १२८, पं० ११–१५।

६. तन्त्रालोक, आ०१, पृ० १२९, पं० ३–१५।

हृदिस्थं सर्वदेहस्थं स्वभावस्थं सुसूक्ष्मकम्।
सामूहयं चैव तत्त्वानां ग्रामशब्देन कीर्त्तितम्॥
आत्मा वै धर्म इत्युक्तो ग्रामधर्मः प्रकीर्तितः।
प्रकाशावस्थितं ज्ञानं भावाभावादिमध्यतः॥ आ०१।८६ भाष्य

७. तन्त्रालोक, आ० १।८६, पृ०१३०, पं० ११–१२। पृ०१३१, पं०११–१२

को मध्य धाम कहते हैं। साधक वहां पराशक्तिका सामरस्य पा लेता है[1]। समस्त बाह्य और आभ्यन्तर शिवाभेदमय रूपसे सिद्ध हो जाता है। समस्त देशकालसे विविक्त, अवच्छेद शून्य, महासत्तात्मा·परमतत्त्व और पराहंतापरामर्शक उसका जो विज्ञान दोनों वास्तवमें एक ही अनुभूतियां हैं। साधक इसी पराहंताको प्राप्तकर परम निर्मल हो जाता है। वह स्वयं शिव बन जाता है। जिस प्रकार परमशिव ग्रामधर्मवृत्ति संवलित हैं, उसी तरह साधक भी शिवत्वको प्राप्तकर जीवन्मुक्ति प्राप्तकर ग्रामधर्मता-से सम्पन्न हो जाता है[2]।

शिव और राम

'एकाकी न रमाम्यहम्' के अनुसार शिव ही जड़ और अजडात्म विश्व वैचित्र्यरूपसे क्रीड़ा करता है। राम ही रमणकर्त्ता हैं। परमात्मा शिव ही राम हैं। राम और शिव एक ही तत्त्व हैं। जड़ चेतनरूप विश्व वैचित्र्यसे जो क्रीड़ा करता है—वही राम है। क्रीड़ा करते हुए उसीमें वह रमण करता है। अतएव वह राम है। योगी भी एकतान हो जाय, तन्निष्ठ हो जाय, तो रामस्थ हो जाता है। यह तभी होता है, जब वह 'प्राणापानरूढ़प्रज्ञ बन जाय, दोनोंसे ऊपर उठकर स्थिरबुद्धि बन जाय और प्रत्यभिज्ञादर्शनकेअनुसार ऊर्ध्व और अधः दोनों गतियोंका त्रोटनकर रामस्थ हो जाय[3]।

योगके अनुसार मध्यमें एक मध्या नाड़ी है। ऊर्ध्व और अधः गतिका त्रोटन करनेपर साधक उसीमें पहुँचता है। मध्य नाड़ीमें कमलनाल तन्तु-के सदृश एक सूक्ष्म शक्ति निवास करती है। उस शक्तिके देशको अन्त-र्व्योम कहते हैं। साधक वहां पहुँचकर मध्यदेशग हो जाता है। वहीं परम शिवका प्रकाश उसे प्राप्त होता है[4]।

---

१. तन्त्रालोक, १।८४

२. तन्त्रालोक, आ० १, ८५ १३१,पं०६-७,आ०१, पृ० १२८, पं० ११-१५।

३. तन्त्रालोक, आ०१ ८५।८६, पृ० १३०, पं०११-१२,पृ०१३१,पं०११–१२

४. मध्यनाडीं मध्यसंस्थबिससूत्राभरूपया ।
ध्यातान्तर्व्योमया देव्या तया देवः प्रकाशते ॥
तन्त्रालोक, आ०१, पृ० १३१, पं० ४–५

विश्वको गतिशीलता, स्थिति, स्वप्न, (विकल्प) जागरण (ज्ञान) उन्मेषण (ईश्वरदशा) निमेषण (सदाशिव) धावन, प्लवन, आयास (अज्ञान) शक्तिवेदन, बुद्धियां, समस्त संज्ञायें, विपुल विश्वके विपुल कर्म तथा समस्त भाव इन चौदह पदार्थोंमें विश्व समाहित है। यही रामका स्वरूप है। राम ही सकल विश्वके अवभासक, विश्व-क्रीडा संलग्न, व्यापक परमेश्वर परमात्मा है। इस राममें परम कारणरूपसे विद्यमान अशेष विश्वात्मा शिव ही प्रकाशित है। इन्हींका विस्फार यह विश्व है[१]।

भैरव

शिव ही विश्वको धारण करता है, पोषण करता है, विश्व उसीसे उत्पन्न है। विश्वसे भी वह धारित और पोषित होता है। वह विश्वमय ही है। वह भरण करनेके कारण भैरव है। शब्दन स्वभावके कारण वह रवण करता है, इसलिये भी भैरव है। वह भीरुका हितकारी है। अतएव भैरव है। संसारभयसे डरे हुए साधकोंको वह अभय प्रदान करता है—इसलिये भी भैरव है। भय ही भीः है। संसारका त्रास ही भय है। भगवद्विषयक परमार्थ परामर्श ही 'रव' है। इसलिये साधकके हृदयमें भगवान् सम्बन्धी आक्रन्द होता है, परामर्श होता है। वह संसारसे त्रस्त होकर जिसको पुकारता है—वही भैरव है। भवभयसे विवेचन और विमर्शके द्वारा जिसके हृदयमें शक्तिपात होता है—वह भैरवका ही कृपापात्र है। संसारसे विमुख-पराङ्मुख करनेमें भैरव कारण बनता है।

'भ' नक्षत्रोंके समूहका नाम भी है। उनको ईरण अर्थात प्रेरणा देनेवाला भेर कहा जायेगा। भेर ही काल है। कालका तत्त्व क्षण है। क्षण क्षणका शोषण करनेमें समर्थ, उसको अभिभूत करलेनेमें सक्षम और इस क्षणप्रवाहको पी लेनेमें समर्थ योगिवर्य व्यक्ति भैरव कहलाते हैं। भैरवोंमें प्रकट होने वाला उन्हींमें शक्तिपातकर उन्हींमें देदीप्यमान होने वाला स्वामी परमेश्वर ही वास्तवमें भैरव है[२]।

भेद भावनाको प्राप्त व्यक्ति शैवागममें पशु कहलाता है। पशुओंको ही संसारकी भीति होती है। इसी भीतिको उद्दीप्त करती हैं इन्द्रियां। इन्द्रियों की विषय-विषम भीषण गर्जनासे पशु निरन्तर संत्रस्त होता है। यह

---

१. तन्त्रालोक। आ० १। ८७-८८, पृ० १३२, पं० २-१४।
२. ,, ,, १। ९६-००, पृ० १३९-१४२।

गर्जना ही "रव" है। यही भीरव है। खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी इन चार प्रमेय प्रमातृरूपिणी शक्तियोंको भी 'भीरव' कहते हैं। इन्द्रियों और खेचरियोंके स्वामी का नाम भैरव है। वह महा भीम, अत्यन्त भीषण और महाभयंकर होता है।[1]

भैरव शब्दकी इस व्यापक अर्थवत्ता को और सारी निरुक्तिको स्वीकार कर ही प्रसादने, कामायनीमें भैरव शब्द का प्रयोग किया है। भैरव ही वाम[2] है, वही देव है, वही अविहत-गति सदाशिव[3] है। शासन, रोधन, पालन और पाचनके कारण वह सबका उपकार कर रहा है।[4]

परमशिव

भैरव आदि शब्दोंसे अभिधीयमान शिवकी परा, अपरा और परापरा तीन शक्तियां ही सृष्टि, स्थिति, लय और तुरीया इन चार अवस्थाओंमें कार्य करनेके कारण सर्वात्मक रूपसे स्फुरित होती हैं। इस प्रकार इनका १२ रूप और हो जाता है।[5] एक ही पर प्रकाशात्मक शिव अनेक रूपोंमें भासमान है। उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति उसके एकत्वको पुष्ट करतो है। वास्तवमें परमपूर्ण परमेश्वर शिव ही परमशिव है। उपासक उसीकी उपासनामें संलग्न रहते हैं। उनकी निष्ठाका एकमात्र आधार वही परमेश्वर परम शिव ही है। ६३ तत्त्वों से अतिशयित ३७वें तत्त्व के रूप में भी विचारक इसे मान्यता देते हैं।[6]

ए—ध्यान और जप

समस्त विषयोंमें और इन्द्रियार्थोंमें भी वह परम शिव अशिवके सम्पर्कमें

---

१. तन्त्रालोक, आ०१ । ९६–१००, पृ० १३९–१४२ ।
२. तन्त्रालोक, आ०१, पृ० १४६, पं० ११ ।
३. अवितगतिः स यस्माद्देवस्तस्मात् सदाशिवो गीतः ।
तन्त्रालोक १, पृ० १४६, पं० १३
४. तन्त्रालोक, आ०१ । १०४, पृ० १४७, पं० १–१३ ।
५. तस्य शक्तय एवैता तिस्रो भान्ति परादिकाः ।
सृष्टौ स्थितौ लये तुर्ये तेनैताः द्वादशोदिताः ॥
तन्त्रालोक आ०१ । १०७, पृ०१५० पं० १२–१५ ।
६. तन्त्रालोक आ०१ । १०८, पृ० १५१, पं० १४–१७ । तं०११।२२, २६

नहीं आ सकता। मन जब कल्मष रहित हो जाता है, तब परम ध्येयके ध्यानमें अवस्थित हो जाता है[1]। ध्यान वास्तवमें वही है, जहां निराकार निराश्रय निश्चल बुद्धि स्थिर भावसे आनन्दमग्न हो जाय[2]। यदि मुख हस्त आदि की कल्पना ही ध्यानमें आयी, तो वह तो स्मृति मात्र हुई— ध्यान नहीं।

आकार ग्रहण तो ईश्वरत्वके संकोचकी स्थिति है। परमशिवमें संकोच-का अभाव है। वह किसी आकृति, रूप, गुण और धर्ममें सीमित नहीं है। इसलिए उसकी मुख हाथ आदि आकृतिकी कल्पनामें रमना ध्यान नहीं कहा जा सकता। वह कारण स्वरूप शिव कार्यरूपमें ध्यातव्य नहीं हो सकता। इसलिए ध्यान करने वाला साधक कारण रूप परमात्माका ध्यान अभेदभावसे करता है। वह स्वयं परमशिवमें समाविष्ट हो जाता है[3]।

उसकी प्राप्ति ध्यानसे तो होती ही है, जपसे भी होती है। वास्तवमें जप भी एक प्रकारका ध्यान ही है। ध्यानमें एकतानता होती है। कार्य-कारणका अभेदभान होता है और तब शिवता प्राप्त हो जाती है। जपमेंभी भूयोभूयः परामृश्यमान आत्मरूप परावाक्में एकतानता होती है। शिवका 'स्व' भाव परावाक् रूप तो है ही। इसलिए जपमें भी भाव और अभाव दोनोंकी अभेदानुभूतिका विन्दु प्रधान हो जाता है और भेद समाप्त हो जाता है। परभावमें बारम्बार भावनाका भावित होना ही जप है[4]।

---

१. कल्मष-क्षीणमनसा स्मृतिमात्रनिरोधनात्।
ध्यायते परमं ध्येयं गमागमपदे स्थितम्॥
तन्त्रालोक आ०१। ८९। पृ०१३३, पं०१३–१६

२. ध्यानं या निश्चला बुद्धिःनिराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरस्य मुखहस्तादिकल्पना॥
तन्त्रालोक आ०१, पृ० १३४ पं० १२–१३।

३. परं शिवं तु व्रजति भैरवाख्यं जपादिति।
तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः॥
तन्त्रालोक आ०१। ९०, पृ० १३४–१३५।

४. तन्त्रालोक आ०१ पृ० १३५, पं० १२–१३।

इस प्रकार ध्यान और जपकी एक रूपता सिद्ध हो जाती है। यद्यपि ध्यान साकार व्यतिरिक्त ध्येयका होता है और जप वाच्य वाचकभावसे वाक्शक्तिनिष्ठ ध्येयका होता है, फिर भी दोनोंमें पराहंता परामर्श ही मुख्य है। दोनों उपायमात्र हैं। स्वतन्त्रपरामर्शात्मा परमेश्वर ही दोनोंका उद्देश्य है।

उपाय दो प्रकारके होते हैं। एक 'आसन्न' और दूसरा 'दूर'। परमेश्वर चिन्मय है, स्वतन्त्र है। उसकी प्राप्तिका वह उपाय जो उसकी चिन्मयता और स्वतन्त्रताका भान करा दे—आसन्न उपाय है। इसी उपायसे परमेश्वरका भान होता है। ध्यान और जप दोनों परमशिवकी प्राप्तिके आसन्न उपाय हैं[१]।

ऐ—याग और विधि

आराध्यके उद्देश्यसे द्रव्यका त्याग 'याग' है। आराध्यके लिये द्रव्य त्याग (समर्पण) का भाव प्रधान होता है। आत्मतत्त्व को देवताके रूपमें कभी स्वीकार नहीं किया गया है। फिर उसके सम्बन्धमें योगका प्रश्न कैसे उठ सकता है? बोध स्वभाव स्वात्मतत्त्व विधिका विषय नहीं बन सकता[२]। वह विधि द्वारा प्राप्तव्य प्रेयकी सीमाके बहुत बाहर है। आदि-सिद्ध पदार्थका संस्फुरण तो सतत रूपसे हो रहा है। वस्तुतः स्वात्ममें सर्वका विलय ही याग है।

अप्रवृत्तकी प्रवर्त्तिका विधि होती है। अज्ञातकी ज्ञापक नहीं होती[३]। वैदिक दृष्टिसे-स्वर्ग और यागमें साध्य-साधन-भाव सम्बन्ध है। प्रवृत्त पुरुषको यह ज्ञान होता है कि, मैं इस कार्यमें प्रवृत्त हुआ। प्राभाकर इसे नियोग कहते हैं। भाट्ट इसे भावना कहते हैं।

ओ—भावना, सृष्टि रहस्य, विकल्प और संशय

भावनिष्ठ भावकव्यापारको भावना कहते हैं। स्वर्ग आदि फल भाव्य हैं। उस स्वर्ग आदि फलमें निष्ठ और उसका उत्पादक पुरुष व्यापार ही

---

१. तन्त्रालोक आ० १। ९३, पृ० १३८,।
२. तन्त्रालोक आ० १। १२५-१२३, पृ० १६१।
३ तन्त्रालोक आ०१। पृ० १६६-१६७।

भावना है । भावना दो प्रकारकी होती है । शाब्दी भावना और २-आर्थी भावना । आर्थी भावनामें तीन अंश प्रधान होते हैं-क्या, क्यों और कैसे । क्या का उत्तर 'अहम्' विमर्श है । क्योंका उत्तर स्वातन्त्र्य शक्ति है । कैसेका उत्तर अहं बोध है । अहंबोधमें प्रयुक्त अहंका अर्थ[1] केवल आत्मबोध ही है । 'कृशोऽहम्' मैं कृश हूँ, इस प्रकारका प्रयोग तो विकल्पका सूचक है । वहां भावनाका आभास भी नहीं है ।

सृष्टि रहस्य

विन्दु परम प्रकाश रूप होता है । विन्दुसे विसर्ग होता है । विसर्ग का 'स्' होता है । 'स्' सृष्टिका सीत्कार है । विसर्गसे ही सृष्टि होती है । विश्व मलके आवरणसे आवृत है । परप्रकाश्य भावराशिरूपता ही जड़ता है । इस जड़तासे चेतना आवृत हो जाती है । वस्तुतः जड़ता और चेतना-का अन्तर रहस्यमय है । यही विश्व है । विश्वनिर्माणका अभिलाषी परमेश्वर पहले 'स्व' से अव्यतिरिक्त विश्वका ही प्रकाश करता है[2] ।

आगमोंके अनुसार विश्व आदि सर्ग है । मायाके द्वारा सृष्टिकी आकांक्षा होती है । स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा स्वात्मदर्पणमें अनन्त ग्राह्य ग्राहक का द्वैत आभास होने लगता है । स्वमें अहंभावके बीज रूपसे विद्यमान रहनेके कारण भावना बलात् 'अहं अस्मि' कर्त्ताका भाव भी आ जाता है । चिद्रूपता का अतिक्रमण हो जानेके कारण ग्राह्यतासे संम्पन्न होकर वह ग्राहक बन जाता है । फिर अपनेको देह मानने लगता है । यहीं देहात्मवादकी भ्रान्ति होती हैं । यह कर्तृता और ज्ञातृता उसी परमेशकी सर्जनेच्छा-पर निर्भर करती हैं । सर्ग अद्भुत रूपसे जड और अजडकी द्वैततासे चित्रविचित्रवर्णमय प्रतिभासित होने लगता है । जड़ताका यह आवरण ही आवृत्ति है । आवृत्ति ही आणव मल है । इसके क्षय होनेपर ही, जो शक्ति-पात होने पर ही सम्भव है-तारतम्यसे आत्मस्वरूपकी उपलब्धि हो जाती है । इसमें संविद्[3] ही प्रधान कारण बनती है । आवरणके ह्रासमें मन्द और तीक्ष्णका तारतम्य रहता है । आत्मस्वरूपकी उपलब्धिमें

---

१. अहं तु सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च । गीता, अ० ९।२४ ।

२. तन्त्रालोक आ०३, पृ० २-३ ।

३. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा प्रक्रिया विमर्श, पृ० २९ । २३५ ।

ये आधार बनते हैं। यहां भोगकी भूमिपर मोक्षकी प्रतिष्ठा हो जाती है। व्यक्ति जिस भूमिपर गिरता है, उसीसे उठता है। उठनेपर भोगकी भूमिपर साधक साधना पथमें प्रवृत्त होता है। साधनाके अभावमें व्यक्तिकी विकल्पावस्था रहती है। विकल्पसे निर्विकल्पका ज्ञान संभव है।[1]

विकल्प

मन संकल्प विकल्पात्मक होता है। संकल्पके साथही विकल्प लगा रहता है। एक ऐसी भी अवस्था होती है, अब विकल्प निष्प्रतियोगी बन जाता है। विकल्पकी सीमाके दो प्रधान विन्दु हैं। १–भोग और २–मोक्ष। या तो भावना योग प्रधान होगी या मोक्ष प्रधान। पारमेश्वर महाभावमें प्रवेशके लिये विकल्पका संस्कार आवश्यक है।[2]

विकल्पके संस्कृत होनेके दो पक्ष हैं। १–स्वात्म स्वातन्त्र्य संस्कार २--उपायान्तर सापेक्ष संस्कार। प्रथम पक्षमें उपायान्तरकी निरपेक्षता होती है। दूसरे पक्षमें उपायान्तरकी अपेक्षा की जाती है। विकल्प भेदमय होता है। चित् एकरूप होती है। अन्यका ऊहापोह भेदयुक्त ही होता है। इस भेदमयता का निराकरण अत्यन्त आवश्यक है। विना संस्कार-शुद्धिके इसका निराकरण असम्भव है। जबतक पारमार्थिक स्वात्म प्रत्यय नहीं होता, तबतक संस्कार की शुद्धि नहीं मानी जा सकती।[3] संस्कार शुद्धिके अनन्त उपाय हैं। कुछ उपाय संवित् के अत्यन्त समीप हैं और संनि-कृष्टभावसे विद्यमान हैं और कुछ विप्रकृष्ट हैं। जैसे प्राणमें संवित् पहले परिणत हुई थी। फलत. बुद्धिको अपेक्षा प्राण अन्तरङ्ग और संनिकृष्ट उपाय है। प्राणकी अपेक्षा बुद्धि, बुद्धिकी अपेक्षा ध्यान विप्रकृष्ट उपाय है। इससे भी विप्रकृष्ट उपाय देहगत इन्द्रियाँ हैं। ये सभी उपाय भेदमयताके प्रतीक हैं। शाक्त उपायमें यह सम्भव नहीं। इसीलिये इन्हें अणुसे सम्भव होनेके कारण आणव उपाय कहा जाता है। अणु चूँकि लघु होता है और लघुता ही अणुता है। इसलिये इसे आणव उपायकी संज्ञा दी गयी है। ये सभी प्राण, बुद्धि और इन्द्रियां यद्यपि अपारमार्थिक हैं, पर इनमें परमार्थ

---

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा प्रक्रिया विमर्श, पृ० २८। २.२।

२. तन्त्रालोक आ०४। २।

३. तन्त्रालोक आ० ४, श्लोक ६, पृ० ६, पं० ८-७।

ही प्रकाशित होता रहता है। वास्तवमें चित्से व्यतिरिक्त प्राणादि कुछ भी नहीं हैं। इनका पारमार्थिक स्वरूप अक्षुण्ण है।[१] भेदमयताकी अवस्था में अपरमार्थत्व भासित होता रहता है। वस्तुतः प्राणकी स्थिति जड़-चिद्रूप है। दो गुणोंका योग उसमें है। चिद्रूपता भी और जाड्य भी। गुणद्वयताकी इस स्थितिमें ही संशय की उत्पत्ति हो जाती है। परमेश्वर ही मायीय संसर्ग की अभिलाषा करता हुआ स्वातन्त्र्यवशात् बाह्य अवभासित भावसे किन्हीं जड़ प्राण आदि पदार्थोंको भी अपने अहन्ताभाव और कर्तृत्वभावसे अभिषिक्त करता हुआ ग्राहकत्त्व प्रदान कर देता है। किन्हीं शब्द आदि पदार्थोंको इदन्ताका पात्र बनाकर ग्राह्य भावसे अभिषिक्त कर देता है। यही कारण है कि प्राणमें जड़ता रूपसे मायात्मकताके विद्यमान रहनेपर भी चिद्भावकी महनीयता, गुणवत्ता और प्रकाशात्मकता विद्यमान है[२]।

प्रतिबिम्बका अस्तित्त्व दर्पणके अतिरिक्त या पारदर्शी पदार्थोंके अतिरिक्त या प्रकाशके आधारके अतिरिक्त है ही कहां ? इसी प्रकार संविद्के अतिरिक्त किसी प्रमाता प्रमेयका अस्तित्व नहीं। प्राण और बुद्धिके अतिरिक्त अपना विशुद्ध अस्तित्व चैतन्यात्मक ही है। 'नाहं प्राणो नैव शरीरं न मनोऽहम्' यह चैतन्यात्मक अनुभूति है। चैतन्य प्रतिनियत है। यह बुद्धिमें, प्राणमें अनुस्यूत है। यह एक दम अलग नहीं माना जा सकता। बुद्धिमें और प्राणमें चेतना की प्रतिष्ठा है। एक ही चैतन्य विश्वव्याप्त बुद्धि तत्त्वके रूपमें अनन्त रूप धारणकर विराजमान है। वही अन्तः स्थित भाव सर्वत्र भासित होता है[३]।

बुद्धि कभीकी अविभेदसे भासित नहीं हो सकती। अविभेदसे भासित होना चैतन्यका ही लक्षण है। संकुचित प्रमाताका व्यापार ही विकल्प है।

---

१. अजडप्रमातृ सिद्धि२०।

२. बुद्धौ प्राणे तथा देहे देशे या जडता स्थिता।
तां तिरोधाय मेधावी संविद्रश्मिमयो भवेत्॥
तन्त्रालोक आ० ५। १०

३. वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्त:स्थितवतामेव घटते बहिरात्मना॥
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी आ०५, कारिका १।

वह अंशांशिक होनेके नाते विभेदमय ही भासित होता है। दृष्ट विषयमें अदृष्टवत् कल्पनाके लिये स्थान होता है। विकल्प ही इसमें कारण बनता है। अतः बुद्धि, प्राण और शरीर आदिमें पारमेश्वर्यका विकल्प भी सदा सम्भव है।

त्रिशिरा सिद्धान्तमें यह स्पष्ट प्रतिपादित है कि, प्रकाश यद्यपि समग्र देह को व्याप्त कर स्थित है। फिरभी इसका प्रधान स्थान हृदय कमल है। कदलीको प्रमाणरूपमें माना जा सकता है[1]। संवित्तिसे आवृत इस भैरवी-चक्रमें यह समग्र विश्व ध्यान क्रमसे लीन हो जाता है। संस्कार-से विश्वका परिक्षय होता है। स्वात्मसंवित्तिका उच्छलित प्रवाह साधकको उस समय अभिषिक्त कर देता है। फिरतो पराशान्तिकी उपलब्धि हो जाती है। ध्यान ही योग हो जाता है और सारा विश्व ही भैरवी-चक्रमें विलीन हो जाता है। यह विश्व जिस चक्रमें विलीन होता है, वह पंच, षट्, ५०,५४, शत या सहस्र अरों वाला है अथवा उसके असंख्य अरे हैं। वह अनन्यभावसे ध्यान करने योग्य है। उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध है कि, पारमेश्वर महास्वभावमें प्रवेशके प्रथम ही विकल्पका संस्कार आव-है। जिसका संस्कार क्षीण रहता है, उसके उभयकोटि संशयसे ग्रस्त हो जाते हैं। उसके अधः पतित होनेकी संभावना होती है।

संशय

शास्त्रकी आवश्यकताके मूलमें जो समस्या निहित होती है, उसे संशय कहते हैं। वस्तुका वह स्वरूप जो अनुद्घाटित होता है[2]—प्रमाताके संशयका कारण होता है। ऊपरसे नारद धराधामकी ओर पधार रहे थे। द्वारिका वासियों ने सर्वप्रथम उन्हें तेजोमण्डलमय देखा। पुनः अङ्गोंके अलग रूप स्फुट हुए। पता चला कि, यह कोई शरीरी हैं। संशय बना रहा कि, यह कौन है[3] ? इस प्रकार उभय कोटिक जिज्ञासावृत्तिमें तत्त्व-का निश्चय नहीं होता। पुनर्जन्म आदिमें भी यह संशय बैठा ही हुआ है[4]। सामान्य और विशेष धर्मोंके अभ्युदयमें संशय उत्पन्न होता है[5]।

---

१. तन्त्रालोक, आ० ५। २०–२१।

२. तन्त्रालोक, आ० १, पृ० २५९, श्लोक २४६।

३. शिशुपाल वध, प्रथम सर्ग। ४. नेषधीय चरितम्, सर्ग १०। ४६।

५. तन्त्रालोक, आ०१, पृ० २६१।

यह क्या है—इस प्रकारका परामर्श ही संशय है। संशयसे अस्ति नास्तिका व्यामोह भी उत्पन्न होता है, जहां अस्तित्वके प्रति ही शंका हो, वहां अन्य धर्मोंकी चर्चा ही क्या ? न तो आकार ही स्पष्ट है, न तो नियत धर्मिता ही सुस्पष्ट है। फिर संशय होकर ही रहेगा। यह दो प्रकारका होता है। १—मुख्य और २—अमुख्य। अनुन्मुद्रित (बन्द) वस्तुमें मुख्य संशय होता है। यह स्थाणु है या पुरुष इसमें अमुख्य संशय है। प्रश्नमें जहां किमंश है-क्या, कौन और क्यों लगा हुआ है—वहां तक वस्तुका स्वरूप उद्घाटित नहीं रहता। आकांक्षा बराबर बनी रहती है। विशेषका उद्घाटन होना चाहिये—ऐसी जिज्ञासा बनी रहती है। किन्तु जहां विकल्प होता है, वहां नियतविशिष्टधर्मका उद्घाटन ही आकांक्षाका विषय होता है। जब यह निश्चय हो जाता है कि, अरे यह तो अमुक पदार्थ हैं, तब संशय समाप्त हो जाता है और वस्तुका उद्घाटन हो जाता है।

शास्त्र निर्णयरूप होते हैं। निर्णय उसी स्थानपर परिचालित होता है, जहां संशय रहता है। किसी संशयालु व्यक्तिके, संदिग्ध वस्तुकी वास्तविकताका पता लगानेमें प्रवृत्त होनेके उपरान्त ही वस्तुकी वास्तविकताका पता चलता है।

उसका पता लगाना ही प्रश्न है। प्रश्नकी यह प्रवृत्ति शाश्वत है। इस प्रवृत्तिने ही समस्त शास्त्रों, उपनिषदों और पुराणोंको जन्म दिया है। वास्तवमें निर्णयमें प्रवृत्त शास्त्रकी तीन स्थितियां होती हैं। १—उद्देश, २—लक्षण और ३—परीक्षा।

नामतः पदार्थका निर्देश करना उद्देश कहलाता है[1]। अनुदिष्ट पदार्थका न तो लक्षण निर्धारित हो सकता है। न उसकी परीक्षाकी जा सकती है। इसीलिये अनुद्घाटित वस्तु मात्रका पहले पहल जो प्रश्न या संशय है—वही उद्देश है[2]।

---

१. नियतोभयांशावलम्बी विमर्शः संशयः। तन्त्रालोक आ० १। २४।।

२. नामधेये पदार्थाभिधानमात्रमुद्देशः। तन्त्रालोक, १।२५१।

तेनानुद्घाटितात्मत्व भावप्रथनमेव यत्।

प्रथमं स इहोद्देशः प्रश्नः संशय एव च ।। तन्त्रालोक आ०१।२५२

यहां यह ध्यान देनेकी बात है कि वस्तु स्वभावतः पूर्ण है। इसकी संवित्ति एक रूप और एक आकारसे सम्बद्ध होती है। जैसे पश्यन्तीका अवरोह बैखरीमें होता है, उसी प्रकार एक ही संवित् जो कभी गुरु भाव-में विराजमान थी —शिष्यमें भी प्रस्फुरित होती है। इसीलिये परमार्थ रूपमें संवित्के एक होनेके कारण गुरु और शिष्यकी एकता भी प्रतिपादित होती है। कहीं व्याख्यात्री संविद् है और कहीं प्रष्ट्री[1]। गुरु शिष्यका भेद भी इस दृष्टिसे अतात्त्विक हो है। सदाशिव ही गुरु और शिष्य दोनों पदोंपर समान रूपसे विराजमान है[2]। शिवसंविद् ही कहीं जिज्ञासु और कहीं जिज्ञासाका समाधान करने वाली देवीके रूपमें विराजमान है।

उद्देश, लक्षण और परीक्षाका यह क्रम सर्वत्र चलता है। दृष्ट, उप-मान, अनुमान और आप्त प्रमाणोमें भी उद्देश, लक्षण और परीक्षा इन तीनोंका स्फुरण होता है। जैसे 'अयं पर्वतः' (यह पर्वत है) यह कथन उद्देश हुआ। धूमत्वात् अग्निमान् (चूंकि इसमें धुआं उठ रहा है। इसलिये यह अग्नि संवलित है) यह कथन ही लक्षण है। यदि अन्वय और व्यति-रेकके द्वारा इस लक्षणकी व्याप्ति और अव्याप्तिका अनुसंधान करते हैं, तो वह परीक्षा होती है[3]।

विश्वके इस विचित्र प्रपंचका विचार भी इन्हीं मार्गोंसे सुचारु रूपसे हो सकता है। उद्देश, लक्षण और परीक्षाके माध्यमसे संशयका विनाश किया जा सकता है। संशयके विनाशके उपरान्त ही आत्माके अखण्ड-स्वरूपका बोध संभव है। आत्माके अंकमें अनन्त शक्तियां विहार करती रहती हैं। आत्मा स्वयं प्रकाशरूप है। उसकी पराशक्ति संविद् रूप होती है। संवित् भी अखण्ड होती है। आत्मा भी अखण्ड होता है और प्रकाश भी अखण्ड होता है। संविद् आच्छादित और अनाच्छादित दो रूपोंमें

---

१. तथानुद्घाटिताऽऽकाराभावप्रसरवर्त्मना ।
प्रसरन्ती स्वसंवित्तिः प्रष्ट्री शिष्यात्मतां गता ॥
तन्त्रालोक आ० १। २५३, पृ० २६६ ।

२. गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
पूर्वोत्तर पदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ॥ तन्त्रालोक आ०। २५६ ।

३. तन्त्रालोक आ०१। २६३–२६६ ।

विभक्त है। अनाच्छादित संविद्का प्रकाश ही आत्मा है। आच्छादित संवित् पशुभावमें, जीवभावमें जाग्रत रहती है। ग्राह्य ग्राहकभावकी उत्पत्ति होती है। शिव ही पशुभाव गृहीत कर लेता है। द्वन्द्वका प्रसार होता है। विकल्प और संशय को आश्रय मिलता है।

'स्व' स्वरूपका ज्ञान ही मोक्ष है। इस स्तर पर द्वन्द्व, विकल्प एवं संशय सभी समाप्त हो जाते हैं। जीव शिवरूपमें परिणत हो जाता है। मैं ज्ञाता हूँ, मैं कर्त्ता हूँ—यह भाव–उसी अखण्ड प्रकाशकी रश्मियोंका स्पन्दन है। इस स्पन्दन को महान् स्पन्दनमें मिला देनेमें ही समस्त शास्त्रोंकी परीक्षा पूरी हो जाती है।[1]

भावकी स्वरूप स्थिति मातृमयी होती है। उसे शक्ति भी कहते हें।[2] जितने मिथ्याज्ञान हैं, ये तिमिर हैं। इनके प्रभावसे प्रकाशात्मा शिवभी 'अणु' हो जाते हैं। शिवका यह महान् अवस्थान सर्ग भी मालिन्यका घर प्रतीत होता है। शास्त्र और गुरु मालिन्य दूर करने में सर्वदा संलग्न रहते हैं। शास्त्रीय बातोंके चिन्तनसे नये भाव उदित होते हैं–वह और यह संसार! इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? संसारका यह स्वरूप शिवका उल्लास है। इसके बन्धनकी बात भी खेल ही है। यह शिव द्वारा स्वेच्छा से स्वीकृत है। उसकी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। शिव तो नित्य मुक्त हैं!

छायामें पिशाचका और रस्सीमें सर्पका अनुभव भ्रम मात्र है। भ्रमको पालना और छोड़ना व्यर्थ है। यहां न कुछ छोड़ना है और न कुछ ग्रहण करना है। बस स्वस्थ रहते हुए यथावस्थित अवस्थामें, आत्मामें आत्मानन्दकी अनुभूतिके साथ रमना ही सबसे बड़ा प्राप्तव्य और साध्य

---

१. आत्मा संवित् प्रकाशस्थितिरनवयवा, संविदित्यात्त शक्ति-
व्रातं तस्य स्वरूपं स च निज-महसश्छादनाद्बद्धरूपः।
आत्मज्योतिः स्वभावप्रकटनविधिना, तस्य मोक्षः स चायं,
चित्राकारस्य चित्रः प्रकटित इह यत्संग्रहेणार्थ एषः।
तन्त्रालोक, आ० १।३३०।

२. शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम्।

है।[1] इतना ज्ञान हो जानेपर परममाहेश्वरत्व हस्तामलकवत् रह जाता है। यह भाव समूह भी कितने विचित्र हैं। हठात् व्यक्तिके हृदयों को आक्रान्त करने वाले ये नील पीतादि विषय क्या जड़ हैं? इनकी विविध भङ्िगयां, इनका उल्लास क्या जड़ता का द्योतक है? विश्व हृदयका आच्छादनकर क्रीडा करनेवाले ये स्वरूपापहारी अर्थ समूह, कितने अद्भुत हैं। इन्हें जड़ मानने वाला, मोह मानने वाला स्वयं जड़ हो सकता है। ये अद्भुत भावतो चेतनाके ही प्रतीक हैं। जो इनके इस रूपसे परिचित नहीं है-वे जड़ोंसे भी बढकर जड़ हैं। स्वयं जड़हो भावव्रात [भाव-समूह] को जड़ कह सकता है। अपने साम्यसे वह चेतनको जड़ भले ही कह ले किन्तु यह उस व्यक्तिकी व्याजनिन्दा ही कही जायेगी।[2]

अतः शास्त्रोपदेशका अधिकार परावरज्ञ (पराहं परामर्शात्मक मन्त्र-वीर्यज्ञ) शिवसद्भावमय, पर प्रमातृ-एकात्मज्ञानशाली, तात्त्विकार्थोपदेष्टा विज्ञविद्वान्‌को ही है। जड़को नहीं। आदि-अन्तके रहस्य का ज्ञाता ही गुरु हो सकता है।[3] विकल्प और संशयसे ग्रस्त व्यक्ति ही अज्ञ है। जो इसके रहस्यका ज्ञाता हो जाता है, वही विज्ञ होता है और उपायोंके द्वारा अपना उद्धार कर लेता है। अज्ञ और विज्ञ दोनों परमात्माके ही दो रूप हैं।[4]

---

१. संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्त्तैव का ?
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया।
मिथ्या मोहकृदेष रज्जुभुजगच्छाया पिशाचभ्रमो,
मा किंचित्त्यज, मा गृहाण, विरमस्वस्थो यथावस्थितः।
तन्त्रालोक, आ० १।३३१।

२. भावव्रात ! हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्,
भङ्गीभिर्विविधाभि रात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे।
यस्त्वामाह जडं जडः सहृदयंमन्यत्वदुःशिक्षितो,
मन्ये ऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं त्वत्साम्यसंभावनात्॥
तन्त्रालोक, आ० १।३३२।

३. तन्त्रालोक, आ० १।३३२।

४. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा—प्रक्रियाविमर्श, पृ० २।९।

अज्ञ और विज्ञ

जो व्यक्ति सृष्टि-तत्त्वका विज्ञाता नहीं है, वह स्वयं मुक्त नहीं हो सकता और किसी को मुक्त भी नहीं कर सकता। विश्वकी वास्तविकता का विवेक जिस व्यक्तिके पास है, वह विज्ञ है और इसके विपरीत जो सांसारिक सिद्धियोंके चक्करमें पड़कर उद्देश्यसे गिर जाता है, वह निश्चित ही अज्ञ है। सर्ग क्रमका सैद्धान्तिक स्वरूप इदमंश और अहमंश के स्फुरणमें व्यक्त होता है, जिसे विज्ञ ही समझ सकता है।

चिन्मात्र-स्वभाव परमशिव ही 'अहम्' परामर्शके स्वतन्त्र-उल्लास की आकांक्षासे शक्ति-सम्पन्न अवस्थामें प्रस्फुरित होता है। तदनन्तर यही परामर्श दो शाखाओं में विभक्त हो जाता है। पहली शाखा है—'अहम्' और दूसरी शाखा है 'इदम्' अहमंशके चिन्मात्राधिकरणमें ही इदमंशका उल्लास होता है। यह प्रस्फुरण अभी उसी प्रकारका होता है जैसे किसी चित्रकारके मष्तिष्कमें किसी भावी चित्रकी पूर्वकल्पना अपनी भावावस्था-में स्फुटरूपसे स्वतः व्यक्त होती है किन्तु वह अहमंश और इदमंशको सन्धि चितिकी ही एक स्थिति है।[1] इस प्रकारकी प्रतिपत्ति प्रदान करने वाली वृत्तिका नाम 'प्रख्या' और परप्रतिबोधन प्रदान करने वाली वृत्तिको 'उपाख्या' कहते हैं। प्रख्या और उपाख्या दोनों वृत्तियोंसे स्वयं प्रतिबुद्ध और दूसरोंका प्रतिबोधक व्यक्ति ही 'विज्ञ' होता है। इसके अतिरिक्त और विपरीत सांसारिकतामें ग्रस्त जीव 'अज्ञ' कहलाता है। यह जीवन यात्रा है। इस अनन्त पथके सभी पथिक हैं। इस पंथको अज्ञता और विज्ञताके इसी संदर्भमें देखनेकी आवश्यकता है।

अं—अध्वा

अध्वाका शाब्दिक अर्थ है मार्ग। मार्ग ही उपाय होता है। आणव, शाक्त और शाम्भव यह तीन उपाय हैं। यही तीन समा-वेश भी होते हैं। अभेदोपाय शाम्भव, भेदाभेदोपाय शाक्त तथा भेदोपाय आणव उपाय हैं[2]। अध्वाके कईभेद होते हैं। १–शुद्ध और अशुद्ध दृष्टिसे,

---

१. योगवाशिष्ठः–निर्वाण प्रकरण, उ० ७०।

२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ० १०। ७२–७४।

२—क्रिया और मूर्ति भेदसे[1]। तीसरा प्राणना-व्यापारकी दृष्टिसे[2]। शुद्ध अध्वामें शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या ये पांच तत्त्व आते हैं। अशुद्ध अध्वामें प्रत्यभिज्ञा दर्शनके मायासे लेकर धरापर्यन्त ३१ तत्त्व आते हैं। क्रियाके आभासमें 'काल' अध्वा होता है और मूर्तिके अवभासनमें 'देश'। कालाध्वाके अन्तर्गत वर्ण, मन्त्र और पद अध्वा आते हैं। 'देश' अध्वामें कला, तत्त्व और पुर नामक तीन विभाग हैं। ये दो अध्वाके त्रिक हैं। ये दोनों त्रिक सूक्ष्म और स्थूल भेदसे ६ प्रकारके होते हैं। कालाध्वाका निवास प्राणके अन्तर्गत होता है। प्राणके व्यापारको 'उच्चार' कहते हैं। उच्चार देहादि अचेतन पदार्थोंमें भी चैतन्यका प्रतिभासक होता है। चैतन्यकी सामान्य स्थिति स्पन्दनात्मक होती है। वह विमर्श रूपिणी होती है। उसे प्राणना व्यापार भी कहते हैं। इसकी सूक्ष्मावस्थामें सामान्यतया स्पन्दनात्मक स्थिति होती है और विशेष स्थितिमें यह स्थूल बनकर ५ प्रकारका (प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान) हो जाता है। प्रधान और अप्रधानभेदसे भी चित्‌के उच्चारके भेद हैं। प्राधान्यावस्थामें 'चिद्' विमर्श रूप होता है। जिस समय साधकके मनमें यह स्फुरण हो कि, 'शिव स्वात्ममात्र परामर्शक है', 'अनुत्तर विमर्श ही चित्‌का वास्तविक स्वरूप है', 'मैं उसी अवस्थामें हूँ', यह निश्चय है कि, वहां चिदात्मकता होती है[3]।

जब अहं परामर्श में संकोच हो जाता है और मलों से सम्पर्क हो जाता है, तब अप्रधान 'चिदुच्चार' की अवस्था आ जाती है। ११ इन्द्रियां और बुद्धि ये १२ भेद अप्रधानचिदुच्चारके होते हैं। अहंकार इन बारहोंमें नहीं गिना जाता। वह करणात्मक होता है। ग्राह्य, ग्राहक, चिद्, व्याप्ति, त्याग, आक्षेप और निवेदन भेदसे ७ प्रकारका होता है। करण 'मुद्' को देहमें अर्पित करता है। 'मुदं राति अर्पयति या देहे, सा'मुद्रा' के अनुसार मुद्रासे शरीर दीप्तिमन्त बनता है। आणव समावेशमें आने वाले उच्चार करण, ध्यान, वर्ण और स्थानके पांचों भेदोंके अनुसार ध्यानसे स्वराट्‌का

---

१. ,, पृ० ४४। ३७०।
२, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी २।१।५।
३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ० ११, ७९, ८१-८४।

भावन होता है। वर्णसे अव्यक्त की अनुकृति होती है। स्थान, देह, प्राण और इन दोनोंसे बाह्य तीन प्रकारका होता है। क्रिया और मूर्तिके अन्तर्गत आने वाले कालाध्वा और देशाध्वा का ही यह विस्तार है।[१]

शिवसे लेकर सद्‌विद्यापर्यन्त 'शुद्धअध्वा' होता है।[२] इसमें शिव, शक्ति सदाशिव, ईश्वर और सद्‌विद्या ये पांच प्रविभाग होते हैं। इसी क्रमसे शाम्भव, शाक्त, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर और मन्त्र ये पांच विभाग भी किये जाते हैं। चित्, आनन्द, एषणा, ज्ञान और क्रिया, शक्तियों पर ये पांचों निर्भर हैं। ब्रह्मा, विष्णु, हर, ईशान, सुशिव और अनाश्रित ये सदाशिव तत्त्वके बहिर्भावपरत्व के पारमेश्वर रूपमात्र हैं। ये तत्त्व नहीं है। शिव विभु हैं। स्वप्रकाशविमर्शैक परमार्थरूप हैं। वे अन्तरात्मतया और बहिरात्मया दोनों प्रकारसे भासित होते हैं। वे चिद्रूप हैं। कर्त्ता और चेतन हैं। वे अनाश्रित प्रमाता हैं। कला और विद्या सदाशिव रूप हैं। ईश्वर काल निर्णेता हैं। सद्‌विद्यासे राग कंचुक निष्पन्न होता है। अनाश्रित शून्य और अनाश्रय होता है। सदाशिव बुद्धि और ज्ञानके अधिष्ठाता हैं। ईश्वर प्राणत्व और विश्वात्मत्वके प्रतिनिधि है। सद्‌विद्यासे देहैकतानता भी उत्पन्न होती है।

सदाशिवही मायामें आविष्ट होकर कला, काल, नियति, विद्या, रागरूप कंचुकोंको उत्पन्न करते हैं। मायाको लेकर यही षट्कंचुक हैं। कंचुकोंसे ही अशुद्ध अध्वाका आरम्भ होता है। यही पाश कहलाते हैं।

प्रकाशमात्र स्वातन्त्र्य सम्पन्न परमाद्वैत संविद्रूप शिवके अतिरिक्त सभी पदार्थ पाश है।[३] नियतिमें दश शंकर निवास करते हैं।[४] ८ गणेश पाश और ८ ही विद्येश्वर पाश हैं। दीक्षाके समय इनका विशोधन होता है। इसी प्रकार आगन्तुक पाश २७ माने जाते हैं। ये काम, क्रोध, लोभ-

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी २।१।५।, पूर्णताप्रत्यभिज्ञा ७१-१०७।

२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ० ३४। २७९-२८४।

३. तन्त्रालोक, आ० ८। २९२।

४. स्वच्छन्द तन्त्र १०। ११०४।

मोह, पैशुन्य, जन्म, मृत्यु; जरा, व्याधि, क्षुधा, तृष्णा, विषाद, भय, मद, हर्ष, राग, द्वेष, वैचित्र्य, कुपिता, अनृत, द्रोह, माया; मात्सर्य धर्म, अधर्म और अस्वातंत्र्य हैं।[1]

सांख्यके मतसे पुरुष और अप्रधानके पङ्ग्वन्ध संयोगसे सृष्टि मानी जाती है।[2] मायाके बाद ३१ तत्त्व यद्यपि प्रत्यभिज्ञाकी गणनामें हैं फिर भी वे बन्धक होनेके कारण अतत्त्व सदृश हैं। उनमें तत्त्वकी भावना करना सांसारिक तुष्टि है। उन्हें शिवसे अनतिरिक्त मानना आध्यात्मिक तुष्टि है। सांसारिक तुष्टिमें सिद्धियां महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।[3] इनमें हेय और उपादेय भावसे तर्क और ऊहा के आधारपर अनुरक्त नहीं होना चाहिए।

आणवपाशसे आत्माकी चित्शक्ति, जो नित्य और व्यापक है—का अवरोध हो जाता है। यदि यह न होता, तो संसारावस्थामें भोग-निष्पत्ति के लिये कला आदि कंचुकोंके द्वारा अपनी सामर्थ्य की उत्तेजना की आवश्यकता ही न पड़ती। मोक्षके लिये भी परमात्माकी कृपाकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

अ:—अनुग्रह और उपाय

आत्मा आणव, कार्म और मायीय तीन मलोंसे आवृत है। मलका प्रभाव जितना प्रबल होगा, कसाव जितना क्रूर होगा-अनुग्रहकी उतनी ही आवश्यकता होगी। आत्मा अपनी शक्तिसे ही छलित है। यह अपनेको पंचकृत्य कारी मानने लगता है। छलित होनेका कारण कोई दूसरी शक्ति नहीं, उसकी इच्छा शक्ति ही है। यह इच्छा शक्ति दो रूपोंमें जीवनमें प्रादुर्भूत होती है। १—श्रद्धाके रूपमें और २—इड़ाके रूपमें। श्रद्धा स्वतः शक्तिपात है। इससे चेतनाकी तुष्टि होती है[4] और इड़ा पशुके अभिमान बलको जागृत करती है। वास्तवमें पशुके अभिमानको दूर करनेके लिये परमात्माके अनुग्रहकी आवश्यकता होती है। परमेश्वर शिव स्वयं पंच-

---

१. तन्त्रालोक, आ० ८। २. सांख्यकारिका २९।

३. अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

४. कामायनी, संघर्ष, पृ० १९१।

कृत्यकारी हैं। वे सर्वशक्तिमान् हैं। उनका अनन्त विस्तार है। सारा विश्व ही उसकी शक्तिका विस्फार है। जड़ चेतनात्मक जगत्का विपुल वैचित्र्य उसकी विराट् सत्ताका परिचायक है। उसके अनन्त स्वरूप हैं। अनन्त अवस्थायें हैं। उन अवस्थाओंको १—सृष्टि, २—स्थिति, ३—तिरोधान, ४—संहार और ५—अनुग्रहके[1] रूपसे समझते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थायें उसी परमशिवकी स्वतन्त्र लहरिकायें हैं।

किसी पदार्थके दो प्रकारके धर्म होते हैं। १—प्राणप्रद और २—विशेष आधान हेतु। आत्मा स्वभावभूत प्राण प्रदान करने वाला शाश्वत धर्म है। इसीलिये यह अपाय रहित और नित्यमुक्त माना जाता है[2]। इस शाश्वत प्राणप्रद धर्मका रहस्य अनुग्रहसे ही जाना जा सकता है। वहीं आत्मज्योतिका प्रसार होता है। मोक्ष सिद्ध हो जाता है[3]। एक बार भी अनुग्रहका रस जिसे मिल गया, उसे स्वप्नमें भी पूजा ध्यानादि यन्त्रणाओंसे मुक्ति मिल जाती है[4]।

परमशिवकी प्राप्तिमें विद्या कारण बनती है। मलसे संसक्त चित्तमें विद्याका प्रकाश असम्भव है। मोक्ष परमेश्वरके पंचम कृत्य (अनुग्रह) पर निर्भर करता है। जिस समय भौतिक रागका विलीनीकरण हो जाता है, उसी समय स्वात्मतादात्म्य सम्भव है। वहीं अनुबन्ध विगलित हो जाता है।

बहुतसे साम्प्रदायिक व्यक्ति आभासको ही मोक्ष मान लेते हैं। किन्तु यह बुद्धिका विभ्रम मात्र है। बुद्धि तत्त्वमें अवस्थित हो जानेका नाम मोक्ष नहीं है। यह तो गुणात्मक अवस्थाकी स्थिति है।[1] केवल पुरुष रूप की प्राप्ति भी बन्धको विगलित नहीं कर सकती। अव्यक्त सत्ताकी अनु-

---

१. तन्त्रालोक, आ० १। ७९। पृ० १२२,।

२. आत्मैव धर्म इत्युक्तः शिवामृत-परिप्लुतः।
तन्त्रालोक, आ० १, पृ० १२५।

३. तन्त्रालोक, आ० ३।३०।

४. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० २९, श्लोक २३४।

५. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, प्रक्रिया विमर्श, पृ० ६४।५४०-५४५।

भूतिसे कुछ आनन्द भले ही मिल जाय, पर वास्तविक मोक्ष असम्भव है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि, बौद्ध तथा पांचरात्र आदि सिद्धान्तवादियोंका मोक्ष मोक्षाभास मात्र है।[१]

वास्तवमें जिसके ऐश्वर्यके सीकरकणको प्राप्तकर ब्रह्मादि देववृन्द ऐश्वर्य सम्पन्न बनते हैं। उस अनवच्छिन्नप्रकाश आनन्दकन्द स्वातन्त्र्य संवलित परमार्थ महेश्वरकी परम अनुकम्पा ही मोक्ष की अवस्था है। आवश्यकता इस बात की है कि, व्यक्ति उस अनुकम्पाकी प्राप्तिके लिये उसकी दासताको स्वीकार करे। दास बने। स्वामीके प्रति सर्वस्व समर्पित कर देने वाला व्यक्ति ही दास है।[२] दासके हृदयमें लोक मंगलकी कामना उत्पन्न होती है। इसीसे समस्त सम्पत्तियोंकी प्राप्ति हो सकती है। अतः दासताकी प्राप्ति ही सर्व सम्पत्ति प्राप्तिकी पहली शर्त है।

अनुग्रह दशामें बाह्य और आभ्यन्तर, भाव और अभाव आदिका वह भेद ही समाप्त हो जाता है, जिससे साधक स्वस्वरूपाधिष्ठित हो जाता है। उस अवस्थामें अर्थात् स्वरूपकी विश्रान्ति दशामें सारा विश्व उसमें और वह सारे विश्वमें अधिष्ठित हो जाता है। इसे पारमार्थिक विमर्शको दशा कहते हैं[३]।

आत्माकी अभिमुखता का ज्ञान जीवनका सर्वोत्तम लक्ष्य है। ज्ञानमें आनन्द उत्पन्न होता है। आनन्दमें एक प्रकारका रस होता है। जैसे शरीर शैशवसे जैसे-जैसे बढता है, उतना ही उतना उसे एक प्रकारकी उत्प्लुतिका रस मिलता है। प्रतीत होता है कि, यह मैं बढ रहा हूँ। वर्द्धन-शीलताके समक्ष लघुताका स्वतः निराकरण होता रहता है। उसी प्रकार ज्ञानकी दशामें अज्ञानका स्वतः निराकरण होता रहता है।

ठीक यही दशा गुरु मुखारविन्दसे सुने हुए वाक्यों के विमर्श-प्रत्यवमर्श में होती है। गुरुवाक्यका परामर्श, आत्मचिन्तनका परामर्श, परामर्शसे बोध और बोध से अबोधताका विनाश यह क्रम चलता रहता है[४]। इसमें गुरुका

---

१. तन्त्रालोक आ० १ पृ० ५४।४५६।

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी १।१।१।१

३. इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता।

४. तन्त्रालोक, आ० ४।१००–१०१।

अनुग्रह ही कारण है। समस्त यन्त्रणाओंके तन्त्रके त्रोटनमें समर्थ अनुग्रहसे बढ़कर कोई वृत्ति नहीं है। यह करना चाहिये और यह नहीं करना चाहिए—इस प्रकारकी भावना ही यन्त्रणा है। वही तन्यमान होकर तन्त्र बन जाती है। इसी तन्त्रको त्रोटन करनेके लिए अनुग्रह[1] शस्त्रका काम करता है।

आणव उपाय

इस तन्त्रके त्रोटनमें शास्त्रोंने अनेक उपायोंकी कल्पनाकी है। आणव उपाय उसका सर्वप्रथम उपाय है। लोकमें जितने प्रकारकी भावनाएं होती हैं, उनमें एक तारतम्य होता है। १—विश्वभाव। यह सुख है, यह दुख है, यह नील है और यह पीत है। आदि वृत्ति मानव हृदयकी कल्पना है। २—यह पर है, या यह अपर है। इस प्रकारकी भेदभावनाका भेदन कर कर जब अपर भावमें(आत्मभावमें)स्थिति हो जाती है, तो अणु अणुमें पूर्ण परमेश्वरका ज्ञान उल्लसित होने लगता है। शास्त्रको भाषामें भेदमयता-की भूमिसे उत्थानकी कल्पनाके कारण और अणुसे शिवकी ओर बढ़नेकी प्रक्रियाके कारण इसे आणव उपाय कहते हैं। अविकल्पक साक्षात्कार इसी उपायसे सम्भव है। यहीं आत्मस्वरूपका प्रथन होता है[2]।

आणव उपायमें भेदकी ही प्रधानता होती है[3]। अणु शब्द ही भेदकी स्थितिका दिग्दर्शक है। अणुसे सम्बद्ध उपाय ही आणव उपाय है। यह विकल्पमय होता है। इसकी विश्रान्ति शाक्त उपायके क्रमसे शाम्भव उपायमें होती है। वास्तवमें शिव तत्त्वमें बुद्धि, मन और अहंकारका प्रवेश नहीं है। फिर भी यह कहना कि, यह शाम्भव, शाक्त और आणव उपाय हैं और इनसे शिवत्वकी प्राप्ति हो सकती है—उपचारात्मक है। शिव ही जीव बनते हैं[4]। यह अभेदवादियोंकी मान्यता है। अपनी स्वातन्त्र्यशक्तिसे अपनेको ही आच्छादितकर बुद्धि, मन, अहंकारकी सीमामें अपनेको सीमित कर वही प्रमाता बनता है। यही प्रमाताका दौरात्म्य है। क्रमशः

---

१. तन्त्रालोक आ० २।३८।

२. ,, आ० १।१४१, पृ० १८१, पं० ५–८। ९१६।

३. तन्त्रालोक, आ० १।२२९, पृ० २४३, पं० २–५।

४. शिव एव गृहीत पशुभावः। तन्त्रालोक, आ० १ पृ० २४४, पं०६।

वही वेष्टनके अपवारणकी तरह अन्तः करणकी वृत्तियोंका विनाश करता है। वही जीव जो पहले शिव था, अपनी दुरात्मताका परित्यागकर शिवताको प्राप्त कर लेता है।

वैभाषिकोंके मतसे विकल्पसापेक्ष निर्विकल्पकी प्रामाणिकता है। उदाहरण रूपसें हम 'रत्नज्ञको ले सकते हैं। वह पहले ही रत्न तत्त्वका विज्ञाता नहीं होता। सर्वप्रथम वह यह सोचता है कि 'क्या रत्नका यही स्वरूप है?' कई प्रकारके विचार उसके मनमें उत्पन्न होते हैं। अन्ततोगत्वा यह इस निश्चयपर पहुँचता है कि, यह रत्न ही है। इसमें किसी प्रकारका दोष नहीं। यह बुद्धिका निर्विकल्पक उत्थान है[1]। तब रत्नज्ञकी संज्ञा वह प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकारसे यह निश्चय है कि ज्ञान तीन प्रकारका होता है। १—भेदप्रधान, २—भेदाभेद प्रधान और ३—अभेद प्रधान[2]। आणव उपाय भेद प्रधान उपाय है। शाक्त भेदाभेदप्रधान और शाम्भव उपाय अभेद प्रधान उपाय है।

सम्यक् ज्ञानका नाम ही मुक्ति है। कुछ लोगोंका कहना है कि, ज्ञान ही मोक्षका एकमात्र कारण है[3] किन्तु यह मुख्य कारण नहीं होता। ज्ञान स्वभावा क्रिया भी होती है।[4] क्रियाशक्तिको भी बन्ध-मोक्षका कारण मानते हैं।[5] ज्ञान स्व और परके अधिकरण भेदसे दो अधिकार सीमामें रहता है। वास्तवमें यह स्व और परका विभव तो कल्पनामात्र है। एक ही संवित् स्व और परमें आभासित होकर प्रस्फुरित होती है। शिष्य गुरु बनता है और गुरु ही सिद्ध और मुक्त हो जाता है। गुरु सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञानसे उसे मुक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार ज्ञान के

---

१. तन्त्रालोक, आ० १।२२९।

२, अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते,
भेदाभेदात्मकोपायं, भेदोपायं तदाणवम् ॥
तन्त्रालोक, आ० १।२३०, पृ० २४८।

३ ज्ञानमेव विमोक्षाय, तन्त्रालोक, आ० १, पृ० १९१।

४. तन्त्रालोक, आ० १।१५०, पृ० १८८, श्लोक१६३, पृ० १९८।

५. तन्त्रालोक, आ० १।१४५, पृ० १८४, पं० ६–९।

अधिकारका विस्तार होता है। शिष्य परम्परामें वही ज्ञान क्रमिक रूपसे प्रकाश विकीर्ण करता है। ज्ञेयका परिज्ञान शिष्य परम्परासे चलता ही रहता है। इसप्रकार एक ही आचार्य अपने शिष्योंको भले ही वे कोटि-कोटि ही क्यों न हों—संसारसे संतरण करानेमें समर्थ होता है।[1] वास्तव में ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाताका परिज्ञान ही जीवनका लक्ष्य है।

आणव उपायमें इसकी भूमिका का प्रारम्भ होता है। साधकका जैसा समावेश होता है, वैसा ही उपाय वह करता है। आणव समावेशमें आणव उपाय ही सम्भव हैं। मलके निराकरण के लिये ही इन उपायों की आवश्यकता पड़ती है। जिसप्रकार आंखके ऊपर मोतियाविन्द रोगके हो जानेपर दृष्टिकी सीमा संकुचित हो जाती है, दृष्टिकी शक्ति उसी पटलसे पटलित होकर रह जाती है, उसीप्रकार आत्माके ऊपर पड़ने वाले मल आत्माको ही आवृत कर लेते हैं।[2]

मलोंका निराकरण क्रिया (चर्या) और दीक्षाके द्वारा ही सम्भव है। आंखका पटल सुन्दर अंजन आदि ओषधियोंसे नष्ट होता है और आत्मा का आवरण दीक्षा क्रियाके द्वारा नष्ट हो जाता है।

ज्ञानका यही क्रम है। आणव उपाय मूल उपाय है। यही शाक्त उपाय के रूपमें परिवर्तित होता है। पुनः शाक्त उपायकी विश्रान्ति शाम्भव उपाय में हो जाती है।[3] इसकी विश्रान्ति आनन्द शक्तिमें होती है। आनन्द ही ब्रह्म है, परमशिव है। आनन्दमें विश्रान्तिकी यह सर्वातिशायी दशा है। यह एक सर्वोच्च स्थिति है, जिसे अनुपायावस्था कहते हैं।[4] इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीनों की सीमाका स्पर्श विषयोंसे भी होता है। अतः इनकी बाह्योन्मुखी स्थिति भी सम्भव है। किन्तु अनुपायावस्थामें विषयों की सीमाका स्पर्श समाप्त हो जाता है। उस समय जिस आनन्दकी उपलब्धि होती है, उसे अनुत्तर आनन्द कहते हैं। अनुत्तर आनन्द भी अनुपाय दशा

---

१. आचार्यः स्वजनानां च कुलकोटिसहस्रशः ।
ज्ञानज्ञेयपरिज्ञानात् सर्वान् संतारयिष्यति ॥
तन्त्रालोक, आ० १। २५३।

२. तन्त्रालोक, आ० १।१७०, पृ० २०३।

३ तन्त्रालोक, आहनिक १।२४१। ४. तन्त्रालोक, आ० १।२४२।

ही है। इसकी चर्चा श्री सिद्धातन्त्र और मालिनी विजयोत्तर तन्त्रमें स्पष्ट रूपसे की गयी है। तन्त्रालोकके द्वितीय आह्निकमें अनुपाय दशाकी विशेष व्याख्या है। उपाय ज्ञानकी यह चार अवस्थायें हैं। ये चारों ज्ञान दशायें भी हैं। इन अवस्थाओंको प्राप्त करने वाला साधक सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त हो जाता है।

शाक्तोपायमें विकल्प ही मूल भित्ति है। क्रियोपायमें अर्थात् आणवोपायमें बाह्य अवच्छिन्न उच्चार ही मूल भित्ति है। इसमें विकल्पका निश्चय होता है और निर्विकल्पकी ओर प्रगति होती है।[1] बहिर्भूत अवच्छिन्न उच्चार ही आणव उपायमें ज्ञानका साधन बनता है। वास्तवमें ज्ञान और क्रियामें कोई अन्तर नहीं है। केवल अवस्था और क्रमका अन्तर है। ज्ञान ही प्ररोह भावके द्वारा योगकी पराकाष्ठाको प्राप्त करता है। तत्त्वकी प्राप्तिके बाद-वही ज्ञान क्रियाकी संज्ञासे अभिहित होता है।[2]

अपने चित्तमें कर्म, मल और मायासे उत्पन्न अनन्त वासनायें विद्यमान हैं। उनकी शान्ति रूपी बुद्धि संवित्से होती है। यह संवित् शक्ति देहसे लेकर समस्त तत्त्वमात्रमें अधिष्ठित है। इन तत्त्वोंका जब चित्में लय हो जाता है, तो ज्ञान-योग, क्रिया-योग बन जाता है। अर्थात् चित्तकी वासनाको शान्त करनेके लिये ज्ञान क्रियाके रूपमें परिवर्तित होता है। तत्त्वोंसे चितिका संयोजन ही योग है। अतः तत्त्वतः योग, ज्ञान और क्रिया इनमें कोई अन्तर नहीं[3]। वास्तवमें सब एक ही हैं। जैसे मैं जा रहा हूँ। इस अनुभवमें जाना–यह ज्ञानका स्फुरण है। यह स्फुरण देह और देहेन्द्रियों को आविष्टकर स्थित गतिक्रियाके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। अतः क्रिया ही ज्ञान है और क्रियासे ही ज्ञान सम्भव है। ज्ञानसे ही विमोक्ष होता है। यह सब क्रिया, ज्ञान और इच्छायें दीक्षापर निर्भर करती हैं[4]। क्रियाके परिष्कारके कारण ही इसे कियोपाय कहते हैं।

---

१. तन्त्रालोक आ० १, श्लोक२२१।
२. ,, आ० १, श्लोक१५ ।
३. तन्त्रालोक आ०१।१५३-१५४।
४. तन्त्रालोक आ० १।१९२।

शाक्त उपाय

शाक्त उपाय-शाम्भव उपायका भी उपाय है। शाक्त उपाय विशुद्ध तन्त्र है। यह अप्रकाश्य है। गुरुदीक्षा-ग्राह्य है। गुरु निर्देशका अनुसरण ही इसका मन्तव्य है। आणव, शाक्त और शाम्भव ये तीन उपाय हैं। तीनों द्वार और द्वारी भेदसे ६ प्रकारके होते हैं। पूर्ण और अपूर्ण भेदसे ये १२ तथा व्यवहित और अव्यवहितभेदसे फिर ये २४ हो जाते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म विचारकोटिके आधारपर इनमें अनन्तभेदोंकी कल्पनाकी जा सकती है।

वास्तवमें आणव उपाय क्रियात्मक होता है। शाक्त उपाय ज्ञानात्मक होता है और शाम्भव उपाय इच्छात्मक होता है। ज्ञानकी उच्चभूमिपर अधिष्ठित योगी इन तीनों उपायोंकी सीमाको पारकर जाता है। जबतक ज्ञानमें उपाय और उपेयकी अनुभूति विद्यमान है, तबतक साधक स्थौल्य-विभ्रममें पड़ा रहता है[1]।

स्थूलतामें चिदानन्दके सूक्ष्म स्वरूपका निमज्जन हो जाता है। अनन्त ग्राह्य-ग्राहक भावका उल्लास होने लगता है। फिर यह उपेय है और यह उपाय है, इस प्रकारकी भ्रान्ति होने लगती है। इसे ही स्थौल्य-विग्रह कहते हैं।

सत्य तो यह है कि, उपेय एक मात्र शिव हैं। सर्वत्र वही अवभासित होते हैं। उपाय रहित होनेके कारण वे अनुपाय हैं। फिर वहां उपायोंका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता[1]। बुद्धि, मन, अहंकार और चित्तकी स्फुटता और सविकल्पताकी परिष्कृति तो शाक्तोपाय में ही होती है[2]। उच्चार रहित वस्तुका चिन्तन शाक्तोपायमें ही सम्भव है।

---

१. उपायोपेय-भावस्तु ज्ञानस्य स्थौल्य-विभ्रमः।
एषैव च क्रियाशक्तिः बन्धमोक्षैककारणम् ॥
तंत्रालोक आ०१।१४५, पृ० १८४।

२. अपरोक्षे भवतत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते।
यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते ॥ तंत्रालोक आ०१।४५।

३. तंत्रालोक आ०१।२१५-२१६, पृ० २३९।

ज्ञानशक्तिका स्फार यहां होता है। साधकके मनमें यह विकल्प होता रहता है कि, यह सब कुछ दृश्यमान सर्ग आत्मा ही है। विकल्प जहां होता है, वहीं द्वयताका आक्षेप हो जाता है। सर्ग आत्मा ही है। इस अनुभूतिमें अनात्माका भाव पहले जीवरूपसे बैठा हुआ है। यहां अनुयोगी और प्रतियोगी ज्ञान अंशतः उठते रहते हैं[1]। प्रतियोगी ज्ञानका जब निषेध होने लगता है, तो बारम्बार यह भाव उमड़ने लगता है कि, यह सब उसी विराट्का अंश है। संस्कार शुद्धि होते होते यह निश्चय हो जाता है कि, यह विश्व शिव ही है। शिव ही यह विश्व है। अभिन्न साक्षात्कारका क्रमिक विकास गुरु दीक्षाके आधार पर क्रमशः पुष्पित और पल्लवित तथा प्रतिफलित होने लगता है। यह अभिन्नताका साक्षात्कार चूंकि ज्ञानमय होता है, इसीलिये ज्ञानशक्ति-सम्बन्धित उपायको ज्ञानोपाय भी कहते हैं। यही शाक्तोपाय है।

वास्तवमें शाक्तोपाय उपायोपाय है। परमशिवका स्वभाव निर्विकल्प भाव ही है। उस परमभावकी प्राप्ति की जा सकती है। यह संस्कार शुद्धिसे ही सम्भव है। शास्त्रीय चिन्तन धारासे अपने मानसको अभिषिक्त करता हुआ साधक जब तृप्त होता है और अपने मानसके अधूरे अंशकी पूर्ति करता है, उस समय उसके मनके ऊपर पड़े हुए मलोंके आवरणका निराकरण हो जाता है और उसमें गुणोंका विकास हो जाता है। गुणोंके इस विकासक्रमको जो छाप हृदयपर पड़ती है, उसे संस्कार कहते हैं। संस्कार जीवनका अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है।[2]

मनमें यथावसर अनेकानेक विकल्पोंके उदय हुआ करते हैं। ये विकल्प संस्कारके उदयमें बाधक होते हैं। यदि विकल्प भी संस्कार सम्पन्न अर्थात् संस्कृत होते रहते हैं, तो उस अवस्थामें विकल्पोंके साथ ही संस्कारका अभ्युदय भी मनमें होता रहता है और उसीके संसर्गसे विकल्पभी शुद्ध होते रहते हैं। इसी क्रमसे वे पूर्ण संस्कृत बन जाते हैं।[3] वही संस्कृत दृढ़ संकल्पके रूपमें परिणत हो जाते हैं। वस्तुतः शाक्तोपाय इसीलिये

---

१. तन्त्रालोक आ० १ १६९, पृ० २०२-२०३।
२. तन्त्रालोक आ०१। पृ० २३८-३९
३. तन्त्रालोक आ०४।३।

वैकल्पिक पथक्रम कहा जाता है।[1] यह सब संविद्का ही खेल है। स्फुट. स्फुटतर और स्फुटतम होती हुई संविद् ही विमल हो जाती है और अविकल्पक स्थितिको प्राप्त कर लेती है।

परमात्मा स्वातन्त्र्य स्वभाववाला है। अतः वह अपना प्रकटीकरण एवं प्रच्छादन यथासमय यथेच्छ रूपसे करनेकी शक्ति रखता है।[2] उसका अनावृत स्वरूप किसी आवरणका विषय नहीं बन सकता। किन्तु आवरण स्पष्ट ही अनुभूत होता है। यह विभुकी विभुता ही है। अन्यथा अनावृत कैसे हो सकता है? जिस शक्तिसे यह असम्भवभी सम्भव हो जाता है, उसे माया कहते हैं। मायामें विकल्प की सम्भूति होती है। शाक्तोपायमें इसे ही परिष्कृत करनेका प्रयत्न होता है।

शाम्भव उपाय

उपायका अर्थ है—मल निर्ह्रास। मल निर्ह्रास से ही स्वरूप भान होता है। स्वरूपकी भ्रान्तिमें तो स्वात्मबोध बहिष्कृत ही रह जाता है। अव्यवहित परमात्मज्ञानमें निमित्तको ही उपाय कहते हैं। उपायकी एक ऐसी अवस्थाभी होती है, जब वह अनुपाय हो जाय। अनुपाय दशामें शाम्भव उपाय भी समाप्त हो जाता है।[3]

गीतामें इसी अनुपाय रूपी उपायको सातत्य कहते हैं। यहाँ उपायका इतना अभ्यास हो जाता है कि, वह स्वभाव बन जाता है। जैसे मुखमें ग्रास लेते समय आंख मूँदनेपर भी, अन्धकारमें भी हाथका मुँहमें आ लगना या नाकमें न जाना—यह अभ्यासके कारण ही होता है। यह उपायकी सिद्धावस्था है। यही शाम्भव उपाय है। शम्भुकी सतत भावना भावित तन्मयता और शम्भुका अनुग्रह सब शाम्भवोपायसे ही सम्भव है।[4]

---

१. तन्त्रालोक आ० १। २०८-२१०।
२. तन्त्रालोक आ० १। ४। १०।
३. तन्त्रालोक, आ० १। २१२-२१३।
४. तन्त्रालोक, आ० १। २००।

तीव्रशक्तिपात-सम्पन्न साधकके समक्ष यह समग्र विश्व प्रतिविम्ब की तरह भासित होता है। वह विश्वेश्वर तुल्य हो जाता है। आत्माके अविकल्प भावका समुदय बहुत बड़ी वस्तु है। यही परामर्श स्थिति शाम्भवोपाय की स्थिति है।[1]

पूर्णाहन्ताका परामर्श भी साधनाकी उच्च स्थिति है। वहाँ मन्त्र, मुद्रा, क्रिया और उपासनाकी गति नहीं होती।[2] इस निर्विकल्प स्थितिमें रहते हुए भैरवीभावकी अत्युच्चदशा प्राप्त होती है। इसे जीवन्मुक्ति कहते हैं।[3] यह निर्विकल्प परामर्श है। अनुभूतिको उस अवस्थामें 'सारा सर्ग प्रसार मुझसे ही है मुझमें ही प्रतिबिम्बित है और मुझसे अभिन्न है'—ये तीन प्रकारकी भावोद्भावनायें होती हैं। ये तीनों प्रकारकी भावनायें शाम्भवोपायके अन्तर्गत होती हैं।[4]

स्वात्मचिदाकाशमें यह विश्व आभासमान है। मैं ही इसका द्रष्टा हूँ। मैं ही भैरव हूँ। मेरे अन्दर ही समस्त अध्वा प्रतिबिम्बित है।[5] सृष्टि, स्थिति और संहारको एकीभावसे अनंश रूपसे देखता हूँ। इसप्रकारका दर्शन ही शाम्भवोपायदशाका दर्शन है। यह परमोपाय है।[6] इस स्थिति में स्नान; व्रत, देहशुद्धि, धारणा, मन्त्र, योजना, अध्वक्लृप्ति, याग, विधि होम, जप और समाधि इत्यादि किसी प्रकारके भेदकी कल्पना भी नहीं हो सकती।

जहां साधकके हृदयमें ज्ञानका प्रथम आलोक स्फुरित हुआ, कि, वह निर्विकल्प स्थितिमें पहुँच जाता है। उसे 'स्व'का परामर्श होने लगता है। परभाव ही विगलित हो जाता है। उसे प्रतीत होता है कि, वास्तवमें

---

१. तन्त्रालोक आ० ३।२७४। २. तन्त्रालोकआ० ३।२९०।
३. ,, आ० ३।२७१। ४. ,, आ० ३।२८०
५. जगत्सर्वं मत्तः प्रभवति विभेदेन बहुधा,
तथाप्येतद्रूढं मयि विगलिते त्वत्र न परः।
तदित्थं यः सृष्टि स्थितिविलयमेकीकृतिवशा,
दनंशं पश्येत्सः स्फुरति हि तुरीयं पदमितः॥ तन्त्रालोक आ० ३।२८७॥
६. तदस्मिन् परमोपाये शाम्भवार्द्धतशालिनि।
केप्येवं यान्ति विश्वासं परमेशेन भाविताः॥ तन्त्रालोक आ० ३।२८८।

हृदयमें एक निर्बन्ध उन्मुक्त बोधका स्फुरण हो गया है।[1] यह स्फुरण ठीक वैसा ही है, जैसा परमेश्वरमें सर्गकी आदिम वेलामें आद्यस्फुरण हुआ होगा और उसी आद्यस्फुरणसे सर्गकी इच्छा उत्पन्न हुई होगी। तदन्तर परापरभावमयी जड़-चेतन स्थावर, जंगममयी सृष्टिका निर्माण सम्भव हुआ। वह आद्यस्फुरण इच्छामात्रसे ही सम्भव है। इसप्रकार व्यवधान रहित इच्छाशक्तिका स्फार ही शाम्भव उपाय है।[2]

आंखे खोलकर चलने वाले व्यक्तिको विना किसी संशय-सन्देहके यह निश्चय रहता है कि, यह अमुकपदार्थ है, इसका अमुक स्वरूप है आदि। उसीप्रकार उसी इच्छाशक्तिके विस्फुरणमें विश्वकी शिवमयताकी ही अनुभूति होती है। चूँकि शम्भुकी इच्छा का परिणाम ही यह सर्ग है, अतः इच्छा-स्फुरणको इच्छाशक्तिका स्फार, तथा इच्छात्मक शाम्भवोपाय कहते हैं।

शाम्भव उपायमें संविद्‌का स्वरूप

संवित् ही बारंवार परामृश्यमाण होती हुई स्फुटताको प्राप्त होती है।[3] परमेश्वरका इसप्रकार द्वैत किन्तु द्वैतमुक्त आभास ही अहमात्मक इदमात्मक परामर्शका का कारण बनता है। द्वैतका चिन्तन अद्वैतकी भूमिपर नहीं हो सकता। द्वैतकी भूमिपर ही अद्वैतका चिन्तन होता है। जो व्यक्ति इसके विपरीत आचरण करता है, वह स्वतः अपनाही सर्वनाश करता है।

प्रश्न यह है कि, जो वस्तु भानकी सीमामें हैं वह भानकी सीमाके बाहर कैसे हो सकती है? "नहि भातमभातं भवति" यह एक सिद्धान्त ही है।[3] यह शरीर है-यह अमुक वस्तु है-अमुक रंगमें आकृतिमें दृश्यमान है, क्या इस अनुभूति का अपासन सम्भव है? अपामनकी अवस्थामें क्या स्वातन्त्र्य संवलित संविद्‌का अवभासन होता रहेगा? ये सबप्रश्न तर्कमात्र हैं। अद्वैतकी स्थितिमें इन प्रश्नोंकी सम्भावनाके लिये भी स्थान नहीं होता।

---

१. तन्त्रालोक आ० ३।२७४-२७५, पृ० २४९।
२. ,, आ० १।१४६, पृ० १८५।
३. तन्त्रालोक, आ० ३।२६८, पृ० २४६।

द्वैतदर्शन भेदपर आधारित है। भेदमें ग्राह्य ग्राहक भाव मूलतः रहता ही है। यह भाव ही बन्धका कारण बनता है। इसे हम एक ऐसे वृक्षकी संज्ञा दे सकते हैं, जो बड़ी कठिनाईसे जड़से उखाड़ फेंका जाय। जो व्यक्ति प्रत्यभिज्ञासे अपने आत्माका विकास कर लेता है, उसकी बुद्धि शुद्ध हो जाती है। उसकी विद्यामें सत्यका सम्पर्क हो जाता है। उस सत्यांश के सम्पर्कसे शुद्ध बुद्धिका निष्पादन होता है। उस बुद्धिके द्वारा उसके हृदयमें एक अत्यन्त महनीय भाव उदित होता है। वह यह समझने लगता है कि, यह मेरी आकृति, यह देह और यह विश्व दो वस्तुयें नहीं स्वात्मप्रत्यभिज्ञानके विज्ञानका वास्तविक प्रभाव वहां परिलक्षित होता है। इसप्रकार का भाव उस कुठारके सदृश है और इतना तीक्ष्ण है कि, एक प्रहारमें ही उस वृक्षको धराशायी कर दे।[1]

वह वृक्ष 'कारण वृक्ष' है। बस, कारणका जहां कृन्तन हुआ—वहाँ क्या पूछना ? वहीं 'परासंविद्' भासमान होती हुई साधकको अपनी सुधाधारासे अभिषिक्त कर देती है। अपने पीयूषप्रवाहसे उसे पावन बनाती हुई उसके अस्तित्वको परिष्कृत कर देती है। परिणाम बड़ाही सुखावह होता है। फिर कारण वृक्ष की उत्पत्तिका प्रसङ्ग ही नहीं उत्पन्न होता। अब तो एक मात्र परासंविन्मात्र ख्याति की हो कारणता अवशिष्ट रहती है। यह सब अभ्यासका विषय है। क्रमशः अपने अभ्यासको बढ़ाता हुआ साधक सत्संकल्पोंके द्वारा अपने विकल्पोंको शुद्ध बना देता है। विकल्पोंकी शुद्धि के अनन्तर वह दिशा मिल जाती है, जिसे उपनिषद् की भाषामें 'सा काष्ठा सा परागतिः' कहते हैं।

यह अनुभूतिकी अवस्था होती है। उसमें स्थूलका विगलन हो जाता है और सूक्ष्म विकसित हो जाता है। उस सूक्ष्मावस्थामें अस्फुट रूप-संविद् भी स्फुटता को प्राप्त हो जाती है। यह भावनाकी वास्तविकता है। लौकिक तर्क तपः पूत होता हुआ अन्तिम अवस्थामें संविद् रूपमें बदल जाता है और परमेश्वरका महाप्रकाश साधकको प्राप्त हो जाता है। शाम्भव उपायकी यही परम दशा है।[2]

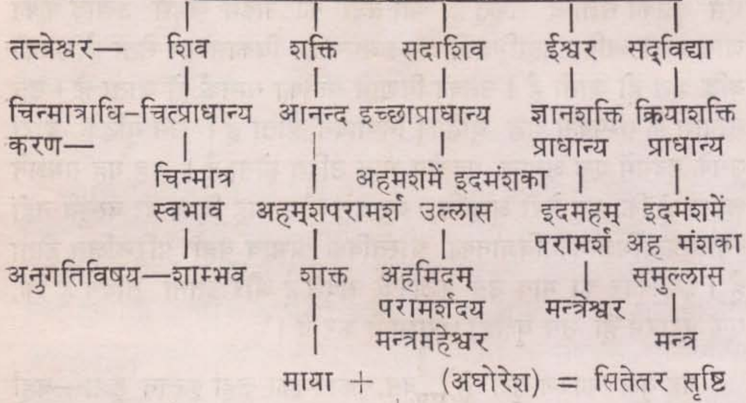
---

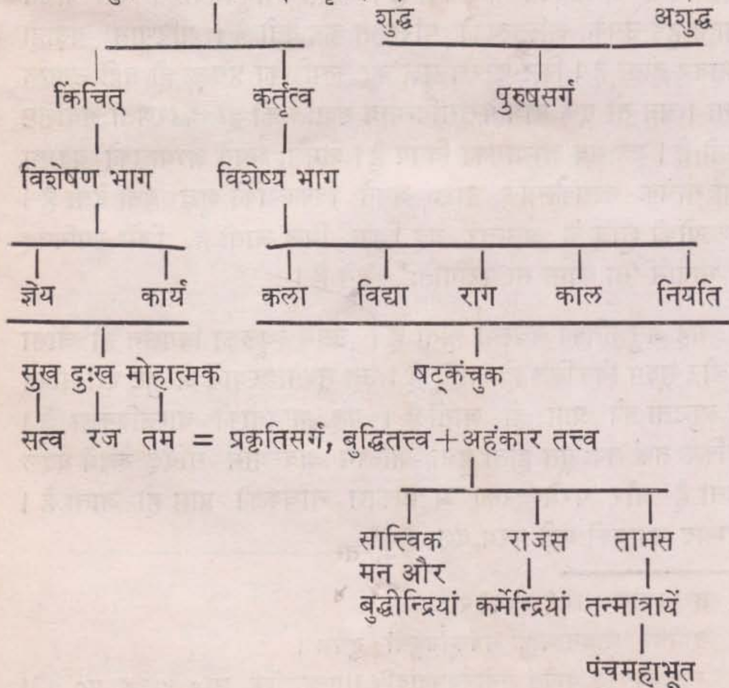
१. तन्त्रालोक आ०१ ४।२१३।

२. तामेनां भावनामाहुः सर्वकामदुधां बुधाः।
स्फुटयेद्वस्तु यापेतं मनोरथपदादपि ॥तन्त्रालोक, आ० ४।१४, पृ० १३।

तत्त्वमीमांसा : ४

षट्त्रिंशतत्त्व





पुरुषसर्ग
|
सात प्रमाता
|

शुद्ध[1]	अशुद्ध[2]
शिव, मन्त्रमहेश, मन्त्रेश्वर मन्त्र,	विज्ञानाकल, प्रलयाकल, सकल

शिव

वेदान्त सम्मत ब्रह्मकी तरह सर्वाद्वयवादी शैवागम शास्त्र शिवको परमतत्वके रूपमें स्वीकार करते हैं। समस्त वस्तु वर्गको प्रकाशमानता प्रदान करनेके कारण शिव परमप्रकाशक तत्त्व है। वेद वर्णित शिवके जिस स्वरूपका मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने दर्शन किया[3]; वह दर्शन-सिद्ध होते हुए भी, अनीर्वचनीय होते हुए भी और लोकोत्तर देवत्त्व संवलित होते हुए भी प्रचलित दार्शनिक परम्पराओंके समान कोई दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत नही करता। उपनिषद् भी इस रहस्यको प्रकट करनेके बाद मौन हो जाता है[4]।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनके अनुसार शिव अद्वय तत्त्व है। यह उत्तर मूर्ति है और स्वेच्छासे अखिल विश्वका सर्जन करनेके लिये स्वतः स्पन्दित होता है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र आदि तो शक्ति द्वारा अधिकार नियुक्त अधिकारी मात्र हैं। परमशिव तो सर्वदेवमय हैं, जिनमें अभेद सम्बन्धके परामर्शसे शिवत्त्वकी उपलब्धि होती है। वही शक्ति-सिद्ध है, जो विश्वको शरीर, घट-पट और इस नामरूपात्मक प्रपंचको शिवरूपमें ही देखता है।

---

१. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, प्रक्रियाविमर्श, पृ० ५८, श्लोक ४८६।

२. षट्त्रिंशत्तत्त्व प्रकाशिका, कारिका ६, तन्त्रालोक भाग ७, पृ० २८६।

३. रुद्राष्टाध्यायी (यजुर्वेद) ४८, १६१, ४२५ आदि मन्त्र विभागात्मक रुद्र-होमका स्वाहाकार।

४. श्वेताश्वतरोपनिषद्, अ० ३।४-६, ११।

शिव सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह करने वाले दिव्य शक्ति सम्पन्न देव हैं[१]। ३६ तत्त्वात्मक परमतत्त्व शिव ही हैं। विकल्पोंसे असंकुचित संवित् प्रकाशरूप आत्मा शिव ही हैं।

प्रकाश परतन्त्र नहीं होता। प्रकाश्यता ही पारतन्त्र्य है। प्रकाश स्वतन्त्र होता है। यह व्यापक, नित्य और सर्वाकार स्वभाव वाला होता है। प्रकाशके स्वातन्त्र्यको आनन्दशक्ति, उसके चमत्कारको इच्छा-शक्ति, प्रकाश रूपताको चित् शक्ति, आमर्शात्मकताको ज्ञान शक्ति और सर्वाकार संयोगित्वको क्रियाशक्ति कहते हैं। इस प्रकार चिदानन्द, ज्ञानेच्छा और क्रियासे संयुक्त अनवच्छिन्न प्रकाश निजानन्द विश्रान्त शिव तत्त्व है।

सर्वपदार्थात्मा परमेश्वर हो शिव हैं। उसीकी भित्तिमें यह सर्वभाव भासित है। सभी आगमोंका तात्पर्यार्थ भी वही है[२]। विश्वंक-विग्रह शिव विश्व निर्माणका सर्वोत्कृष्ट कर्त्ता है। समस्त संयोजन और वियोजनका हेतु एकमात्र शिव ही है[३]। ओंकारको भी शिव कहा गया है[४]। आगम शिवको परचिदात्मक मानता है[५]।

यह आत्मा शिव ही है, यह प्रकाश है और स्वतन्त्र है। स्वातन्त्र्य निर्भर रससे अपने स्वरूपको आच्छादितकर आनन्दरूपतामें लहराता रहता है। 'स्व' को आच्छादित करना और पुनः, पूर्ण प्रथात्मक विश्वमें प्रस्फुरित होनेकी क्रीड़ा करना यह सब उसी परमशिवकी स्वतन्त्रता का उल्लास है। उसे क्रम, क्रमाक्रम और अक्रम त्रिविध रूपसे प्राप्त करनेका प्रयत्न शास्त्रविहित है।[६]

साधनाके क्रममें प्राणायाम प्रक्रियाका विशेष महत्त्व है। इसके अन्तर्गत अनल और अनिल दोनोंको एक सिद्ध करते हैं। पुनः शून्याशून्यालयमें उसे धारण करते हैं। इस अवस्थामें जगत्का शूल भी

१. सृष्टिसंहार कर्त्तारं विलयस्थिति कारकम्। तन्त्रालोक।

२. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा प्रक्रिया विमर्श, पृ० ३५।२९४-२९७।

३. तन्त्रालोक आ० ९।३५-३८। ४. अथर्ववेदीय माण्ड्क्योपनिषद् १२।

५. शिवः परचिदात्मकः, तन्त्रालोक आ० ३।२४८।

६. तन्त्रसार, आ० १, पृ० ७।

समरस हो जाता है। जैसे रस रसमें मिलकर रस ही हो रहता है, ठीक उसी तरह आत्मा परमशिवमें मिलकर जीवन्मुक्त हो जाता है। इसे ही तन्त्रकी भाषामें व्योमचरी या खेचरी मुद्रा कहते हैं। यही यामल याग भी है। शिवकी आठ आकृतियोंमें भावनाके आधारपर विश्वकी तरह स्वदेहमें भी परमेश्वर रूपताकी कल्पना करनेसे परमेश्वरका समावेश होता है। कभी भी किसी भी दशामें अपनेको खण्डित आत्माके रूपमें देखना अपना ही अपमान करना है। जो व्यक्ति स्वात्मामें ही परमेश्वरके पंचकृत्यका-अनुसंधान करता है, वह परमेश्वर ही है।

शिवके सात रूप हैं। १—शिव, २—मन्त्र महेश, ३—मन्त्रेश, ४—मन्त्र ५—विज्ञानाकल, ६—प्रलयाकल और ७—सकल। यह सब भेदभी उपचार मात्र है। वस्तुतः स्वैकप्रकाशघनचिन्मय शिव कभी भेदभिन्न नहीं होते।

स्वातन्त्र्य-स्फारात्मक समस्त भुवन जिसमें अनन्त विचित्र भोक्तृभोग्य-रूपता गर्भीकृत है, यह भी परमशिवरूप ही है। शिवमें अनुगत प्रकाशकी प्रकाशमानता इसमें प्रमाण है। यह शिवत्त्व अप्रमेय सर्वाध्वोत्तीर्ण और सर्वाध्वव्यापक तत्त्व है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियुक्त, अनवच्छिन्न प्रकाश, निजानन्द विश्रान्त और स्वातन्त्र्य शक्ति सम्पन्न तत्त्व शिव है[1]।

यही अणु, पुद्गल, क्षेत्रवित्, पशु, पाशुबद्ध और जीव सभी रूपोंमें व्यक्त हैं। नरशक्ति भी शिवात्मक होती है[2]। अनुत्तर अकारसे लेकर विसर्ग रूप हकारसे सम्पन्न तथा मकाररूप विन्दुसे संयुक्त 'अहं' तत्त्व भी शिव ही हैं। सर्वाकृति निराकृति तत्त्व है। आत्मा शिवामृतपरिप्लुत धर्म है[3]।

शक्ति

शक्ति तत्त्व प्रत्यभिज्ञादर्शनका प्रधान तत्त्व है। इसको शिवसे अलग करके देखना शशशृंगके समान असम्भव है। इसका पृथक् विवेचन उपचार

---

१. तन्त्रसार, आ० १, पृ० ६। २. तन्त्रालोक. आ० ३।११२।
३. तन्त्रालोक, आ० १।६६, १०४, १२५।

मात्र है । शक्ति तादात्म्यमें स्फुरित होती है । तादात्म्य ही इसका लक्षण है ।[१] शक्ति विमर्शरूप होती है । कौलिक प्रक्रियामें यह २७ प्रकारकी मानी जाती है । शक्ति कभी भी शिवसे व्यतिरिक्त नहीं देखी जाती । शिवभी शक्ति रहित नहीं रह सकते । जैसे हिमसे पृथक् शैत्यकी कल्पना और अग्निसे पृथक् उष्णताकी कल्पना नहीं की जा सकती, उसी तरह इन दोनोंमें अलगाव असंभाव्य है ।[२] इसीलिये पृथक् विवेचन उपचारमात्र-रूपसे ही ग्राह्य है ।

परमात्माकी इच्छाशक्ति ही बीजभूत शक्ति तत्त्व है । शक्तिका शिवसे समवाय सम्बन्ध है । वह स्वरूपतः अभिन्न है और स्वतन्त्र है । यह शक्ति मान्का धर्म है । अन्य दर्शनोंमें जैसे शक्तिशक्तिमान्का भेद मानते हैं, वैसा भेद प्रत्यभिज्ञा दर्शनमें नहीं माना जाता । जिस समय यह क्रियासे रहित होती है, उस समय इसका स्तर अत्यन्त स्वच्छ होता है ।

शक्ति परमेश्वरकी हृदय है, संविद्रूप है, विमर्श और सारसर्वस्व है । यही क्रियाशक्ति समन्वित होकर ऊर्मि बन जाती है । विभुके वैभव का यह बाह्य-विस्फार शक्ति-दशाका ही पूर्णाहन्ता-चमत्कार है । चित्, आनन्द और एषणा इन तीनों प्रतीतियोंका एकात्मक स्वतन्त्र समवाय शक्तिका ही स्वरूप है ।[३] जगत्की रचना करनेवाले परमेश्वरकी प्रथम स्पन्दरूप जो उसकी इच्छा है, उसेही शक्ति कहते हैं । शक्ति तत्त्व अप्रतिहत इच्छावाला तत्त्व है क्योंकि यह स्वतन्त्र है ।[४] यह स्वेच्छासे ही स्वभित्तिमें विश्वका उन्मीलन करती है ।

शक्तिका संकोच ही संहार है । इसका विकास ही सृष्टि है–और यह सारा विस्फार है[५] । विमर्श और प्रकाश भी शक्तिके ही चमत्कार हैं; इच्छा शक्ति परमेश्वरकी निर्माण शक्ति है[६] ।

---

१. तन्त्रसार, आ० २२, पृ० २०१ ।
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, आ० ८, ३।११७ ।
३. षट्‌त्रिंशत्तत्त्व संदोहः कारिका २ । ४. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र १ ।
५. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् सूत्र १८ ।
६. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० ६४।५१७ ।

शक्ति अहमात्मिका होती है। शिवामर्श ही उसका स्वरूप है[१]। चिन्दानन्दैषणाज्ञान और क्रियाको स्फुटतामें शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या यह पांच तत्त्व प्रकट होते हैं। यही शुद्ध अध्वा है[२]। दिव्य शक्ति सम्पन्न देवके विश्वप्रतिबिम्बमें शक्तियां निमित्त होती हैं। अनुत्तराप्रतिभा परावाक् इच्छा, ज्ञान और क्रिया तथा कौलिकी आदि शक्तियां इसी परमशिवकी शक्तियां हैं।[३] शाक्ती दशामें ही परमशिव अधिशयन करते हैं।

शक्ति असाधारण प्रभावको कहते हैं। अनीश्वरमें इसकी सम्भावना नहींकी जा सकती[४]। ज्ञत्व कर्तृत्वादि माहात्म्य संवलित अभिज्ञानकी आविष्कृति ही शक्ति है। वह जड़ोंकी प्रतिष्ठा है, जीवितोंकी जीवन है, वही ज्ञान है, क्रिया है और इच्छा है। भावका मातृकल्पित 'स्व' रूप शक्ति है[५]। अर्थोपाधिके कारण चिन्तामणिके समान पारमेश्वरी शक्ति अनन्त भेदोंसे भासित होती है। सिसृक्षुकी इच्छा ही शक्ति है। यह विसर्ग शक्ति सर्वत्र विद्यमान है। यही हृदयमें स्फुरित होकर आनन्दशक्ति बन जाती है।

इच्छाशक्ति

इच्छाशक्तिके दो स्वरूप हैं। १–क्षुभिता और २–अक्षुभिता। परप्रमाता शिवके हृदयमें सिसृक्षाका परामर्श उदित होता है। यह परामर्श ही इच्छाशक्तिके नामसे अभिहित होता है।[६] वास्तवमें परमप्रभु चिन्मय हैं। चिद् धर्मके विभवसे एक आन्तर आमोद उज्जृम्भित होता है। परिणामस्वरूप विचित्र रचनाकी चारुताके चमत्कारसे कार्य सृष्टिके प्रवर्त्तनकी उन्मुखता उत्पन्न हो जाती है। यह इच्छाशक्तिकी प्रथम दशा–विप्रकृष्ट दशा है।

---

१. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० ७।४५-५२, पृ० ८।५३।

२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र ३। ३. तं० आ० ३।६५-८१।

४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, पृ० ३७।

५. तन्त्रालोक, आ० १।६९।

६. तन्त्रालोक, आ० ३।७१-७२, पृ० ८३, श्लोक ७८, पृ० ८८।

प्रयत्नकी अवस्थामें केवल इच्छाका प्रक्षोभ अवश्यंभावी हैं। यह प्रक्षोभ अनन्त अघोर शक्तियों को उत्पन्न करता है। इन दिव्य शक्तियोंके द्वारा ही बहिस्फुरण होता है। यह बाह्य स्फुरणही इच्छा शक्तिका ऐश्वर्य है। अनन्त शक्ति सम्पन्न होकर बाहर अवभासन कितना महनीय एवं महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न रूपोंमें भासित होनेपर ये शास्त्रीय भाषामें "शैवाध्वदैशिकः" कहलाती हैं क्योंकि घोरा शक्तियोंकी तरह ये मुक्ति-मार्गकी बाधिका नहीं वरन् साधिका ही बनती हैं।

विमर्शकी अवस्थाके पहले अर्थात् इच्छामें विक्षोभके पूर्व ही एक ऐसी अवस्था होती है, जिसमें स्वात्ममात्रनिष्ठ परामर्श रहता है। यही परामर्श विश्वका पहला परिस्पन्द है। यह ज्ञान शक्तिका प्रतिनिधित्व करता है।[१]

ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञेय रूप अंश उद्रिक्त होकर चित्राकारमें शुद्ध होकर जब अभिव्यक्त होता है, तब ज्ञेय अधिक व्यापक हो जाता है और ज्ञानमें अपूर्णताका अवभास होने लग जाता है। संवित्की अपूर्णताका यह आभास रूढ़ होकर ज्ञेयकी स्थितिका आरम्भ बनता है। रूढ़िका अर्थ बोध-समुद्रमें चित्राकार तरंगोंकी उमङ्गका ग्रहणमात्र है।

अन्तः स्थित विश्वसे अभिन्न एक बीजांशके सर्जनकी इच्छा ही क्षोभ है। इस क्षोभके आधारको योनि कहते हैं। यह योनि वही इच्छा है, जो आगे चलकर स्वात्ममात्र विश्रान्तिके कारण कृतिनी बनती है। संवित्के विना किसी पदार्थमें प्रकाशका सामर्थ्य नहीं है। जैसे स्वरोंके विना किसी व्यंजनका आविर्भाव असंभाव्य है, वैसे हो पारमार्थिक ज्ञातव्यरूप संविद् से ही विभाग युक्त विश्व उत्पन्न होता है। एक अनवच्छिन्न पारमेश्वर रूप ही सर्वत्र व्याप्त है। आविर्भावक वह बीज है। स्वतः प्रकाशमान चिदात्मा है। योगीकी तरह निरुपादान अर्थ समूहको वही प्रकाशित करता है।

इस प्रकार सिसृक्षा रूपी क्षोभ ही सारे विसर्गका कारण है—यह सिद्ध हो जाता है। प्रमाता और विश्वका ऐकात्म्य समझनेकी बात है। यह विश्व अपने आदि आधार स्थानसे उद्भिन्न होकर जब दृष्टिगोचर

---

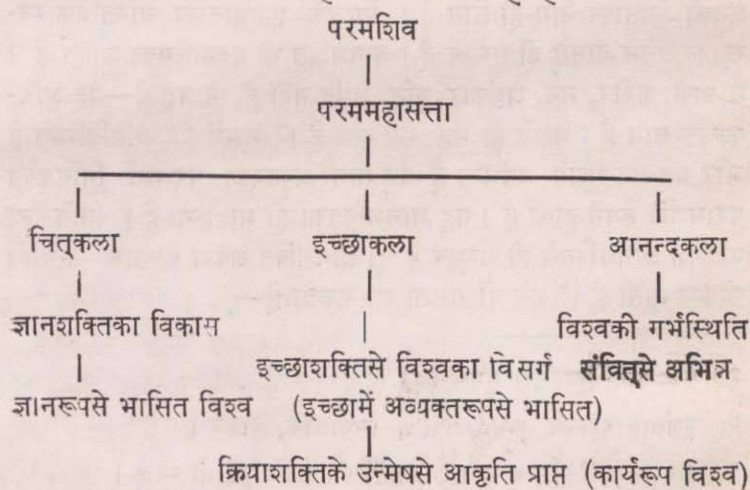
१. तन्त्रालोक, आ० ३, पृ० ८५।

होता है, तब विश्वबीज आदि महामाया (इच्छाशक्ति) से लेकर समस्त तत्त्व भुवनादि बाह्य आडम्बर अपने विभिन्न रूपोंमें स्फुट हो जाता है। इस बाह्य विसर्गकी विश्रान्ति आत्मतत्त्वमें ही होती है। इसीलिये यह विसर्ग भी अमृतात्मक ही है। यह प्रमाता प्रमेयका पारस्परिक मिश्रण अद्‌भुत उद्‌भावनाओंका जनक है।[1]

जैसे अनुत्तर आनन्द शब्दसे व्यपदेश्य अ और आ, इच्छा और उन्मेष शब्दसे व्यपदेश्य 'इ' और 'उ' से आद्‌गुणःकी सन्धि प्राप्तकर एकार और औकार लक्षण विचित्र स्थितिको प्राप्त करते हैं, उसी तरह अनुत्तर आनन्द नामक अक्षुब्ध और क्षुब्ध स्पन्द इच्छा और उन्मेष शक्तिके संघट्टनसे विश्व विसर्गके वैचित्र्यको प्राप्त करते हैं।[2]

ज्ञानशक्ति

ज्ञानशक्ति परमशिव को महासत्ताका प्रकाश ही है :—



सर्वप्रथम इच्छा उत्पन्न हुई। उससे विश्वका उन्मीलन हुआ। क्या उस समय विश्वका रूप व्यक्त हो गया था ? नहीं। इच्छा शक्तिके द्वारा जिस विश्वका उन्मीलन होता है, वहअव्यक्त विश्व है। इच्छा शक्तिसे

---

१. तन्त्रालोक, आ० ३।८२-८९, पृ० ९३-९९।
२. अष्टाध्यायी-पाणिनी ६।१-८७।

स्पन्दित विश्वकी स्थितिके अनन्तर ज्ञानशक्ति जागृत होती है। यह ज्ञानशक्तिका ही माहात्म्य है कि, अव्यक्त विश्व तत्क्षण व्यक्त हो जाता है[१]। यह अभिव्यक्ति भी स्थूल अभिव्यक्ति नहीं होती। योगी लोग ही इस सूक्ष्म अभिव्यक्तिका अन्तर्दृष्टिसे दर्शन करते हैं।

मूलतः विश्वकी उत्पत्तिमें इच्छाशक्ति कारण बनती है[२]। ज्ञानशक्तिसे वह ज्ञेयरूपमें पृथक् भासित होता है किन्तु क्रिया शक्तिके उन्मेषसे ही स्थूल विश्वका निर्माण होता है। आनन्दके दर्पणमें प्रतिबिम्बित विश्व आनन्दसे अभिन्न ही है। यह परमशिवकी अभिन्न सर्वज्ञताकी अवस्था है। विश्वका विसर्ग महाचितिकी सजगतासे ही और आनन्दवादितासे ही लीलारूपमें होता है[३]।

बोधमात्रका वाचक शब्द 'अहम्' है। ज्ञेयत्व ज्ञानका धर्म है। 'मैं यह जानता हूँ' इसमें अर्थका महत्त्व नहीं, यह केवल ज्ञानकी ज्ञानरूपता है। ज्ञेयकी ज्ञेयताका नाम ही ज्ञान है। विश्वके एकभावरूप वास्तविक स्वरूपका प्रथन ज्ञानसे ही सम्भव है। ज्ञानशक्ति भी इच्छात्मिका शक्ति है[१]। मैं प्राण, शरीर, मन, अहंकार, बुद्धि आदि नहीं हूँ, मैं वह हूँ—यह अविकल्पक ज्ञान है। मुझसे ही यह सब कुछ है। मुझमें ही प्रतिबिम्बित है और यह सब मुझसे अभिन्न है–यह तीन प्रकारका परामर्श निर्विकल्प परामर्शके रूपमें होता है। यह ज्ञानशक्तिका ही माहात्म्य है। निर्विकल्प परामर्श ज्ञानशक्तिसे ही सम्भव है[२]। ज्ञानशक्ति अपरा इच्छाके उन्मेषसे उत्पन्न होती है।[३] इसे यों समझा जा सकता है—

---

१. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्। सूत्र १-४।

२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ० ६४।५१७, तन्त्रालोक, ३।७२।

३. कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्वका उन्मीलन अभिराम इसीमें सब होते अनुरक्त॥
कामायनी, श्रद्धा, पृ० ५३।

४. तन्त्रालोक, आ० १। १३२-१४५।

५. तन्त्रालोक आ० ३। २७४-२८०।

६. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा-प्रक्रिया विमर्श, पृ० ३७, श्लोक ३०७-३०८।

इच्छा

परा	परापरा	अपरा
अनुत्तरा (अ)	इच्छा (इ)	उन्मेष (उ)
आनन्द (आ)	ईशन (ई)	ज्ञान (ऊ)

अ या आ+इ=ए (गुणसन्धि) अ या आ+उ=ओ (,,)	विश्वके अनुत्तर, आनन्द, इच्छा और ज्ञानमय उन्मेषमें क्रिया शक्तिके सहयोगसे व्यक्त मातृका शक्तिका स्वरूप।

यह शिवकी तीन शक्तियां हैं। १–इच्छा, २–ज्ञान और ३–क्रिया। इन्हीं तीनोंके संघट्टनसे विश्वका निर्माण होता है। इच्छाके बलपर अहं में स्पन्दित विश्व इदंरूपमें भासित हो रहा है। यह अहं और इदम् एकही परमशिवके दो दशाभेद हैं। दोनोंके भेदावभासमें ज्ञानशक्ति ही कारण बनती है।

क्रियाशक्ति

क्रियाशक्तिका स्फुट शरीर ही यह विश्व है। वस्तुतः इसमें भी अनन्त शक्तियोंका परस्पर संयोजन होता है। स्वात्मसंघट्टके वैचित्र्यसे चित्रित यह विश्व ग्राह्यत्व और ग्राहकत्वका आकर्षण है। क्रियाशक्ति त्रिकोण का एक कोण है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों मिलकर त्रिकोणका सर्जन करते हैं। यह क्रियाशक्तिके विना व्यर्थ ही है। यह त्रिकोण विसर्गामोद सुन्दर होता है। विसर्गमें आमोद निहित है। विसर्गभी क्रियाशक्तिमय और आमोद भी क्रियाशक्तिमय ! पराशक्तिका क्रियापर्यन्त यह परम रमणीय उल्लास बड़ा ही विचित्र होता है।

मातृका शक्तिमें 'अ' अनुत्तर 'आ' आनन्द, 'इ' इच्छा, और 'उ' उन्मेष रूप हैं। अनुत्तर आनन्दका उन्मेषमें संयोग होनेपर संधिरूपतामें ये तीनों एकरूप 'ओ' कार बनते हैं। वृद्धिदशामें यह औकाररूपमें परि-

वर्तित होते हैं। यह क्रियाशक्तिका ही स्फुट रूप है। सन्ध्यक्षरोंमें क्रियाशक्तिके अस्फुट, स्फुट, स्फुतर और स्फुटतम रूप व्यक्त होते हैं।[1] शिव क्रियाशक्ति द्वारा ही पंचकृत्य करते हैं। जीवभी शिवकी तरह पांच कृत्य करता है।[2] क्रियाशक्तिके प्राधान्यमें ही विद्या तत्वकी[3] स्थिति होती है। कर्तृत्वकी आधार क्रियाशक्ति ही होती है। प्राणना व्यापार भी क्रियाशक्तिका ही स्वरूप है।[4] काल, देश, वर्ण मन्त्र और पद आदि समस्त अध्वाओंकी स्थिति क्रियाशक्तिमें ही होती है। सर्वाकारयोगित्व क्रिया शक्तिमें हैं। प्रकाश अनुपाय और सोपाय दो प्रकारसे प्रकाशित है। सोपाय प्रकाशमें इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनोंका स्वारस्य है।[5]

सदाशिव तत्त्व

बीजसे अंकुर निकलता है। बीजसे वह भिन्न नहीं है। उसकी सत्ता उसमें पूर्णतः विद्यमान है। उसी प्रकार परमेश्वरके स्वातन्त्र्यसे प्रकाशित यह विश्व भी उसीमें विद्यमान है। परमेश्वर स्वेच्छासे ही विश्वका उन्मीलन करते हैं। आत्मसंविद्से स्वयंका आच्छादन करते हैं। 'स्व'में स्वयं निवासकी यह क्रीड़ा करने वाले, निखिल 'इदं' पर अनुग्रह करने वाले, शिव बाह्य-प्रकाशकी सत्तात्मक सदिच्छाके कारण सदाशिव कहलाते हैं।[6]

सद् रूप से अंकुरित होनेके लिये तत्पर जगत्की पहली अवस्था शिवमें ही सद्रूपसे सदैव विराजमान है। अहंताको इदंतासे आच्छादित करनेकी अभिलाषाके आधार वही शिव बनते हैं। यही शिव सदाशिव तत्त्वरूपसे व्यक्त आगमिक मनीषाके मान्य देव हैं।[7]

---

१. तन्त्रालोक, आ० ३।९५-९६।

२. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् सूत्र १० (जयदेव सिंह), पृ० ६१-६३।

३. तन्त्रसार, आ० ८, पृ० ७४। ४. तन्त्रसार, आ० ६, पृ० ४७।

५. तन्त्रसार, आ० १।पृ० ६-७।

६. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहः, का० ३।

७ पराप्रवेशिका क्षेमराज, तत्त्वलक्षणप्रकरण, पृ० ४।

इदमंशरूपसे स्फुरित यह विश्व शिव रूप ही है। शिव सदा शिव ही है। अतएव वह सदाशिव तत्त्व ही है।[१] परमेश्वर शिव पांच शक्तियोंसे परिपूर्ण है। अपनी स्वातन्त्र्य शक्तिसे पांचों शक्तियोंको मुख्य रूपसे प्रकटित करता हुआ सदा पांच प्रकारसे उल्लसित होता है। उसकी यह उल्लिलसिषा (उल्लसित होने की इच्छा) प्रथमतः परानन्दके चमत्कारसे परिपूर्ण है। इच्छा ही 'अहम्' परामर्श रूपसे शक्तिदशामें स्फुरित होती है। चित्प्राधान्यमें शिवतत्त्व, आनन्द प्राधान्यमें शक्तितत्त्व और इच्छा प्राधान्यमें सदाशिव तत्त्व होता है। इदमंशमें इच्छाशक्तिका प्राधान्य ही सदाशिव तत्त्व है।[२] इस अवस्थाकी यह अनुभूति अस्फुट होती है।

'निमेषोऽन्तः सदाशिवः' के अनुसार यह निमेष दशाकी अनुभूति है। वैसे एक कलाकार या कवि पहले एक झीनी-झीनी रसमयी अनुभूतिमें खो जाता है और उसीसे कविताकी सृष्टि हो जाती है, उसी तरह अहमंश के साथ इदमंशका आकलन कल्पनाके रहस्य लोकमें होता है। यही सदाशिव तत्त्व है।

सृष्टिकी अस्फुटता ही सदाशिव दशा है[३]। सदाशिवतत्त्वमें अहंतासे आच्छादित अस्फुट जो परापर रूप विश्व वह ग्राह्य रहता है और प्रतिबिम्बरूपसे भासित होता है। जगत् ग्राह्य ग्राहक भेदसे प्रातिस्विक रूपसे भिन्न-भिन्न प्रतिभासित है। अहंतासे आच्छादित सदा शिवतत्त्वसे ही विश्वका निर्माण होता है[४]। इच्छात्मक मुख ही सदाशिव तत्त्व है। संख्यामें शिवतत्त्वसे यह तीसरा तत्त्व है। इदमंशकी अपेक्षा अहमंशका उल्लास इसमें अधिक होता है। यही 'सदाख्य' तत्त्व भी है[५]। इसे यों समझा जा सकता है।

---

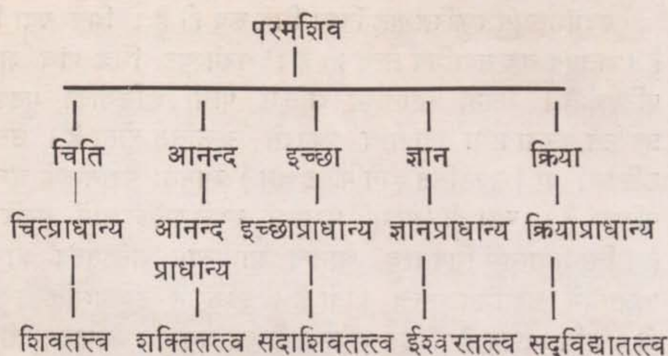
१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ०५६।४०८, प्रक्रियाविमर्श, पृ०३६, श्लोक२९९-३००।

२. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (जयदेव सिंह) पृ० १०।

३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा-प्रक्रियाविमर्श, पृ० ४०।३२४-३४४।

४. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (जयदेव सिंह) सूत्र ३, पृ० ४०।

५. The third Tatwa counting from Shiva. At this stage the I experience Is more prominent than the'this experience' this Tatwa is also known as Sadakhya in as much as 'Sat' or being is posited at this stage. Iccha or will is predominant in this Tatwa. Pratyabhigya Hridyam, By Jay DevSingh, P. 149.



ईश्वर तत्त्व

तत्त्वेश्वर शिवसे यह चौथा तत्त्व है। परमशिवमें ज्ञानकी स्फुटतासे इस तत्वकी अभिव्यक्ति होती है[1]। ज्ञानशक्तिके उद्रेकके कारण इसमें इदमंशका स्फुट अवभासन हो जाता है। एक प्रकारसे यह कहा जा सकता है कि, अहमंशके परामृतसे इसमें इदमंशका अभिषेक होता है। अन्तर्दशामें इच्छाशक्तिके उद्रेकसे सदाशिव तत्त्व और बाह्यावभासके उल्लास अर्थात् इदमंशके स्फुरण और ज्ञानके उद्रेकसे ईश्वर तत्त्वकी अनुभूति होती है। सदाशिव ही बाह्यावभासका इदन्तया अनुदर्शन करता है। वही तब ईश्वर तत्त्व बन जाता है[2]। दिव्य अनुभूतियोंको यह चतुर्थ अवस्था है।

ईश्वरतत्त्वमें स्फुरित होने वाला इदमंश भी शुद्ध दशाका ही स्फुरण है। इसमें माया कंचुकों या मलोंकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह कहा जा सकता है कि, यह विश्व की उन्मेष-दशाका आदिम शुद्ध स्फोट है। विश्ववेद्यवर्गके स्फुट अवभासनके कारण ही इसमें ज्ञानशक्तिका उद्रेक माना जाता है। जैसे एक चित्रकार किसी चित्र निर्माणके पहले एक स्फुटविचार अपने मस्तिष्कमें रखता है। फिर उसकी कल्पनामें वह विचार उतरता हुआ एक आकृतिके आकलनमें विकसित होता है, उसी प्रकार सदाशिवदशाकी अस्फुटता ईश्वर दशामें एक अभिनव रहस्यमयी आकृति प्राप्त करती है। यही ईश्वर तत्त्व है।[3]

---

१. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (दतिया) पृ० ५। २. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, का० ४।
३. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (जयदेवसिंह) पृ० ११।

"यह मैं हूँ" (इदमहम्) का परामर्श इस दशाकी अनुभूति है। स्फुटीभूत इदमंशमें अहमंशका प्रक्षेप हो जानेपर ईश्वर सम्बन्धी विमर्श होता है। यहाँ तराजूके समधृत तुलापुट-न्यायके कारण सामानाधिकरण्य रहता है। जहाँ ग्राह्य ग्राहकका वैयधिकरण्य दृष्टिगोचर होता है, वहां मायाप्रमाताका विषय होता है। शिवका बहिरौन्मुख्यव्यापार शक्ति है। उसी तरह सदाशिव और ईश्वरका बहिरौन्मुख्यव्यापार सद्विद्या है। अविभक्त मायाका स्वामी ईश्वर ही है। विश्वके चैतन्यका सामर्थ्य भी ईश्वर तत्वमें ही है। ईश्वर तत्त्वमें ही मन्त्रेश्वर प्रमाताका अधिष्ठान है। विश्व अस्फुट इदन्ता और अहन्ताके सामानाधिकरण्य में ग्राह्य बन जाता है।[1]

सद्विद्या

पूर्ण विश्रान्तिदायिनी शक्ति सद्विद्या है। क्रियाशक्तिकी प्रधानतामें विद्यातत्त्व होता है। शिवको बहिरौन्मुख्य-व्यापारकी शक्ति ही सद्विद्या है। 'अहम्' और 'इदम्' इन दोनो प्रकारकी बुद्धिवादितामें सामानाधिकरण्य यहां भी होता है। वेद्यवर्गके सत्परामर्शके कारण यह सद्विद्या कही जाती है। अनुभूतियोंकी वह दशा जहां सदाशिव और ईश्वरकी अभिन्नताकी शुद्धानुभूति होती है–वही सद्विद्या है।[2] 'इदम्' को 'तत्' तथा अहम्को 'इदम् मानना, दोनोंके विनिश्चयका अनुभव करना और इस मिश्रित शक्तिमत्ताके वैचित्र्यका रसास्वाद यह सब 'सद्विद्या' का ही प्रभाव है। इसीलिये इसमें इदन्ता और अहन्ताकी अभेद भावनाका ही महत्त्व होता है। तराजूके दोनों पलड़ोंपर रखी वस्तुकी समानताकी अभेदानुभूतिके समान ही इदन्ता और अहन्तामें अभेदानुभूति होती है। विश्वकी स्फुटताकी क्रिया यहां मुख्यरूपसे रहती है। इसीलिये क्रियाशक्तिकी प्रधानता सद्विद्याका प्रधान गुग है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पांचोंमें क्रियातत्त्वसे ही सद्विद्याका सम्बन्ध है। शुद्ध अध्वाके अन्तर्गत हो शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्यातत्त्व परिगणित हैं। स्वातन्त्र्य स्वभाववाली भगवान्की शक्ति ही क्रियाभेदसे

---

१. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (जयदेवसिंह) पृ० ४१।

२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा-प्रक्रियाविमर्श, पृ० ४१।३४८, पृ० ४२।३४९-३५५।

बहुत प्रकारके उपचारोंसे युक्त हो जाती है। सद्विद्या भी एक ऐसी ही शक्ति है। यह ऐश्वर्य स्वभावकी स्थापिका होती है। सद्विद्याके प्रमाता 'मन्त्र' हैं। 'मन्त्र' श्रीमदनन्त भट्टसे अधिष्ठित होते हैं[१]।

आ—अशुद्ध अध्वा षट्कंचुक

मायासे अघोरेशका संयोग सितेतर सृष्टिका कारण है। समस्त भेदावभासकी जननी और अव्यतिरेकिणी शक्ति माया है। इसीकी मायिताके कारण प्रभु समस्त भेदोंका उल्लास करते हैं। अनन्तभावी-विभागको यह गर्भमें धारण करती है। यह परा निशा है। यह जड है और सूक्ष्म है। माया व्यापिनी और विश्वकर्त्री है। शिव और शक्तिके मूलसे निष्पन्न होनेके कारण यह नित्य और मूलकारण भी है।[२] अनादिमायासे ही अनादि मल भी उत्पन्न होते हैं। मल अज्ञान ही है। अज्ञान अपूर्णमन्यताको कहते हैं। आणव, कार्म और मायीय भेदसे मल तीनप्रकारके होते हैं। आणवमलमें संसार अंकुरित होता है। पुंबुद्धिधर्मसे अभिमत रागमें मुकुलित, पुष्पित, पल्लवित और अवैराग्यमें यह फलित होता है।[३] मलकी सहकारितामें भोगलोलिका उन्मुख होती है। मलके प्रभावसे भावित और परिणामतः संकुचित आत्मवर्गको उन उन भोगसाधनोंकी सिद्धिसे संविभक्त करनेके लिये मन्त्रराट् अघोरेश सितेतर (अशुद्ध अध्वाकी) सृष्टि करते हैं। यद्यपि मल तीन प्रकारके कहे जाते हैं पर वास्तवमें मल मायीय ही होते हैं।[४] परमशिवकी जगद्रूपा शक्तिही माया है। माया एक प्रकारकी गुहा है, जिसमें सारी भेद-वादिताका आवास है।[५] देवदेवेश्वर परमपरमेश्वर शिवकी शक्ति मायाके द्वारा ही भेदानुभूति होती है। तत्त्वग्रन्थिरूपा माया कारणोच्छूनता और कारणाननुच्छूनता भेदसे दो प्रकारको होती है। पृथक् तत्त्वाभासमें

---

१. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (जयदेवसिंह) पृ० ४१, दतिया, पृ० ४, पूर्णताप्रत्यभिज्ञा-प्रक्रियाविमर्श, पृ० ४२।३५७।

२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा-प्रक्रियाविमर्श, पृ० ४५।३७६-३७८।

३. तन्त्रालोक आ० ९।५९-६२।

४. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ० २०।१६३-१६४।

५. तन्त्रालोक आ० ९।२७७-२१२।

उपादान माया ही होती है। क्षुब्ध होकरही यह विश्वका प्रसव करती है। कलाकी कारण माया है। मायाका कार्य कला है क्योंकि कार्य कभी कारण बन जाता है और कारण कभी कार्य बन जाता है। जड़ होनेके कारण इसमें चिद्का अधिष्ठान होता है क्योंकि विना चिदधिष्ठानके जड़ सक्षम नहीं होता।[1] मायातत्त्व जगत्का बीज है, नित्य है और विभुरूपसे स्थित है। आत्मवर्गको मायामें अवस्थापितकर अघोरेश ही इसे क्षुब्ध करते हैं। जैसे दण्डाघातसे हत बदरीके फल ऊपर नीचे उभयपार्श्वमें और चतुर्दिक् विकीर्ण हो जाते हैं, उसी तरह मायाके क्षुब्ध होनेपर चतुर्दिक् चराचर जगत्का उद्गम हो जाता है।[2] माया दिव्य शक्तिसम्पन्न देवी है। समस्त जन्तुओंको मुक्त करती है। अत्यन्त दुर्घट-कारिता इसमें है। यह निर्वैर परिपन्थिनी है। विना शत्रुताके ही 'स्व' रूपका डाका डालकर अपहरण करना इसका काम है। इसके द्वारा बुद्धि भ्रान्त हो जाती है। अमोक्षमें मोक्षकी लिप्सासे शुष्क विचार को यह सत्पथसे उत्पथमें डालकर और भी भ्रान्त बनाती रहती है।[3] मायाशक्तिको विषभी कहते हैं। अशुद्ध अध्वाकी यह प्रमुख तत्त्व है।

कला

कलाकी उत्पत्ति मायासे ही होती है। कलासे तत्वका विस्तार होता है। इसमें भी किंचित्कर्तृत्व होता है। माया जैसे कलाकी जन्मदात्री है–वैसे ही कला भी विद्या आदिकी जननी है। इसमें भी कार्यकारण-भाव है। कला मायाकी कार्य है और विद्या आदिकी जननी होनेसे कारण भी है। कर्तृत्वका आधान करनेके कारण ही यह कला कहलाती है। 'कल संख्याने' धातुसे कलयति संख्यापयति विश्वमिति कलाके विग्रहके अनुसार भेद संख्यानका प्रातिस्विक आवरण कलाका काम है। कलाके चारकार्य हैं। १—विद्या, २—राग, ३—नियति और ४—काल। यह क्रम व्यवस्थित क्रम नहीं है। भोक्तृता और भोग्या-

---

१. तन्त्रालोक आ० ९।१२९-१६४।

२. स्वच्छन्द तन्त्र ११।६०, तन्त्रालोक आ०९, पृ० १२६।

३. तन्त्रालोक आ० ८।३०७-३१५, ३३२-३३६।

त्मता ये दोनों परस्पर अवियुक्त हैं। कलाका कार्य भोक्तृताका पूरक ही है। इसका भोग्यरूपतो इसका विशेषणजन्यगुण है।[१] षट्कंचुकोंका यह दूसरा कंचुक है।

परमेश्वर परमशिवकी अनन्त शक्तियां हैं किन्तु प्रतिनिधि शक्तियां पांचही मानी जाती है। १-सर्वकर्तृता, २-सर्वज्ञता, ३-तृप्ति, ४-नित्यता और ५-स्वतन्त्रता। शुद्ध और अशुद्ध भेदसे उक्त ५ भी दश प्रकारकी होती हैं। कंचुक दशामें संकुचित होनेके कारण ये अशुद्ध दशाको प्राप्त करती हैं। यही अशुद्ध शक्तियां कला आदि रूपसे परमेश्वरको आवृत करती हैं।[२]

तुषतण्डुलवत् कंचुकांचित सुगुप्त-शक्ति परमेश्वरकी अनन्तशक्तियोंमें से उक्त ५ शक्तियां अशुद्ध हो जाती हैं। परिणामतः उनका अधः प्रक्षेप होता है। प्राण आदि परिमित प्रमाताओंके प्रातिस्विक स्वरूपका वे आकलन करती है। तब शिव किंचित्कर्तृत्व से कलित होकर अपनी सर्व-कर्तृत्वशक्तिका विस्मरण कर बैटते हैं। यही कलाका कार्य है।[३] चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तिरूप होनेपर भी अख्यातिवश कला, विद्या, राग, काल और नियतिरूप कंचुक कवलित होनेके कारण परम-शिव पंचक स्वरूपताको प्राप्त कर लेते हैं।[४] किंचित्कर्तृत्व प्रदात्री होने के कारण यह कला पुरुषकी प्रयोजिका मानी जाती है। कला समा-श्लिष्ट शिव भोगभाव भूषित होनेके कारण अणु बन जाते हैं। सर्व कर्तृत्वका और दोषालया कलाका जब अलग-अलग ज्ञान जागृत होने लगता है, तब पुरुषकी विज्ञानाकल संज्ञा होती है। शक्तिपातसे पवित्रित होकर अशुद्ध कला शुद्ध बन जाती है। उस अवस्थामें बद्धाणु मुक्ताणु हो जाता है।

विद्या

परमेश्वरकी दूसरी प्रधानशक्ति सर्वज्ञता है। सर्व ज्ञानको संकुचित

---

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा प्रक्रियाविमर्श ७। ३८८-३९५।
२. षट्त्रिंशत्तत्त्व संदोहः कारिका ७।
३. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, पृ० १२१। २४–२६।
४. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र ७।

करने वाली कंचुकशक्ति विद्या है। किंचिद्वेदनरूपा कंचुक शक्ति विद्या कहलाती है। सर्वज्ञतामें संकोच विद्यातत्त्वसे ही होता है। ज्ञानका उत्पादन किंचित्धर्मताके कारण किंचिद् ज्ञेय तक सीमित हो जाता है। बुद्धि रूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बितभाव विद्यासे ही जाने जाते हैं। विवेकका वैशद्य सीमित हो जाता है। इसलिये ज्ञानका प्रकाश भी सीमित हो जाता है। यह विद्या एक प्रकारकी अविद्या ही है। वेद्यधर्मके कारणही इसे विद्या कहते हैं।[1] विद्यासे लेकर धरापर्यन्त तत्त्व परमार्थतः शिवशक्तिमय ही हैं। मायाके द्वारा ही पृथक्तत्त्वावभास होता है। शक्तिपातसे पवित्रित विद्या भगवद्विषयक विवेक प्रदान करती है।

राग

परमेश्वरकी पूर्णता या नित्यतृप्तिरूप शक्तिका संकोच ही राग कंचुक है। भोगमें रंजकताकी उत्पादयित्री यह रागशक्ति विशिष्ट आसक्तिकी हेतु है। किसी वस्तुके ग्रहणमें, प्राप्तिमें और उपभोगमें जो आंशिक तृप्ति जीवको होती है, वह राग तत्त्वही है। शक्तिपातसे पवित्रित होनेपर राग भगवद्विषयक अभिष्वंगका प्रसव करता है और पुद्गल परमत्त्वका अधिकारी बन जाता है।[2] मुझे कुछ हो यह सामान्याकार विषयक पुंधर्म राग है। सांख्य प्रतिपादित बुद्धिधर्म रागभी विषयाध्यवसायका कारण है। विषयोंमें अभिनिवेश संयुक्त आसङ्ग, रागका ही लक्षण है[3]। मलमायाप्रसूत वासना रागकंचुककी ही सहगामिनी है। रागमें अन्य कंचुकोंकी अपेक्षा सुखानुभूतिका स्वारस्य सर्वाधिक है।

काल

भगवान्‌की नित्यता शक्तिका संकोच ही काल कंचुक है।[4] शिव भट्टारकके पंचक स्वभावमें काल कंचुककी कमनीयता कल्पित है।

---

१. सर्वज्ञताऽस्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः॥
षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहः कारिका ९।

२. भगवत्येवाभिष्वंगः प्रसूयते। तन्त्रालोक आ० ९। १७१।

३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा प्रक्रियाविमर्श, पृ० ६३। ५३१–५३३।

४. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (जयदेव सिंह) पृ० १२१।

अखिलका कलनात्मक त्रैकालिक आवरकत्व कालका वैशिष्ट्य है।[१] काल-परिच्छिन्न ही कार्य होते हैं, हो चुके हैं और भविष्यमें भी होते रहेगें। भाव अभाव आदिका अवभास, क्रमरूपताकी अनुभूति कृत, कुर्वत् और करिष्यमाणमें कर्तृत्वका ऊहापोह, सब काल कंचुकका ही माहात्म्य है।[२]

नियति

नियति नियन्त्रण करने वाला कंचुक है। यह विशिष्ट कार्य मण्डलमें नियोजित करनेके कारण नियति कहलाती है। नियति संगत इच्छा ही कार्य मण्डलके संयोजनमें कारण बनती है। शक्तिपात पवित्रित होकर यह भगवदाराधन भावका नियमन भगद्विषयक रतिमें करती है।[३]

इन षट् कंचुकोंसे परमशिव आवृत होकर जीव पुद्गल और पाशबद्ध पशु बन जाते हैं। समस्तभेदकी प्रतीति इन्हीं कंचुकोंके आधार पर होती है। इन कंचुकोंके आवरणसे जिस जिस दुर्भेद पादपकी सृष्टि होती है, उसका कृन्तन धारारूढ़ सत्तर्कसे ही सम्भव है।

पुरुष

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार परब्रह्म ही पुरुष है।[४] यह अनादि तत्त्व है। सुख दुःखके भोक्तृत्वमें पुरुष हेतु होता है और प्रकृतिस्थ होकर समस्त प्रकृति सम्भूत गुणोंका उपभोग करता है। पुरुषकी अच्छी बुरी योनियोंका कारण प्राकृतिक गुणोंका आसङ्ग ही है। इस शरीरमें उप-द्रष्टा, अनुमन्ता; भर्त्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्माके रूपसे वही प्रख्यात है। इसप्रकार पुरुष और प्रकृतिके गुण संयोगके रहस्यका वेत्ता संसृति चक्रका अनुवर्त्तन नहीं करता। उसी आद्य पुरुषसे यह पुरानी प्रवृत्ति प्रसृत हुई।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनके अनुसार पुरुष बारहवां तत्त्व है। चिदात्माकी 'स्व' शक्तिका संकोच हो जाता है। शक्ति संकोचको ही शक्ति दारिद्रय कहते हैं। शक्ति दारिद्रय होनेपर परमशिवका 'पर' स्वरूप अपरमें परि-

---

१. तन्त्रालोक, आ० ९। ४५–४७, आ० ९। २०१।
२ पूर्णताप्रत्यभिज्ञा प्रक्रियाविमर्श, पृ० ६३ ५३४–५३६।
३. मालिनीविजयोत्तर तन्त्र ४। २८–२९ ।तन्त्रालोक आ०९। २०२–२०३
४. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १०। १२, अध्याय ११। १८, ३८।

र्वातत हो जाता है। वह परिमित मूर्ति बन जाता है। सन्ध्याकालीन सूर्यकी भांति उसके सारे प्रकाशके ऐश्वर्यकी समाप्ति हो जाती है। मात्र करुणाभासे भासित अवशिष्ट असमर्थ जब अपने ही अवभासनमें अपटु वह पुद्गल अणु जीवमात्र रह जाता है। वही पुरुष संज्ञासे विभूषित होता है।[१]

सांख्य दर्शनका पुरुष न प्रकृति है और न विकृति है[२] वह अनुभयात्मक होता है। वह कूटस्थ है, नित्य है, अपरिणामी है। न वह प्रकृतिका है और न किसीकी विकृति ही है।

अघोरेश और मायाके संयोगसे सितेतर सृष्टि होती है। माया आच्छादिका शक्ति है। मायासे अवच्छादित अघोरेश ही पुरुष तत्त्वके रूपमें व्यक्त होते है।[३]

पुरुष तत्त्वके रूपमें अघोरेशके परिर्वातत हो जानेपर उनकी सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता, पूर्णता या नित्यतृप्ति, नित्यता या व्यापकता और स्वातन्त्र्यशक्तियां कंचुकों द्वारा आवृत हो जाती हैं। वह व्यापक तत्त्व एक-एक प्रातिस्विक इकाईका प्रतिनिधि बन जाता है और पुरुषसंज्ञासे विभूषित हो जाता है। समस्त सीमित अभिव्यक्ति पुरुष ही है।[४] यहीं संसारका निर्माण हो जाता है। पूर्णत्वाभावके कारण परिमित हो जानेसे अणुत्वकी प्राप्ति हो जाती है। अणु महेश्वरसे अन्य नहीं हैं। चिद्चिद्-रूपताभासी होनेकेकारण वे क्षेत्रवित्, पशु और पुद्गल कहलाते हैं। पुरुष अज्ञानसे रहित कभी नहीं रहता। सात प्रमाताभी पुरुष सर्गही हैं पर उनके विचित्र स्तर हैं।[५] पंचविंश पुंस्तत्त्वरूपमें संकोचका आपादानकर अणु विराजमान हैं। षट्कंचुक इसका अन्तरङ्ग आवरण है।[६] यह पुंस्तत्त्व पुंस्प्रत्यय का निबन्धक है। परमशिवत्वका यह बाधक भी

---

१. षट्त्रिंशतत्त्वसंदोहः कारिका ६। २. सांख्यकारिका कारिका ६।
३. सर्वदर्शन संग्रह (ऋषि) पृ० ६२८।
४. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (जयदेव सिंह) पृ० १३ 'Siva....परमितत्वादणुत्वम्
५. मालिनीविजयोत्तर तन्त्र (फारवर्ड) पृ० २१–२३।
प्रथमअधिकार पृ० ३, श्लोक १७–२५।
६. तन्त्रालोक आ० ९। पृ० १६४।

है। पुरुषतत्त्व प्रकृतितत्त्वसे दश हजारगुना बड़ा तत्त्व है। पुरुषतत्त्वसे नियति एक लाख गुना बड़ी है। ईश्वरेच्छाके कारण ही पुरुष क्षुब्ध-लोलिक होता है।

प्रकृति

परमशिवकी अक्षुब्ध शक्तिका नाम शान्ता शक्ति है। वह इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनोंकी समष्टि है। तीनोंको अपने गर्भमें धारण करती है। जब शान्ता शक्ति संकुचित होती है, उस समय उसमें इच्छा, ज्ञान और क्रियाकी अविभागावभासावस्था रहती है। इच्छासे रजोगुण और अहंप्रतीतिकी उत्पादयित्री अहंकृति उत्पन्न होती है। ज्ञानशक्तिसे सत्त्व और क्रियासे तमोगुणकी सृष्टि होती है। अविभागावस्था साम्यावस्था है। त्रिगुणात्मकता ही उसका प्रक्षोभ है।

प्रकृति चिदात्मिका होती है। इसमें ही बुद्धि, अहंकार और मनका आश्रय होता है। त्रिकके इस आश्रयणको साम्यावस्था कहते हैं। त्रिगुण-तत्त्वमें प्रक्षोभ होनेसे ही प्राकृतिक सृष्टि होती है। प्रकृति तत्त्व वही (प्रकृत्यण्ड) है। यह ब्रह्माण्डोंकी तरह अनन्त है।

कलाका विशेषण भाग 'किंचित्' है। उसे वह 'स्वात्मपृथक्' करती है। उसी समय सुख, दुःख, मोहात्मक भोग्यविशेषानुस्यूत सामान्यमात्र गुणसाम्या प्रकृतिकी उत्पत्ति होती है। यही प्रकृति सर्ग है।[1] भोक्तृत्वके लिये ही प्रकृतिका क्षोभ स्वतन्त्रेश करते हैं।[2] सत्त्व, रज, और तम ये गुण तत्त्व संवेद्य हैं। सत्त्वसे सुख, रजसे दुःख और तमसे मोहकी अनुभूति होती है। क्षुब्ध होकर ये गुण कार्यका विस्तार करते हैं। यह सब प्रकृति रूप प्रधान अव्यक्त तत्त्वका विकास है।[3] वेद्यमात्र प्रकृति और वेदक पुरुष है। सांख्यके अनुसार प्रकृति एक और विश्वात्मक है। त्रिक दर्शनके अनुसार प्रत्येक पुरुषकी प्रातिस्विक प्रकृति भिन्न है।[4] गुणतत्त्व क्षुब्धता के ही परिणाम हैं। इन गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है। प्रकृति मूल है, प्रधान है और अव्यक्त है तथा गुणोंकी कारण है।

---

१. तन्त्रसार आह्निक ७, पृ० ८३।
२. तन्त्रालोक, आ० ९। २२५।
३. तन्त्रालोक आ० ९। २२०–२२६। पृ० १७६–१८१।
४. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (जयदेव सिंह) पृ० १३।

बुद्धि, अहंकृति, मन, ज्ञानेन्द्रियां और तन्मात्रायें

बुद्धि तत्त्वमें वेद्य प्रकृति और पुरुष दोनोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है। यह निर्मल तत्त्व है। स्वप्नके सदृश बुद्धिमें इन्द्रियकृत विषयोंका भी प्रतिबिम्बन होता है। बुद्धिसे लेकर गुण पर्यन्त २७ भुवनोंकी प्रतिष्ठा है। केवल बुद्धिमें चार अष्टक होते हैं।[१] गुणोंसे ही निर्मल बुद्धितत्त्वकी निष्पत्ति होती है[२]। बुद्धिका बहिर्विषयक प्रतिबिम्बन दो प्रकारका होता १—अक्षद्वारक और २—अतद्द्वारक। प्रत्यक्षमें अक्षविषयक और उत्प्रेक्षा आदिमें अतद्वारक विषयक प्रतिबिम्बन होता है।

बुद्धिसे ही अहंकृतिकी उत्पत्ति होती है। यहां बुद्धि कारण बनती है और अहंकार उसका कार्य होता है। वेद्यकलुष प्रकाशमें ही अहंमननात्मकता होती है। अहमात्मक अभिमान आत्मामें नहीं अपितु बुद्धिमें ही होता है। बुद्धि आत्मप्रतिबिम्बकी आधार है। इसकी संरम्भरूपी वृत्तिके कारण पांच प्राणोंको प्रेरणा मिलती है। प्राणियोंका जीवन और मृत्यु इसीपर निर्भर है। इसके कारण प्रकृतिभेदसे दो स्कन्ध होते हैं। प्रकृति स्कन्ध सात्त्विक, राजस और तामसभेदसे तीनप्रकारका होता है। सत्त्व प्रधान अहंकारसे ही मन और पांच ज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है।

मन सर्वविषयक होता है। इससे यह स्पष्ट है कि, अहंकारसे तन्मात्राओंकी भी सृष्टि होती है। पांच तन्मात्रायें भी इसीसे उत्पन्न होती हैं। बुद्धि ही बोध है। अहंकार संरम्भ है और मन एषणा अर्थात् संकल्प है। ये तीनों चूंकि अन्तः कृतिके साधक हैं। अतएव अन्तःकरण कहलाते हैं।

शब्दतन्मात्र विशिष्ट अहंकृतिसे श्रोत्र, गन्धतन्मात्रविशिष्ट अहंकृतिसे घ्राण, रूप, रस और स्पर्श तन्मात्राओंसे विशिष्ट अहंकृतिसे क्रमशः चक्षु, जिह्वा और त्वक् इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। सुनता हूँ, सूँघता हूँ, देखता हूँ, आस्वाद लेता हूँ और स्पर्श करता हूँ—यह स्वानुभवसिद्ध व्यापार अहंकृतिकी करणात्मकताके स्पष्ट संसूचक हैं। वही परम महेश्वर

---

१. तन्त्रालोक आ० ८। २२६।

२. तन्त्रालोक आ० ९। २२७।

सद्योजात, अघोर, वामदेव, तत्पुरुष और ईशान रूप पांचभेद भिन्न होकर ज्ञान और क्रियाके उपरागकी प्रधानतासे ज्ञानेन्द्रियों और पंच-तन्मात्राओंमें परिणत हो जाते हैं[१]।

कर्मेन्द्रियां और पंचमहाभूत

अत्यन्त निकृष्ट स्तरपर वही भूतेश पंचमहाभूतके रूपमें क्रीडा करते हैं। गगन, अनिल, अनल, सलिल और इला (क्षिति) यही पंचमहाभूत हैं[२]। प्रलयकी वेलामें पंचभूतोंका भैरव मिश्रण बड़ा ही भीषण होता है[३]। शब्दादि ज्ञानको साधन ज्ञानेन्द्रियां होती हैं। गमनमें पद विसर्गमें पायु, आनन्दमें उपस्थ, वचनमें वाक् और व्यापारमें हाथ करण हैं। यही कर्मेन्द्रियां हैं[४]।

पृथ्वी गन्धवती होती है। स्वाभाविक तारल्य जलका लक्षण है। उष्ण-स्पर्श तेज होता है। अरूप स्पर्श वायु और शब्द गुणक आकाश होता है। ३६ तत्त्वोंमें व्यक्त कौल भगवान् परमशिव ही क्रीडा कर रहे हैं।

यह सारा उल्लास विसर्गामोद सौन्दर्य संवलित और अमृतात्मक है। इस विचित्र उल्लासकी विश्रान्ति परमशिवमें ही होती है[५]। यह क्रिया-शक्तिका ही स्फुट शरीर है। बोध महासिन्धुमें उल्लसित सारी शक्तियां ऊर्मियोंकी तरह स्वात्म संघट्टवैचित्र्यका ही आश्रय कर रहीं हैं[६]। इन छत्तीस तत्त्वोंका विवेचन आगम ग्रन्थोंमें विस्तारपूर्वक किया गया है[७]।

●

---

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, कारिका १६–८८।
२. तन्त्रालोक आ०८। ११८, २५५, २७३, २८०।
३. कामायनी, चिन्ता, पृ० १४।
४. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, प्रक्रियाविमर्श, पृ० ६७। ५६४–५६५।
तन्त्रालोक आ० ९। २८०–२९२।
५. तन्त्रालोक आ० ३ ९२–९५। ६. तन्त्रालोक आ०३। १० –१०४।
७. तन्त्रसार आ० ७–८, तन्त्रालोक आ० ९। १२०–२९२। आदि।

तत्त्ववाद : ५

क–अभेदवाद

कलासे क्षितिपर्यन्त विश्वका विस्तार है। इसमें अनन्त तत्त्व राशिका समावेश है, प्रतिनियत और प्रातिस्विक नामरूपका उन्मेष है। अनेकानेक विचित्र सन्निवेशोंके कारण यह अद्भुत और आश्चय जनक है।[1] अंश अंशके परामर्शसे निरंशका अनुसन्धान होता है। कला कलाके विकल्पका आकलन करते हुए निर्विकल्प बोधतक व्यक्ति पहुँचता है। परामर्श की तीन अवस्थायें होतो हैं।

१–यह सारे प्रपञ्च अविद्यासे नहीं वरन् मुझ (अहम्) से ही उदित हैं।

२–दर्पणके प्रतिबिम्ब की तरह स्वात्ममुकुरमें ही, मुझमें ही यह प्रतिबिम्बित है।

३—यह साराका सारा विस्फार विस्तार मुझसे भिन्न नहीं है। यही शाम्भवोपायकी स्थिति है। शाम्भवोपायका स्वरूप ही परामर्श है। यह सब संविद्का ऐश्वर्य है। संविद् ज्ञान भी है, विषयका प्रकाश भी है।[2] विषयोपरागके महत्त्वके कारण नील और पीत आदि भेद बुद्धिके विभाग भासित होते हैं। परन्तु वस्तुतः देश, काल और आकृति आदिका आवरण हटाकर रहस्यका उद्घाटन करनेपर एकत्त्वका ही अनुदर्शन होता है। इस विन्दुपर चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियाका समन्वय हो जाता है। अहं भावात्मक विमर्शकी स्थिति ही अभेदवादका उत्स है। परमेश्वर की इच्छासे यह क्रीडा हो रही है। इसकी प्रकाशरूपताही ज्ञान है। परमेश्वरके स्वातन्त्र्यका परामर्श ही क्रिया है। इस प्रकार विमर्श ही परावस्थामें शुद्ध ज्ञान और क्रिया बन जाता है। ये दोनों ही परापरावस्थामें (सदाशिव अवस्थामें) इदन्ता सामानाधिकरण्यसम्पन्न अहंता· परामर्शरूप और अपरावस्थामें (मायापदाधिष्ठित दशामें) इदंता परामर्शसे युक्त होकर विलसित हैं। इन अवस्थाओंमें अभेद, भेदाभेद और भेदवादकी अनुभूतियोंका उल्लास होता है। पुद्गल क्रम दर्शनके

---

१. तन्त्रालोक आ० ३, पृ० २५७, पं० ८–१२।

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा वि० १।८।१०, पृ० ३३७, पं० ६, १०।

अनुसार सोपायपरम्पराको पार करता हुआ अभेद स्थितिमें पहुँचकर जीवन्मुक्त होता है किन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार उसकी अक्रम मुक्ति भी संभव है। उसे यह ज्ञान हो जाता है कि—'हम अन्य नहीं हैं। कुटुम्ब और कुटुम्बी कोई नहीं। हम केवल एक हमीं हैं। यहां अवयवावयवि-भावकी समृद्धि है। यहां कुछमें कुछ नहीं, वरन् सर्वसद्भाव है।' इस स्थितिमें अहंताके स्फुरणके महाभावकी महानुभूतिमें सारे भेदभाव विगलित हो जाते हैं। दुःख सुखकी दृश्यवादितामें 'स्व' का विमर्श सिद्ध हो जानेपर यह विश्व नीड बन जाता है। अब तो दुःख सुखसे पुलकित सचराचर विश्व चितिका विराट् मंगल वपु बन जाता है। इसका सत्य, शिव और सुन्दर रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। सबकी सेवा अब पराई नहीं रह जाती। सारा अणु-अणु, कण-कण अद्वयस्वात्म निष्ठ हो जाता है। यही प्रत्यभिज्ञा है क्योंकि 'द्वयताकी विस्मृति है'[1]।

जिस जिस पदार्थका आभास होता है, उसका सृजन होता है—यह सिद्धान्त है।[2] सृजनके उपरान्त संहार अनिवार्य है। स्थिति तो केवल नील पीत आदि भेदरूप स्थापकता मात्र है। विलय भी संहार बीजकी आपादकता ही है। जीव हठपकक्रमसे अलंग्रासकी युक्तिसे चिदग्निसात् होकर पूर्णताको प्राप्त करता है। जीवकी यह पूर्णता-प्राप्ति ही अनुग्रह है। प्रत्यभिज्ञा दर्शनके अनुसार शिवके पांच कृत्य हैं। इनके मूलमें शिवका अभेद अखण्ड अस्तित्व असंदिग्ध है। विश्वाकृति शिव नित्य और विभु हैं।[3] वह एकही है।उसका एकही धर्म अहंप्रत्यवमर्श है। 'स्व'और 'पर'के प्रकाशनमें वह किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। यही इसकी स्वातन्त्र्य शक्ति है। वही शक्ति है। वही शक्तिमान् है। जैसे अग्निमें दाहकत्व और पाचकत्व गुण-धर्मको उससे अलग करके नहीं देखा जा सकता। उसी तरह शिव और शक्तिका

---

१. कामायनी, आनन्द पृ०२८७, २८८-२८९

२. Pratyabhigya Hridayam by Jai Dev Singh—Whatever appears through the succe sive functioning (lit, expantion) of the goddess of sight and other (perceptual functions) is (so to speak) emanated (This is Abhasan ‹ r manefesting) Pagc 84. lina 4-21 and P. 141. Line 2-3.

३. तन्त्रालोक आ० १।६१।

अभेद सिद्ध है। यद्यपि भेदभी पारमार्थिक रूपसे मान्य है क्योंकि भासमान है पर इस भेद भूधरको तोड़कर अभेदकी परम माहेश्वर दशा (जीवन्मुक्ति) को साधक प्राप्त हो जाते हैं।[1] वही निरावरण, आवृत, आवृतानावृत तीनों रूपोंमें भासित है। उसमें तन्मयताकी स्थिति और तन्मयी भावकी सिद्धि आवश्यक है। वह परमेश्वर स्वात्मप्रच्छादन की क्रीड़ाका पंडित है। आच्छादन ही भेद है। इसे हटा देनेपर वह अभेद सिद्ध हो जाता है। विश्व तो उपाधिमात्र है। तीक्ष्ण सूर्यकी किरणें जलमें पड़कर नेत्रानन्द की कारण बनती हैं। वैसेही विश्व है। यह नेत्रोत्सवका कारण है किन्तु वास्तवमें विश्व शिव ही है। यह गर्भीकृतानन्त विश्व परमेश्वर की अनुत्तर दशाका शाश्वत आश्रयण करता है। इसप्रकार सबमें अभेद रूपसे वही परमेश्वर है। वह विश्व देहमें अवस्थित प्रभु है। उसकी इच्छासे इदं रूपमें भासित अन्तर् और बाह्य वस्तुतः एकही है।[2] जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते और नश्यतिके अनुसार जगत् विपरिणामी है।[3] इस जगत् रूपी 'चित्रको निरुपादान संभारोंसे स्व' फलक पर वही परमेश्वर प्रकाशित कर देता है।[4] इसप्रकार भेदमें भी अभेदकी दृष्टिसे अभेदवादकी सिद्धि होती रहती है। कामायनीका यही लक्ष्य है। प्रसादके समग्र साहित्यका यही रहस्य है।

ख–भेदाभेदवाद

पदार्थके नियत गुणोंके अवभासनसे (पदार्थके गुणों अथवा धर्मोंके माध्यमसे) ही गुण (धर्म) युक्त पदार्थका अनुभव होता है। यह अनुभवकी एक स्थिति है। इसीलिये प्रत्येक पदार्थका अनुभव भेद बुद्धिके आधारपर होता है। पदार्थ की पदार्थ रूपसे अनुभूतिके लिये भेद-बुद्धि आवश्यक है। भेद बुद्धिके आधार पर अभेद बुद्धिको प्रसरित होनेका अवसर मिलता है। पहली बात तो यह है कि, पदार्थके भी अन्य अनेक अवान्तर धर्म होते हैं। अवान्तर धर्मोंसे भावित पदार्थोंकी अनुभूतियां भी चित्र विचित्र

---

१. समाधिवज्रेणाप्यन्यै रभेद्यो भेदभूधरः।
परामृष्टश्च नष्ट त्वद्भक्तिबलशालिभिः ॥ तं० ४।१३।

२. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी १।८।७। ३. निरुक्त १।२।

४. सर्वदर्शन सग्रह, पृ० ३६८।

एवं अस्फुट या अनन्त हो जाती हैं। दूसरी बात यह है कि, यदि सर्वको एकमें देखनेकी चेष्टा की जाय, तो भी अनवस्था उत्पन्न हो जायेगी। अन्तःकरण एक दर्पण है। उसमें जगत् प्रतिबिम्बित होता है। यह प्रतिबिम्ब इन्द्रियप्रत्यक्ष है। अनुभूतिका यहाँ विस्तार नहीं होता है। पदार्थमें उल्लसित शक्तिका यह एक धर्म है, जो दर्पणमें प्रतिबिम्बित है। इसके अतिरिक्त भी पदार्थकी स्थिति है। भेद शब्दसे ही अभेदको ध्वनि होती है। एक धर्मसे अनन्त धर्मोंकी कल्पना होती है। अन्न और विष्ठामें एक ही परमाणुका संकलन है। किन्तु पदार्थको मुख्यता न देकर धर्मकी मुख्यता प्रतिपादित करनेका यही कारण है कि, पदार्थके रूपान्तरित हो जानेपर उसका धर्म शक्तिरूपतामें समाविष्ट होकर अपनी व्यापकताका आधार खोज लेता है। जहां कुम्हारने मिट्टीको लोंदा बनाया, चक्रचीवर तैयार किया और अपनी अंगुलियोंके आर्द्र दबावसे जहाँ उसने मिट्टी का स्पर्श किया कि, विविध वस्तुओंके घट, शराव दीपक आदि धर्मका पृथक् अस्तित्व अवभासित होने लगा। वस्तुतः वस्तु क्या है? क्या हम यह मान लें कि, धर्मकी चमकीली अनन्त किरणोंमेंसे एक किरण जो प्रत्यक्ष हो गयी, वह वस्तु है? यदि हम इस प्रकार सोचने लगें, तो हमारे समक्ष एक विचित्र वास्तविकता अपने आप उत्पन्न हो जायेगी। इसको हम अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कह सकते हैं। यहां पर भेद मिटता सा प्रतीत होता है। वस्तुको सीमाका विस्तार होने लगता है। उसके रूप अपूर्व अपरूपतासे रूपायित होने लगते हैं और एक असीम ज्योतिका उद्घाटन होने लगता है। यहाँ भेद अभेदमें परिवर्तित हो जाता है और अभेद भेदके भौतिक आधारमें अपनो भव्य विभाका वैभव भर देता है।

शाक्तोपायमें विकल्परूपसे पदार्थमें सामान्यात्मा धर्मका आभास होता है। इसके अनन्तर इसप्रकारके धर्मसे विशिष्ट अमुक पदार्थ है–यह प्रतीति होती है। शाम्भवोपाय अवस्थामें तो निर्विकल्पक आभास होता है। इसका कारण यह है कि, वहां वस्तु अखण्डरूपसे अवभासित होती है। इसीलिये अविकल्प स्थितिको प्राप्त कर लेने वाला साधक उसी समय शिवताको प्राप्त कर लेता है। शिवताकी प्राप्तिकी पहली शर्त है– हृदयकी निर्मलता ! निर्मल हृदयमें ही पूर्ण अहंका विमर्श होता है। विमर्श दशामें ही ३६ तत्त्वोंकी स्फुरणा होती है। उसी समय एक प्रकाश उदित होता है।

प्रकाशमें ही शिवात्मकताकी संवित् (बुद्धि) उत्पन्न होती है । संवित् एक प्रकारका प्रकाशात्मक आवेश ही है । इस आवेशकी मूल कारण इच्छा-शक्ति है । इच्छाशक्ति साक्षात् शिवस्वरूप ही है । यह अंशरूपसे भासित विश्व भी इच्छाका अंश है । यही शाम्भव समावेश है ।

वास्तवमें यह संसार विकल्प स्वरूप है । सविकल्पक होनेके कारण यह मायामय है । इसकी सीमा अन्तःकरणकी तीन अवस्थाओं तक ही है । इच्छा केवल मन तक ही सीमित नहीं है । यह बुद्धि, मन और अहंकार को भी अपने अमृतसे सींचतो है । जैसे ईश्वर इच्छा, ज्ञान और क्रियासे विश्वका निर्माण करते हैं, उसी प्रकार जीव (पशु) भी इनको शक्तिसे अपने चतुर्दिक् विश्व प्रपंचका विस्तार करता है ।

शाक्तोपायमें वैकल्पिक प्रत्यय होता है । यद्यपि विकल्प सदा भेदयुक्त होते हैं फिर भी विकल्पों का अतिशय अभ्यास हो जाने पर एक निर्विकल्प स्थिति सम्पन्न होती है । उस स्थिति में अत्यन्त स्फुटतम अर्थकी प्रतीति होने लगती है और अर्थका साक्षात्कार हो जानेपर व्यक्ति शक्तिकी सोमा-पार कर निर्विकल्प साक्षात्कारका अधिकारी बनता है । जो व्यक्ति 'स्व' रूप परमेश्वर महाभावमें प्रवेश करना चाहता है, वह अपने विकल्पोंका संस्कार करता है । विकल्प यदि असंस्कृत होंगें, तो 'सर्व' में अपने पनका अहंकार होगा । कर्तृत्वका अभिमान होगा । बाह्य जगत्, जिसमें अपनी इच्छाका ताण्डव हो रहा है, इसमें जगत्की बुद्धि ही दृढ़ होती जायेगी ।

यह वैकल्पिक प्रत्यय है । यह सर्वदा भेद-बुद्धिको ही जागृत करता है । इसलिये यह मायात्मक होता है । इसलिये इसके संस्कारकी आवश्य-कता होती है । विकल्प संस्कृत होकर निर्विकल्प स्थितिमें परिणत हो सकता है । अतः विकल्प भी निर्विकल्पका उपाय माना जाता है । यही कारण है कि, शाक्तोपाय भी उपायोपायके रूपमें स्वीकार किया जाता है ।

यह विचारणीय है कि, पशुभाव (जीवभाव) में भी स्वभावतः 'मैं हूँ' यह बुद्धि जागृत रहती है । यह सविकल्प नहीं वरन् निर्विकल्प ही होती है । यह शाम्भवी स्थिति हो है किन्तु यह स्थिति अपूर्ण ही रहती है । क्योंकि संकुचित प्रमाताकी ज्ञान और क्रियाकी स्थितियां भी संकुचित ही हो सकती हैं । यही कारण है कि, प्रमाताकी संकोच स्थितिका विनाश होने पर ही विकस्वरा शाम्भवी स्थिति उत्पन्न होती है । शाक्तोपायमें

अभेदके विकल्पयुक्त होनेके कारण भेद भी यहां सम्भव है। इसीलिये शाक्तोपायमें भेद और अभेद दोनोंकी स्थिति है। शक्तिको भेदाभेदमय माना ही जाता है।

ग-आभासवाद

विश्व दो प्रकारसे भासित होता है। १-वाच्य रूपसे और २-वाचक रूपसे। वाच्यात्म विश्वरूपत्वका परिस्फुरण प्रकाश ही है। अर्थात् प्रकाश ही विश्व है। विश्व चित्का प्रतिबिम्ब है। प्रकाश निर्विमर्श नहीं होता। द्योतनात्मक चित् तत्त्वका यही सर्वातिशायी वैशिष्ट्य है कि, वह विश्वाकार धारण करनेके उपरान्तभी सबका आमर्श, परामर्श और प्रत्यवमर्श करता रहता है। प्रकाश विश्वका वाच्य रूप है। वाच्य वाचकका आधार ग्रहण करता है। प्रकाश भी विमर्श का आधार ग्रहण करता है। इसीलिये विमर्श वाचक है। विमर्श शिव शक्ति आदि प्रतिनियत व्यपदेशमें असहिष्णु होता है। वहाँ अविभागावभास होता है। वह एक अनाख्य अनिवर्चनीय स्थिति है। वह अनुत्तर प्रकाश ही है। वही सबसे बढ़कर उत्तम तत्त्व है। अपने स्वातन्त्र्यके बलपर उसमें अवविभाषयिषा उत्पन्न होती है। सर्व प्रथम अपनेमें शिवशक्ति रूपताका आभास होता है और यहींसे आभासवादकी मान्यताका श्रीगणेश होता है[1]।

आभासमें प्रकाशका लोल (मधुकिरणोंकी लहरों वाला) कल्लोल प्रारम्भ हो जाता है। प्रकाशका विमर्श सभी शाप तापोंका विनाश करता ही है।[2] पाश्चात्त्य साहित्यके अल्ट्राइज्म और क्रिएशनिज्म जो तर्कातीत अनुभववादके[3] आधारपर प्रवर्त्तित हैं, बहुत ही निम्न कोटिके विचार हैं। तर्कातीत अनुभव भौतिक सीमाकी ऊहाके निचोड़मात्र हैं। आभासवाद सर्जनकी शिवशान्ति और शक्तिशान्तिकी मूलावस्था है। दर्पणमें प्रतिविम्बका भासन तो अशक्य-भासन है। आकार ग्रहणकी सहिष्णुताके कारण दर्पणमें परतन्त्र भासन होता है[4]। इस प्रकार आभासकी दो अवस्थायें हो जाती हैं। १—स्वतन्त्रतावभासविमर्श और २-प्रकाशावभास। इन दोनोंका स्वतन्त्र महत्त्व स्वतः सिद्ध है।

---

१. तन्त्रालोक आ० ३, पृ० ७४। २. कामायनी, दर्शन, पृ० २५२-२५४।
३. समीक्षाशास्त्र खण्ड ४, पृ० १२९१-१२९२।
४. तन्त्रालोक आ० ३। ५६, पृ० ६४ पं० १२-१७, आ० ३। ५७।

क्षोभ्यमें क्षोभकके द्वारा क्षोभ उपत्न्न होता है। क्षोभ ज्ञेयका धर्म है। जैसे मयूरका अण्डा अन्तः सूत्रित बहिर्भावोन्मुख रंगराशिको धारण किये रहता है और उसका ही बहीरूपतया अवभास हो जाता है। यह अवभास प्रतिबिम्बका ही आभासन है[1]। विश्वका ग्राह्यरूप अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्तायमान होकर भासमान है। सर्जनकी आदिमें वेलाके १ – अहन्ता विमर्श और २—इदन्ताविमर्श दोनों विमृश्य और विमर्शकी अभेदवादिताका ही समर्थन करते हैं[2]। विमर्शके द्वारा ऐकात्म्यका जागरण होता है। अन्तरैकात्म्यके दार्ढ्यके उपरान्त बाह्य केवल व्यवच्छिन्न अवभास मात्र रह जाता है। बाह्यके अवभासमें प्रकाश ही कारण बनता है। प्रकाश कभी निर्विमर्श नहीं होता। प्रकाश सबका प्रकाशक होता है। प्रमाता प्रमेय प्रमाण सब कुछ प्रकाशसे ही होता है, यह विभागावभास है। विभागावभास दशामें अहमात्मक परामर्श रूप परावाक्का तीन रूप स्फुरित होता है। १—पश्यन्ती २—मध्यमा और ३—स्थूला बैखरी[3]। पश्यन्ती अवस्थामें उल्लिलासयिषा रहती है। वाच्य वाचक क्रमका अनुदय रहता है। विभागका अवभास नहीं रहता। अतएव चिद्की ज्योतिका प्राधान्य वहां होता है। दृष्टरूपताके कारण ही इसका नाम पश्यन्ती पड़ा[4]।

मध्यमा दशा द्रष्टा और दृश्यके अन्तरालकी बोधक है। इसमें वाच्य वाचक विभाग तो कल्पित होता है किन्तु स्फुटास्फुट रूपसे केवल बुद्धिमें ही आसूत्रित होता है। बीचमें स्थितिके कारण यह मध्यमा नामसे कल्पित है। बिखर शरीरको कहते हैं। बिखरमें होनेके कारण तृतीय वाक्का नाम बैखरी पड़ा है। यहां परावाक् हो पश्यन्ती मध्यमा सोपानोंसे उतरती हुई अभिव्यक्तिकी नाम रूपाकृतिसे विभूषित हो जाती है और विश्वका निर्माणहो जाता है। अवभासकी तीन शक्तियां हैं १-अनुत्तरा परा, २-इच्छा परापरा और ३—उन्मेष अपरा ज्ञानशक्ति। इन तीनोंके सार निष्कर्ष 'अ' 'इ' और 'उ' हैं। इनह्रस्वरोंके क्षुब्ध दीर्घरूप 'आ' 'ई' और 'ऊ' मिलकर छः रूपोंका विभाग होता है। क्रिया शक्ति (सद्विद्या) के सम्पर्कसे

---

१. तन्त्रालोक आ० ३। ८२–८३। २. तन्त्रालोक आ०३। ८८

३. तन्त्रालोक, पृ० २२५, श्लोक २२५।

४. आ०३। २३७–२४७ ।

बारह प्रकारके स्वर निर्मित होते हैं। इन्हींसे वायु तत्त्व 'य' (इ+अ) अग्नितत्त्व 'र' (ऋ+अ), धरातत्त्व 'ल' (ऌ+अ), वरुणजलतत्त्व 'व' (उ+अ)[१] और 'ह' (विसर्ग+अ) आकाश तत्त्वका उद्भव होता है। यही विभागावभास है। यही विश्व है।

विश्वके आवाप और उद्वाप, संक्षेप और विकास, संहार और सर्जन, क्रिया, कृत्य और आवेश, विषय, वस्तु और इन्द्रियार्थ सन्निकर्षमें आसक्ति और विराग आदिमें वृत्तियोंका विलापन करनेपर, अनन्त लहराते हुए विश्व महोदधिका मन्थन करनेपर अभेदावभासकी लक्ष्मी प्राप्त होती है[२]। भेदमें अभेदका यह अवभास हो आभासवादका रहस्य है। आभासवादमें 'सर्व' 'स्व' में समाहित हो जाता है।[३] हीरक गिरिपर विद्युत् विलास होने लगता है और महा हिम-धवल हास उल्लसित हो जाता है।[४] उस शक्ति शरीरीका प्रकाश सभी शापों और पापोंका विनाश कर जाता है। स्वतन्त्र और स्वप्रकाश होनेके कारण वही परमशिव सर्वत्र भासित होता है।[५] विषयाभिमत वस्तु-शरीर धारणकर शिव विभासमान होता है। इस रूपमें वही प्रकाशित है। परमशिवके स्वातन्त्र्यका अर्थ ही यह है कि, वह अभेदस्थितिमें भो भिन्न भासित होता है और भेद भिन्न होनेपर भी अन्तरनुसंधान के द्वारा अभिन्न ही रहता है। विश्वका भेदवाद उसका पूर्वपक्ष है। अभेदावभास ही उसका उत्तरपक्ष है। प्रत्यभिज्ञाके उदयपर बाह्यावभास अन्तरवभासमें परिणत हो जाता है। यह आत्माका अहं पदपर आरोहण है। यह तभी सम्भव है, जब बहिरात्मक वर्तमानावभासनकी रहस्यात्मकता उद्घाटित हो जाय। रहस्यका उद्घाटनभी उसी व्यक्तिको होता है, जिसकी अवस्थिति शुद्ध-चिन्मय तत्त्वमें हो जाती है। जैसे विद्युत् धाराके तारके सम्पर्कसे बल्ब स्वतः प्रकाशित होता हुआ अन्य वस्तु-समूहको भी प्रकाशित करता है। उसी तरह शुद्ध चिन्मयमें

---

१. तन्त्रालोक, आ० ३। ७१–८०। ३। १३४–१५८, ३। २४८–२५२।
२. तन्त्रालोक आ० ३। २६२–२६५, पृ० २४१ से २४४।
३. तन्त्रालोक आ० ३। २७८–२७९, पृ० २५२, पं० १–१८, पृ०२५३।
४. कामायनी, दर्शन पृ० २५४, पं० ७–८।
५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा वि० पृ० ३०, पं० ११–१२।

अवस्थानके कारण सर्वाभास स्वाभाविक हो जाता है। अहंतया और इदंतया अवभासनमें शक्ति ही कारण होती है। अवभासकी अवस्थाओंकी श्रेणी और अधिकारके भेदमें अवभाससे भेद सम्भव है।[1]

घ–बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद

जो स्वप्रकाश है, वह अन्य सभी वस्तुओंको भी प्रकाशित करता है। परमेश्वर स्वप्रकाश है। अतः विश्वका वह प्रकाशक है। प्रकाशमानताके अतिरिक्त विश्वकी कोई दूसरी कल्पना ही नहीं की जा सकती। क्योंकि ऐसा न माननेपर विश्वका भान सम्भव नहीं।

यह परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्तिकी ही महत्ता है कि, वह आत्म-भित्तिमें ही अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह भासित होने वाले इस विश्वका प्रदर्शन करती है। दर्पणमें प्रतिबिम्बित दृश्य वास्तवमें स्वबिम्बसे अतिरिक्त नहीं है। फिर भी अतिरिक्तकी तरह भासित होता है। यह दर्पण की पारदर्शिताका परिणाम है तथा प्रकाशकी प्रकाशमा-नताका प्रभाव है। उसी प्रकार आत्मदर्पणमें वही परमेश्वर इस बृहत् विश्वके रूपमें भासित है। यह विश्व उसी परमेश्वरका प्रतिबिम्ब है।

वास्तवमें इन्द्रियग्राह्य जितने विषय हैं—यही विश्व हैं। शब्द आकाशमात्र वृत्ति होता है। आकाशमें शब्दका प्रतिबिम्ब ही मानो पड़ रहा हो। कटुतिक्त कषाय आदि रसोंकी अनुभूति क्या है? रसनेन्द्रियमें आस्वादनका प्रतिबिम्ब ही तो है। सुकुमार और कर्कश वस्तुओंके कोमल और क्रूर स्पर्श भी त्वगिन्द्रियमें उनका प्रतिबिम्बन मात्र ही है। इसी प्रकार नासिकाका ग्रन्ध ग्रहण करना भी नासिकामें गन्धका प्रति-बिम्बन ही है।[2]

पंचमहाभूतोंमें पृथ्वी, अप् और तेज इन्हीं तीन पदार्थोंमें रूप दृष्टिगत होता है। पार्थिव दर्पणमें या अन्य चिकने पदार्थोंमें रूप ही प्रतिभासित होता है। जलाशय आदिमें भी वही रूप प्रतिबिम्बित होता है। तैजस

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा वि० १।५।१–२–२०।

२. यः प्रकाशः स सर्वस्य प्रकाशत्वं प्रयच्छन्ति।
न च तद्व्यतिरेक्यस्ति विश्वं सद्वावभासते॥
तन्त्रालोक आ० ३।२–५

चक्षुमें भी रूपही प्रतिबिम्बित होता है। वायु और आकाशमें रूपकी सत्ता दृष्टिगत नहीं होती। किन्तु वहाँ भी स्पर्शरूपता और शब्द श्रवण रूपता प्रतिसंक्रान्त होती है। यह अनुभव सबको होता है।

दर्पणमें मुखके प्रतिबिम्बत होनेपर स्पर्शका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। मुखमें स्पर्श है। स्वभावतः पड़ना भी चाहिये किन्तु स्पर्शके प्रतिबिम्बित न होनेका कारण एकमात्र रूपपरमाणुओंकी अपेक्षा स्पर्श परमाणुओंकी स्वच्छताका अभाव है। दर्पणके मलावृत एवं धूल-धूसरित रहनेपर रूप प्रतिबिम्बित नहीं होता क्योंकि स्वच्छताका अभाव रहता है। उसीप्रकार स्पर्श विजातीय परमाणुओंसे युक्त है। अतः सजातीय परमाणुओंसे रहित है। यही कारण है कि, विजातीय परमाणुओंसे उस दर्पणमें कालुष्य उत्पन्न हो जाता है। रूपके स्वच्छ परमाणु प्रतिबिम्बके अर्पक होते हैं। उनमें विशिष्ट स्वच्छताके गुण विद्यमान हैं। वह स्वच्छता रूपमें स्थित स्पर्शके परमाणुओंमें नहीं है। इसीलिये दर्पणमें मुखके प्रतिबिम्बित होनेपर भी उसमें स्पर्शका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। यही कारण है कि, दर्पणमें अपने प्रियके मुखका दर्शन कर लेनेका जैसा आह्लाद किसी कामिनीको होता है, उसीप्रकार उसे स्पर्श एवं अन्य सुखोंका आह्लाद नहीं होता। स्वच्छताका गुण रूपमें भी है और दर्पणके पारदर्शी परमाणुओंमें भी है। अतः दर्पण भी मुखपर प्रतिबिम्ब होता है। सिद्धान्त भी यही है कि रूपही रूपको अवभासित करता है।[1] रूप अरूपको अवभासित नहीं कर सकता है। दर्शन दर्पणमें सम्भव है। स्पर्श नहीं। स्पर्श स्मृतिगुण सम्पन्न होता है। अव्यक्त रूपसे स्पर्श भी प्रतिबिम्बित होता ही है। स्वसे अभिन्नकी दर्शन-क्षमता अपने अव्यक्त प्रकाशकी निर्मलताके अतिरिक्त अन्य कोई चीज नहीं।[2]

विश्वका संवेदन संवित्से युक्त ही होता है। संवित् प्रकाशमय है। अतः प्रकाशकी स्वच्छता ही सर्वत्र भासित होती है। इसे तन्त्रकी भाषामें नैर्मल्य कहते हैं। यह निर्मलता दो प्रकारकी होती है। १–मुख्य और २–अमुख्य। कहीं मुख्यरूपसे प्रकाश भासित होता है। कहीं अमुख्यरूपसे

---

१. रूप एव रूपमवभासते। तन्त्रालोक, आ० ३।५।

२. स्वस्मिन्नभेदाभिन्नस्य दर्शनक्षमतैव या।
अव्यक्त स्वप्रकाशस्य, नैर्मल्यं तद्गुरूदितम्॥ तन्त्रालोक आ०३।८

जैसे दर्पणमें मुख मुख्यरूपसे भासित होता है। उसका स्पर्श अमुख्यरूपसे भासित है। यदि हम यह बात नहीं स्वीकार करेंगे, तो सब कुछ सर्वत्र भासित होनेकी समस्या उठ खड़ी होगी और रूपमें स्पर्श भी भासित होने लगेगा। अतः सदाशिवकी संवित् शक्ति ही अपनी इच्छासे अंश-अंश रूपका अवलम्बनकर भासित होती है।[१] यही इच्छा शक्तिका परिणाम है। "काममंगलसे मंडित श्रेय सर्गकी इच्छाका है परिणाम।" पंक्तिमें प्रसादजीने यही रहस्य उद्घाटित किया है। काम मंगलसे मंडन संविद् शक्तिको स्वेच्छापर ही निर्भर है। पारमेश्वरी क्रियाशक्ति और पारमेश्वरी ज्ञानशक्ति दोनों अपने स्वातन्त्र्यके बलपर बिम्बप्रतिबिम्बरूप आभासकी अद्भुत शक्तिसे संवलित होकर भासित होती है। यही उभयाकार आभास है। यह उभयकारिता कहीं प्रतिघातीरूपमें और कहीं अप्रतिघाती रूपमें व्यक्त है। जहां रूप भासित है, वहां रूप स्पर्शका प्रतिघाती होता है। जहां स्पर्श भासित होता है, रूपका प्रतिघाती होता है। इस स्थितिमें भेद प्रधान होता है। भेदसे स्थूलता आती है। इसी स्थूलताके कारण इसमें अन्य प्रतिबिम्ब नहीं आ सकते। किन्तु जिस स्थितिमें भाव अप्रतिघाती होते है। वहां ज्ञान शक्तिका उपबृंहण रहता है। स्थूलतामें अस्वच्छता रहती है। स्वच्छताके कारण ही प्रतिबिम्बग्रहण सामर्थ्य उत्पन्न होती है।

कुछ लोगों (नैयायिकों) के अनुसार नेत्रकी किरणें ही पदार्थका स्पर्शकर लौट आती हैं और अपना ही मुख देखकर कहती हैं कि, दर्पण का मुख मैंने देखा है।[२] यह एक प्रकारकी भ्रान्ति है। वस्तुतः दो ही प्रकारकी पदार्थ राशि है। एक सत्य और दूसरी भ्रान्त। आँख खोलनेपर नेत्रका तेज बाहर फैलता है। उसी विपर्यस्त तेजसे यदि अपनाही मुख दीख जाय, तो फिर दर्पणकी आवश्यकता ही क्या है? उक्त सिद्धान्तवादी के अनुसार तो विपर्यस्त नेत्र तेज दर्शनमें हेतु बनता है। कभी प्रतिघात

---

१. संवित् संलग्नमेव विश्वं संवेद्यते। तन्त्रालोक ३।९।

२. यस्त्वाह नेत्र तेजांसि स्वच्छात्प्रतिफलन्त्यलम्।
विपर्यस्य स्वकं वक्त्रं गृहणन्ति इति पृच्छ्यते॥
देहादन्यत्र यत्तैजस्तदधिष्ठातुरात्मनः।
तेनैव तेजसा ज्ञत्वे कोऽर्थः स्याद्दर्पणेन तु॥ तं०, आ० ३।१२-१३।

में स्वच्छत्व निमित्त नहीं होता। यदि ऐसा होता, तो आकाशमें जो आलोक रश्मियोंसे आवृत रहता है, उसमें भी प्रतिबिम्ब उभड़ता। स्वच्छता ही प्रतिबिम्ब ग्रहणमें निमित्त होती है।

यदि नेत्रनिःसृत रश्मियां हो दर्शन और प्रतिबिम्बमें कारण होतीं, तो केवल व्यक्तिका ही मुख प्रतिफलित होता। पर ऐसा नहीं होता। समस्त उन पदार्थोंका भी प्रतिफलन होता है, जो जड़ हैं, नेत्र हीन हैं। यदि विपर्यस्त तेजसेही प्रतिफलन होता, तो एक बड़ी विचित्र बात होती कि, अपने ही मुखमें समस्त दृश्यावलियां प्रतिफलित होने लगतीं। रूपके प्रतिबिम्बमें केवल रूपका ही ग्रहण होता है। स्पर्शका नहीं। अन्यथा अग्निके प्रतिबिम्बमें उष्णता अवश्य प्राप्त हो जाता।

भ्रान्तिमें आरोप्यमाणका ही स्फुरण होता है। वस्तुतत्त्वका स्फुरण नहीं होता। दर्पण मुख रूपसे भासित नहीं हो सकता। शुक्तिमें रजत भ्रान्ति है पर दर्पणमें मुखकी भ्रान्ति नहीं हो सकती। स्पर्श आदिसे रहित रूपमात्र ही दर्पणमें भासित होता है। इसी प्रकार दर्पणमें भारराहित्य, रसराहित्य, गन्धराहित्य और शब्दराहित्य होता है। स्वच्छताके कारण दर्पण केवल रूपको ही प्रतिसंक्रान्त करता है। दर्पणका काठिन्य भी एक कारण है। तेजमें काठिन्यका अभाव रहता है। अस्थिरता रहती है। तेजमें काठिन्यका जितना अभाव है, उसकी अपेक्षा पृथक् प्रतिबिम्बके प्रकाशकी योग्यताका भी अभाव है।

दर्पणमें भी आगेकी ओर ही स्वच्छता रहती है। पीछे की ओर तो मलिनता ही बैठी हुई होती है। वह मलिनता ही प्रतिबिम्बकी भित्ति है। तेज तो सर्वांशतः स्वच्छ है। वहां मलिनताकी भित्ति कहां? एक भागसे प्रतिसंक्रान्त बिम्ब दूसरे भागसे निर्गत होता रहता है। यही दशा कांच (शीशे) के टुकड़े या स्फटिकके टुकड़े की भी है। वहां भी प्रतिसंक्रान्त प्रतिबिम्ब भासित नहीं होता। क्योंकि उनमें नयन रश्मियोंके प्रतिघातकी शक्ति ही नहीं है। यदि वहां प्रतिघातकी शक्ति होती, तो फिर वस्तु और द्रष्टाके बीचमें कांच या स्फटिकके रखने पर पारदर्शिताके बावजूद भी द्रष्टाको वस्तुका दर्शन नहीं होता। दीपकके आलोकमें भी यही बात प्रत्यक्ष है। दीपकका आलोक सर्वतः स्वच्छ है। काठिन्यका उसमें नितान्त अभाव है। उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता तो अवश्य है, पर उसका प्ररोह नहीं होता।

संवित् सर्वतः प्रकाशरूप है। इसमें लेश मात्र भी वेद्यत्व नहीं, फिर पृथक् प्रतिबिम्ब का प्रकाश कैसे सम्भव है ? आंखमें भी तो प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। वह आंखके जलीय गोलकमें दीख पड़ता है, न कि तैजस चक्षु इन्द्रियमें। कभी आकाशमें छायापुरुष आदिके दर्शन भी मन्त्रकी प्रभाववादिताके आधार पर होते हैं, न कि आकाशीय भित्तिके बलपर। इससे सिद्ध है कि, वस्तुका प्रतिभासन ही वस्तुका प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिम्ब भी वस्तु ही है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं। उसके प्रकाशित या अप्रकाशित होनेकी बात ही नहीं उठती।

वस्तुकी उत्पत्तिमें कारणकी अपेक्षा रहती है। प्रतिबिम्बका जहां तक सम्बन्ध है, वह भी अखण्ड दर्पणमें ही सम्भव है। दर्पणके टूट जानेपर वह दर्पण बिम्बका प्रतिघाती नहीं बन सकता। अथवा दर्पणके उलट देनेपर भी उसमें नायन रश्मियोंका प्रवेश नहीं हो सकता।

जो वस्तु उत्पन्न है, वह अन्य-निरपेक्ष नहीं रह सकती। घटकी उत्पत्तिमें चक्रकी नित्य अपेक्षा है। प्रतिबिम्बकी उत्पत्तिका निमित्त दर्पण है। वह स्वतन्त्र नहीं है। दर्पणकी अपेक्षा कर वह स्वयं समुद्भूत नहीं हो सकता। वह स्वयं स्थिर या अस्थिर भी नहीं है। दर्पण वस्तु संयोग स्थायी होनेपर स्थिर भी है और असंयोगमें वह अस्थिर भी है। दर्पणके अतिरिक्त प्रतिबिम्बकी सत्ता ही नहीं है। अतः असंयोगमें कालप्रभावके कारण स्थिरता या अस्थिरता होती है। इसलिये वस्तु और अवस्तुसे विलक्षण आभासमात्र-सारवान् यह प्रतिबिम्ब नामक पदार्थ प्रतिभासित होता है।

कुंएंमें गूंजने वाला शब्द भी दूसरेके शब्दकी तरह लगता ही है। अपनेसे बोला गया शब्द भी उसी प्रकार गृहीत होता है, जैसे किसी दूसरे द्वारा कहा गया हो और अनुभूति होती है कि, मैं सुन रहा हूँ। शब्द प्रथम क्षणमें अनभिव्यक्त एवम् अनुच्चारित रहता है। उस अवस्थामें उसका प्रतिबिम्बन नहीं होता है। जब वह स्थान और प्रयत्न द्वारा व्यक्त एवम् उच्चरित होता है, तो श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होता है और दूसरे क्षणमें वह प्रतिबिम्ब बनकर दूसरे द्वारा गृहीत होता है। प्रथम शब्द उच्चारित होता है। इसमें रूपकी प्रतिबिम्ब-जातीयता नहीं होती। क्योंकि रूपके प्रतिबिम्बके अवसरमें बिम्बका ग्रहण होता रहता है। परन्तु यहां नहीं।

हां यह बिम्ब प्रतीति युगपत् नहीं होती। यह प्रतीति चित्रज्ञानकी तरह उभयाश्रयी नही होती। बिम्ब प्रतिबिम्बभावमें बिम्बके विच्छेद होनेपर प्रतिबिम्बकी सत्ता ही समाप्त हो जाती है।

यही बात अन्य रस, स्पर्श, गन्धमें भी लागू होती है[1]। इन्द्रियज्ञानमें गृहीत ज्ञान अपने अपने विषयके आकारमें परिणत होता रहता है। इसे बिम्बसम्मत अर्थक्रिया कहते हैं। ग्राह्य ग्राहक भाव ही अर्थक्रियाका मूल मन्त्र है। प्रियका स्पर्श हुआ। स्पर्शसे आनन्दानुभूति हुई। यह अनुभूति स्पर्शकी अर्थक्रिया है। स्पर्श प्रतिबिम्ब है। प्रियकी स्पर्शेन्द्रियमें विद्यमान स्पर्श अनभिव्यक्त है। प्रथमक्षणमें प्रियके शरीरका स्पर्श द्वितीय क्षणमें स्पर्शका प्रतिबिम्ब और तृतीय क्षणमें सुखानुभूति। यद्यपि स्मृतिमें भी स्पर्शसुखानुभूति होती है किन्तु वहाँ 'स्व' स्पर्श ही आकार ग्रहण कर लेता है और स्पर्श क्षेत्रोंमें प्रतिबिम्बित होने लगता है। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि, स्वप्रकाशरूप संवित्तिके दर्पणमें विश्वात्मा ही प्रतिबिम्बित हो रहा है।[2] यह समग्र जगत् ही अनंश अखण्ड किसी अव्यक्त शक्तिमान् का प्रतिभासित रूप है। स्वच्छबोधमें स्फटिक की तरह सर्वत्र प्रतिबिम्ब पड़ता ही है।

बाह्य बिम्बका प्रतिबिम्ब होता है। यदि बिम्ब ही प्रतिबिम्ब हो, तो फिर दूसरे बिम्बकी कल्पना करनी पड़ेगी। यह विश्व ही, जिसे हम भ्रान्तिसे बिम्ब मान बैठते हैं, वास्तवमें प्रतिबिम्ब है। इसके बिम्ब होनेकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

प्रतिबिम्बका लक्षण

अपने रूपका परित्याग न हो और पररूपसादृश्य प्राप्त हो जाय— जैसे चिकने पदार्थमें, खड्गमें या आदर्शमें अपना ही रूप पड़ता है। अपने रूपका परित्याग नहीं करता परन्तु दूसरा हो जाता है। बिम्ब सदृश आकारही प्रतिबिम्ब है।[3]

---

१. तन्त्रालोक आ० ३।३९, ४१।

२. तेन संवित्तिमुकुरे विश्वमात्मानमर्पयत्।
नाथस्य वदतेऽमुष्य विमलां विश्वरूपताम्॥ तं० आ० ३।४४।

३. स्वरूपानपहानेन पररूपसदृक्षताम्।
प्रतिबिम्बात्मतामाहुः खड्गादर्शतलादिवत्॥ तं० आ० ३।५४-५६

इसप्रकार यह सारा विश्व भैरवीय चिदाकाशमें प्रतिबिम्बित है। इसका भी एक मात्र कारण स्वच्छता धर्म है। अन्य किसीका प्रभाव इस वास्तविकता पर नहीं है। अर्पक उपाधिसे तदाकारता प्राप्त होती है। यह चित् तत्त्वके ऐश्वर्यका ही माहात्म्य है। दर्पणके तलमें जैसे समग्र दृश्य ज्योंका त्यों विचित्ररूपसे चित्रित हो जाता है—उसी तरह यह जगत् भी आत्मामें ही प्रतिबिम्बित हैं[1]। इस प्रतिबिम्बित होनेकी शक्तिको अनुत्तरा परा प्रतिभा कहते हैं। वास्तवमें यह अनुत्तर प्रकाश ही सबसे महान् तत्त्व है। यही शिव और शक्तिरूपसे भासित होता है। यही कुलमार्गकी मान्यता भी है[2]।

इसी उद्देश्यको लेकर कहा गया है कि, सारा संसार परमेश्वरकी शक्ति है। शक्तिमान् तो महेश्वर ही है। आचार्य श्रीकण्ठने भी मङ्गलशास्त्रमें यह निरूपित किया है। यह उसके ध्यानका एक सक्षम सोपान है। अन्तमें एक ऐसी स्थिति आती है, जिसे अनुत्तरा स्थिति कहते हैं। वहीं सम्यक् विश्रान्ति होती है।

तदनन्तर प्राणको नियन्त्रित किया जाता है। उसके ऊपर गुरुप्रति-बोधन होनेपर जैसे दण्डाहत सांप दण्डाकार होता है, वैसे ही वह दण्डाकार होगा—प्राण और अपानकी समवृत्ति इसी दशामें होती है। इसीको समीकृत कहते हैं। ब्रह्म रन्ध्रके नीचे एक चिन्तामणि नामक आधार स्थान है। वह चतुष्पथके सदृश है। उसे शास्त्रीय भाषामें चतुष्किका कहते हैं। उसके नीचे भ्रूमध्यमें विद्याकमल नामक चक्र है। इसे अम्बुज भी कहते हैं। इन्हीं चिन्तामणि और विद्याकमल दोनोंको ऊर्ध्व और अधः गतिशीलताके लिये स्वीकृत करने वाली लम्बिकाके ऊपर विश्वकी निष्कर्षभूता सुधाका आधार है। इसे हम तन्त्र भाषामें सौध कहते हैं। साधक उसी सौध-निवासके लिये लालसावान् रहता है। वहां उसे विश्रान्ति की किंचिद् अनुभूति होती है। ब्रह्मरन्ध्रमें इङ्गला, पिङ्गला और सुषुम्ना तीनों नाडियों का ऊर्ध्व सूत्र संयुक्त भावसे विराजमान

---

१. अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद्यद्विचित्र-रचना मुकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शन-सारवृत्त्या विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु॥

२. यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च।
तत्कुलं विद्धि सर्वज्ञः शिवशक्तिविवर्जितम्॥ तं० ३।६७।

रहता है। उसपर जानेका एक मात्र पथ उसी लम्बिकासे होकर है। तीनों नाड़ियोंका ऊर्ध्वभाग ब्रह्मरन्ध्रसे ऊपर निकला हुआ है—लौकिक भाषामें उसे 'त्रिशूल' कह सकते हैं। वही त्रिशूल इन नाडियोंकी आधार भूमि है। यह कितनी अद्‌भुत बात है। यह तीनों आकाश बेलियां हैं। नीचे लटककर शरीरका संरक्षण करती हैं और अपनी ऊर्ध्वमूलता स्थापित किये हुए हैं। उस शक्तित्रितयपर आरोहण करनेपर भैरवीय चिदात्मामें आत्मसत्ताका विसर्ग हो जाता है। वहीं इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियोंका समवेतरूप अवस्थित है। वहां पहुँचने वाला व्यक्ति ही वास्तवमें सुधी है।

समुद्र नित्य उद्वेलित होता रहता है। यह उद्वेलन और उसका पूर्वरूप दोनों विचारणीय विषय हैं। निस्तरङ्ग समुद्रमें तरङ्गोंका निर्माण उसकी बाह्यवृत्ति है, जिसे उल्लिलसिषा (उल्लसित होनेकी अभिलाषा) कहते हैं। निस्तरङ्गताको अनुत्तर दशा कहते हैं। यह अनुत्तर विमर्श प्राग्व्यापारोंसे रहित होता है। इससे चिद्‌विमर्शपरक अहंपरामर्श स्फुरित होता है। यह परमात्मा की स्वातन्त्र्य वृत्तिका ही परिणाम है। उसी के बलसे अनुत्तर प्रकाशात्मा परमेश्वर अपने रूपका गोपन करते हुए भी प्रमाण आदि दशाओंमें अधिशयित होकर पृथक् भाव राशिका अवभासन करते हैं।

कोई प्रमाता प्रमाणरूपसे उपस्थित विश्व प्रपंचको प्रथमतः देखता है। अनन्तर यह ऐसा है, इस प्रकार सोचता है—विकल्प करता है। फिर उसके मनमें यह भावना उत्पन्न होती है कि, मैंने इस वस्तुको पूर्णतया जान लिया है। यह सन्तोष उसके वाह्य रूपत्वका ह्रास कर देता है और स्वात्म विश्रान्तिका अनुभव उसे हो जाता है। यह उपर्युक्त सिद्धान्तवाद अनुभव साक्षिक है।

ङ—नियतिवाद

नियतिवाद भारतीय दर्शनका एक प्रमुख स्वर है। नियतिवाद प्रसादका जीवन दर्शन भी है। प्रसादकी ज्वाला नियतिका संकेत पाकर ही जगत्‌की ज्वालामुखी, विश्व-वेदनावाली चंचल लटोंको छिटकाकर तमसे जीवनको उलझाये हुए, गहन गुफामें सोती है—उस समय भी वह सतत

अकेली जलती रहती है[१]। नटी सी नियति विश्वमें मानो कन्दुक क्रीड़ा करती हुई नर्त्तन रत है। व्यथासे भरे हुए विश्वके आंगनमें अपने अतृप्त-मनको भरनेका उसका प्रयास भी विलक्षण है[२]। पितामह आदि पूर्वज अपने अनुजोंसे कोई काम विना पूछे ही करते हैं और विना पूछे कोई उत्तर भी नहीं देते। इसमें नियतिका ही हाथ होता है। अन्धनियति कर्तृत्वमदसे मत्त मनुष्योंकी काम शक्तिको अनुचरी बनाकर अपना कार्य करती है और ऐसी ही क्रान्तिके समय विराट्का वर्गीकरण होता है[३]। वस्तुतः मनुष्यतो प्रकृतिका अनुचर और नियतिका दास ही है[४]। नियतिकी नियामिका[५] शक्ति और विशिष्ट कार्य मण्डलमें उसकी योजना[६] सारे विश्व वैचित्र्यकी कारण है। पुद्गलको अपने कर्ममें नियति ही प्रवृत्त करती है[७]। प्रसाद नियतिकी नियामकताके पूर्ण समर्थक थे। वह यह मानते थे कि, जीवन नियतिके कठोर आदेशपर ही चलता है[८]। यही लूसे तपी हुई वसुधाको क्षितिजके निर्जनमें सायंकालीन शीतल आकाशसे मिलानेका काम करती है। नियति एक नील आवरण डाले हुए है। यह सूचीभेद्य अन्धकारमें छिपकर रहती है, बड़ी ही रहस्यमयी है और बड़ी ही कठोर है, इसका नील आवरण उठाकर झांकनेका व्यर्थ प्रयास प्रपञ्च बुद्धि ही करता है[९]। नियति बड़ी विकर्षणमयी होती है[१]। यह विकल प्रवर्त्तनोंमें अपने चक्र चलाती है। असीम अमोघ शक्तिकी संकुचित व्यापकता भी नियतिकी प्रेरणा बनकर एक सीमामें बन्द हो जाती है।

सर्वत्र नित्य समतारूपसे वर्त्तमान शिवकी सत्ता ही नियति है[१०]। कहीं यह कृतान्तकी पत्नी मानी जाती है। कृतान्त उन्मत्त भावसे विश्वनृत्य-शालामें जैसे नृत्यरत रहता है, उसी प्रकार यह नियति भी नटीकी तरह

---

१. आंसू पृ०६०, पं० ९-१२, पृ०६१, पं० १-४। २. पृ० ५१, पं० ५-८।
३. जनमेजयका नाग यज्ञ, पृ० ६६, अंक ३, दृश्य १ पं० १२-१४।
४. पृ० ४३, अंक २, दृश्य १, पं०१५-१६। पृ०४०, अंक १, दृ० ७, पं०३
५. अजातशत्रु ४।३-७, तिलक २-१।
६. तन्त्रालोक आ० ९।२०२। ७. मालिनी विजयोत्तरतन्त्र १।२९।
१, ध्रुवस्वामिनी, पृ० २९, पं० २१।
८. स्कन्दगुप्त, पृ० २८, अंक १ दृश्य ४, पं० ४-५।
९. कामायनी, संघर्ष, पृ० २००, पं० २६। तं० ९।४६--४७
१०. योग वाशिष्ठ—मुमुक्षु प्रकरण १०।१, २१।६।

नृत्यरत रहती है[1]। कामायनीमें प्रसादने जैसे मनु और श्रद्धाके शरीर और सौन्दर्यका लोकोत्तर हृदयग्राही तथा प्रेरक चित्र प्रस्तुत किया है, उसी तरह योगवाशिष्ठमें काल (कृतान्त) की पत्नी नियतिका बड़ा ही रोचक वर्णन किया गया है।[2]

नियति प्रत्यभिज्ञादर्शनकी षट्कंचुकोंमें परिगणित एक प्रधान तत्त्व है। इसकी उत्पत्ति का एक क्रम है। मायासे कलातत्त्व निष्पन्न होता है। कला ही नहीं मायासे विद्या, राग, काल और नियति भी निष्पन्न होते हैं। यह कंचुक कहलाते हैं। सबके अलग-अलग काम निश्चित हैं। नियति कर्म प्रवृत्तिकी प्रधान कारण है। 'कला'से धरा पर्यन्त संसारकी सीमा है। इसमें रहने वाला 'जीव' 'सकल' कहलाता है। सकल पुरुषों को उनके अपने-अपने कार्योंमें लगाने वाली शक्ति ही 'नियति' है। नियति की शक्तिसत्ताके सिद्धान्त को ही नियतिवाद कहते हैं।

पौराणिक नियतिवाद और आगमिक नियतिवादमें दृष्टिकोणका बड़ा अन्तर है। पौराणिक नियतिवादी भाग्यवादी होता है। इससे जिजीविषा शिथिल हो जाती है। व्यक्ति पलायनवादी बन जाता है। पुरुषार्थवादके यह सर्वथा विपरीत है।

आगमिक नियतिवाद असंस्कृत विकल्पों को संस्कार सम्पन्न बनाने की प्रेरणा देता है। पुद्गल पुरुष जिसे आगम 'सकल' पुरुष कहता है—वह नियतिवादके सहारे अपनी जडताका संस्कार कर चिन्मयताकी उपलब्धि कर सकता है। सकल पुरुष की विचार धारामें जडता ४ प्रकारसे बैठी रहती है। १—वह सोचता है 'मैं जड हूँ' २—'मैं कर्म-बन्धनमें बँधा हुआ हूँ', ३—'मैं दीन-हीन और पापी हूँ', ४—मैं दूसरेसे प्रेरित हूँ' यदि इसके विपरीत 'सकल' पुरुष अपनी कर्म योजना को संस्कृत कर ले तथा यह दृढता पूर्वक निर्णय कर ले कि, 'मैं अपना नियामक स्वयं हूँ', तो नियतिवाद स्वातन्त्र्यवादमें बदल जायेगा। फलतः निश्चित ही समरसता और चिदानन्दकी उपलब्धि हो जायेगी।

---

१. नचती है नियति नटी सी कन्दुक क्रीडा सी करती।
इस व्यथित विश्व आंगनमें, अपना अतृप्त मन भरती॥ आंसू पृ० ५१

२. योग वाशिष्ठ, वैराग्य प्रकरण सर्ग २५। १०-११।

च—समरसतावाद और आनन्दवाद

साहित्य शास्त्रका 'रस सिद्धान्त' आगमिक आनन्दवादका ही एक परिनिष्ठित रूप है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथने रस निरूपणमें स्वत्वोद्रेक, अखण्ड स्वप्रकाश, आनन्द और चिन्मय शब्दोंके माध्यमसे आगामिक मनीषाको ही स्वीकृति दी है।

साधारणीकरण व्यापार द्वारा सामाजिक 'स्व'की सीमित परिधिसे ऊपर उठकर जिस चिदानन्दकी चिन्मयताके चमत्कारसे चमत्कृत होता है और विश्वको भी उसी रूपमें स्वीकार करने लगता है—उसी तरह एक समरसतावादी विश्वचेतनाकी अनुभूतिसे भावित हो उठता है। समरसतामें आनन्द समाहित रहता है। जड़ और चेतन जब समरस हो जाते हैं तब अखण्ड घन आनन्दका अपरम्पार पारावार लहराने लगता है।

श्रुतियोंने भी 'रसो वै सः, रसं ह्येव लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'के सन्दर्भमें रस और आनन्दका परस्पर गाढ सम्बन्ध स्वीकृत किया है। रसदर्शन अद्वैत दर्शन है। भक्तिमें द्वैतवादकी महत्ताके कारण उसे समरसताकी परिधिमें नहीं लाया जा सकता। विरहमें स्मृति आन्दोलित होती है। जब स्मृति प्रतीपतया स्वात्माभिमुख प्रेरित होती है–तब वह प्रत्यभिज्ञा कहलाती है। प्रत्यभिज्ञा ही स्वात्मविश्रान्तिकी साधन है। इसीमेंजीवात्मा और परमात्माकी ऐक्यानुभूति परिनिष्ठित होती है। ऐक्यानुभूति ही आनन्द है। आनन्द ही रस है। इसी आत्म्यैक्यानुभूतिको भारतीय मनीषियोंने भी रसरूपमें ही प्रतिष्ठित किया। प्रसादके अनुसार रसका पूर्ण चमत्कार समरसतामें ही होता है[१]। इसी सन्दर्भमें समाधि सुखकी चर्चा भी की जाती है। योगदर्शनके अनुसार समाधि योगीकी सर्वोन्नत अवस्था है, जहां वह, आनन्दकी अनुभूति करता है। एक पक्ष लोकानन्दको ही समाधि सुख मानता है[२]। साहित्यमें रसानुभूतिको ब्रह्मानन्द सहोदर माना जाता है। लोकानन्द व्यक्तिनिष्ठ वासनात्मक स्थायी भावोंके साधारणीकरणकी अवस्थामें ही प्राप्त होता है। यदि इन्हींसे ब्रह्मा-

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ०७५, पं० ६-१३।

२. लोकानन्दः समाधिसुखम्। शिवसूत्र १८।

नन्दास्वाद सम्भव हो जाय, तबतो सहज ही समाधिका आनन्द प्राप्त हो जाय। वास्तवमें यह स्थिति प्रत्यभिज्ञा दर्शनके मुद्राक्रम सिद्धान्तके अनुसार ही आ सकती है[1]।

समरसता साधारण अवस्था नहीं है। इस स्तरपर पहुँचने वाला आसन, मन, प्राण, इन्द्रियां, निद्रा, कोध, उद्वेग और समस्त जागतिक व्यथाओं-पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस अवस्थामें पहुँचकर साधक श्रुत, चिन्तित और भावित ज्ञानके आधारपर सिद्धावस्थाको प्राप्त कर लेता है और सदाशिव समान बन जाता है। इसी मानव शरीरमें इन्हीं तन्मात्राओं-की तलशय्यापर विश्राम करता हुआ, इन्द्रियार्थ सन्निकर्षके वैषम्यका दर्शन करता हुआ किन्तु इनसे अप्रभावित रहता हुआ समरसताको प्राप्त कर लेता है। वहां जड़ चेतन सभी समरस लगने लगते हैं। एकमात्र चेतनाका विलास ही दृष्टिगोचर होता है। अखंड आनन्द मानो घन बन जाता है। वहां कोई शापित तापित नहीं रह जाता। जीवनकी अनुभूति समाप्त हो जाती है। जो जहां है, वहीं समरस हो जाता है[2]। वहां कारण जलधिके समान समरसताका अधिकार उमड़ता रहता है[3]। यह वह भूमि है, जहां अमृत और हालाहल मिले हुए जान पड़ते हैं और सुख दुःख एक डोरमें बँधे हुए दीख पड़ते हैं। इस भूमिमर द्वैत भी अमृत बन जाता है। वास्तवमें ससीमता और असीमता, लघुता और महत्ता संकोच और विकास, एक देशस्थिति और व्यापकता तथा बद्धता और स्वतन्त्रता-की भेदमयी अनुभूतियोंसे ऊपर उठकर स्वात्म-विश्रान्ति ही समरसता है। सरिता और सिन्धुका समागम और अपना सरितारूप छोड़कर अपरम्पार पारावार बनकर लहरानेकी महाभूमि समरसता है। इसमें सभी रस सम बन जाते हैं और योगी भावनाकी उच्च भूमिपर उन्मुक्त विहार करता है। वहां उसे न अपना, न पराया, न ध्याता, न ध्येय और न ध्यानका ही ध्यान रह जाता है। स्वयम् परमानन्द पदपर प्रतिष्ठित होकर आनन्दमें ही तन्मय हो जाता है। शक्ति और शक्तिमानका निर्वि-भागावभास उसी आनन्दभूमिपर होता है। चित्त समरसी भूत हो जाता है और मनकी संकल्पविकल्पात्मकता वहां समाप्त हो जाती है। समरसता

---

१. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र १९ २. कामायनी, आनन्द, पृ० २८८, २९४।
३ कामायनी, श्रद्धा, पृ० ५४, पं० ४-८।

सभी भावनाओं और वृत्तियोंकी समतामें निहित है। समस्त अदिव्य दिव्य प्राणीवर्ग और स्वर वर्ण समाम्नाय की एकात्मकतामें चित्तकी विश्रान्तिसे ही समरसता आती है। मित्र, दम्पति और जीवात्मा-परमात्माकी समरसता द्वैतको भी अमृत बना देती है[१]।

समरसताकी अवस्थामें भेदबुद्धि विगलित हो जाती है। कलासे पृथ्वी पर्यन्तके व्यक्त महाविस्तारमें भेदका ही प्रातिस्विक अवभास हो रहा है। इनके भेदका तिरोधान होनेपर अशुद्ध अध्वामें विश्रान्तिके अनन्तर सामरस्य अवस्था प्राप्त होती है। आनन्द शक्तिमें विश्रान्ति का नाम ही समरसता है।

अन्य मतवादोंकी अपेक्षा समरसताका सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण है। सामरस्य दशामें इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियोंका त्रिकोण-त्रिपुर नये आलोकसे जगमगा जाता है। केवल प्रकाश का विमर्श वहां रहता है। 'इदम' 'अहम्' में पर्यवसित हो जाता है और चिदानन्दके महाभावमें समाहित होकर बद्ध अणु मुक्त और परम माहेश्वर बन जाता है।

छ—अनुपायविज्ञान

यह नियम है कि, जो जिससे गुणोंमें उत्कृष्ट होता है, वह उससे श्रेष्ठ माना जाता है। इस सिद्धान्तके आधारपर आणव से श्रेष्ठ शाक्त, शाक्तसे श्रेष्ठ शाम्भव उपाय और शाम्भवोपायसे श्रेष्ठ अनुपाय विज्ञान है। वास्तवमें उपायोंसे शिवकी परमाद्वैत प्रतीति नहीं होती। उपाय शब्द ही द्वैत-सत्ताका बोधक है। जहां शिवत्त्वकी अनुभूतिमें सभी उपाय समाप्त हो जाते हैं। वहां 'स एवाहं' की महानुभूति होती है। स्व प्रकाशका महाभास विश्वरूपमें विभासित हो जाता है। वहां अनुसंधान और अनुसंधित्सा समाप्त हो जाती है।

अनुपाय दशापर पहुंचनेके लिये उपायोंका प्रयोग स्वाभाविक है। गुरु उपदेश देता है—'यह अनुपाय तत्त्व है।' शिष्य इसका मननचिन्तन करता है। उसे पुनः गुरु बतलाता है—अनुपाय तत्त्व उपेय तत्त्व ही है। यह उपायके विना प्राप्त नहीं हो सकता।

---

१. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, रहस्यवाद, पृ०५६, क्षेमराज

साधक अपने विमर्श के बलसे प्राप्तव्यको प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे पुरुषोंके लिये शास्त्र तृणके समान हो जाते हैं। उपायमें सावधानता की आवश्यकता होती है। विषयनिष्ठ एकाग्रताको अवधानता कहते हैं। इस स्थितिमें भेद का आभास रहता है। अनुपाय विज्ञान दशामें अवधानता का परित्याग हो जाता है। पूर्णतामें अवधानकी आवश्यकता ही क्या है? जो अपूर्ण होता है, वह परमशिवके महाभावसे अवश्य ही वंचित रह जाता है।[1]

सामान्यतया विश्वकी सभी वस्तुएं दो भागोंमें बांटी जाती हैं। १–जड़ और २–चेतन। जड़ वस्तु वह है, जो स्वतः प्रकाशमान नहीं है। वह दूसरे प्रकाशसे प्रकाशित होती है। चेतन स्वतः प्रकाशमान होता है। यदि चेतनमें भी परप्रकाशमानता आ जाय, तो वह जड़तासे संयुक्त हो सकता है। जड़ता और परप्रकाशमानताके विस्तारसे सारा विश्वही अन्धतमस् से आच्छादित है। केवल संवित् स्व प्रकाश होती है। यदि संवित् की स्वप्रकाशता न होती, तो यह विश्व वस्तुतः अन्धकारमय ही हो जाता।

परमेश्वरकी प्राप्तिके जितने उपाय हैं, चाहे वे बाह्य हों या आभ्यन्तर हों, वे सभी संविद्के ही अधीन हैं। संविद्के उपाय ये नहीं हो सकते क्योंकि ये स्वयं संविद्के मुखापेक्षी हैं। संविद् परम प्रकाश रूप होती है। जैसे सूर्य प्रकाशकी परखके लिए जुगनूकी जगमगाहट आवश्यक नहीं। उसी तरह संविद्में विश्रान्ति हो जाने पर उपाय अनपेक्षित हो जाते हैं।

यहाँ एक प्रश्न और भी उपस्थित होता है। जो पदार्थ परमेशकी प्राप्तिके उपायके रूपमें गृहीत हैं—क्या वे प्रकाशमान हैं? यदि वे अप्रकाशमान हैं, तब तो वे उपाय हो ही नहीं सकते क्योंकि अप्रकाशमान पदार्थका कोई रूप ही नहीं होता। फिर उपायता तो असम्भव ही है। यदि उनमें प्रकाश है या वे प्रकाशमान हैं, तब उनकी उपायताकी आवश्यकता ही नहीं रह जातो। चूंकि परमेश प्रकाशस्वरूप ही है। उपाय उपेयके अतिरिक्त होना चाहिये। जब शिव स्वयं ही प्रकाश स्वरूप है, तो फिर प्रकाशमान उपायकी क्या उपयोगिता? परमाद्वैत

---

१. अनुपाय विज्ञान, तन्त्रालोक आ० २।३–१२।

तत्त्व ही शिव है । नीलमें नीलत्त्व, पीतमें पीतत्त्व और सुखमें सुखत्वरूपसे शिवका प्रकाश ही भासित होता है । चूँकि भेदमें भी वही भासित हो रहा है, इसलिये यह भेद भी प्रकाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है । प्रकाशमय शरीर परमेश्वर ही शाश्वत रूपसे भासित हो रहा है । इस अवस्थामें सुख-दुख, बन्ध मोक्ष, चिति और जड़ता एकार्थक हो जाते हैं । कुम्भ और घट की तरह एक अर्थ और एकार्थवाचक शब्दके समान परमाद्वय दशाकी अनुभूति है । वहाँ बाह्य आन्तर जो कुछ लक्षित, परिलक्षित और अलक्षित है, सब शिव ही हैं ।[१]

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि, उस परमतत्त्वका वाचक जो शब्द है, वह उसका अर्थ व्यक्त करता है । वाचक शब्दके मूलमें ही द्वैतभाव बैठा हुआ है । फिर अद्वैत दशा कैसे ? यह द्वैतभाव तत्त्वतः वहाँ है ही नहीं । वहाँ व्यवहृतशब्द मात्र संवेदक हैं । जैसे नील पीत आदि रंग प्रकाशमान होनेपर भी प्रकाश रूप ही हैं । वास्तवमें वस्तुकी वस्तुता की सिद्धि तो अप्रकाश दशामें हो ही नहीं सकती । वस्तुकी नील पीत आदि उपाधियां तो शिवशक्ति स्फुरण की विस्तार हैं । प्रकाश केवल नील पीतादि पदार्थोंमें ही नहीं प्रकाशित है । वह तो वस्तुमात्रमें प्रकाशमान है । इस प्रकार वस्तु, वस्तुतः वस्तु मात्र नहीं अपितु अखण्ड प्रकाशका व्यक्तस्वरूपमात्र है—प्रकाश रूप ही है । वह अखण्ड प्रकाश ही है । प्रकाश विशेष की कल्पना की कोई आवश्यकता ही नहीं है । प्रकाश रूपसे फिर भेदकी कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है । इस प्रकार 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के अनुसार जगत् मिथ्याका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि संसार झूठा है । उसका एकमात्र अर्थ यही है कि, जगत् रूपसे प्रतिभासित भेद बुद्धि, प्रकाशकी विजृम्भामात्र है । जगत् अखण्ड-प्रकाशके अतिरिक्त कुछ नहीं । गौडपादने इसीलिए 'मिथ्या'का अर्थ 'अनिर्वचनीय किया है ।

आत्मासे आत्माका भेद नहीं किया जा सकता । अपनेसे अपना भेद कैसे हो सकता है ? संविद् प्रकाश रूप होती है । प्रकाश रूप संविद्में दूसरी संविद् कल्पित ही कैसे हो सकतो है । इस प्रकार वस्तुभेदमें जो

---

१. तन्त्रालोक आ० २।१–१९ ।

रूपभेद व्यवहारमें चल पड़ा है, यह हाथीके रजः स्नानके सदृश ही है। हाथीने स्नान किया फिर उसपर धूलि डाल ली। हमने एक प्रकाश-मयताका आनन्द लिया फिर उसपर भेदमयताका खेह डाल लिया।

इन प्रकार देश और कालका भेद भी तथ्यसे परे है, यह सिद्ध हो जाता है। वे दोनों परमेश्वरके प्रकाशके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। जब प्रकाशके महामहा परिवेशकी व्याप्तिमें ही प्रकाशकणके समान ये दोनों हैं, तो भेद किस बातका ? प्रकाश नित्य है, सर्व व्यापक है और अखण्ड है[1]। यही नित्यता और व्यापकता देश और कालमें भी प्रकाशरूपसे प्रतिष्ठित है। यह प्रकाशके अतिरेककी दशा है। प्रकाशके अतिरिक्त कोई दशा नहीं। प्रकाशमें अप्रकाश वाला अंश प्रकाशित कैसे हो सकता हैं ? इसलिये किसी नियत निश्चित रूपसे प्रकाशमान नील पीतादि वस्तुकी प्रकाश सत्ताके अतिरिक्त अप्रकाशांश सत्ताका अस्तित्त्व कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ?

इसप्रकार एक प्रकाश मात्र विश्वानुभूतिकी स्फुरणाके उपरान्त विभिन्न ज्ञानानुभूति स्वतः निरस्त हो जाती है। जब विभिन्नवस्तु की अनुभूति ही नहीं तो विभिन्न ज्ञान भी कहां से हो सकेगा ?[2]

अप्रकाशका निषेधतो प्रकाशमें स्वतः सिद्ध है। जब एक प्रकाशमात्र ही सब कुछ है, तो शक्तिशक्तिमान्, ध्याताध्येय, पूज्य-पूजक, मन्त्र और मन्त्र्य, दीक्ष्य-दीक्षक आदि सभी भाव प्रकाशके व्यक्तरूप स्वतः सिद्ध हैं। यहां व्यावहारिक भेद असिद्ध हो जाता है। कौन किसके आश्रित है ? कौन किसके आश्रय पर है ? ध्याता प्रमाताके अभावमें ध्येय भी कौन है ? वस्तुतः यह सब प्रकाशरूप ही है।

इसी सिद्धान्तके अनुसार मन्दिरमें भगवद्विग्रह स्थापन, संनिधान-मुद्रामें भगवान्‌को आसन देना, पूजाके प्रति उन्मुख होना, आराध्यमें अविचलभावसे अवस्थित होना, साष्टाङ्ग प्रणमन, मन्त्रादि का संधान आवाहन और विसर्जन पर्यन्त सभी क्रियायें क्या रह जाती हैं ? कर्त्ता, कर्म और क्रियाके अभावमें यह सारा व्यवहारवाद स्वतः अपास्त होकर रह जाता है। इसकी उपयोगिता अभेदकी उपलब्धिके लिये भेदको साधन

---

१. तन्त्रालोक आ० २।२०-२३।   २. तन्त्रालोक आ० २।२०-२४।

बनानेके सदृश ही है। वास्तवमें एक मात्र प्रकाश ही प्रकाश सर्वत्र उल्लसित है। वह न सत् है, न असत् है। न वह सदसत् स्वरूप है। न सदसत् विलक्षण है। वह अवस्था ही दुर्विज्ञेय है। इसीलिये उसे अनुत्तर दशा कह लेते हैं। यह 'अयं' और हम 'अहम्' का लौकिक अवभास, भेदबुद्धि विस्तारक यह प्रपञ्च चिन्मयका अतना ही चारुतम चित्र है। एक महासत्ताके अनवच्छिन्न रूपसे सर्वत्र व्याप्त होनेपर भेद सिद्ध नहीं हो सकता। यह चेतन अचेतन जगत् प्रकाश रूप है। जगत् महा-प्रकाशका प्रकाशमान अंशमात्र है। यह है, पर अलग नहीं है। यह आदि, मध्य और अन्तसे हीन, यह उदित, भासित और अस्त आदि रूपोंसे रहित और सहित रूप कौन सा रूप है ? कैसे कहा जाय ?

वह न भाव है। न अभाव है। वह अनिर्वचनीय है। वाक्की वहाँ तक गति ही नहीं है। शक्ति वहो है, शक्तिमें स्थित वही है, शक्तिमान् वही है। वह क्या है ? वह कुछ भी नहीं है। वही सब कुछ है। इसप्रकारकी दृढ़ संवित् जिसके मनमें है, जो परमार्थसे पूतचेता हो चुके हैं, वे ही इस अनुत्तर पथपर आरूढ रह सकते हैं। उनको सब कुछमें वही भासित होता है[1]।

इस लोगोंके लिए न पूजन, न मन्त्र, न ध्यान, न समय, न चर्य्या किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं। ये सारी वस्तुयें भ्रमविभ्रम है। उन्होंने संसारकी यन्त्रणाओंके समस्त नियन्त्रणोंके तन्त्रको तोड़ डाला है। वे पांच कृत्योंमें अन्तिम अनुग्रह कृत्यसे ही प्रयोजन रखते हैं। शेष वृत्तियों से उनका कोई प्रयोजन नहीं। लोक कर्त्तव्य ही उनका कर्त्तव्य है, अन्य नहीं।[2]

●

---

१. तं० आ० २।३१, ३३-३५। २. आ० २। ३७–३९

प्रत्यभिज्ञाके परिवेशमें प्रसादकी प्रवृत्तियोंका परिशीलन

(१-१०)

: ३ :

१ – क्रमविकास

क्रमविकासका सिद्धान्त भारतीय विचारसरणीकी मूल उपादान या आधारतत्त्व है। इसे क्रमोन्नतिका सिद्धान्त कहते हैं[1]। सृष्टिके रहस्योंको समझनेमें इससे बड़ी सहायता मिलती है। प्रसादकी कृतियोंके क्रमविकास-के अध्ययनसे उनके स्वाध्यायमें मन्त्रात्मक महाप्रभावका अनुभव होता है। भूतभावन भगवान् विश्वनाथकी नगरीमें अवतरित होने वाला एक व्यक्तित्व विकसित होता हुआ साहित्यिक और दार्शनिक दोनों दृष्टियोंसे शिवत्त्वमें समाहित होकर हिन्दीको विश्ववाङ्मयरत्न 'कामायनी' सदृश महाकाव्य दे गया।

शिशु अपने लघु अस्तित्वमें अनन्त संस्कार समाहित किये हुए उत्पन्न होता है। जैसा वातावरण उसे मिलता है—उसी प्रकारके संस्कार जागरित होते हैं।[2] प्रसिद्ध शैव परिवारमें उत्पन्न बालकको जो वाता-वरण मिला, उसमें केवल दो तत्त्व ही प्रधान थे। १—शैवभक्ति और २—व्यापार। शैवभक्तिकी धाराको प्रसादने पूर्ण शिवके परामृत पारावार-में सम्पृक्त कर दिया। सन् १८८९ में उत्पन्न बालकका शैशव और कैशोर शैव वातावरणमें ही पुलकित होता रहा। सन् १९०९में जबकि प्रसादकी अवस्था २० वर्षकी थी, प्रथम साहित्यिक कृति निर्मित हुई 'उर्वशी,।[3] इन बीस वर्षोंके अन्तरालमें उन्होंने घर-बाहरका भी अनुभव किया, कुछ दिया और बहुत कुछ लिया। पारिवारिक क्लेशकी परम्पराका वज्रपात और स्वाध्यायका शक्तिपात उभयविध अनुभूतियोंका संभार एक व्यक्तित्त्वको विभूषित कर रहा था। गोला गोकर्णनाथमहा-देवकी मनौतीसे उत्पन्न झारखण्डी कहलानेवाला बालक ९ वर्षकी अव-

---

१. धर्मकल्पद्रुम प्रथमसंस्करण, पृ० १४:७।

२. श्रीमद्भागवत स्कन्ध १२। १०। २७। ३७।

३. प्रसादसाहित्यकोश, पृ० २४८, स्तम्भ १६-३१-३२, पृ०२५१, स्तम्भ २

स्थामें ही 'कलाधर' बन गया[1] । इसी नामसे उसने कविताकी और अपने काव्यगुरु रससिद्ध श्री मोहिनी लाल गुप्तको मुग्ध कर दिया[2] । प्रसादको महाकवि होनेका वरदान मिल गया। यही वरदान उनके जीवनकी विपद्वारिद्मालाके मध्यभी शिवरूप अंशुमालीके प्रकाशका विस्तार कर सका। वे उस स्थानपर पहुंच सके, जो आनन्दकी मूल भूमि है। जहाँसे मनसहित सभी इन्द्रियां शान्त हो जाती हैं। वाणी जहाँ मौन हो जाती है। जहाँ कोई भय नहीं रह जाता[3] । जड़ या चेतन जहाँ समरस हो जाते हैं। सर्वत्र साकार सौन्दर्य व्याप्त हो जाता है और एक मात्र चेतनाका विलास ही उल्लसित होता है। अखण्ड आनन्द अपनी तरलता विरलता छोड़कर घना बन जाता है।

मन्त्रद्रष्टा ऋषि होता है। ऋषि तपस्या में जब समाधिमग्न होते थे, स्वयं ब्रह्म उनका अभ्यानर्षण करता था और अज्ञात अदृश्य परावाक् उन्हें प्रत्यक्ष हो जाती थी। प्रसाद भी मन्त्रद्रष्टा बन सके अपनी साधनाके बलपर। विश्वामित्र आजीवन भटकते रहे। जीवनके क्रूर आघात-प्रत्याघातोंसे जूझते रहे किन्तु एक ही गायत्री मन्त्रका उन्होंने दर्शन किया और मन्त्र-द्रष्टा ऋषि बन गये[4] । प्रसाद जीवनके अनेक संघर्षोंसे जूझते रहे। उन्हें अपने परिवारकी भौतिक परिधिमें अपने व्यापारी परिवेशमें अपने अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये कठोर परिश्रम करना पड़ा और साथ ही हिन्दी साहित्यके रिक्त भण्डारको भरनेके लिये साहित्य-साधनाके सोपानोंकी परम्परा पार करनी पड़ी। दोनोंमें वे सफल हुये या नहीं; हिन्दी साहित्यके, प्रत्यभिज्ञाके मन्त्रद्रष्टा अवश्य बन गये। कामायनीके बहुतसे छन्द मन्त्र हैं। यदि उनका जप किया जाय, उतनी ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है, जितनी अन्य शास्त्रीय मन्त्रोंसे, रामायणके पाठसे अनेक चौपाइयोंके जप करनेसे जैसे चमत्कार होता है, उसी प्रकार कामायनीके ऐसे पद्य हैं, जिनका जप करनेसे तदाकाराकारित चित्तवृत्ति होनेके कारण

---

१. प्रसाद की याद, संस्मरण २, ले०–श्री रायकृष्णदास, हिमालय, दीपावली संवत् २००३, पृ० ४–५, तथा 'प्रसाद के संस्मरण' ले० डाँ० राजेन्द्रनारायण शर्मा, साप्ताहिक आज, दिनांक १५-११-४३, पृ० ७ ।

३. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृ० ३ ।

४. तैत्तिरीय उपनिषद्, अनुवाक् ९ । ५. ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः ।

भावसामरस्यके महत्त्वपूर्ण अवसर प्राप्त हो सकते हैं। 'शक्तिके विद्युतकण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय, समन्वय उनका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय' यह पद्य तो प्रसादकी गायत्री है। इसका जप करनेसे ६४ मात्रा कलाओंमें निहित ६४ कलायें स्वतः सिद्ध हो सकती है[1]।

प्रारम्भमें कविका शंकर सम्बन्धी दृष्टिकोण दार्शनिक स्तरका नहीं था। वह भक्तिके ढंगका था। वह सुरेश, रमेश, धनेश, गणेश और शेषकी असामर्थ्य और शंकरके सामर्थ्यको पहचानता है। शंकरके 'नेकुनिहारने' में विरंचिकी व्यवस्था भी डगमगाने लगजाती है। पिता देवी-प्रसादजी भगवान् शंकरके अनन्य उपासक थे। सरायगोवर्द्धनके गोपी नामक बनियेकी कच्ची मकान खरीदी गयी। आसपासके मकान खरीदे गये और उसीसमय परिवारका यह निर्णय हो गया कि, भगवान् सदाशिवका मन्दिर बनना चाहिये। वह बना, उसमें प्राणप्रतिष्ठा हुई और परिवारके सदस्योंके हृदयोंमें भी शंकरकी प्रतिष्ठा हुई। सबसे अधिक शंकरका प्रकाश जयशंकरकी जयन शीलताका कारण बन सका[1]। जय-शंकर नाम सार्थक हुआ और 'प्रसादस्तुप्रसन्नता' के अनुसार वे भगवान्के ऐसे प्रसाद सिद्ध हुए, जिन्होंने हिन्दी साहित्यको प्रसाद-सम्पन्न कर दिया। इनसे आलोक भी धुलने लगा[2]। यद्यपि प्रसादजी १५ वर्षकी अवस्थासे नियमितरूपसे लिखने लगे थे। परन्तु उनकी प्रारम्भिक कविताओंमें जैसा-कि सभी कवियोंकी प्रारम्भिक कविताओंमें स्वभावतः होता है—वही अवस्था प्राप्त होती है, जो बीजके खाद-पानी-वायु और भूमिका सम्पर्कप्राप्त करनेपर होती है। बीजमें यह इन्द्रशक्तिका विकास होता है। प्रारम्भिक कवितायें विभिन्न पत्र पत्रिकाओंमें प्रकाशित होतो रहीं। जिनमें आर्य-महिला, सरस्वती आदि मुख्य थीं। उर्वशी प्रथम प्रकाशित कृति मानी जाती है, जिसमें कवि प्रकृतिके गलेमें वनमालाके समान शोभाप्राप्त करने वाली दिवाकरकी किरणोंके नवालोकसे प्रभावित है। उत्तुंग गिरिशृंग

---

१ गायत्री मंत्रस्य विश्वामित्रः ऋषिः सूर्यो देवता गायत्री जपे विनियोगः। श्रद्धा पृ०५३, पं०१–४, श्रद्धा पृ०५७, पं०१५-१६, पृ०५८ पं० १–४, पृ०५९ पं० ५–१२।

२. कामायनी, वासना, पृ०८७ पं० ११–१३।

उसके मनको आकर्षित कर रहे हैं[१]। विम्बप्रतिबिम्बवादकी[२] प्रक्रियाका अध्ययन कवि कर रहा था। यद्यपि उसकी जीवनधारा भवसागरके प्रबल लहरमें नित्य समा रही थी, किसी प्रकारका सुख, जिसकी कल्पना जीवने की थी, उसे नहीं उपलब्ध है और मलिनता दिन प्रतिदिन बढ़ती ही चली जा रही है। इसीलिए उसका हृदय बरसाती नदी बन गया है। कूलकी मर्यादा भी नहीं रही है। सभी संघाती उसके छूट गये हैं। मायामें आविष्ट होकर अनन्त या अघोरेश जगत्को उत्पन्न करते हैं तथा उनके सभी संघाती शिव, शक्ति, ईश्वर और सद्विद्या छूट जाते हैं और धारा आणव, कार्य और मायीय मलोंके कगारों को तोड़ती हुई बह चलती है।[३] स्वरूपकी हानि होती है। स्वातन्त्र्य का अबोध होता है और मलिनता बढ़ने लग जाती है।[४] स्वप्नलोकके लिये जगत्का खाना पीना मौज करना छोड़ने वाला मूर्ख है। विराग धारण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इसप्रकार स्वर लहरी की झंकार माया अपनी प्रकृति वीणा से करने लग जाती है।[५] वीणाकी यह स्वर-लहरी अपूर्णं-मन्यताका अज्ञान है। संसार का अंकुर फिर बढ़कर पुष्पित पल्लवित होता हुआ प्रतिफलित हो जाता है। प्रेमराज्य के त्रिपुरारी पौराणिक त्रिपुरारि हैं, जो पाशुपत वस्त्रप्रदान करते हैं, जिससे अर्जुनकी विजय होती है। विश्वेश्वर धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके द्वारा चन्द्रकेतु और ललिताकी युगलजोड़ी परस्पर सम्पृक्त होती है। ईश्वर से क्षमा प्रार्थना की जाती है। आशीर्वादभी विश्वेश्वर की क्षमा याचनाके स्वरमें मुखरित होता है। सज्जन एकांकी का नान्दी—'जय शंकर जय जयति जय' के जयकार से ही प्रारम्भ होता है।[६] यहांभी दार्शनिकता की अपेक्षा मुक्तिका ही स्वारस्य है। राग मलको कुसुमित करता है, वह अपनो दर्शन भूमिपर विराजमान न होकर पशुओंको मोह

---

१ चित्राधार उर्वशी, पृ०९ पं८ १–३, पृ०१७ पं०२२–२३, पृ०१८ पं०१-४

२. तन्त्रालोक आ०३, श्लो० ४१–५९।

३. उर्वशी, पृ०१९, पं० १७-२०।

४. तन्त्रालोक आ० ९।६२, ६५, ८४-८५।

५. चित्राधार-प्रेमराज्य पृ० ७७, पं० ९-१०, पृ० ८४ पं० १५, ८५।

६. सज्जन, नान्दी, पृ० ९९ पं० १-६।

लेने मात्रके सामान्यधर्मसे ही संवलित है।[१] यद्यपि प्रत्यभिज्ञा मतवाद के अनुसार पशु पुद्गल होता है और पशुत्व चौदह मलोंका चौदहवां मल है तथा संसार के अंकुर का कारण है,[२] फिरभी यहां मनोरम प्रबन्ध प्रदर्शनकी अभिलाषासे अनुराग उत्पन्न कर चित प्रफुल्लित करनेके लिये ही राग का वर्णन है।[३] सन्१९१२ में कानन कुसुम और 'कल्याणी परिणय' नामक दो कृतियां प्रकाशित हुईं। उससमय प्रसादकी दार्शनिकता इनकी मनोभूमिमें नवपल्लवित लताकी भांति अपनी आभाका प्रसार कर रही थी। उसके कोरक' वृन्त नवनव मुकुल स्तबकों से सुहाने बन रहे थे। आगे चलकर वे गुणही कानन कुसुम बन गये। समर्पण की भावना से प्रथमतः प्रियतम शब्द का अन्तरुच्चार आनन्द वादिताके सन्दर्भमें ही सम्पृक्त होता है। दृष्टिमें प्रसार होता है और वह प्रियतम जो पहले केवल व्यक्तिगत अनुभूतियोंकी आधारभूत इकाई बना हुआ था, अब वह विश्वगृहस्थ बन गया है। उसका द्वार सबके लिये उन्मुक्त हो गया है। वहां रंक और नरेशका अन्तर समाप्त है। जिसके मंदिर के बीच इन्दु, दिनकर और तारे हैं, उसी मन्दिरका नाम निरामय है। वह निरुपम और 'स्व' स्थ है। यह 'स्व' का स्वस्थ दृष्टिकोण यहां स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। गोवर्द्धन सराय के एक मुहल्लेमें निर्मित प्रसाद परिवारका प्राणप्रतिष्ठान प्राप्त सदाशिव अब केवल एक मंदिर का देवता न रहकर विश्वके गृहमें स्थित नाथ बन गया है। विशाल दृष्टि सम्पन्न महाकवि उसे मूर्ति में भी उसी प्रकार मूर्त्तिमन्त मानता है, जिसप्रकार अनन्त मन्दिर रूप विश्वमें विद्यमान और विराजमान है।[४] जब उसकी दृष्टि संसारकी ओर घूमती है, तो उसे सिन्धुकी घोर तरंगोंका तरजना सुन पड़ता है। कुहूका नैश अन्धकार दीख पड़ता है। मानसमें युद्ध छिड़ जाता है और तब आधार वही नाथ बन जाता है। प्रकृति प्राङ्गणमें जिनके कार्य-कलाप हो रहे हैं, प्राचीमें उषाका औषस सौन्दर्य, पूनमके चांदके चांदनीका चमत्कार,

१. सज्जन, पृ० १००, पं० ११-१२।
२. तन्त्रालोक, आ०९ पं० ८४-८५।
३. चित्राधार सज्जन, पृ० १००, पं० ७-१०।
४. काननकुसुम समर्पण, पृ० १०। मन्दिर पृ०१३।

तारकावलिकी कमनीयता, आकाश पटलका अरुणद्वारा स्वर्ण जलसे प्रक्षालन, विहगावलिका कूजन, मलय मारुतकी मन्थर गति, अरविन्दका विलास, चक्रवाकी का मङ्गलमोद—यह सब क्या है ? क्या इसमें किसी अज्ञात प्रियतमकी लुकाछिपी—आंखमिचौनीकी माया है ? वास्तवमें उस चितचोरको छिपाने वाली भूमि है ही नहीं। इस महाक्रीड़ामें शिव और शक्तिका युगल मानों महाकविको प्रत्यक्ष हो गया है। यहां आकर प्रत्यभिज्ञा पुलकित होने लगी है। कवि इसे स्वतः स्वीकार करता है। अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरन्दसे स्पन्दन हीन नवीन मुकुल मन संतोषका आनन्द ले रहा था कि, अचानक मलयानिलका एक झोंका आता है और गुदगुदीके बाद आनन्दका दृश्य प्रत्यक्ष हो जाता है और विश्व विमल आनन्दका भवन हो जाता है। आनन्दकी यह अनुभूति उसकेलिये प्रथम प्रभातके समान ही है।[१] सचमुच मोह-नींद-निमग्न पुद्गलके लिये प्रत्यभिज्ञा प्रथम—प्रभातके प्रकाशके सदृश ही नहीं प्रथमप्रभात ही है[२]। प्रभातके बाद ही वसन्तविलास अर्थात् वसन्तकी वासन्ती आभा आन्तरिक और बाह्य सबमें व्याप्त हो जाती है। ऐसी स्थितिमें हम और तुमका यह अन्तर भी असह्य हो उठता है। हमारा अपूर्णंमन्यताका अज्ञान विपरीत-ज्ञानमात्र[३] था। हमतो पूर्ण हैं। प्रेमकी नींद सोकर स्मृति जाग गयी है। प्रत्यभिज्ञान हो गया है 'प्रत्यभिज्ञानही स्मरण है। उस अनन्तके स्मरण होते ही विश्ववेदनायें विस्मृत हो जाती हैं और विश्वबोध हो जाता है[४]। विश्वबोध ही—वास्तवमें परम विज्ञेय है। यह ज्ञान हो जानेपर चिन्मात्रकी पारमार्थिक सत्तामें प्रवेश हो जाता है[५]। काननकुसुम काव्यमें कृतिकार प्रत्यभिज्ञाकी इसी आत्मभूमिमें विश्राम करता हुआ प्रतीत होता है। कोई त्रिपुटी या कुटीमें कहीं रमे पर कवि विश्व ही उसे प्राप्तकर चुका है। उसका यह आत्मनिवेदन

---

१. तन्त्रसार आ०८, पृ०८३, पं०१३। कानन कुसुम, महाक्रीडा (कविता)

२. काननकुसुम, प्रथमप्रभात, पृ०२२, पं०१२। नववसन्त पृ०२५ पं०१४ पृ० २६ पं० ३।

३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा आ० ८। ५-१०। तन्त्रालोक आ० ५।८०, ९। ६२।

४. काननकुसुम, विरह पृ०७५, पं०८। तुम्हारा स्मरण पृ० ६६ पं०१-२।

५. तन्त्रालोक आ० १, पृ० २-७ श्लो० १७४ पं०५। ३। ९२।

आत्माभिव्यंजन है[१]। काननकुसुम कविकी सन् १९०९ से १९१७ तककी रचनाओंका संग्रह है। कविकी अनुभूतियां परिष्कृत हो चुकी थीं। उसका स्वाध्याय श्री पं० दीनबन्धु ब्रह्मचारी और शैवध्वजके सम्पर्कसे तथा अनेक संस्कृत विद्वानोंके सहयोगसे तन्त्रालोककी गुत्थियोंको सुलझा रहा था। शैवदर्शनका यह स्वाध्याय कानन कुसुमकी परिधिको पार करता हुआ १९२३-२४ वर्षोंमें जबकि कविका वय ३४-३५ वर्षोंकी प्रौढ़तासे पुलकायमान था, 'कामना' के उस राज्यमें विचरण करता है, जहां महाभारतके अनुसार राज्य, राजा, दण्ड और दाण्डिकको कल्पना भी नहीं थी। केवल धर्मके आधारपर प्रजावर्ग परस्परभावनके आधारपर पाल्यमान था। वह एक दिव्य और लोकोत्तर आनन्दका जीवन रहा होगा। वह आनन्द भूमि कविको आकृष्टकर 'कामना' के सृजनके लिये विवश करती है। विश्व भी कामनाका अभिनय क्षेत्र है। अभिलाष चौदह मलोंका पहला मल है। मलरूपमें यह अभिलाष है और दार्शनिक तात्त्विकताकी दृष्टिसे यह इच्छाशक्ति है। इन दोनों रूपोंमें अभिलाष ही विश्वरूपमें विलसित है। कामना नाटक उसीका प्रतीक है। यही कामना १९२५-२६में आंसूकी अविरल धार बन गयी[२]। शैलीमें लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता और उपचार वक्रता लेकर कविकी अनुभूति जीव और शिवके असह्य विरहके कारण अजस्र और शाश्वत गलदश्रुभावुकताके प्रवाहमें बह चली। चेतनाकी तरंगिणी दोनों छोरें छिटकाकर मृदुल हिलोरें लेने लगी[३], ज्वालामयी जलनके प्रत्यभिज्ञा-स्मृति-स्फुलिङ्ग महामिलनके[४] अवशिष्ट चिह्न बनकर चमकने लगे। वहाँ कवि तटस्थ द्रष्टा बन जाता है। वह बौने जलनिधि (संसार) के शशि (शिव) को छूनेके लिये ललकके साथ, उसके हाहाकारके साथ उठ उठकर गिरनेको देखता है। सहृदय संवेद्य मरन्दका उद्गम कोमल कुसुमोंके वनमें जब होने लगा और अपनी लाली लौटानेके लिये विश्व आकुल हो गया, उस समय कविको यह निश्चय हो गया कि, आकुलता इस हद तक बढ़ेगी कि, किनारोंको लहरोंकी तरह छू लेगी, फिर चेतनाकी लहर शान्त हो

---

१. काननकुसुम तुम्हारा स्मरण, पृ०६६ पं० ५-८, पृ० ६७, पं०१-२। पृ० ५, पं० ३६।

२. तन्त्रालोक आ० ९। ५१, ८४-८५, आ० ३। ९५, ३। १५७, ५। ५६

३. आँसू, पृ०८, पं० ९-१२। ४. तन्त्रालोक आ० ५।८५।

जायेगी। जीवनका समुद्र स्थिर हो जायेगा, प्रलयकी सन्ध्या सर्ग बन जायेगी और विच्छेद मिलनके रूपमें परिवर्तित हो जायेगा[१]। यह मिलन ही प्रत्यभिज्ञाके विकासका लक्ष्य है। प्रसादके ये आँसू साधारण नहीं हैं। वाडव ज्वालामुखीकी उष्णतासे वारिदमालाका निर्माण होता है। वह विश्वपर, पर्वतों पहाड़ों और मैदानोंपर छा जाती है तथा वृष्टिके रूपमें वह बरस पड़ती है। कविकी ज्वाला भी जल रही है। वह जगत् भी ज्वालामुखी बन चुकी है। उत्ताल जलधि वेलामें अपने शिरपर शैल उठाये निस्तब्ध गगनके नीचे छातोमें जलन छिपाये जलती है। नियतिके संकेतोंपर तलसे उलझती हुई भी वह जलती रहती है। ऐसी ज्वालाने पीड़ाको घनीभूत कर दिया है। वह मस्तकमें छा गयी है। विरहके दुर्दिनमें वह पीड़ा भी आज बरस रही है। उसकी परिधिमें शैल भी आते हैं।

आंसूकी यह धारा सन् १९२७ में झरनामें आकार ग्रहणकर हिन्दी साहित्यको आप्लावित कर गयी। झरना बहता है। पर्वतीय स्थलोंपर वह उद्दाम गतिशीलताका प्रतीक बन जाता है। अपने बूंदोंकी बौछारसे अधित्यकाओं और उपत्यकाओंको आसिक्त करता हुआ वह समुद्रमें पहुँच जाता है। मानों उत्तुंगता और गहराइयोंमें सोई अतलताको एक सूत्रमें पिरो देनेका उसने बीड़ा उठा लिया हो। वह उपकूलोंमें बहता हुआ भी उत्तुंगता और महोदधिकी अतल गम्भीरतासे परिचित हो जाता है, झरनेका मदीय ममत्त्व त्वदीय बन कर तादात्म्य लाभ करता है। शक्तिको पाकर शिव बन जाता है। विन्दु क्षीरनिधिमें रूपायित हो उठता है। 'वसन्तकी प्रतीक्षा है'। 'वसन्त' आ जाता है। 'किरणें' अपना प्रकाश विकीर्ण करती हैं। वह 'विषाद' 'बालूकी वेला' पर अपने 'चिह्न' छोड़ता प्रतीत होता है। अन्धकारमें किरणोंका प्रतिनिधित्व 'दीप' करता है। कविको दीपकके प्रकाशमें अर्चनाका अवसर प्राप्त होता है। बिखरा हुआ प्रेम कब 'स्वभाव' बनकर और कब 'असन्तोष' बनकर उभरता है, पता नहीं चलता है। वह 'अनुनय' करता है। यहां आकर वह शान्त हृदयसे अनन्त सौंदर्यका दर्शन करता है। चन्द्रिकासे, उज्ज्वल आलोकसे आलोकित होता है और मल्लिकामोहन मृदुहास देखते मुग्ध हो उठता है।

---

१. आंसू, पृ० ९, पं० १-८, पृ० १४ पं०६. पृ०५६, ६०-६१, ६६, ७।

यही नहीं—वह सभीसे ऐसी आनन्द अनुभूतियोंमें डूबनेका निवेदन भी करता है। यही जडत्वका चिदधिष्ठान है। उसकी प्रार्थना सफल हो जाती है। उसे पथमें ही रत्न मिल जाता है। यदि कोई अब भी यत्न न करे, उसका व्यवहार न करे, हार बनकर उसे न पहने तो कविका क्या दोष ? वह तो चेतावनी मात्र दे देनेका अधिकारी है। जीवन घटको सुधासे भरकर आगे बढ़ना और द्वन्द्वके विषका पान न कर आगे बढ़ जाना ही झरनाके उद्देश्य हैं[1]। झरनाके समुद्रमें मिल जानेपर फिर आत्म-विश्रान्तिका परामृत प्रात हो जाता है[2]। अनुत्तर आनन्द, ज्ञान और इच्छा इन तीनोंका एक त्रिकोण बन जाता है। वहाँ पराशक्ति आनन्दोदय क्रमसे क्रियाशक्ति पर्यन्त समुल्लसित होती है। शक्ति चूंकि नित्योदित रहती है. इसलिये स्थिति परमानन्दमय ही बनी रहती है, शक्तिमान् शिव शक्तिके द्वारा उपाधियुक्त होता है। भेदरूपतामें भी संविद्रूप अद्वैत परमार्थ जागृत रहता है। भेद और अभेदरूप संविद्में वास्तविक कोई अन्तर नहीं होता। जैसे हिमसे पृथक् शैत्य नहीं होता और अग्निसे पृथक् उसकी उष्णता नहीं होती। उसी तरह शिव शक्ति रहित कभी रह नहीं सकता, न शक्ति ही शिवके व्यतरिक्त रह रकती है। नानाविध स्थावर और जंगमरूपोंमें वही शिव क्रीड़ाके प्रसरणका आनन्द ले रहा है। इसलिये ज्ञानके लिये स्थूल और सूक्ष्मका भेद नहीं रह जाता है। इन अनुभूतियोंसे भूषित वाणी प्रत्यभिज्ञावाक् बन जाती है[3]। सन् १९२७ के झरना प्रवाहके आनन्द महोदधिमें मिल जानेके बाद उसमें जो उत्तालतरगें उठतीं रहीं, वे ही सन् १९३५ तक अपना भेदमय बाह्यरूप प्रदर्शित करती रहीं। सात वर्षोंके इस अन्तरवकाशमें कविने, स्कन्दगुप्त (१९२८) एक घूंट (१९२९) आकाशदीप (१९२९) कंकाल (१९३०) चन्द्रगुप्त (१९३१) ध्रुवस्वामिनी (१९३३) तितली (१९३४) की जागतिक तरंगोंको ही तरंगायित किया। ऊपर-ऊपर तो सामयिक साहित्यिक प्रवृत्तियोंका संतर्पण होता रहा। युग इसे इसी रूपमें लेता रहा। चतुर्वेदी, भार्गव और व्यास

१. झरना समर्पण ६४-६५, रत्न पृ० ७१-७२, ७५

२. तन्त्रालोक, आ० ५।१५१, १।२०६, ९।१४४ ३।९२

३. तन्त्रालोक, आ०३ ।५९, ५।१५१-१५२, ३।३१७, १।१५८-१५९।

बिगड़ते रहे, प्रेमचन्द्र प्रसन्न होते रहे, किन्तु कवि स्वयम् अनन्तकी अतल गहराइयोंका आनन्द लेता रहा। उसे इसका कोई ख्याल ही नहीं रहा[1]।

सन् १९३५ में इन लौकिक लहरोंमें एक अलौकिक और लोकोत्तर 'लहर' लहरा आयी। वह सूखे तटोंपर छहर गयी, प्यार पुलकसे ढुलक गयी और उसने पुलिनके विरस अधरोंको चूम लिया किन्तु मानसकी गहराईका मोह उसे बना रहा। जलसंपूरित निर्वातमेघ ही मानो उसमें सो रहा हो, नीलमणिका अमल फलक मुकुर बन गया है, जिसमें सारा संसार परछाँईं बनकर झलक रहा है। विश्वचित्रपटकी चलमायामें विभुता विभु सी दीख पड़ने लगती है और दुःख वाला सत्य प्रतिभासित होने लग जाता है[2]। इसी विभुताकी धारा कामायनी (१९३६) की समरसताको रमणीयतामें परिणत हो गयी। मूल, मध्य और अग्र सब विश्वबोधकी[3] एकतत्त्वकी प्रधानतामें समाहित हो गया[4]। कामायनीका श्रीगणेश ऋषि-पंचमी सं० (१९८५) (सन् १९२८) में किया गया था। सातवर्ष बाद शिवरात्रि सं० १९९२ (१९३५) में इसकी समाप्ति हुई थी। यों इसके अंश 'सुधा' और कोशोत्सव स्मारक संग्रहमें प्रकाशित हुए थे पर इसका संशोधन परिवर्धन कर कामायनी पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। कामायनी एक सर्वाङ्ग सम्पन्न महाकाव्य है। यह एक पुनीत पयस्विनीके रूपमें प्रवाहित अनुपम कृति है[5]। यह छायावादी महाकाव्य, रहस्योन्मुख रचना, साहित्यका दर्शन और दर्शनका साहित्य सब कुछ है। यह मुक्तक है, प्रबन्ध है, छन्दबद्ध है, छन्दमुक्त है और निर्बन्ध है। सर्गोंके प्रातिस्विक क्रममें स्वतन्त्र है फिरभी सूत्र संग्रथित रत्नहार है। जीवत्त्व शिवत्त्वका पुलक है। यह क्या नहीं है? प्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुकूल विश्ववाङ्मयकी प्रथम निर्मिति है। चेतनाकी यह चक्राकार चमत्कृति है। प्रकृतिका स्वन, शासन और साधनाकी ध्वनि यहां है। शशिकी सुकुमार किरणें यहां मधुकी

---

१. प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० २५-२७।

२. लहर, पृ०९, पं० १, ४, १५-१६। पृ०१४ पं० १२-१३, पृ०.५ पं०१-६

३ तन्त्रालोक, आ० ८।१२-१४। पृ० ९-११।

४. कामायनी, पृ० ३ पं० ७।

५. सरस्वती संवाद, महाकाव्य विशेषांक, पृ०९९, स्तम्भ २, पं० २६-२८।

वर्षा करती हैं[१]। व्यक्तनीलमें चलप्रकाशका कम्पन यहां सुख बनकर बजता है और एक अतीन्द्रिय स्वप्नलोकका मधुर रहस्य यहां शाश्वत रूपसे उलझ रहा है।[२] २७ भुवनोंके सातों भुवनेश्वर यहां माया[३], कला काल, नियति, विद्या, राग और प्रकृति बनकर छाये हुए हैं। एकान्त नियतिके शासनमें धीरे-धीरे मनुका चलना क्रियाशक्तिके जागरण को व्यक्त करने लगा। सागरके किनारे लहरोंका शान्तस्पन्दन क्रियाशक्तिका ही तो प्रतीक होता है। स्पन्दन और वह भी शान्त, अद्‌भुत समाधिभाषाका प्रयोग है। शान्ति विन्दुकी चौथी अवस्था है। यह दो प्रकारकी होती है। १—शिवशान्ति और २—शक्ति-शान्ति। यहां शक्ति शान्ति है। शिव पंचमन्त्रतनु कहलाते हैं। यहा अघोरमन्त्रका मन्त्रत्व है। अघोरमन्त्र में शिवकी घोरता शान्त और समाप्त हो जातो है। अघोरताका अर्थ ही है सरलता और ऋजुता।

इस प्रकार शिवशान्ति और शक्तिशान्ति का समन्वय विश्वमें सर्वत्र उद्‌भासित है। कामायनी इसकी प्रतीक है। यहाँ नटेश नर्त्तित दीख रहे हैं। उनके चरणोंमें जहाँ पाप पुण्य सभी जलकर समाप्त हो जाते हैं, ज्ञानका लेश–असत्य जहां मिट जाता है वहाँ ले चलने की, श्रद्धासे मनु प्रार्थना करते हैं, वहाँ पहुँचकर अखंड आनन्द सामरस्य अनायास ही उपलब्ध हो जाता है।[४] दिव्य अनाहत निनादमें तन्मयता ही प्रत्यभिज्ञादर्शनकी पूर्णंमन्यताका संविद्-विमर्श है। वहां स्वप्न, स्वाप और जागरण भस्म हो जाते हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रियाका त्रिकोण विन्दुमें समाहित हो जाता है और तन्मयत्व या तादात्म्यभाव स्मृत हो उठता है। जड़ या चेतन की समरसता और घने अखंड आनन्द को देकर कामायनो हिन्दी साहित्यकी सर्वस्व बन जाती है।[५]

---

१. कामायनी, वासना, पृ०८९, पं०८, पृ०८८-८९।
२. कामायनी, आशा, पृ० ३५, पं० ९-१२, पृ० २८ पं० १०, पृ० ३३,
३. तन्त्रालोक आ०९।१६८-१६९ २०३। कामायनी इडा पृ० १६५,
४. कामायनी दर्शन, पृ० २५४। पं० ९-१६, आशा पृ० ३४ पं० १-४
५. कामायनी रहस्य पृ०२७३, पं० १७-२०, आनन्द पृ० २९४ पं० १७-२०

३ : प्रवृत्तियोंके परिष्कार और उत्कर्षके सोपान

(क) उपन्यास, (ख) कहानी, (ग) निबन्ध, (घ) नाटक, (ङ) काव्य

(क) उपन्यास

हिन्दी साहित्यकी औपन्यासिक धाराका श्रीगणेश सन् १८८२ से प्रारम्भ होता है। इस धाराको प्राक्स्वातन्त्र्य और स्वातन्त्र्योत्तर दो भागोंमें विभक्तकर इसका समुचित विश्लेषण और विवेचन साहित्यके इतिहासकारोंने किया है। इस ग्रन्थका विवेच्य विषय स्वातन्त्र्यके पूर्व युगसे सम्बद्ध है। इस युगकी धाराको प्रेमचन्दको एक केन्द्रविन्दु मानकर प्राक्प्रेमचन्द, प्रेमचन्द एवम् उत्तरप्रेमचन्दकी उपधाराओंमें विभक्त करते हैं। प्रेमचन्दका युग सन् १९१८ से सन् १९३६ की सामाजिक धाराके अन्तर्गत आता है। इसमें आदर्शोन्मुख, यथार्थवादी, नग्नयथार्थवादी और रोमाण्टिक भावधारायें आती हैं। इन्हींके साथ कुछ भारतीय अनुभूतियों-का चित्रणभी उपन्यास परम्परामें चलता रहा। प्रसादजीका उपन्यास कंकाल (१९३०) व्यक्तिवादी अन्तश्चेतनाका ही चित्र है[१]। हिन्दी औपन्या-सिक परम्परामें १९१८ के उपरान्त प्रचलित प्रवृत्तियोंमें प्रसादके उपन्यास कंकाल ओर तितली समाजके भिन्न-भिन्न वर्गोंकी परस्पर स्थिति और उनके संस्कार चित्रित करने वाले उपन्यासोंकी कोटिमें आते हैं। मध्य-वर्गीय बौद्धिकवर्गके वैयक्तिक स्वातन्त्र्यकी प्रवृत्तिने व्यक्तिवादी, अन्तश्चेतनावादी, अस्तित्ववादी, और समाजवादी उपन्यासोंको जन्म दिया। इनमें व्यक्तिगत जोवन घटना, व्यक्तिगतचरित्र, व्यक्तिगत जीवन-दर्शन, व्यक्तिगत मनोविज्ञान या व्यक्तिगत जीवन समस्याका निरूपण या निर्देश जिन उपन्यासोंमें है, वह व्यक्तिवादी उपन्यास है। व्यक्तिवाद इण्डि-विजुअलिज्मका रूपान्तर माना जाता है। इस दृष्टिसे यह पश्चिमकी देन है किन्तु इसका एक भारतीय स्वस्थ स्वरूप भी है। प्रसादने इसी भारतोय स्वस्थ व्यक्तिवादको अपने इन दोनों उपन्यासोंमें व्यक्त किया है। प्रसादके व्यक्तिवादमें 'व्यक्ति' आत्मवादी सिद्धान्तकी शुद्ध एवं परिपूर्ण चेतना है। जिसकी विकासशील सम्भावनायें यन्त्रवत् परिचालित सामाजिक व्यवस्थामें बुरी तरह प्रतिबद्ध हैं। पश्चिमी व्यक्तिवादमें व्यक्तिकी स्वरूप-विषयक धारणा पश्चिमके डार्विनके विकासवादी सिद्धान्तोंपर आधारित

---

१. हिन्दीसाहित्य का इतिहास, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० २१२-२१३

है[१]। कविताके क्षेत्रमें ही नहीं जहां कहीं भी वेदनाके आधारपर व्यक्तिगत अंकन होगा, वहां व्यक्तिवादकी प्रतिष्ठा होगी। व्यक्तिमें 'स्व' का अभि-व्यंजन सबसे पहले होता है। बड़ी साधनाके उपरान्त 'स्व' में पर समाहित होता है। वहां भी पूर्णाहन्ता परामर्श व्यक्तिवादकी ही पराकाष्ठा मानी जा सकती है। स्वात्मानुभूति व्यक्तिवादमें तीन प्रकारसे होती है। १—अनुकूल, २—प्रतिकूल और ३—अद्भुत। काव्य जगत्के प्रतीक विधान भी तीन प्रकारके ही होते हैं। अनुकूल अर्थात् ऐसा हो। यह आत्माके विज्ञान अंशका गुणनफल है। प्रतिकूल अर्थात् ऐसा नहीं। यह आत्माके अविज्ञात अंशकी सत्ताका ज्ञान न होनेके कारण हृदयके समीप नहीं। अद्भुत अर्थात् आत्माका विजिज्ञास्यरूप, जिसे हम पूरी तरह समझ नहीं सके हैं कि, वह अनुकूल है या प्रतिकूल। इन्हीं तीन प्रकारके प्रतीक विधानोंमें आदर्शवाद, यथातथ्यवाद और व्यक्तिवाद इत्यादिवादों-के मूल सन्निहित हैं[२]।

व्यक्तिवादके मूलमें आत्मानुभूतिका महत्त्व है। सूर और तुलसीके वात्सल्यवर्णन अनुपम हैं। एकमें संकल्पात्मक अनुभूति मान्य है। दूसरे की अनुभूतिमें भक्तरक्षण समर्थ दयालुता की तीव्रता है। इसीलिए दोनों के व्यक्ति व्यक्तिके दृष्टिकोण से विषय-वैचित्र्य सम्भव हुआ।[३] व्यक्ति जब स्वयं ही शक्तिका केन्द्र है—सतत आराध्य है, आत्ममंगल उपासनामें विभोर है और उल्लासशील है, तो फिर क्यों समष्टिकी शरण खोजेगा।[४] वह स्वयम् 'स्व' को विकसित करेगा। फलतः भी प्रकृष्ट बन जायेगी। यही कारण है कि, प्रसादकी व्यक्तिनिष्ठा प्रभूतरूपसे साहित्यमें और उनके उपन्यासोंमें भी व्यक्त और उद्भावित हुई। जो आत्मनिष्ठ होता है वह व्यक्तिनिष्ठ होता है। उसकी दृष्टिमात्र ही बाह्य होगी, लक्ष्य तो उसका अन्तःस्थ ही होगा।[५] कंकाल श्रेणीवाद, धार्मिक पवित्रता

---

१. हिन्दीसाहित्य का इतिहास, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० २११-२१२।
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ४२, पं० २३-२६।
३. जयशंकर प्रसाद—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४४।
४. कामायनी, इडा, पृ० १६१ पं० ४-५।
५. तन्त्रालोक आ० ५।८०।

वाद, आभिजात्यवाद इत्यादि अनेक रूपोंमें फैले हुए भिन्न प्रकारोंके जातिवादकी अत्यन्त उपेक्षा करता है।[1] वह मानवताके नामपर सबको गले लगाता है।

मानवतावाद ही व्यक्तिवादकी पराकाष्ठा है। यही अहमात्मक अद्वैत है। प्रकाशमात्रमें इसकी विश्रान्ति होती है। प्रकाश क्या है? सूर्य व्यक्तिका प्रकाश है। प्रकाश समाज है। प्रकाशकी आत्मविश्रान्ति ही अहंभाव है।[2]

जगत्का मेला और 'कुम्भ' उसका प्रतीक। उसकी धूमधाम उतर गयी है। उत्साह फीका पड़ गया है। उत्साहके फीका पड़ने पर ही व्यक्ति साधनाकी ओर अग्रसर होता है। यमुना और गंगाके वक्षको चीरती हुई डोंगी अभी बहावकी उल्टी दिशामें ही जा रही है। पथतो साधनाका है। परन्तु मल्लाह डांड़े उल्टा लगाते हैं। अभी लक्ष्यभी क्षुद्र है। कहां अमर तरङ्गोंमें लहरानेका महाभाव और कहां झूंसीका घाट। कहां परमशिवकी प्राप्तिका महान् उद्देश्य और कहां महाशिवका एक जीवांश, एक साधु। उधर जाते समयभी पथमें पत्नी है। वह मायाकी प्रतिनिधि है। अभी जीव मायाके वशीभूत है। वह मायाका सहगामी है। नौकर काम है। विना वेतनका सेवक। तीनों नाव से उतरते हैं। नावसे उतरने पर बहाव छूट जाता है। स्वतः गतिशीलताका प्रभाव अहम् को उत्पन्न कर जाता है। अहंकारकी मात्राका समावेश हो जाता है। प्रस्तुत उपन्यासका कथानक इसी पृष्ठभूमिमें उभरता है। श्रीचन्द्र और किशोरी अमृतसरके रहने वाले हैं। अमृतसर श्लिष्ट शब्द है। श्लेषकी आलंकारिकताका सहारा लेकर 'सकल' जीवको निष्कलके समीप पहुँचाने की चेष्टा कवि ने की है।

प्रत्याहार प्रतिवर्णके विस्तार को आत्मसात् करता है। पाणिनीय व्याकरणके चतुर्दश माहेश्वर सूत्रोंका प्रथमवर्ण 'अ' है और अन्तिम वर्ण 'ह' है।[3] विन्दुके सहयोगसे यह अव्यय और स्वतन्त्रकर्त्ता का प्रतीक बन जाता है। व्यक्तिवादका परिनिष्ठित रूप 'अहम्' है। व्यक्ति ईश्वरको

१. कंकाल, पृ० २६८, २६९। २. तन्त्रालोक, आ० ६। २३८।
३. अष्टाध्यायी, माहेश्वर सूत्र १-१४।

खोजने चलता है और पिशाच मिल जाता है।[१] यह पिशाच विकृत समाज है। इसमें प्रेमका रूप विकृत हो गया है। यही कारण है कि, प्रसादने तितली और कंकाल दोनोंमें समाजके विकृत प्रेमका रूप दिखलाया है। दोनों उपन्यासोंमें व्यक्तिकी इच्छाके विरुद्ध समाजद्वारा उत्पादित विवशता और लाचारी है।[२] किन्तु जब आत्मदर्शन होता है, तब अपनी दुर्बलता अपराधोंकी स्मृति बनकर डंक मारती है। वह बड़ी उत्पीड़नमय होती है। संसार इसे क्षमा नहीं करता है और आत्मदर्शन ही दण्ड बन जाता है। सुधार तो सौन्दर्यका साधन है। सभ्यता सौन्दर्यकी जिज्ञासा है। शारीरिक और आलंकारिक सौन्दर्य प्राथमिक है। चरम सौन्दर्य मानसिक सुधार है।[३] यह व्यक्ति के उत्कर्षसे ही सम्भव है। तभी पूर्ण आत्मविश्वास होता है।[४] व्यक्ति अविभक्त होता है और विभक्त व्यक्तिका सामाजिक स्वरूप है। यह भी निश्चित है कि, वर्तमानमें घटित होने वाले ये भावावभास सबको भासित नहीं होते। जो व्यक्ति अन्तः-स्थित है, उसे ही यह बाह्यार्थावभास होता है।[५] चिन्मयस्थितिमें अवभास भी अन्तः स्थित ही रहते हैं। मायाशक्तिके कारण बाह्यावभास होता है। कंकाल और तितली उसी बाह्यावभास के चित्रण हैं। इनके सभी चित्र तात्कालिक हैं।[६] इसीलिये यह व्यक्ति की अनुभूतियोंके चित्र हैं और व्यक्तिवादी औपन्यासिक परम्पराके अद्वैतबोधके आत्मदर्शनकी प्रत्यभिज्ञावादिताके पारिपार्श्वमें ही चित्रित हैं। यही कारण है कि, पश्चिमके भौतिकवादी शरीर में प्राण फूंक देने का काम 'पूर्व' करता है। प्रसाद भारतीय आत्मिक साम्य और सामंजस्य में ही जीवन का कल्याण मानने वाले उपन्यासकार हैं।[७] जनताको अर्थ और प्रेम की

---

१. कंकाल, पृ० ३०६, पं० २२-२३।

२. हिन्दीसाहित्य का इतिहास, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ०२१२ पं०१७-२०

३. कंकाल, पृ० ३००-३०६ पृ० २०० पं० १२-१३

४. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा आ०५, कारिका १

(वर्त्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव, भासते बहिरात्मना।)

५. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा आ०८, कारिका १-११।

६. प्रसाद की दार्शनिक चेतना, पृ० ५२६, पं० २१-२६।

७. तितली—रमानाथ की उक्ति।

शिक्षा देकर वह उसे पशु बनाना कभी पसन्द नहीं करते। उनकी मान्यता है कि, उसमें ईश्वर या आत्मा का निवास यदि नहीं हुआ, तो लोग दया, सहानुभूति और प्रेमके उद्गमसे अपरिचित रह जायेंगे।

यदि कंकालमें प्रसादने समाजके विकृत प्रेमको चित्रित करते हुए उसे मानवतावादकी अहमात्मक अद्वैत भूमिपर प्रतिष्ठित करनेका सफल प्रयास किया है और तितलीमें मानवकी विकासदशाओं और उसकी इच्छाओंका निरूपण किया है। 'इरावती'में उन्होंने—मौर्य कालीन भारतकी राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक परिस्थितियोंसे क्षुब्ध लोक हृदयका चित्रण किया है। इरावतीमें प्रसादने शैवोंके आनन्दवादका पूर्ण समर्थन किया है।[1] एक दिव्य अतिभाव और आत्मा की अग्निकी चर्चाभी प्रसाद करते हैं, जिसमें अन्धकार इन्धन बनकर जल जाता है। उस तेजमें सब विशुद्ध, दिव्य और ग्राह्य बन जाते हैं। आनन्द की यही योजना अपनी विचार पद्धतिमें ले जाने की आवश्यकता है।........हम आत्मवान् हैं, हमारा भविष्य आशामय है—इस आर्यभावका प्रचार आवश्यक है। इरावती मन्दिरके बाह्य नर्तनको बाह्य आवरण बतलाती है। 'हमारी विचार-निष्ठाका जिसपर हमें विश्वास है, जिसकी दुःख ज्वालामें मनुष्य व्याकुल हो जाता है, उस विश्वचितामें मंगलमय नटराजके नृत्यका अनुकरण आनन्दकी भावना (या) महाकालकी उपासना का बाह्यस्वरूप है।........ बौद्धिक दम्भके अवसादको आर्यजातिसे हटानेके लिये आनन्द की प्रतिष्ठा करनी होगी। अनात्मके आवरणमें पला हुआ बौद्धोंका यह क्षणिकविज्ञान उस शाश्वत सत्तामें सन्देह करता है........आर्योंके आनन्दके उल्लासकी मात्रा ही जीवन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि, प्रसादने आधुनिक युगकी प्रवृत्तियों को भी आनन्दवादकी प्रतिष्ठाकर परिष्कृत किया है। इनके तीनों उपन्यास उन्हीं प्रवृत्तियोंके उत्कर्षके क्रमिक सोपान हैं। उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि, विषभी चिकित्सा द्वारा अमृत कल्प हो जाता है।[2]

---

१. प्रसाद की दार्शनिक चेतना, पृ०५२८। पं० १६-१७। पृ०५३० पं० १७

२. इरावती, अग्निमित्र की शङ्‌काका गुरुदेव-द्वारा उत्तर एवं ब्रह्मचारी के विचार।

(ख) कहानी

भारतवर्षकी चेतनाका स्पन्दन शाश्वतरूपसे स्थूलकी पृष्ठभूमिपर सूक्ष्मकी क्रियाशीलताको इङ्गित करता है। स्थूल और सूक्ष्म इन दोनोंकी सत्ता समानरूपसे एक दूसरे पर आश्रित है। प्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार स्थूल सूक्ष्मका बाह्यरूप है। स्थूल भोगभूमि है। भोगभूमि क्रीड़ाकी आवास होती है। यहां नित्य शाश्वत शिव स्थावर जंगम सृष्टिमें नानाविध रूप और आकृतियोंमें प्रसृत होकर क्रीड़ा ही तो कर रहे हैं। जब तक प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी, तब तक इस भेदको दृष्टिगत रखते हुये अभेद शिवके सम्बन्धमें वाणीका प्रयोग नहीं हो सकता। ईश्वराद्वयका विधान प्रत्यभिज्ञापरक ही होता है। वस्तुशून्य अभिधेय रहित शिवके शाश्वत स्वरूपका कथन प्रत्यभिज्ञाके आधारपर किया जा सकता है। यदि शिव ही क्रीडा रत हैं—शिव ही स्थावर और जंगम सभी रूपोंमें प्रसृत हैं, तो यह प्रसार उनका धर्म हुआ और शिव धर्मी। धर्म और धर्मीमें अन्तर नहीं होता। जैसे अग्नि धर्मी है और उष्णता उसका धर्म है। इस दृष्टिसे स्थूल धर्म है और सूक्ष्म धर्मी है। ऐसी अवस्थामें अग्निसे उसकी उष्णता और पका देनेकी क्रियाशक्ति दोनोंको अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। बाह्य शिवका ही अपना शरीर है। इस परमाद्वैतमें प्रकाशात्मा शिवके अतिरिक्त दूसरा है कौन?[1] प्रसादकी कहानियाँ इन्हीं मूल तत्त्वोंसे ओत-प्रोत हैं। स्थूलका जो बाह्य स्वरूप प्रसादकी कहानियोंमें है—वह कहानियोंके संकलनके नामसे ही स्पष्ट हो जाता है।

सर्वप्रथम वे विश्वमें विश्वात्माके सौन्दर्यकी झलक प्राप्त करते हैं किन्तु झलक 'छाया' रूपमें भी अपनी ही प्रधानता मानने लग जाती है। प्रतिबिम्ब बिम्बको ही विस्मृत कर अपनेमें उन्मत्त हो जाता है। इसके बाद ही 'प्रतिध्वनि' हृदयमें गूंजती है। फिर विश्वको आलोकित करनेके लिये 'आकाशदीप' जलता है और वह 'आंधी'के प्रबल आघातोंसे चंचल बना हुआ अपने अस्तित्वको ही नकारने लगता है। यह सब कुछ और यह सारा प्रपंच 'इन्द्रजाल' के रूपमें प्रतिफलित होता हुआ दीख पड़ता है। इस नामके क्रममें भी प्रसादकी दार्शनिकताका संदर्भ ही स्फुरित है।

---

१. तन्त्रालोक, आ० ३।७९, पृ० १९५, २।१५

बीसवीं सदीके प्रारम्भमें राजनैतिक दृष्टिसे दासतामें आबद्ध भारतवर्ष जड़ बना हुआ था। नवयुग की चेतना शंखनाद करती हुई-सी जड़तामें प्राणसंचार कर रही थी। जड़ता और चेतनाकी द्वन्द्वात्मकतामें प्रसादने सामाजिक जड़ता और अर्थ-हीनताके विपरीत अत्यन्त सजगताके साथ चेतनाके प्रकाशकी तरंगोंको तरंगायित किया। उनका निकष था–आन्तरिक चैतन्य।[1] उसपर कसा उन्होंने लोक व्यवहारको। उसका मानदण्ड था—सांस्कृतिक उत्कर्ष और परविमर्श। इस आधार पर उन्होंने सामाजिक अनुबन्धों का मूल्य—निर्धारण किया। उन्होंने प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, प्रतीकात्मक समस्यामूलक, यथार्थोन्मुख-भावनात्मक, प्रेममूलक और रहस्यवादी आख्यायिकाओंमें व्यष्टि और समष्टि, प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्त्तव्य और अधिकारके मध्य एक कल्याणोन्मुखी और रस सौन्दर्यात्मक सामञ्जस्य पूर्ण जीवनचित्र प्रस्तुत किना।[2]

'छाया' प्रसादका प्रथम कहानी संग्रह है 'ग्राम' प्रथम कहानी है, जो 'इन्दु' कला १ किरण २ भाद्रपद वै० (अगस्त १९१०) में प्रथमबार छपी। छायाका प्रकाशन सन् १९१२ में प्रथमतः हुआ था। पहले संस्करणमें ५ और दूसरेमें छः आख्यायिकायें और बढ़ाकर ग्यारहका पूरा संग्रह प्रकाशित हुआ। यदि 'तानसेन' कहानीमें 'सौसन' मनमें सुखमूरिको गुप्त रखती है, तो 'चन्दा' कहानीमें हीराके चिर मिलनकी कामनाका अद्वैतपरक उन्मीलन है। 'चित्तौर उद्धारमें भगवान् एक लिङ्गके प्रति अनन्य आस्थाका प्रस्थापन है। 'मदनमृणालिनी' प्रत्यभिज्ञादर्शनकी चितिका अपरोक्ष रूपसे विश्वहेतुत्व प्रतिपादित करती है। पूरा संग्रह मानो अपनी भौतिक भूमिपर आनन्दवादका प्रवाह प्रवाहित करता है। धर्म और प्रेम का समन्वयही इसका लक्ष्य है। यह जीवनके सौन्दर्यका सूत्रपात करता है। 'मदन' प्रसादका एक ऐसा पात्र है, जो इस संग्रहका सर्वाधिक चिन्तनशील प्राणी है। वह प्रेमके व्यापक परिवेशको आत्माके आलोकसे अलोकित करता है।

---

१. तन्त्रालोक, आ० ९।१४४, आकाशदीप पृ० २१, पं० ८-९। पृ० १८, पं० ११-१२। पृ० २०

२. प्रसाद की दार्शनिक चेतना, पृ० ४९३ पं० १८-२२।

पन्द्रह कहानियोंका द्वितीय संग्रह 'प्रतिध्वनि' है। सन् १९२५-२६ में प्रकाशित एक लम्बी अवधि, छायाके प्रकाशनके बादके एक अवान्तर अन्तरालको अपनेमें समेटे हुए है। जिसमें कवि अपने जीवनको ही अभिव्यक्तिका आधार बना लिया था। अभिनव व्यंजना शैली और अनुभूतियोंका भव्य और लोकोत्तर लालित्य लेकर प्रतिध्वनिमें मानो सारी हिन्दी साहित्य शरीरकी रक्त वाहिनियां स्पन्दित हो उठीं हैं। इनमें छायावादी युगकी सारी विशेषतायें जैसे मानवताका उत्कर्ष, भावोंकी संप्रेषणीयता आत्माके उन्मेष और ससीमतामें असीमका सामरस्य, रागात्मक वृत्तियोंका दृश्य और अदृश्यके सन्दर्भमें उत्कर्ष आदि ये सारी बातें स्पष्टरूपसे अंकित हैं।

इनके मुख्य विषय हैं :—मानवीय मनोवृत्तियोंके अनुशीलन, स्थूलकी पृष्ठभूमिमें अध्यात्मका अधिवास[1], चिथड़ेकी छीना झपटोमें भगवान्की और साईं की क्रीडा की कमनीयता[2] वेदनाके विषमज्वालमें आर्तनादोंका अभावोंका अस्तित्त्व[3] वासना और शरीर, फेन और बुद्बुद, प्रवृत्ति और निवृत्ति[4], संसारका-आकर्षण, दाम्पत्य जीवनमें शिवशक्ति पुरुष प्रकृतिके मौलिक उत्सका आरोपण और उसी शृङ्खलाके प्रति प्रतिनिबद्धताकी अनिवार्यता[5], प्रलय, मिलन, चेतना, परमाणु शरीर, विन्दु और समुद्र, विश्वात्मभाव, स्व से पर की कल्पना, रूपवैचारिक विकार आदि। इनके माध्यमसे कवि प्रसादने मायाके प्रसारसे सम्भूत विश्वका चित्र प्रस्तुत किया है, जिसकी तूलिकाका रंग प्रत्यभिज्ञासे ही प्राप्त होता है। जैसे 'प्रलय' कहानीमें युवती की प्रत्यभिज्ञा कि, मेरा अस्तित्व पार्थक्यकी कल्पनासे विकृत ही होता है। शिवशक्ति रहित कहीं और कभी नहीं हो सकते। इसी तरह शक्ति भी शिवसे अतिरिक्त नहीं रह सकती।[6] वस्तुतः ज्ञान और क्रियाका द्वैतबोध अद्वय प्रतीतिका ही आधार है। ज्ञातृसत्ताही

---

१. प्रतिध्वनि 'प्रसाद' २. गुदड़साई,

३. गुदड़ी का लाल ४. अघोरी का मोह।

५. तन्त्रालोक, आ० ९। १९७, १५२, आ०६। १४९।

६. न शिवः शक्तिरहितो, न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
न हिमस्य पृथक् शैत्यं नौष्ण्यं वह्नेः पृथक् भवेत्।
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, पृ० ३१७, पं० १५-१६।

क्रिया होती है और क्रिया स्वरूप ही ज्ञान होता है। इसीलिये प्रकाश विमर्शात्म संविद् रूप की ही प्रधानता मानी जाती है। वहाँ ज्ञान, क्रिया और इच्छाशक्तिका समन्वय और आनन्दवाद का उपवृंहण होता है। युवक और युवती पुरुष और स्त्री इसीके प्रतीक हैं। इसका विस्मरण ही प्रलय है। प्रलयकी पृष्ठभूमिपर ही प्रत्यभिज्ञा होती है। यही कारण है कि 'प्रतिध्वनि' संग्रहकी सर्वश्रेष्ठ कहानी 'प्रलय' मानी जाती है।

'प्रतिध्वनि' के उपरान्त १९२६ से १९२९ तक की कहानियोंका संग्रह 'आकाशदीप' है। प्रसादका प्रयास प्रारम्भसे ही मलोंके आवरणको[१] अनावृत करना रहा है। 'आकाशदीप' में भी जीवनके स्थूल प्रपञ्चोंके प्रति अनास्था व्यक्त करते हुए नील आकाशमें प्रकाशका दीपालोक प्रसारित करनेको प्रथाका प्रस्थापन है। 'आकाशदीप' इसकी प्रथम कहानी है। कितना द्वन्द्व यहाँ है ? चम्पा और पितृहन्ता जलदस्यु, उत्ताल तरंगायित ऊर्मिमालीके वक्षपर व्यष्टि जीवनके क्रूर-क्रियाकलाप, क्रूरतामें करुणाकी कमनीयता, वासना और विशुद्ध स्नेह और सबसे ऊपर चेतना का चमत्कार, सब मिलाकर एक शून्य, और आकाशदीपके समान जलनेकी आकांक्षाका आग्रह।[२]

'ममता' भयभीत पथिकको आश्रय देनेके पुनीत कर्त्तव्यकी प्रेरणा देती है। विश्वमानद भी तो एक भयभीत पथिक ही है[३]। पथकी भूली हुई बुलबुल विश्व जीव समूहकी प्रतीक है। वह अपनी सूखी डालपर विश्राम करती है। वह भी साधारण विश्राम नहीं 'रजनी-विश्राम' करती है। विश्रामका मूल्य एक मीठी तानमें ही चुका देती है[४]। 'कला' तो प्रसादको प्रत्यभिज्ञावादिताकी प्रसराख्या शक्ति ही है[५]। रसदेव शिव है और रूपनाथ जीव है। प्रत्यभिज्ञा (स्मृति)[६] से कला जगती है। विजय-

---

१. तन्त्रालोक, आ० ८, ३५६–३५७।
२. आकाशदीप–चम्पाके उथ्गार।
३. आकाशदीप–ममताके उद्गार, तन्त्रालोक आ० १।९६, तन्त्रालोक आ० १, पृ० १४१, पं० ८-१०।
४. स्वर्गके खण्डहरमें—पृ० ३६ अन्तिम तीन पंक्तियां।
५. तन्त्रालोक आ० ८, २८३। (पुंसि नादमयी शक्तिः प्रसराख्या)।
६. आकाशदीप पृ० ८६, पं० ४, पृ० १२८, पृ० १३१, पृ० १३४।

माला श्रद्धांजलिसे चरणोंमें अर्पित होनेके लिये प्रस्तुत हो गयी है और 'मेरी भूल ही तेरा रहस्य है' का अर्थ स्पष्ट हो गया है। वास्तवमें अनन्त कल्पनाओंमें उसी चिर सुन्दरको देखनेकी समीहा विश्वात्मासे सम्पृक्त कर देती है। यही इस कहानीका कथ्य है।

'चूड़ीवाली' की कुलवधू बननेकी अभिलाषा मायाके स्तरसे उठकर शक्तिके स्तरतक पहुँच जानेकी मंगल कामना है। उसे वह प्राप्त करती है। वह खरीदनेकी धुनमें बेंचनेसे कतराती रहती है। उसकी यह दृढ़ धारणा है कि, जिसका सौन्दर्य स्वच्छन्द है. उस असाधारण प्राकृतिक कलाका मूल्य बन्धन नहीं हो सकता। 'चूड़ीवाली' अपने माया स्तरपर विजयकृष्णको परखना चाहती है पर प्रत्यभिज्ञा (स्मृति) हो जानेपर विजयकृष्णको यह ज्ञान हो जाता है कि, 'अब मेरा कुछ नहीं है'। जीवनका यही रहस्य इस कहानीमें अंकित है, जो सृष्टिको उलझा रखनेकी कुंजी है। जगत्‌में सारे अपराध क्यों होते हैं? उसका सरल उत्तर प्रसादजी इस कहानीमें प्रस्तुत करते हैं। कलाका मूल्य लगाने वालोंकी कुरुचि और कुत्सित इच्छा ही कलाको भी कलंकित करती है और सारे अपराध करा-देती है। श्रेय और प्रेयके सन्दर्भमें अक्रममुक्तिका समर्थन इसमें है।

यह तो सौभाग्य-संभूति ही है कि, नावमें बैठा जाय। खेकर ले चलने में अपनी क्रियाशीलताकी अहंकृति होती है। यदि नाव स्वयं बहे और उसपर जीवनका युगल तर ले, तो प्रणय भी पुरस्कृत हो जाय। 'शैलनाथ कभी क्यों सरलाके वात्याचक्रमें पड़े? वह आवाहनसे आता है और आकर्षणसे मुख मोड़कर अलग हो जता है। इसलिये विश्वमें रहते हुये भी रूपकी छायाका शिकार कोई शैलनाथ न हो तो अच्छा ही है। प्रसादके साहित्यमें विश्वकी तामसी रजनीके हृदयमें नक्षत्र सर्वदा जगमगाते रहते हैं। उनके लिये यह झीना आवरण व्यर्थ हो जाता है[1]। 'ज्योतिष्मती' भी इसी सन्दर्भमें प्रत्यभिज्ञाके रूपकको लेकर चलती है। इसमें बीहड़-शैल-संकुल, तृण-वनस्पति-संपूरित वन्य प्रदेश 'विश्व' है। वसन्त 'शिव' है। उपत्यकाको प्रकृति सहचरी वहाँ क्रीड़ा[2] करती है। अज्ञात प्रदेशमें आनेपर

१. आकाशदीप, प्रणयके चिह्न, पृ०१५४, पृ०१६५ पं०१-३।

२. तन्त्रालोक, आ०१।११०। शिवादि क्षित्यन्ताशेषविश्वात्मनोल्लासनमेवास्य क्रीड़ा (सर्वोत्कर्षेण वर्त्तनेच्छा)। ज्योतिष्मती, पृ०१६५, पं०१०।

पथ भूल जाना (मोहमुग्ध) भी स्वाभाविक ही है। ऊपर तारागणकी झलक और नीचे निर्झरकी छलछलाहट। जिज्ञासा और अनुत्तर। वास्तवमें 'ज्योतिष्मती' चितिका स्पर्श कितना सुन्दर है पर छाया उसे अक्षत होते हुए भी आक्षिप्त कर लेती है। यही रूपक तारतम्य प्रसादका प्रिय व्यसन है। इसे वे न केवल पद्यमय रसप्रवाहमें प्रवाहित करना चाहते हैं वरन् सर्वजन-सामान्य पठनोय कहानियोंके माध्यमसे भो व्यक्त करनेके आग्रही हैं। विना इन दार्शनिक तत्त्वोंके समझे इन कहानियोंका वास्तविक अर्थ नहीं लगाया जा सकता। यही कारण है कि, केवल उद्‌बुद्ध विचारशक्ति सम्पन्न पुरुष ही इन्हें प्यार करते हैं। हमेशा स्मृतिका उत्कर्ष कथाको नया मोड़ देता है। साजन और रमलाकी कथाके रूपमें यही रहस्य प्रस्फुटित है। साजन शिव है। रमला माया और शक्ति है। मंजल जोव है। जीव शक्तिको ढकेल देता है अनजाने और कुतूहलमें ही! माया साजन शिवके पास जाकर भी नहीं रह पाती और बिसातीका बुलबुल स्वच्छन्द विचरण करनेमें ही आनन्दकी उपलब्धि करता है। सारा विश्वही तो सामान है। अच्छा हो कि, हम स्वयं शीरीं रूप माया से दामन तोड़ लें।[1]

कामायनीके प्रणयन कालकी कमनीयतासे अलंकृत किन्तु विश्व मलय-मारुतकी मार्मिक रमणीयता और उसमें अध्यात्मकी मसृण महनोयता, साथही संवेदनशीलता! इन्हीं तत्त्वोंके कारण आत्माका महावातसे सम्पर्क! फिर 'आंधी' नामकी सार्थकता! प्रवृत्ति और निवृत्तिका संघर्ष! और यही 'आंधी' का आधिभौतिक रूपशिल्प। कहां 'प्रज्ञासारथि' और कहां 'लैला' नामक जिप्सी युवती! दोनोंके जीवन पथ और उनमें उड़ती हुई सुख दुःखकी धूल! धर्म कर्म मानवता का कल्याण और विपथगामी मनुष्य! इसमें पशुत्वका प्रभाव और उसको जीवन सरणी, सबका समाधान और निष्कामभावसे जीवनमें प्रवृत्ति तथा प्रवृत्तिका निवृत्तिके रूपमें परिवर्त्तन, सब कुछ विचित्र है।

'व्रतभंग'के अनुसार जीवनमें सिद्धिकी उपलब्धि दिगम्बरत्वके आडम्बर में नहीं, वह तो सामाजिक मर्यादाओंका निर्वाह करते हुए मानवता और शिष्टताके निर्वाहमें ही निहित है। पूरा संग्रह शिवतत्त्वके अभिसंधानको

१. आकाशदीप-बिसाती-पृ० १८२, पं० १०-११, पृ० १८४,

रूपरेखा प्रस्तुत करता है।[१] विश्वके विभव-विलास और ऐश्वर्यकी सम्पन्नतामें पलने वाला यदि कभी प्रत्यभिज्ञप्त हुआ, तो उसके सभी पाप पुण्यमें अवश्यही परिणत हो जाते हैं, यह विजयाका कथ्य है। अन्तरात्मा में ईश्वरका अभ्युदय और उसके प्रति आस्था 'मीरा' का उद्देश्य है। यही कारण है कि हम जिससे प्रेम करते हैं, उसके लिये आत्मसमर्पण कर देते हैं। 'पुरस्कारका' यही प्रतिपाद्य विषय है।

'इन्द्रजाल'का प्रकाशन यद्यपि सबसे बादमें हुआ है पर इसकी परिधि सचमुच इन्द्रजाल तक ही सीमित है। इन्द्रजालमें फंसा प्राणी प्रेमकी तरलतरंगिणीमें बहता है। महामिलन तो तभी हो सकता है, जब महोदधिका कमनीयकूल उसे आत्मसात् करनेके लिये अवकाश दे दे! 'भीख' और चित्रवाले 'पत्थर' में प्रकाशका विमर्श है। अन्य कहानियां विभिन्न उद्देश्योंकी पूर्तिमें ही वस्तुको समाहित करती हैं।

निष्कर्षतः प्रसादने जो कुछ लिखा है, उसमें जीव और जगत्के नानारूप ही आकार ग्रहण कर सके हैं। पर सर्वत्र सर्वमयताका उनका दृष्टिकोण कुंठित नहीं हो सका है। प्रतीकात्मकताका आश्रय लेकर उन्होंने शिवत्त्वका ही अभिसंधान किया है।[२]

(ग) निबन्ध

प्रसादजी ज्ञान और सौन्दर्यको विश्वव्यापी वस्तु मानते हैं। देश और काल तथा परिस्थितियोंके अनुसार उनमें अन्तर दृष्टिगोचर होता है।[३] अपने निबन्धोंमें काव्य और कलाका समर्थ और विशिष्ट विवेचन प्रसादने प्रस्तुत किया है आत्माकी संकल्पात्मक अनुभूतिकी व्यापकता ही काव्य और कलाको भारतीय दृष्टिकोण से निकषायित कर सकती है। यह उनके निबन्धोंका मुख्य स्वर है।

रहस्यवाद निबन्धमें उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि, द्वैतदर्शनोंकी प्रचुरता वाले जीव लोकमें रहस्य सम्प्रदायोंकी सरणी विच्छिन्न न हो जाय, इसलिये अद्वैतवादी रहस्य सम्प्रदायका प्रख्यापन आवश्यक है।

---

१. तन्त्रालोक आ०९, पृ०८७, श्लोक १०७, ११०-११६।

२. तन्त्रालोक, आ०१।१०१,

३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० २८। तं० ३।२०२-२३८।

ऋग्वेद, उपनिषद्, निगम, आगम[1] आदि उदाहरणोंके द्वारा उन्होंने विवेक और आनन्दकी विशुद्ध धाराओंकी परिणतिका उभयात्मक चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें रहस्यवादको आत्मवादी आनन्दमय रहस्य सम्प्रदायसे ही सम्पृक्त माना है। यह सिद्ध करनेका सफल प्रयास किया है कि, वर्त्तमान रहस्यवादकी धारा भारतकी निजी सम्पत्ति है।

यही स्थिति रस निरूपण की भी है। समरसता और समाधिसुख तथा प्रकाशानन्दात्मसंविद्विश्रान्ति[2] या प्रमातृपदविश्रान्तिमें ही वे रसका उत्स मानते हैं। अन्य रसवादियोंकी मान्यताओंका विश्लेषण करते हुए प्रसादने हिन्दीकी रस धाराको भी निरखा परखा है और कहा है कि, यह अपने मूल उद्गम आनन्दसे पृथक् प्रतीत हो रही है। तात्त्विक और व्यावहारिक दृष्टियोंसे भी आत्माकी रस अनुभूति एकांगी बन गयी थी। प्रसाद वास्तवमें भारतीय दर्शन और साहित्य दोनोंका समन्वय रसमें मानते हैं और साहित्य-स्रुत-रसको दार्शनिक रहस्यवादसे अनुप्राणित मानते हैं।

प्रसाद रसको नाटकोंकी अपनी वस्तु कहते हैं। रसमें ही आत्माको मूल अनुभूति पूर्णताको प्राप्त होती है। इसीलिये काव्योंमें नाटकोंको रम्य स्वीकार किया गया है। भारतमें रस-सिद्धान्तके द्वारा साहित्यमें दार्शनिक सत्यकी प्रतिष्ठा हुई है। भाव आत्माके अभिनय हैं। भाव ही आत्म-चैतन्य में विश्रान्ति पाकर रस हो जाते हैं। विश्वमें विश्वात्माकी अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही नाटकोंमें रस की[3]। अद्वैतवादका प्रयोग आत्मा और इदम्के भेदको मिटानेके लिये ही है[4]। यही भारतका दृष्टिकोण है। आत्माके अभिनयको अर्थात् भावको अभेद आनन्दके स्वरूपमें ही ग्रहण करना चाहिये। यही आत्मप्रसादका आनन्दपथ है। जैसे प्रत्यभिज्ञा

---

१. काव्य और कला, पृ०३३, पृ०६७-५४।

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ६८, पं० ७, पृ० ७५-७६। तन्त्रालोक ३।२०९।

३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ०७९-८०।

४. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ७८-१२६।

दर्शनमें संविद् प्रकाशात्मक चैतन्य है, वैसे ही नाटकोंमें भी नाट्य-व्यापाररूप संविद् ही परमार्थतः रस है। रस ही साध्य है। रसवादकी पूर्णताका दृष्टिकोण प्रसादका अपना है।

उस समय साहित्यमें यथार्थवाद और छायावाद पर्याप्त प्रचलित थे। प्रसाद कहते हैं कि, यदि साहित्य आत्मानुभूति, अभिव्यक्ति, अभेद और साधारणीकरणका संकेत कर सके, तो वास्तविकताका स्वरूप प्रकट हो सकता है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रताके साथ स्वानुभूतिकी विवृति छायावादकी विशेषतायें हैं। अपने भीतरसे मोतीके पानीकी तरह आन्तरस्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्तिकी छाया कान्तिमयी होती है। साहित्यमें विश्वमंगलकी भावना ओतप्रोत रहती है। दुःख-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्गका एकीकरण साहित्य है। इन्हीं विचार सीमाओंमें प्रसादके यह निबन्ध अपने कलेवरको कमनीयतासे अलंकृत करते हैं और अंशतः दार्शनिकताके अस्तित्वका आधार ग्रहण करते हैं।

(घ) नाटक

कामना एक अभिनव भावरूपक है। इसमें मानव-मनोवृत्तियोंपर मानवीकरणका प्रयोगकर उन्हें ही पात्र बना लिया गया है। इस भावरूपक में प्रत्यभिज्ञादर्शनकी सारी मान्यतायें प्रारम्भिक रूपमें प्रतिफलित हुई हैं। कामना अभिलाषा ही है। अभिलाषा इच्छा शक्ति है [1] इच्छाशक्ति सन्तोष से असन्तुष्ट रहती हैं। उसे विलासका सामीप्य प्रिय लगता है। विलास विवेकको पागल कहता है। विवेक व्यथित है। विलास मन्त्री बनता है और प्रमोद सेनापति तथा कामना अपनी नीतिका संचालन करती है। दम्भ, दुर्वृत्त, क्रूर और प्रमदाका भी कामना जगत्में महत्त्व हो जाता है। इन्हीं सन्दर्भोंमें प्रसादने यह सिद्ध करनेकी चेष्टाकी है कि, विराट् विश्व और विश्वात्माकी अभिन्नताका विस्मरण और विषमताके विषमय द्वन्द्व का आखेट बनकर 'पशु हाहाकार और रुदनका उपहार प्राप्त करता है।[2]

---

१. तन्त्रालोक, ६३-६५। पृ० ५९।

२. कामना अंक १, पृ०१, ७, २४, २८, ३४।

कामायनीकी रचना १९२५ से प्रारम्भ हो गयी थी। ऐसे समय प्रत्यभिज्ञादर्शनका गहरा प्रभाव प्रसाद पर था। ऐसी परिस्थितिमें या तो कामायनीसे अवकाश निकालकर या केवल मनस्तुष्टिके लिये ही एक घूँट की रचना हुई होगी। दोनों परिस्थितियोंमें एक घूँट की रचना किसी विशिष्ट उद्देश्यके निमित्त ही हुई है।[३] इस एकांकीमें दुःखवादका खण्डन शैवोंके आनन्दवादका प्रतिपादन और शाश्वत प्रेमका मूल्य समझाया गया है।[१] जीव रसाल है। इसकी शक्ति वनलता प्रकृति है। आवरण और उससे आवृत युगल। यह सौभाग्य का विषय है कि, रसाल आनन्द के स्वागतकी तैयारी करे और प्रेमके बन्धनसे आनन्दको बांध ले। यही दार्शनिकता प्रसादका प्रिय प्रतिपाद्य है। आनन्दके सन्देशमें विश्राम और गतिशीलता दोनोंके बीज विद्यमान हैं। प्रेमका, उपासनाका एक केन्द्र होना आवश्यक है। वहां अन्तरङ्ग साम्यभी अत्यन्त आवश्यक है। विश्व में आंखें बन्दकर रहना ठीक नहीं। आंखें खोलकर प्रकाशका तादात्म्य प्राप्त करना आवश्यक है। जीवन समुद्रमें लोल लहरें मचल रही हैं। अनन्तके स्वरमें अपनी वाणीका मधु घोल देनाही श्रेयस्कर है। यहां फूल झड़ रहे हैं। अपने बन्धनको खोल देनेमें ही कल्याण है। मानव पशु है। उसे अपने पाशों का अनावरणकर पशुपति बनना है।[२] बन्धन खोलनेमें प्रसादकी यही इच्छा काम कर रही है। आनन्दकी एक घूँटभी आनन्दमय बनानेमें समर्थ है।

शान्तिकी भीख मांगने वाला शक्तिके स्वारस्यपर मुग्ध होता है पर वह उसके रूपकी वास्तविकतासे और अपने स्तरसे अपरिचित ही रहता है। स्वात्मप्रच्छादित, विस्मृति पशुका ही 'शान्तिभिक्षु' प्रतीक है। 'दिवाकर मित्र' शुद्ध अध्वाका मन्त्रेश्वर है। वह मायाको, शक्तिको, चितिको तटस्थ भावसे देख सकता है। राज्यश्रीका कुल और शील उसे अज्ञात है। उसके उत्कर्षका वह आग्रही है। लोक कल्याणकी मंगलकामना राज्यश्री की प्रार्थनामें निहित है। हर्षसे राज्यश्री का सामञ्जस्य पूरी घटनाको दार्शनिकताकी उच्चभूमि पर प्रतिष्ठित कर देता है।

---

१. प्रसादकी दार्शनिक चेतना, पृ०३६४, पं०१०-१४। पृ०३६५ पं०२८-२९
२. एक घूंट—पृ० २६, आश्रम संगीत
३. तन्त्रालोक, आ०९।१४५, ८।२९२, १।९५, १०४, ९।१४५।
४. राज्यश्री, पृ० १३९।

कल्हणकृत राजतरंगिणी की कथा पर आधृत 'विशाख' नामक रूपक है।[१] इसमें भिक्षुओंके अतिचार और आडम्बरके विपरीत लोक हृदयमें प्रत्यभिज्ञाके आनन्दवादकी स्थापना की गयी है। उस परममहत्को और कुछ करनेकी अपेक्षा विश्वात्मरूपमें देखना ही श्रेयस्कर है। वह आनन्द रूप ही है।[२] प्रेमानन्द तृणसे त्रयस्त्रिंश तक की समसत्ताके आभासक और विश्ववेदनामें सुख का आह्वान करनेवालेको भगवान्‌के अतिरिक्त कुछ नहीं मानता।[३] भाव अभावके मध्यमें जो अवच्छेदक शून्य है, उसमें अवस्थित हो जानेपर हृदय उसीमें लीन हो जाता है; वहाँ भावभी नहीं रहता है। उसी निर्मलतामें विहार करनेका विनय नरदेवकी प्रार्थनामें निहित है।[४] वास्तवमें शाश्वतसत्यकी रहस्यानुभूतिके द्वारा विश्वमें विश्वात्माका दर्शनकर अखण्ड आनन्दकी उपलब्धि ही प्रसादका जीवन दर्शन है, जिसकी झलक इसमें प्रसङ्गतः प्राप्त है।

अजातशत्रु (१९२२) प्रसाद का तीसरा ऐतिहासिक नाटक है।[५] इसमें आद्यन्त विरोधी वृत्तियोंका सुन्दर निर्वाह है। उत्थान और पतनका चित्र है। गौतमबुद्धके जीवनकाल की घटना होनेके कारण बुद्ध की सक्रियता और जीवनमें उसे उतारलेनेकी आग्रह-शीलताका यह चित्र है। इसमें प्रत्यभिज्ञादर्शनका अखण्ड आनन्दवाद प्रतिपादित नहीं है।

जनमेजयका नाग यज्ञ (१९२६) प्रभुकी प्रभुताके प्रति आस्थाका प्रतीक है। स्नेहकी लताको सींचनेके लिए शान्ति जलदकी वर्षा अत्यन्त आवश्यक है। विश्वमें समताकी घोषणासे ही सृष्टि हरी भरी रह सकती है। जिस परमात्माने विश्वरूपका विस्तार किया है, उसका जय-गान जीवनजयके लिये अनिवार्य है[६]।

स्कन्दगुप्त (सन् १९२८) अन्धकारका आलोकसे, असत्‌का सत्‌से, जड़का चेतनसे और बाह्यजगत्‌का अन्तर्जगत्‌से सम्बन्ध स्थापित करनेका प्रयत्न है। जगत्‌भी एक काव्य ही है। इसमें नियतिका पथ अकेले ही

१. एक घूंट, पृ० ४०। राजतरंगिणी १।१९७-२७६।
२. विशाख, पृ० २७, पं० १९-२०। ३. विशाख, पृ०५५, पं० ७-८।
४. विशाख, पृ० ८१, पं० ४-५।
५. अजातशत्रु, प्राक्कथन, पृ० ४, ५।
६. जन्मेजतका नागयज्ञ, पृ०८८, पं० ५-१०। पृ०९७ पं०१८-२५।

चलना है। यह विश्व एक पहेली है। इसका सही उत्तर—इसका रहस्य बीज दुर्भेद्य नारी हृदय है। जयमाला एक नारी है। वह भैरव संगीतके रहस्यसे परिचित है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृतिका संगीत और उसका प्रारम्भ अत्याचारके श्मशानमें होता है। वही शिव, मंगल और सत्यका संगीत है[1]। इसी विश्ववीणापर ही स्वर्गीय संगीत उभरता है। सुरापान की प्रक्रिया, उग्रताराका उपासक बौद्ध उपासना प्रारम्भ करता है किन्तु असफल होता है। सुराकी तीन परम्परायें हमारे यहां उपलब्ध हैं। १—वैदिक परम्परा–इसमें सुरा निषिद्ध है। २—बौद्धोंकी गुह्य प्रक्रिया–इसका स्वरूप स्कन्दगुप्तमें है। ३—तांत्रिक-इसमें सुरा कारण द्रव्य है। आजभी जगन्नाथधाम विमला शक्तिका श्रीयन्त्र और अन्यत्र शक्तिपीठोंमें श्रीयन्त्रोंको कारणद्रव्यरूपसे पूजा होती है। कारणद्रव्यमें सुराका वर्णन कुलार्णव तन्त्रमें आता है। प्रसाद इन क्रियाओंको असामाजिक मानते हैं और समाजमें स्कन्दके आदर्शकी प्रतिष्ठाके आग्रही हैं। एक तरफ 'मंगलमय भगवान् सबका मंगल करेगें'की अनन्य आस्था और दूसरी ओर सामाजिक अकर्मण्यताका विरोध दोनोंमें प्रसाद प्रतिफलित हैं। एक तरफ कर्ममें वर्त्तन और दूसरी ओर आत्मरति तथा आत्म-यन्त्रणाके त्रोटनकी अकाट्य आकांक्षा यही स्कन्दगुप्तका प्रतिपाद्य है।

चन्द्रगुप्त (१९३९) नाटक नरशक्तिको शिवात्मक बनानेका प्रयास है। दाण्ड्यायन परमगुरु हैं। वे चन्द्रगुप्तको सम्राट् होनेकी बात प्रत्यभिज्ञापित करते हैं। प्रत्यभिज्ञा सामान्यार्थ और प्रेरणार्थ दोनोंमें आती है। यह समस्त अहं स्तूपोंको प्रतिध्वस्त कर देती है। देशप्रेम दार्शनिक देशाध्वा है। प्रसंग प्राप्त मोह, ममता, वासना, मातृ पित्रादि सम्बन्ध सभी लक्ष्य प्राप्तिमें अपेक्षित हैं। सिकन्दर मोह और सिल्यूकस अहंकार है। कार्नेलिया नियति है। वह सिल्यूकसको रोकनेकी योजना धारण करती है[2]। इस प्रकार पूरा चन्द्रगुप्त नाटक नरशक्तिका ही प्रतीक है। यदि कामायनी में जीव शिव बन जाता है, तो चन्द्रगुप्तमें (देशाध्वामें) जीवका उत्कर्ष पराकाष्ठापर पहुँचकर शिवत्त्वका संकेत करता है। यहां दर्शन इतिहास

१. स्कन्दगुप्त, पृ०२०, पं० २०-२२। पृ० ३६ पं० १०, पृ० २९ पं० १०, पृ० ४२ पं० २१-२७।

२. नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले।

बन गया है और इतिहास साहित्य। जो सत्यं, सुन्दरम्के मध्यमें शिवम्की प्रतिष्ठा करता है। इसप्रकार क्रमिक रूपसे कामना से विकसित होता हुआ दर्शन अभिनेयताकी कला भूमिपर साहित्यिक सौहित्यका प्रतीक बन गया है। प्रसाद नाट्य साहित्यके उत्कर्षका यह अन्तिम सोपान है।

आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन और विलापन रूप पंचकृत्यों को जो नहीं जानता, अपनी शक्तियोंके द्वारा व्यामोहित होता है। यह व्यामोहितता ही संसार है। संसारमें मनुष्यके सभी कार्यकलाप, एक-एक व्यापार, उसी व्यामोह और स्वरूपविस्मृतिके दुष्परिणाम हैं[1]। शकराजकी उलझन भरी बातों को सुनकर कोमा जो कुछ कहती है, उसमें मानवके व्यामोहका सुस्पष्ट चित्रण होता है। कोमा शक्ति है। वह मुग्ध-मानवको सचेत करती है। जीवन की समस्यायें सभी मानवनिर्मित ही हैं। सारे प्रश्नोंको वह स्वयम् उत्पन्न करता है, उनमें स्वयं उलझता है, उनके व्यर्थके और अपने मनोनुकूल समाधानमें बह दिनानुदिन ग्रस्त, व्यस्त और त्रस्त होता रहता है। जैसे मकड़ी अपने लक्ष्यकीट को पा लेनेके विविध प्रयास करती है। जाले बनाती है और जालमें स्वयं भी लटककर अपने जीवनकी इतिश्री समझ लेती है। वही दशा मनुष्यमात्र की है। वह सर्वदा अपनी स्थितिको अपनी सत्ताके सन्दर्भमें देखता है। उसीमें जीता और मरता है। शकराजके यह कहने पर कि, मेरे सामने जीवन-मरण का प्रश्न है। कोमाने जो उत्तर दिया है। यह उक्त स्थितिको स्पष्ट कर देता है। वास्तवमें जीवन अभावमय है। सर्वसद्भाव विभुका वैशिष्ट्य है। अभावही शरीर प्रदान करता है और लघुता प्रदान करता है। कोमा कहती है :–'उस विराट्के वैराज्यसे च्युत होनेकी अनुभूति और स्वयंकी प्रत्यभिज्ञा मनुष्यको प्रायः नहीं होती।' नियतिके कठोर शासनसे शक्तिरूपा ध्रुवस्वामिनी स्वयं ही त्रस्त है।[2]

---

१. प्रत्यभिज्ञा, हृदयम् सूत्र १२ (तत्परिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्।

२. ध्रुवस्वामिनी, पृ० २९–३८।

ध्रुवस्वामिनी का पूरा नाटक दर्पणनगर की तरह राजनीतिकी कपट चातुरीके सन्दर्भमें स्वयं प्रकाशमान हो रहा है। रामगुप्त अविद्या और मलोंके आवरणसे आवृत 'पशु' के रूपमें चित्रित है। वह अपने लिये कितना आवश्यक है—यह केवल वही जानता है। विद्या आदिसे जब मायान्ध संसारी ज्ञापितैश्वर्य हो जाता है, तो चिद्घन-स्वरूप-संचलित मुक्त हो जाता है। रामगुप्त एक कर्मबद्ध संसारी और मायान्ध प्रमाता है। शकराज इसीका दूसरा संस्करण है। दोनों अपने चरित्रसे यह सिद्ध करते हैं कि, जड़ताके करुण आवरणमें तड़पता चिद्घन कितना विवश होता है। ध्रुवस्वामिनी इसी प्रत्यभिज्ञा दृष्टि की प्रतीक है।

(ङ) काव्य

महासिन्धुमें स्पन्दन शाश्वत स्फुरित है। ऊर्मियां निरन्तर उठती हैं। कहीं विषम, कहीं सम, कहीं मध्य और कहीं स्पन्दन कम्पनमात्र! उसी तरह बोध महासिन्धुमें शक्तिका उल्लास कल्पनाओं, विचारों, अनुभूतियों और संकल्प विकल्पों के ऊहापोह ऊह प्रत्यूहमें अभिव्यक्त होता है। इसे स्वात्म-संघट्ट-वैचित्र्य कहते हैं। क्रियाशक्तिका यह स्फुट शरीर विश्व बन जाता है। बोधके क्षेत्रमें यह काव्य या साहित्य बन जाता है।

शक्तियोंके अनन्त वैचित्र्यके कारण यह सत्यं शिवम् सुन्दरम् का रूप ग्रहण करता है। भारतीय संस्कृति स्रोतस्विनी 'स्व' के उत्स से निःसृत है। 'स्व' में ही 'सर्व' की विश्रान्ति होती है। स्वात्मविश्रान्ति ही रस है—अमृत है।[१] प्रसादके बोधसिन्धु का प्रथम उल्लास ९ वर्षकी अवस्थामें ही दृष्टिगत हुआ। प्रसादका शिवत्त्व शक्तिमत्ताकी स्रोतस्विनी बनकर बह चला। कामायनीके रसमहोदधिमें उसका संगम हुआ। वाङ्मय-पुरुष अनुभूति, कल्पना, दर्शन और काव्यकी त्रिपथगाके रसास्वादसे आप्यायित हो उठा। प्रसाद की यह जीवन गंगा थी, जिसका उद्गम शिवसे हुआ। यह विज्ञानामृत सरिता थी।[२] इस सरिताका प्रथम प्रकाश उर्वशी और पुरूरवाके पावन प्रेमके परिसरमें हुआ। उसके निवेदन वाले पृष्ठपर 'श्री शिवजीसहाय' मुद्रित है और प्रथम पृष्टपर 'ॐ नमः शिवाय' का

---

१. तन्त्रालोक, आ० ३।९२–१०४। २. तन्त्रालोक, आ०९, पृ० १६७।

मन्त्र। शिवके नेत्रोंका नील कमलावलीमें प्रतिभासित प्रतिबिम्ब इन्हें इतना प्रिय लगा कि, इन्होंने अपना सारा काव्य नोलिमाकी इसी आभामें जगमगाया। नोल और नीलिमाका इन्होंने अपनी कृतियोंमें शतशः प्रयोग किया है। क्यों न हो प्रिय यह शब्द ? शैलजाके वदनपर जो है। विधुका बिम्ब जो यहां है ! यही क्रमिकता शिवकी मायाको आत्मसात् करने लगी और उन्होंने अनुभव किया कि, सुर-असुर-निकाय उसीके वशीभूत होकर ही तो भ्रान्त हो रहा है[1]। वह माया अवश्य ही धन्य है, जिसने शिवत्त्व-की सरणीका अनुसरण करनेवाले प्रसादको भ्रान्त होनेसे बचा लिया। देव देवत्त्वसे भ्रान्त, असुर असुरत्त्वसे भ्रान्त। पर मानव, वह तो 'प्रसाद' की प्रसन्नताको 'स्व' में अनुस्यूत कर समरसताके घने और अखण्ड आनन्दको उपलब्ध कर आनन्दमय हो जाता है[2]। जो जीवनभर बाबा विश्वनाथकी छायामें रहा, वह उस छायासे अलग कैसे जा सकता था[3], उसी छायामें वह पला और उसीमें गला। कामायनीके प्रारम्भमें भी कवि हिमगिरिके उत्तुंग शिखर पर शिलाकी शीतल छांहमें बैठा हुआ है। उसके सामने प्रलयका प्रवाह है और अन्तमें रविरश्मिमंडित हिमखण्ड मणि-दीपका प्रकाश प्रसारित करता है, जो मिलनकी दिशाका संकेत करता है। उर्वशी चम्पूमें उर्वशी मोहनिशा है। पुरूरवाका अन्तःकरण उससे प्रभावित है। अर्जुन और चित्रांगदा परिणयका प्रसङ्गभी राजकीय शिवा-लयकी शिवार्चासे हो प्रारब्ध है। शिवालयके प्रातःकालीन पूजनमें भगवान्‌का स्तुतिगान और मणिपुरके राजा तथा मन्त्रीका मुग्ध होकर चित्रांगदा-का परिणय यह कथासूत्रका शिवत्त्वसे ही संयोजन है।

चित्राधारमें बभ्रुवाहनको युद्धके लिए उत्तेजित करनेमें अपने युद्धो-द्यत होनेकी घोषणा भी शिवके रौद्ररूपताका ही आवाहन है। वनमिलनमें भरत दुष्यन्त और शकुन्तलाके आगमनपर कविकी उत्प्रेक्षा आनन्दवादी बन गयी है। वे उन्हें धर्म, आनन्द और शान्ति कहते हैं। शान्ति तो तन्मयताकी स्थिति ही है। प्रेमका राज्य कविकी दृष्टिमें परमपावन है। विश्वेश्वरकी अनुपम सृष्टिमें सर्वत्र शिवका आभास उसे है। इस विराट् संसारको वह उसीके अव्यक्तरूपकी अभिव्यक्ति मानता है। दिग्वस्त्रोंसे वह

---

१. तन्त्रालोक, आ०८।३३२-३३६। अतः परंस्थिता माया देवजंतु विमोहिनी
२. कामायनी, पृ०२९४, पं० १७-२०। ३. प्रसादका काव्य, पृ० ४५।

मनोहर है। हिमालयकी हिमरश्मियां सिकताकी श्यामतामें भी कान्ति उत्पन्न करती हैं।.......... भूतनाथ भूतोंसे और पशुपति पशुओंसे जो क्रीड़ा कर रहे हैं, मानों उसका प्रत्यक्ष द्रष्टा कवि बन गया है।

शिवकी यह विराट्सत्ता शिवसंविद्प्रकाश बोधकी हेतु है। वे विभु हैं, अतएव सर्वग हैं। नित्य हैं। कविका जीवनदर्शन वैधीकी मूलभूमिसे बीजाङ्कुर, किसलय, मुकुल और प्रसूनवत् विकसित होकर रागात्मिकाको भी पारकर धारणाके क्षेत्रमें प्रसृत हो रहा है। वह जो वसुन्धरा, अम्बु, अग्नि, विहायस, पवन, सूर्य, चन्द्र और सज्जनोंमें देखता है। उसकी सुषमाका सौन्दर्य वह सर्वत्र प्रसृत पा रहा है। जैसे कालिदासने मालविकाग्निमित्रके नान्दी पाठ, अभिज्ञानशाकुन्तलके आदि और कुमारसम्भवमें अष्टमूर्तिकी उपासनाके श्लोक दिये हैं, उसी प्रकार उन्होंने भी परागके प्रथम अष्टमूर्तिको प्रतिष्ठित किया है। वे सर्वको विश्वरूपमें देखनेके आग्रही थे। शारदीय महापूजनमें 'शरत्कालेमहापूजा क्रियते या च वार्षिकी' के अनुसार जगन्मानाका स्तवन कवि कैसे नहीं करता? वह मूर्त्तविश्वको परमशिवकी शक्ति ही मानता है।

चित्राधारकी 'विभो' कवितामें अपनेको कवि 'पातकी' कहता है। यह हमारी परम्परा रही है। परमशिवत्त्वसे पतित होकर अणु, पुद्गल, पशु और जड़ जीव बन जाना क्या पातक नहीं है? इसीलिये पूजक या आराधक अपने आराध्यके समक्ष अपनी वास्तविकताको खोलकर रख देता है। वह अपने चित्तमें उसका निवास चाहता है, उसका प्रकाश चाहता है, क्योंकि वह प्रकाशात्मा परमेश्वर प्रकाशवपु ही है। शरत्पूर्णिमा, चन्द्रोदय, इन्द्र धनुष आदि कविताओंमें उसी महासत्ताकी स्फुरत्ता उसे प्रतिभासित होती है। बैखरी स्फुट होकर उसीके नमनमें व्यक्त हो जाती है। मकरन्दविन्दु' तक आते-आते कविकी रागात्मिका वृत्ति भावात्मकताके महाभावमें समाविष्ट हो गयी प्रतीत होती है। भावकी इसी उच्चभूमिपर बैठकर वह शिवके समष्टिगत रूपका दर्शन करता है। उसकी इच्छाका अनुभव करता है। अब वह सौंदर्य सुधासागरमें, आनन्द अम्बुनिधिमें आवगाहन करने लगा है। अखण्ड शान्ति और स्वच्छन्दताकी मूल शक्तिका सन्धान सुभग मानता है। करुणालयमें कवि विश्वामित्रके द्वारा वशिष्ठ और वरुणके दारुण बलिकर्मका विरोधकर आनन्द-

वादकी धाराको ही महत्त्व देता है। समस्वरसे सबके स्तवनसे ही पूरे विश्वका प्रतिपालक प्रसन्न हो सकता है। बन्धनमुक्तिका यही सन्देश करुणालयका है।

काननकुसुमकी 'प्रभो', 'वन्दना', 'नमस्कार, 'करुणाक्रन्दन', तुम्हारा स्मरण, महाक्रीडा, 'और याचना' आदि कवितायें कविके प्रत्यभिज्ञावादी उद्‌गारकी अभिव्यंजनायें हैं। इनमें कवि परमसत्ताकी अभिव्यक्तिके रूपमें ही सृष्टिको स्वीकार करता है। अनादि अनन्त माया ही इसमें अपनी लीलाके लालित्यका विलासरास रचा रही है। संसारका विस्तार वास्तवमें उसी परम शिवकी अनुकम्पाका प्रसार है। कानन कुसुमके रचनाकालके समय कविका मानस मानो शिवत्त्वके स्वारस्यसे अशेषतया सुरभित हो चुका था। इसीलिये वह परमशिवको प्रेमनिधि और निर्विकार एवं लीलामय मानता है। विश्वकी वीणासे ध्वनित होने वाली मूर्च्छना उसे मुग्ध करती है और कादम्बिनीसे सम्भूत जलराशि-वर्षणको वह अमृत वर्षाके रूपमें देखता है। कविकी अन्तर्दृष्टि विश्वगृहस्थको 'स्व' में अवस्थित देख चुकी है। वह उसे बाहरकी तरह मन्दिरमें भी 'नमस्कार' कर कृतार्थ होता है। विनय आराध्यको ओर उन्मुखता मानी जा सकती है किन्तु काननकुसुमका विनय उन्मुखता मात्र नहीं है। सिद्धिकी एक ऐसी स्थिति भी होती है, जहां वासनाके कुछ क्षीण और दुर्लभ संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं और साधकको यदाकदा क्षुब्ध कर दिया करते हैं! यद्यपि यह क्षोभ भी 'प्रभु' ही उत्पन्न करते हैं।

'प्रियतमा' कवितामें कविका आत्मससर्पण कविकी 'नान्यथैषा प्रसीदति' की भावनाको पुष्ट करता है। इस प्रकार काननकुसुमका कवि अपने 'स्व' का विस्तार करता हुआ परम 'स्वके तन्त्रकी समीक्षाको ही दक्षता पूर्वक निर्वाह दे रहा है। जिस स्थिति और जिस स्तरपर वह जा पहुँचा है, वह हिमालयकी उत्तुंगता है, घनता है। वहां जमकर पड़े रहनेकी स्थावरताका आनन्द उसने लिया है। अब तो वहांसे ब्रह्मद्रव बनकर तरलताके विशिष्ट आनन्दका अनुभवोल्लास झरना बनकर बह चलना स्वाभाविक ही है। १२-१४ वर्षोंकी अनुभूतिका यह तारल्य सन् १९२७ में एक शाश्वत प्रवाह पा गया और कविताओंके ५५ कुण्ड इसमें बन सके। पांच और पांचकी यह पंचात्मकता विश्वकी पंचात्मकतासे मेल भी

खाती है और शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्याकी पंचात्मकतामें समाप्त हो जाती है। षट्कंचुकका छः और संसारात्मक पांच पांच कुल ३१ तत्त्व बनते हैं। झरनासे लहर, आंसू और कामायनी तक होते हुए, यह छक्का और पंजा शुद्ध अध्वाकी पंचात्मकतामें समाहित हो जाते हैं। इसीलिए अन्तमें समरसताकी अनुत्तर दशाकी महाव्याप्तिका महानुभव कामायनीके अन्तमें ही विश्वको ज्ञात होता है[1]। इन रचनाओंमें छायावाद की अनुश्रुति भी है। पर प्रसादका छायावाद महाबिम्ब का प्रतिबिम्बमात्र है, जो इतना दर्शनीय हो गया है कि, शतशत सहृदय हृदयोंको अपनी ओर बरबस आकृष्ट करता है। झरनामें जहां सृष्टिकी अभिरामता लयोदयसौन्दर्यामोदमहनीय है; वहीं उसमें चिन्मयानन्दका अनुत्तर विमर्श प्रत्यवमर्श भी है। वास्तवमें यही परिवेश है, जहाँसे कविताओं की यह कलनिनादिनी बह निकली।

धरणीसे बीज अंकुरित हुआ। धराके स्वारस्यसे परिपूरित, हरीतिमामें लहराता कोरक, किसलय, पल्लव, पत्रोंमें प्रतिपर्व विकसित वह आकाश की ओर अग्रसर हो चला। मायाकी ममतामें, नियतिके संयोजनमें, कालके आकलित प्रवाहमें वह बढ़ता रहा। अब उसे राग मिला। रागने उसे अरुणिमा दी। कुसुम प्रसूति हुई। कलाने मकरन्द भर दिया। पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार और मनका परिमल उसे प्राप्त हो गया। फिर अन्य तत्त्वोंके सुघर संयोगसे एक आकृति बनी। आकृति प्राप्त होने परही तो परिचय होता है! यह सकारता हो तो निराकारताके सम्बन्ध की आधार है। फिर मेरा और तेरा का छन्द बन जाता है।[2] मेराका प्रतिनिधि अहं तेराका प्रतिनिधि तत् (सः) और सोहं की साधना प्रत्यक्ष !

अब छिपी हुई बातका संकेत झरना देने लगा। अब अपांग की धारा बहती हुई कविको छू गयी, तो उसका सारा तनमन आप्यायित हो उठा। बड़ी प्रसन्नतासे वह आगे चलता रहा। प्रियतमका प्रेमसदन भी उसे मिल गया। पर यह क्या ? यह द्वार बन्द क्यों हैं ? यह तो उसे व्यथित और विह्वल कर देनेके लिये पर्याप्त था। उसे असह्य हो उठा वह क्षण।

---

१. कामायनी, आनन्द, पृ० ०९४, पं० १७-२०।
२. झरना, पृ० ४३, पं० १–२।

वह बोल उठा—खोलो प्रियतम खोलो द्वार ! द्वार खोलनेका निवेदन वह स्वयं प्रियतमसे ही करता है। सम्भवतः कोई अन्य, द्वार खोलनेके रहस्यको जानता भी न हो।

अचानक उसकी दृष्टि दूसरी ओर घूम गयी। उसने देखा—'रूप' जलधिमें लोल लहरियाँ उठ रही थीं। सारी सृष्टिको लहरिकाओंसे उठने वाला चीनांशुकप्रकाश लपेटे हुए था। क्या दरवाजा तो नहीं खुल गया था ? भीतरकी 'किरणें' ही बाह्य किरणोंमें तो नहीं विकीर्ण हो गयी थीं ? इन्हीं किरणोंसे सुमनोंके द्वार खुला करते हैं और सोया बसन्त जग जाया करता है। वह अपने प्रियतम को पहचान गया है।

सुमनमें सुहास, मुकुलमें मकरन्द, उषामें मलयानिल और हिमकालमें धूप, सबमें उसने 'तुम' से बोधित प्रियतमको पहचान लिया। अब उसे और कुछ नहीं चाहिये ! चाहिये केवल पूर्ण विरति ! समस्त कामनाओंका स्रोत और उसीमें लीन होना ही उसे अपेक्षित है। झरनाका मुख्य स्वर अमाको राका बना लेनेकी महती आकांक्षामें प्रतिध्वनित है।

आँसू

वियोग की व्यथामें हृदय करुणासे कलित हो जाता है। हृदयकी तंत्रीसे विकल रागिनी बजने लगती है और हाहाकार स्वरोंमें (असीम वेदना गरजती है) वेदना विचित्र है। आँसू की वेदना एक व्यक्तिकी वेदना नहीं है। यह समष्टिगत वेदना है। गरजना नादात्मक शक्ति है।[1] नादमयी शक्ति बाह्य प्रसरणशील होनेके कारण प्रसरा कही जाती है। यह क्रिया शक्ति है। क्रियाका स्फुरण ही प्रसरा शक्ति है। यह नादात्मिका होती है। किन्तु नाद यहां बैखरी वाक् नहीं है। यह मध्यमावाक् है।

यहाँ असीम वेदना गरज रही है। वेदनाका यह नादानुसन्धान कविको भौतिकसत्तासे ऊपर एक चिदात्मसत्तामें पहुँचा देती है। वेदना की अनुभूति अनुकूल और प्रतिकूल दो प्रकार की होती है। यहाँ केवल वेदना है। वह असीम है। उसकी गरजती हुई अनुभूति है। वेदना कर्त्री है। वह स्वयं गरज रही है। करुणा कलित हृदयमें विकल रागिनी भी बज रही है। बजना स्वयं नहीं होता। उसके लिये किसीकी अपेक्षा होती

१, तन्त्रालोक आ० ३, ११३, ८।२९३, ६।२१७।

है। गायक रागिनी को बजाता है। यह कर्तवाच्य प्रयोग है। गायक द्वारा रागिनी बजायी जा रही है। इसीलिये वह बजती है। हृदयका करुणा कलित होना, विकल रागिनीका बजना और हाहाकार स्वरोंमें असीम वेदनाका गरजना इस त्रिकोणका मध्य विन्दु हृदय है। हृदयका 'इस' विशेषण दिया गया है। 'इस' का 'इ' कार इच्छा शक्तिका प्रतिनिधि है और 'स' कार समावेश, समाधि और जोवन सत्ताका द्योतक है। इच्छा क्षुभित और अक्षुभित दो रूपोंमें अनुभूत होती है। क्षुब्ध इच्छामें सीत्कार और सुखानुभूतिका सद्भाव तथा विश्वको आप्यायित करनेकी शक्ति रूप सोम तत्त्वका सद्भाव भी होता है।

'सकार' परामृत तत्त्वका प्रतिनिधि है। हृदयका 'इस' विशेषण इदंताका परामर्शक है। यह 'इदम्' ही परमेष्ठीका हृदय है। परमेष्ठीके इस हृदय-विश्वकी विकल रागिनीका बजाने वाला अघोरेश है, जो माया में आविष्ट होकर जगत्का उत्पादन करता है। मायाका आवेश मोहात्मक होता है। रागिनीके वैकल्यमें यही मोहात्मकता विद्यमान है। मोहात्मक दुःख होता है। दुःखमें ग्लानि, अनुप्लव, अज्ञान आदि मलोंका चाकचिक्य होता है। इसलिये वातावरणमें परमेष्ठीके हृदयका उत्कर्ष और उसके अन्तरालमें उत्पन्न रागिनियों और वेदनाओंके अनन्त स्पन्दन दोनों विचित्र हैं। एकही पद्यमें प्रसादने ज्ञेयके अभिमुखत्वका बोध और विश्वारम्भ-कारिणी बाह्यस्थ तत्त्वव्रात-अधिशायिनी संवित् एवम् उसका मायात्मक घात-प्रतिघात सब कुछ व्यक्तकर एक आध्यात्मिक दिशाका समर्थ संकेत किया है। 'आंसू' का यही प्रतिपाद्य है। जिसप्रकार निर्मल मुकुरमें रूप और आकार प्रतिबिम्बित होते हैं, जिसप्रकार एक शिवमें समस्त विश्व वृत्तियां भासित होती हैं,[1] उसीप्रकार आंसूके इस प्रथम छन्दमें समस्त आंसू काव्य प्रतिबिम्बित है। इसीलिये यह छन्द कविका 'मोटो' बन गया है। यह 'घनीभूत पोड़ाकी स्मृति वर्षा' है। वास्तवमें प्रकाश और अप्रकाशकी दार्शनिक छटा पूरे काव्यमें छविमान है।

दुर्दिन मेघाच्छन्न समयको कहते हैं। मेघका आच्छादन अर्थात् मलावरण ! दिन अर्थात् प्रकाश। यहां प्रकाश है पर आवृत है। देखने पर आच्छादन ही दीख पड़ता है। पर इससे प्रकाशका व्याघात नहीं

---

१. तन्त्रालोक, आ०३, १६५-१६७। ९।१९४, १।१५२-५३, ३।४

होता। केवल द्रष्टाकी दृष्टि ही उपहत होती[1] है। उसे केवल मेघ ही मेघ दीख पड़ रहे हैं। यदि द्रष्टाको प्रकाशकी स्मृति हो जाय, तो उसे एक साथ ही सुख, दुःख और मोहकी विभावात्मकता और त्रिगुणात्मकताका बोध हो जाय[2]। प्रकाश और अप्रकाश दोनोंका साक्षात्कार हो जाय।

आवरण ही दुर्दिन है। बोधके महासिन्धुमें स्वातन्त्र्यकी लहरियां उठीं। मायारूप बडवाने वृत्तियोंको वाष्प बना दिया है। यही पीड़ा है। वह घनीभूत होकर स्मृति-सी छा गयी पीड़ा और स्मृतिका समानाधिकरण्य विवश आंसू की वर्षा हुई और करुण रसका संचार हो गया। यह करुणा महाकरुणा है। दुर्दिनमें बरसकर विश्वका कल्याण किया करती है। यही कल्याणकारिणी अश्रुधारा विश्वसदनमें बरस रही है। कवि इसका स्वागत करता है। आवाहन करता है और कुछ आदेशात्मक स्वरमें बोल पड़ता है कि, सबका निचोड़ लेकरके सुखसे शुष्क इस विश्वसदनमें प्रभात हिमकनके समान ऐ आंसू! तुम बरसो। कवि शुष्कताकी सुखात्मकताका नहीं वरन् विश्व सदनमें प्रभातके शैत्यका पक्षपाती है। प्रभातमें प्रकाश भी है। और करुणाके प्रतीक हिमकन भी हैं। रजनीमें लघु स्नेह भरा दीपक जला और जलकर बुझ गया। बहती हुई सरिता सूख गयी। वसुधाके मधुकरकी मनमानी, करुणा कूलोंमें समानेवाली सरिता, चिर-वंचितोंकी मुमुक्षा और नयनोंकी प्यास, वानस्पतिक विभवहीनता-युक्त शैल मालायें, हाहाकार करती जलनिधिकी तरंगें, शशि किरणोंका ह्रास! यह सब क्या है? कविने इस अभिनयको, अभिनयकी इस मायाको, सुखसे तृप्त हृदय कोनेको, तमकी श्यामल छायाओंसे आवृत होनेको, स्वयं देखा है। अन्तमें उसने यही निर्णय लिया है कि, सबका निचोड़ लेकर ही यहां अमृत वर्षा करनी है। यह तभी हो सकता है, जब वेदना मधुर बन जाय और मेरी निर्दय तन्मयता मुझे मिल जाय। मुझे भी सहृदयता प्राप्त हो जाय। मानस पूजाका प्रतीक अविचल हो जाय, अनन्त यौवनमधुकी मधुमती भूमिकामें स्वर्णशतदल अम्लान हो जाय। नीलगगनके अवगुण्ठनसे आँखोंकी निधि वह मुख निरन्तर झांकता रहे। उस शक्तिमान्में शक्तिका नारीनिसर्ग सौन्दर्य निखरता रहे। इस

१. तन्त्रालोक, आ० ९।७०-७२, पृ० ६५। ९।२२२

२. आंसू, पृ०१४, पं० ५-८, पृ० ७८-७९

स्वप्नमयी संसृतिके सच्चे जीवनका जागरण, अपने आराध्यकी दीप्तिसे, मंगलकिरणोंसे अभिलाषाके मानसमें सरसिजकी आंखोंका उन्मीलन और इसी आधारपर मधुमय प्रेमका उल्लास। यही जीवनका सर्वोत्तम लक्ष्य होना चाहिए।

वेदना वाला संसार जब कविके समीप आ जाता है, तो मानो उसे एक शान्ति मिलती है। वह चेतनाका लाभ ले पाता है। नियतिका संकेत पाकर तमसे जीवनको उलझाकर गहन गुफामें अपनी चंचल लटोंको छिपाकर जब विश्ववेदना बाला छिपी सोया करती है,[1] उस समयभी कविका बोध उद्बुद्ध है। मणिदीप निवासिनी जगदम्बा ही, भगवती चिति ही कविकी ज्वालाके रूपमें प्रज्वलित है। अब सारा विच्छेद मिलनके रूपमें परिवर्तित हो जायेगा। प्रेमके अश्रु शाश्वतरूपसे छलकते रहेंगें। विरह और मिलनके परिणयके पावन प्रतीक इस विश्वके सुख और दुःख आंख और मनके खेलके रूपमें नृत्य कर रहे हैं। इन्हें वास्तवरूपमें प्रत्यभिज्ञाके द्वारा पहचानकर ही, वास्तविकतासे परिचित होकर ही आत्मकल्याण किया जा सकता है। तभी विषकी प्याली नयनोंकी मदिरा बनकर सौन्दर्य और प्रेमको जीवनमें जागृत कर सकती है[2]।

लहरका प्रकाशन सन् १९३५ में हुआ। कविताके क्षेत्रमें कविका यह २७वां काव्यवर्ष और ४६वां जीवनवर्ष था। पुरुषसे लेकर पृथ्वीतक २५ तत्त्व और कंचुक तत्त्वका का १ इस तरह २६ तत्त्व मानो उसे अधिकृत हो गये थे। कंचुक तक अशुद्ध अध्वा है। समस्त अशुद्ध अध्वामें आत्मतत्त्वका सम्मिश्रण है। इसे पहचाननेकी ही आवश्यकता है। पहचानना तभी सम्भव होता है, जब सद्विषयक बोध जागृत हो जाय। बोध महासिन्धुमें प्रोच्छलन्ती लहरिका का विलास उल्लसित हो[3]! लहरिकायें नादात्मकताके प्रथम प्रकाशमें ही प्रारम्भ होती हैं। उस समय उनकी अवस्था वार्यविक होती है। इन ईश्वरिक तरङ्गोंकी परिधि पूरा विश्व है। वर्णरूपसे बैखरीमें स्फुटवर्णता और अर्थकी शब्द-समन्वय-भूमिकामें काव्य-

---

१. तन्त्रालोक, आ०८।३०८, आंसू, पृ०६०, पं० ९-१२।

२. आंसू, पृ०३२ पं० ९-१२।

३. तन्त्रालोक, आ० ३।१४४-१४५, ३।२०९-२१०।

मयतासे अलंकृत होनेपर ये हृदयकी परिधिमें बह निकलती हैं। हृदयकी स्पन्दमानतामें आनन्दशक्तिका समुल्लास होता है और सहृदय हृदय संवेद्य रसकी अनुभूति उत्पन्न होती है। आनन्दरसका यह वाच्य वाचकात्मक विस्फार कविता बनकर मधुर गीतिकाओंमें ऋक्, यजुष् और सामकी श्रुतिका स्वारस्य उत्पन्न कर देता है।

लहरका यह संग्रह प्रसादके आनन्दरसका ही समुल्लास है। लहरें तो बूंदमें भी हैं। पर बूंद जब महासिन्धु बन जायेगा, तब लहरोंका उल्लास भी शशि छूनेके प्रयासका ज्वार उत्पन्न करेगा ही। जैसे यह समुद्रमें उठती हैं, उसी तरह प्रत्यवमर्श-विमर्श रूपसे विचारके समुद्रमें भी उठती हैं। विचारके समुद्रमें उठनेवाली लहरोंका एक चित्र क्रमशः २९ कविताओंमें और दूसरा अन्य कविताओंमें दृश्यमान है।

यदि वह प्रथमतः पुलिनके विरस अधरोंमें, सिकताके सूखे कणोंमें लहरोंके स्पर्शकी आकांक्षा लेकर[1] उदित होता है, तो अन्तमें कन कनमें बिखरे विभवका द्रष्टा बन जाता है। जीव तो अकिंचन है। वह भिखारो बन गया है। उसकी प्याली भी टूट गयी है। उसका करुण स्वरभी कुछ रहस्यका याचन करता है। अभी सोने वाले सोये ही हैं। वे जगेंगे और अपने सुख का स्वप्न देखेगें। स्वप्नमें ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीकविधान, उपचार-वक्रता और स्वानुभूतिकी अद्भुत विवृति व्यक्त है।[2] इन विशेषताओंके कारण छायावादी युगका प्रतिनिधित्व करती हुई लहर समस्त प्रत्यभिज्ञावादी धारणाओंको भी अपनाती हुई लहरा रही है। लघु-लघु लोल लहरोंका अभिलाष इच्छाशक्तिमें क्रियाशक्तिके जागरणका ज्ञान है। मानस जलधिके चिरचुम्बनमें औदार्य और ज्ञानका समिश्रण है। देखने की इच्छाकी पूर्त्तिमें, आंख-मिचौनीकी क्रीडामें, बाहु लताके अकड़ावमें, आलिंगनबद्ध हानेकी आनन्दवादितामें इच्छा, क्रिया और ज्ञान तीनों का उन्मेष निहित है।[3]

---

१. लहर (उठ री लघु लघु लोल लहर) पृ० ९, पं० १६।
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२६।
३. लहर (निज अलकों के अन्धकारमें) पृ० १०।

अरुणनील सागर संगममें शक्ति और शक्तिमान्‌का, शिव और शक्तिका एकत्वही प्रतिपादित है।[१] जीवनके पथमें एक अकिंचनका आगमन, मधुभिक्षाकी रटन, विकल पागल मनोंकी लुटन, और मंगल मधुका वर्षण माया और अघोरेशके मिलनेके अनन्तर कलासे लेकर क्षितिपर्यन्तका मधुविधान ही है।[२] विभावरी वस्तुतः गर्भीकृतानन्तविभासा निशा है।[३] आँखोंमें विहागभरे शयनकी स्थिति मायाप्रमातृता है।[४] मायाप्रमाता चित्त होता है। चित्त संस्कारकी अवस्था शून्य भूमि है। शून्यभूमिमें शयन और फिर संस्कारके दग्ध होने पर विभावरी का जागरण, पश्चात् भैरवोका[५] जागरण, मरुत्‌की प्राणवत्ता, मदिराकी अश्रान्त वर्षामें इन्द्रियार्थ सन्निकर्षका बीजारोपण, भावनाके निःसीम गगनमें बुद्धि चपलाका क्षणनर्तन, रूप संविद्‌का प्रकाश, अपनेही जीवनका (जीव द्वारा शिवका) चुम्बन[६], यह एक ऐसा चक्र है, जहाँ ज्ञेयसे अभिन्नता प्राप्त होती है।[७] लहरमें प्रसादकी दार्शनिकता इतनी प्रौढ़ है कि, वह स्वयं रहस्य बनकर कविताओंमें छिप गयी है। जीवन जलनिधिमें विकल अनिलसे प्रेरित होकर लहरी कूल चूमने चलती है और छविका सृजन कर देती है। सौन्दर्य लहरीका यह लालित्य आत्मतत्त्वमें धरा तत्त्वसे लेकर कला पर्यन्तका अपनेमें ही प्रतिबिम्बन, सर्वकी स्फुरत्ताका प्रत्यवमर्श समस्त आवरणोंसे ऊपर उठा देता है। 'बीती विभावरी जागरी' कविता जीवन स्मृतिके फूल खिलानेके माधुर्य दर्शनकी स्वात्मविश्रान्तिके अतिरिक्त और क्या है ? विकल्प-विकल व्यक्ति भी इस प्रकार भैरवभाव भव्य बन जाता है।[८] हृदयकी अन्धेरी ज्योतिकी भीख मिल जाती है और जला जगत्

---

१. तन्त्रालोक, आ० ३। १६८।

२. लहर (उस दिन जल जीवनके पथमें) पृ० १७, १८।

३. तन्त्रालोक, आ० ९। १५१।

४. Pratyabhigya Hridayam. by Jai Dev Singh, P. 50, Line 6. The sphere of the vold also consists of the Sanskaras' of Chitta.

५. लहर, पृ० २०, पं० २, तन्त्रालोक, आ० ३।२७१।

६. लहर पृ० २१।

७. तन्त्रालोक, आ० ५, श्लोक ७६।

८. लहर, पृ० २६, पं० १-५।

९. तन्त्रालोक आ० ३।२७७।

वृन्दावन बन जाता है। मानव जीवनके सुख, दुःख और मोह क्या है? दो कणोंके मिलनकी कल्पना, उनका आकर्षणमय चुम्बन, दलके नस-नसमें लघु-लघु सुन्दरधाराका अभिनव आकल्पन, परमेश्वर मिलनकी महानुभूतिका ही समर्थ चित्रण है।[१] शून्य नभमें आग जल गयी है। सुवर्णसा हृदय गल गया है और रिक्त जलधि भर गया है। लहर को मानो कूल मिल गया हो। इस प्रकार हम पाते हैं कि, प्रसादका संवेदन संविद्की उदार विन्दुसत्तासे ऊपर उठकर जलधिसत्ताका सामरस्य प्राप्त कर चुका है। उनकी दृष्टि बाह्य लहरों पर टिकी अवश्य प्रतीत होती है पर दृष्टिका लक्ष्य आन्तरिक ही है।[२] सारी लहरें प्रत्यभिज्ञासे आलोकित हैं। लहर भैरव मुद्राकी प्रतीक कृति है।

प्रसादका वैदुष्य दार्शनिकताकी तीन अवस्थाओंमें प्रतिफलित है। १—शिवत्त्वके संस्कारसे पूरित रहते हुए शैवदर्शनका दीनबन्धुजोसे अध्ययन और शैवध्वजजीसे शैव दर्शनमें घुलने मिलनेकी दीक्षाका प्रवर्तन। २—जबकि उन्होंने अभिनव गुप्तके सिद्धान्तको स्वीकार कर लिया और तन्त्रालोक को उन्होंने अपना प्रकाशस्तम्भ बना लिया। ३—जबकि वे परममाहेश्वर बन गये थे। उन्हें देखकर भी जनता 'महादेव' का नारा लगाने लगी थी और 'महादेव' के शब्दोच्चारके माध्यमसे ही प्रणामाशीर्वादका विनिमय करने लगी थी। इन्हीं तीन अवस्थाओंमें उनका व्यक्तित्त्व विकसित हुआ। उनका काव्यपुरुष समृद्ध, समृद्धतर और समृद्धतम हुआ।

प्रसादकी कृतियोंमें काव्यधारा शुद्ध अध्वाका स्वारस्य लेकर चलती है और गद्य धारा अशुद्ध अध्वाके व्यापक परिवेशका प्रतिबिम्बन करती है। प्रत्यभिज्ञादर्शनमें आनन्दकी धाराको ६ भागोंमें बांट दिया गया है। १—निजानन्द, २—निरानन्द, ३—परानन्द, ४—ब्रह्मानन्द, ५—महानन्द और ६—चिदानन्द[३]। सन् १९०९ से लेकर सन् १९३३ तक की रचनाओंमें ४ प्रकारकी आनन्दवादिताका समावेश हो जाता है। उर्वशी उनका निजानन्द है। चित्राधार निरानन्द है। क्योंकि इसमें स्वप्रमातापद

१. लहर, पृ० ३०, पं ९-१२।
२. तन्त्रालोक, आ० ५। ८०, पृ० ३·१।
३. तन्त्रसार, आ० ५, पृ० ३८, पं० ११-१२।

से आगेकी निष्ठा है। कानन कुसुममें बहिर्मुखतामें भी परप्रमेयताके आधानके कारण परानन्दका प्रस्थापन है। १९१३ से १९२३ तककी गद्य पद्यमयी रचनाओंमें चौथी आनन्दवादी धारा ब्रह्मानन्दका महाप्रवाह प्रवहमान है। ब्रह्मानन्दमें स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर सभी स्वीकृत हो जाते हैं। नीलपीत आदि भेदावभासमें ब्रह्म का उपबृंहण सर्वत्र व्याप्त है। प्रसादका व्यापक परिवेश इसमें परिलक्षित है। महानन्दकी पांचवीं धारामें इच्छाशक्तिकी क्षुभितावस्था समाप्त हो जाती है। अक्षोभका शान्त वातावरण व्यक्तिको तटस्थ द्रष्टा बना देता है। प्रसाद १९२३ से सन् १९२४ तक समस्त विषमताओंमें तटस्थभावसे समरसता भरनेका प्रयत्न करते रहे। कामना, आँसू झरना, कंकाल, चन्द्रगुप्त और तितली जैसी समर्थ रचनाओंमें समाजको तटस्थाभावसे देखा गया है। उसपर अपने व्यक्तित्वका बोझ नहीं डाला गया है। वरन् भाव और कुभावको तटस्थ रूपसे चित्रित किया गया है। इसीलिये यहाँ तककी कृतियोंमें महानन्द का अध्यवसाय, अनुसन्धान तथा अभिसन्धान है।

लहर और इसके बादकी कृतियोंमें सर्वोत्तीर्णताका पूर्णाहन्ता प्रत्यवमर्श प्रतिष्ठापित है। यहां चिदानन्दकी छठीं अवस्था पूर्ण हो जाती है। कामायनी इसी चिदानन्दका चामत्कारिक चारुचित्र है, जिसमें चराचरका चंक्रमण चित् या चितिके चिरन्तन वैचित्र्यकी रेखाओंमें खचित है। जीवको शिव बनना है। चाहे वह अभ्याससे बने, अन्तर्ज्ञानसे बने, अनुभव और स्वाध्यायके प्रत्यभिज्ञानके आधारपर बने, चाहे दीक्षा और उपदेशसे बने, एकाएक बन जाय या युगोंकी साधनाके सोपानोंको सिद्ध करते हुए बने, उसे शिवत्त्वकी ओर अग्रसर होना है। प्रसादका सारा साहित्य प्रारम्भसे ही शिवत्त्वकी ओर अग्रसर करनेका प्रयास है। उसमें न कोई आग्रह है, न अभिनिवेश। न उत्सारण है, न अकारण उद्वेग। बस एक प्रवाह है, एक धारा है, जो हिमगिरिकी रमणीय शैलमालासे निकलकर आर्यावर्त्तकी उत्तरसीमाके फल फूलसे लदे काननसे[1] प्रवाहित होती हुई उच्चताकी ओर बहती हुई हिमगिरिके उत्तुंगशृंगपर चढ़ जाती है और

१. चित्राधार, उर्वशी, पृ०११, पं० ११-१२।

वहीं कैलाशकी मानसभूमिमें समरसताका सन्देश देती हुई समाहित हो जाती है। उसके सुधासीकरसे आर्यावर्त्त नहला दिया गया है और वह अभिषिक्त हो उठा[१] है।

कामायनी

कामायनीमें प्रत्यभिज्ञादर्शनके मूलतत्त्वोंका निरूपण हुआ है[२]। प्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार शक्तिमान् शिवके सात स्वरूप माने गये हैं। १—शिव, २—मन्त्रमहेश, ३—मन्त्रेश, ४—मन्त्र, ५—विज्ञानाकल, ६–प्रलयाकल और ७–सकल। शिवसे लेकर सकल तकशिव ही वैचित्र्यावभासमें भासित हैं। मनु सकल जीव है। सकलका विकास प्रलयाकल है। सकल देवसे लेकर स्थावर पर्यन्त है। इसमें मलोंके कारण चिद्रूपत्व और स्वातन्त्र्य न्यक्कृत हो जाते हैं। जब स्वातन्त्र्यका अबोध हो, कर्तृत्वका अहंकार हो, सुख दुःख मोह नील और पीत आदि भेद प्रथाकी प्रभावात्मकता हो, अपवेद्यको ही वेद्य समझनेकी अवस्था हो और इसीमें इनके वियोगकी भी भावनाका उन्मेष हो, उसे प्रलयाकल अवस्था कहते हैं। इसमें धर्माधर्मात्मकता रहती है। यह दशा प्रलयाकलकी ही है[३]।

प्रलयाकलमें दिध्वंसिषुताका श्रीगणेश होता है। विज्ञानाकलमें उसकी पूर्णता होती है। कामायनीके सर्ग १ (चिन्ता) से लेकर सर्ग ११ (संघर्ष) तक 'दिध्वंषिषुता' का ही प्रभाव है। इन सर्गोंमें सकल, प्रलयाकल और विज्ञानाकल रूपोंका विस्तारसे उद्‌भावन है[४]। इनमें अन्तमें मलोंका आवारकत्व शिथिल हो गया है। १२वें सर्ग (निर्वेद) में किंचिद्-ध्वंसमानता' और 'ध्वंसमानता' इन दोनों दशाओंका समावेश है। वहां नीले नभमें छायापथ खुल गया है और सुन्दरताकी मृदुमहिमा कुछ सीख दे गयी है[५]। यहां सद्‌विद्याका प्रभाव परिलक्षित है। मनुका यहां मन्त्र

१. सुधासीकरसे नहला दो (कविता) चन्द्रगुप्त अंक ४, (कल्याणी)।
२. प्रसादकी दार्शनिक चेतना, पृ० ५४५। पं० १७।
३. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा (प्रक्रिया विमर्श) पृ०६०।५०९।११०। पृ०६१।५११
४. कामायनी, संघर्ष, पृ० १९०, पं०९-२०, पृ० १९१, पं० ९-१६, वासना, पृ० ८७, पं०१३-१६, पृ०८८, पं०१-४, पृ० ८६, पं० ९-१२।
५. पृ० २२१, पं०१३-१६, पृ०२२२, पं०१-८।

और महेश्वर रूप स्पष्ट हुआ है। १३वें सर्ग (दर्शन) में मन्त्र महेशत्व उद्भावित है। मन्त्र महेशत्व दशामें विद्याकलाका नाम तक नहीं रहता। वहां शुद्ध विद्याका इच्छात्मक सद्भाव होता है। स्वातन्त्र्यका स्वभावोद्बोध होता है। यहां 'किंचिद्ध्वस्तता' की वृत्ति या अवस्थाका निरास और 'ध्वस्तता' का प्रकाश होता है। 'ध्वस्तता' में प्रध्वंसनोन्मुख्यके आगे की दशा होती है और वही दशा १४वें (रहस्यसर्ग) में अभिव्यक्त है[1]। १५वां आनन्दसर्ग है। यहां आदिशिवत्त्व उद्बुद्ध हो जाता है। सारा विश्व कुटुम्ब हो जाता है। अपना और पराया कोई नहीं रहता[2]। पुरातन चेतन पुरुष शक्ति तरंगायित होता है। आनन्द महासमुद्र लहराने लगता है। आनन्दका यह महासमुद्र परमशिवत्त्वका प्रतीक बन जाता है। कामायनीमें इसी आनन्दवादिताकी पूर्णता पदे पदे परिलक्षित होती है। अकेले कामायनीमें शिवशक्तिका सामरस्य है, विद्यातत्त्वके सदाशिव, मन्त्रेश्वर, मन्त्र और सद्विद्याका प्रतिनिधित्व है। षट्कंचुकोंकी मलावारकताका आडम्बर है। पुरुषसे लेकर धरातकके २५ तत्त्वोंका पंचविंशदर्शन है। यह प्रसादकी परममहेश्वरताकी प्राप्तिका दर्शन है। कामायनीमें प्रत्यभिज्ञादर्शनके उक्त ३६ तत्त्वोंकी साहित्यिक भूमिपर पूर्णतया परिणति हुई है।

---

३ कामायनी, रहस्य, पृ०२७३, पं०९-२०। ४. आनन्द, पृ०२८६-२९४।

३ : छायावादी प्रभाव

साहित्य समाजकी स्वानुभूत ज्ञानराशिका संचित भण्डार है। प्रवृत्तियोंका जैसा परिवर्त्तन समाजमें होता है, साहित्यमें उसका अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। प्रवृत्तियोंके परिवर्तनका इतिहास ही साहित्यका इतिहास है। 'जीवनके कई क्षेत्रोंमें जब एक साथ परिवर्त्तनकी पुकार सुनाई पड़ती है, तब परिवर्तन एक वादका व्यापक रूप धारण करता है और बहुतोंके लिए सब क्षेत्रोंमें स्वतः एक परम साध्य बन जाता है[1]।' काव्य परम्पराकी शैलियोंसे भी असन्तोष या अतृप्ति होती है। इससे भी परिवर्तनकी कामना उत्पन्न होती है और काव्यधारामें उसकी अभिव्यक्ति भी होती है। भक्तिकाल या रीतिकालकी परम्पराका इसीलिये अन्त हुआ और उनके स्थानपर भारतेन्दु युगमें देशप्रेम और जाति प्रेमकी धाराकी नवीन परम्पराका प्रादुर्भाव हुआ।

द्विवेदी युगमें यद्यपि काव्यकी नूतन परम्पराका प्रसार हुआ, भाषामें भी सफाई आयी पर काव्यमें गद्यवत् रुक्षताका समावेश हुआ। इतिवृत्तात्मकताकी आवृत्ति होने लगी और वृत्तियां बाह्यार्थके निरूपणमें निरत हो गयीं। इसकी प्रतिक्रिया भी हुई और काव्यशैलीके ऊपर उसका विशेष प्रभाव पड़ा। आंकाक्षाओंका उभार हुआ, काव्य ललितमें पदावली, रसात्मकता और मार्मिकताका पुट, लाक्षणिक वैचित्र्य, व्यंजक चित्रविन्यास, रुचिर अन्योक्तिओंकी समन्विति, कल्पनाका नया रूप रंग, अन्तर्भाव व्यंजक प्रवृत्तिका उत्कर्ष, चित्रमयी भाषा, कोमलता और व्यजकताका व्यापक प्रयोग आवश्यक माना जाने लगा।

द्विवेदी युगकी कविताका मूलस्वर आदर्शवाद था, जो सामयिक राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियोंकी उपज था। उस युगकी कवितामें अन्तः प्रेरणा या भावोच्छ्वासकी समवेत स्वरमयता नहीं थी[2]। द्विवेदी युगके इतिवृत्तात्मक परिवेशका छायावादसे संघर्ष नहीं था। उसका मुख्य विरोध विशेष रूपसे रीतिवादी मनोवृत्ति और संस्कारों वाली चेतनाके प्रतिकूल था। जो कुछ भी हो, छायावाद एक प्रकारका विद्रोह

---

१. हिन्दी साहित्यका इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ०६११, पं० ३-५।

२. हिन्दी साहित्यका इतिहास—डा० रामूर्ति त्रिपाठी, पृ०३९७, पं०४-६।

है। एक आध्यात्मिक छाया, भो अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुतकी व्यंजना करनेवाली काव्य धारामें परिलक्षित होती है। छाया कान्ति-लावण्यके समकक्ष प्रतीयमान अर्थकी संस्थापक है और प्रतिबिम्ब वाद भी है।

छायावादका नव्यतर युग १९२० से १९३६ तक माना जाता है[1]। प्रसादके आंसू, झरना, लहर और कामायनी इसी कालकी प्रौढ़ रचनायें हैं। महाकवि युगका प्रतिनिधि होता है। फलस्वरूप उसकी काव्यशैलीपर युगका प्रभाव अनिवार्यरूपसे पड़ता है। प्रसाद साहित्य भी इस नव्य प्रवर्तनका निदर्शन है। सन् १९०७ से ही प्रसादने अभिव्यंजना और लाक्षणिकताके नव्य प्रयोग करने प्रारम्भ कर दिये थे। इसका प्रमुख कारण उनपर शैव प्रभाव था। हिन्दी साहित्यमें छायावादका दर्शन ही प्रसादके द्वारा हुआ। ये इसके प्रवर्त्तक ही हैं। सन् १९१३- ९१४ के ही लगभग प्रसादजो की अनेक कवितायें 'इन्दु' में प्रकाशित हो चुकी थीं। पद्माकरकी छायात्मक कविता तो वे प्रायः गुनगुनाया ही करते थे। सन् १९१३-१४ के पहलेकी रचनाओंमें (जो ब्रजभाषामें हैं) भी छायावादका स्पष्ट आलोक है। छन्दोंमें नवीनता, अभिव्यंजनाका छायावादी चमत्कार शोर्षकोंके अभिनव प्रयोग, जिज्ञासामूलक रहस्यभावना सब कुछ प्रसाद साहित्यमें प्राप्त है[2]। ऐसी स्थितिमें भी श्री पं० रामचन्द्र शुक्लने प्रवर्त्तनका मुख्य श्रेय मैथिलीशरण गुप्त और मुकुट धर पाण्डेय को दिया है[3]। वास्तवमें यह उनका आग्रह, अभिनिवेश या इन्दु पत्रिकाकी महनीयताकी उपेक्षा ही कही जा सकतो है। कुछ इतिहासकार इसे पं० रामचन्द्रशुक्ल की भूल मानते हैं[4]। डा० रामूर्ति त्रिपाठी का भी यही अभिमत है। प्रसादकी रचनाओंको छायावादके परिप्रेक्ष्यमें कई भागोंमें बाँटा गया है। प्रथमतः—१९०० से १९११ तककी रचनायें—इनका संग्रह 'चित्राधार' में है। उर्वशो नामक संग्रहमें 'परागके पुंजसे धूसर अंग कली-

१. हिन्दी साहित्यका इतिहास, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ०३७१, ३९७।

२. छायावादः विश्लेषण और मूल्यांकन, पृ० १८०, पं० १७-३५।

३. हिन्दी साहित्यका इतिहास—पं० रामचन्द्रशुक्ल पृ०६२०, ६३६, पं०१३-१५, पृ०६१८, पं०१७।

४. छायावादः विश्लेशण और सूल्यांकन, पृ०१८०।१० - हि० सा० इ०— डा० रामचन्द्रशुक्ल पृ० ३९७ पं० १८-३०।

रस लेके अली करे गान' का कवि गान कर रहा था[1]। 'प्रेम राज्य' में भी सुरसरीकी शान्ति मूर्तिको कुंजोमें छिपकर सुमन उछाह सहित देखने-की प्रक्रियामें वह तल्लीन दीख रहा है[2]। 'प्रेमपथिक' (१९०५) में भी छायावादके तत्त्व विद्यमान हैं[3]। 'चित्राधार' के नीरव प्रेममें भी छाया-वादका नवोन्मेष निहित है।

द्वितीयतः उनकी सन् १९१२ से १९.१९ तककी रचनायें द्विवेदी युगकी प्रतिक्रिया और स्वच्छन्दतावादसे प्रभावित हैं। इनमें 'प्रेमराज्य' 'काननकुसुम', 'करुणालय', 'प्रेमपथिक, 'महाराणाका महत्त्व' और चित्राधार' की रचनायें हैं। इनमें 'प्रेमपथिक' तो आधुनिक काव्य संसारमें पवित्र प्रेमानुभावका संदेश देनेवाल पहला देवदूत ही है। इसमें स्वच्छ-न्दतावादी धाराका प्रवर्त्तन, छन्दोंमें नवीनता और पंक्तियोंमें "Run on Lines" के गुण भो हैं। सर्वप्रथम इसीमें अमूर्त्त प्रतीकों और लाक्षणिक प्रयोगोंके भी दर्शन होते हैं।

सन् १९२० से १९२८ तकका प्रसादका भावना-युग जाता है। इसमें इस युग की भाषा शैली सुकुमार कल्पना, भावप्रवणता, भावलहरियोंका नर्त्तन और अनुरंजन, यौवन, आशा निराशा, पीड़ा, हर्ष, उल्लास, सबका प्रतिबिम्बन है। प्रेमपथिक ही 'झरनामें बहा, 'आंसू' से अभिषिक्त हुआ, 'लहर' की लहरोंमें लहराया और अन्तमें 'कामायनी' में कैलाशकी समरसतामें समाहित हो गया। भावना तीव्रसे तीव्रतम होती गयी। इसी बीच सन् १९३६ से कामायनी का श्रीगणेश हो गया था। भावना चिन्तामें बदल गयी थी। यही चिन्तनधारा कामायनी के बोध-महासिन्धुमें समाहित हो पायी।



---

१. चित्राधार, पृ० १५, पं० १८। २. प्रेमराज्य, पृ०८०, पं० ५-६।

३. छायावादः विश्लेषण और मूल्यांकन श्री दीनानाथ शरण, पृ०१८१, पं० १-२।

४ : पाश्चात्य छायावाद

सन् १८८५ में फ्रांसमें रहस्यवादी कवियोंका एक दल खड़ा हुआ, जो प्रतकोवादी (Simbolists) कहलाया। वे अपनी रचनाओंमें प्रस्तुतोंके स्थान पर अप्रस्तुतोंको लेकर चलते थे। इसीसे उनकी शैलीकी ओर लक्ष्यकरके 'प्रतीकवाद' शब्दका व्यवहार होने लगा। आध्यात्मिक या ईश्वर प्रेम सम्बन्धी कविताओंके अतिरिक्त और सब प्रकारकी कविताओंके लिये भी प्रतीक शैली की ओर वहां प्रवृत्ति रही। हिन्दीमें छायावाद शब्दका जो व्यापक अर्थमें रहस्यवादी रचनाओंके अतिरिक्त और प्रकारकी रचनाओंके सम्बन्धमें ग्रहण हुआ, वह इसी प्रतीक शैलीके अर्थमें[1]। यदि (Subjectivity) को अध्यात्म अर्थमें माना जाय, तो छायावादी प्रकृतिके लोग (Subjective) कहे जायेगें। ये लोग सर्वत्र अपनी अन्तरात्माकी छाया देखते हैं। 'जैसा है' की अपेक्षा 'जैसा लगता है' को वाणी प्रदान करते हैं। ऐसे लोग मनोविज्ञानकी पृष्ठभूमिपर व्यक्तिके सम्बन्धको ही आधार मानते हैं। हिन्दोका छायावादी मार्ग हिन्दीका क्रमशः बनाया हुआ मार्ग नहीं है।······कुछ दिनोंतक इसके भीतर अंग्रेजी और बंगलाका ज्यों का त्यों अनुवाद चलता रहा। स्वतन्त्र उद्‌भावना को प्रधानता नहीं थी।

छायावादकी धाराके आनेके साथही साथ अनेक लेखक नवयुगके प्रतिनिधि बनकर योरपके साहित्यिकक्षेत्रमें प्रवर्तित काव्य और कला सम्बन्धी अनेक नये पुराने सिद्धान्त सामने लाने लगे। छायावादी कविताकी पहली दौड़ तो बंग भाषाकी रहस्यात्मक कविताओंके सजीले मार्गपर हुई पर उन कविताओंकी बहुत कुछ गतिविधि अंग्रेजी वाक्य खण्डोंके अनुवाद द्वारा संघटित देख अंग्रेजी काव्योंसे परिचित हिन्दी कवि सीधे अंग्रेजीसे ही तरह-तरहके लाक्षणिक प्रयोग लेकर उनके ज्यों के त्यों अनुवाद जगह-जगह अपनी रचनाओंमें जड़ने लगे।[2] 'कलाका उद्देश्य काव्य ही है' अथवा 'कलाका उद्देश्य कला ही यह योरोपीय प्रवाद हैं।

---

१. हिन्दी साहित्यका इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६३७–६३८।
२. हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृ० ६२१–६२४।

इसमें सहायक हुई जर्मन सौन्दर्य शास्त्रियोंकी सौन्दर्य सम्बन्धी अनुभूति। इसके प्रवर्तक थे—ह्विस्लर (Whistler) और ब्रेडले (Dr. Bradley) इनका निराकरण रिचार्ड्स (I. A. RIchards) ने किया। फ्रांसके प्रभाववादियों (Imprestoinists) और अभिव्यजनावादियों (ExaPe-ssionists followers of Benedetto crocha) ने काव्यक्षेत्रको अपने ढंगसे प्रभावित किया। इसके बादही फ्रायड (Freude) ने मनोवैज्ञानिक स्वप्नवादका प्रचलन किया। रामचन्द्रशुक्लके अनुसार इन सभी वादों का मिला जुला आभास हिन्दी की छायावादी कवितामें है। इस बाहरी प्रभाव को शुक्लजी कूड़ाकरकटके अतिरिक्त कुछ नहीं मानते। इन वादोंके दो प्रकार के प्रभावभी वे मानते हैं। १—काव्यमें भावानुभूतिके स्थानपर कल्पना विधानका प्राधान्य और २—अभिव्यंजना प्रणाली या शैली का प्राधान्य। कला-कला की पुकारके कारण प्रगीत मुक्तकों (लिरिक्स) का प्रचलन। इसका दुष्परिणाम नाना अर्थ भूमियोंपर काव्यके न आ पानेके रूपमें व्यक्त हुआ[१]। अंग्रेजी कविताका रोमान्टिक पुनर्जागरण तथा छायावाद निश्चयरूपसे काव्यमें स्वच्छन्दतावादी युग है।[२] हिन्दीके छायावादी कवि योरोपके रोमान्टिक कवि स्पेन्सर, सेक्सपियर और मार्लोआदिसे प्रभावित रहे हैं। पूर्णतः अनुकरण इन्होंने नहीं किया है।[३] प्रो० शिवनन्दन प्रसाद छायावादको स्वच्छन्दतावादका अभिनव उत्थान ही मानते हैं।[४] छायावादी कवियों पर पाश्चात्य प्रभाव कुछ पर सीधे और कुछ पर सीधे बंगला से छनकर पड़ा था। अंग्रेजी भाषाके अलंकार मानवीकरण (Impersonification) विशेषण विपर्यय (Transferred epithet) के बहुल प्रयोग क्या सिद्ध करते हैं? अंग्रेजी की उक्तियों और अभिव्यक्तियोंके अनुवाद और व्यस्त रूपकशैली का प्रयोग भी अंग्रेजीसे ही प्रेरित है।[५] इस प्रकार छायावादी काव्य शंलो पर स्पष्ट

---

१. हिन्दी साहित्यका इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५४८–५४९, ५५०, ६२३–६ ५।

२. छायावाद:विश्लेषण और मूल्यांकन–श्री दीनानाथ शरण, पृ० ११६-१२९

३. आधुनिक कवि–पन्त-भूमिका।

४. छायावाद : विश्लेषण और मूल्यांकन, पृ० ८-९।

५. छायावाद की काव्य साधना, प्रो० क्षेम, पृ० ३२३।

पाश्चात्य प्रभाव परिलक्षित होता है। इसमें रोमान्टिसिज्म (स्वच्छन्दतावाद) का विशेषण प्रभाव है। जो राजनैतिक क्रान्तिके कारण अनिवार्यतः योरोपसे प्राप्त हो सका।

प्रसादजीने यथार्थवाद और छायावाद निबन्धमें छायावादी अभिव्यंजना प्रणालीको प्राचीन भारतीय ग्रन्थोंसे सम्बन्धित करने की चेष्टा की है। अन्य विद्वान् बंगलाके छायावादी कवियों तथा अंग्रेजीके रोमान्टिक एवं विक्टोरियन् एज के कवियोंका हिन्दी छायावाद पर बड़ा प्रभाव मानते हैं। छायावाद भारतके लिये सर्वथा नवीन काव्य प्रवृत्तिके[१] रूपमें प्रचलित हुआ। इस नवीन काव्य प्रवृत्तिपर पूर्णतया पाश्चात्य प्रभाव ही परिलक्षित है। अंग्रेजी कविताका रोमान्टिक पुनर्जागरण तथा छायावाद हिन्दी काव्यक्षेत्रमें स्वच्छन्दतावादी युग माना जाता है।

यदि हिन्दी कविताकी भाषा ब्रजभाषासे बदलकर खड़ी बोली न हो गयी होती, तो छायावादके समान कोई रोमांटिक आन्दोलन ब्रजभाषामें ही आया होता और हिन्दी कविता उस भंगिमाको प्रचुर मात्रामें उपस्थित करती, जो बोधा, घनानन्द और भारतेन्दुमें संकेतित हुई होती।[२] इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि, छायावाद एक रोमांटिक आन्दोलन है। और कोई भी रोमांटिक आन्दोलन पाश्चात्त्य प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता।

•

१. छायावाद : विश्लेषण और मूल्यांकन, पृ० १४१, पं० १५२-२४।
२. काव्यकी भूमिका–दिनकर, पृ० ३०।

५ : छायावादका भारतीयकरण

हरिश्चन्द्रके युगमें दैवीशक्ति या महत्त्वसे हटकर अपनी क्षुद्रतामें और मानवतामें विश्वास उत्पन्न हुआ तथा संकीर्ण संस्कारोंके प्रति विद्वेष जागृत हुआ। न तो भारतीय नरेशोंसे भारतीय साम्राज्यकी रक्षा हुई और न धार्मिक प्रवचनों या उपदेशोंसे पतन रुक सका। ऐसी स्थिति में महत्ता भूमिसात् हुई और क्षुद्रतामें महत्ताका आभास हो गया। एक व्यापक दुःखवाद संवलित मानवताका स्पर्श करनेवाला साहित्य सृष्ट हुआ और उसमें यथार्थवाद निखर आया। इसप्रकार यथार्थवादका मूल स्वर वेदना बन गया। दुःख दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्गका एकीकरण साहित्य है। हिन्दीमें इस प्रवृत्तिका मुख्य वाहन गद्य साहित्य बना। इसके साथही साथ हिन्दी साहित्यके क्षेत्रमें पौराणिक युगकी किसी घटना अथवा देश विदेशकी सुन्दरीके बाह्य वर्णनसे भिन्न जब वेदनाके आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब उसे छायावादके नामसे अभिहित किया गया।[१] कोई आन्तरिक हेतु पदार्थोंको रसमय बनाता है। प्रतीतियां बाह्य उपाधियोंका आश्रय नहीं करतीं।[२] यही आन्तरिक हेतु कविकर्ममें प्रवृत्त हुआ। महाकवियोंकी वाणीमें विराजमान प्रतीयमानका वैलक्षण्य भी प्रादुर्भाव हुआ। मोतीके भीतर छायाकी एक तरलता होती है। वही तरलता अंगमें लावण्य है। इसी लावण्यको छाया कहते हैं। वही विच्छित्ति है, वक्रता है।[३] शब्द और अर्थकी यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्तिका सृजन करते हैं। यह लोकोत्तीर्ण अवस्था है। संस्कृत साहित्यमें छायावादका महत्त्वपूर्ण स्थान था।[४] हिन्दीमें भी इसे स्वीकार करना पड़ा। हिन्दीने आरम्भके छायावादमें अपनी भारतीय साहित्यिकताका ही अनुसरण किया। अस्पष्टता, छायामात्रता, अवास्त-

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ११८-१२१

२. व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपिहेतुः।
न खलु वहिरुपाधीन् प्रीतय संश्रयन्ते ॥

३. वक्रोक्ति जीवित, कुन्तक।

४. काव्य और कला तथा निबन्ध, पृ० १२३-१२६

विकता न तो छायावाद है न ही रहस्यवाद, प्रकृति विश्वात्माकी छाया या प्रतिबिम्ब है। इसलिये प्रकृतिको काव्यगत व्यवहारमें लाकर छाया-वादकी सृष्टि होती है–यह सिद्धान्त भी भ्रामक है।

भारतीय दृष्टिसे अनुभूति और अभिव्यक्तिकी भंगिमापर छाया निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रकृतिविधान, उपचार वक्रताके साथ स्वानुभूतिकी विवृति ही वस्तुतः छायावादकी विशेषतायें हैं। छायावादमें अज्ञात सत्ताके प्रति केवल जिज्ञासा, उत्कंठा और आश्चर्य पुलक मात्र रहता है।[१] छायावादी कवि जब प्रकृतिमें चेतनत्त्व और मानवत्त्व पाता है तथा इससे जब वह अपनी अनुभूति जोड़ता है, तो छायावादकी सृष्टि हो जाती है।[२] वास्तवमें जिसप्रकार रोमान्टिक कवियोंने स्पेन्सर, मार्लो, डन आदिका आधार ग्रहण किया है, उसी प्रकार भारतीय छायावादी कवियोंने भी उपनिषद्, वेद, सूर, तुलसी, मीरा आदि से प्रेरणा ग्रहण की।[३] पूर्व कवियोंसे प्रेरणा लेनेके कारण भारतमें रोमान्स की यह धारा पूर्ण भारतीय बन गयी। प्रसादने अपनी स्वस्थ भारतीय परम्पराका अनुशीलन किया और इस सिद्धान्तवादिताको उत्कर्षके विन्दु पर पहुँचा दिया। आभ्यंतर प्रभावसाम्यके आधारपर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धतिका प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावादमें हुआ। साम्यभावनाका प्रसार-प्रचार हुआ। इससे शेष सृष्टिके साथ मनुष्यके गूढ़ सम्बन्धोंकी स्थापना हुई। प्रसादकी रचनाओं झरना, आंसू, लहर और कामायनीमें इसका चरम विकास हुआ। हिन्दी साहित्यके छायावादी कवियोंमें प्रसाद ही ऐसे कवि हैं, जिन्होंने छायावादकी स्वच्छन्दतावादी योरोपीय धाराको मूलतः भारतीय जामा पहना दिया। समस्त प्रसाद साहित्यमें हमें यह बात स्पष्ट दीख पड़ती है। इसका कारण प्रसादकी भारतीय संस्कृतिमें निष्ठा थी और प्रत्यभिज्ञा दर्शनका विपुल प्रभाव और स्वाध्याय था। इसी आधार पर प्रसादको छायावादका प्रवर्त्तक कवि मानते हैं।[४]

---

१. कवि सुमित्रानन्दन पंत और उनका प्रतिनिधि काव्य, पृ० ३०।
२. हिन्दी कवितामें युगान्तर, पृ० ३९३।
३. छायावादः विश्लेषण और मूल्यांकन, पृ० १२८। पैरा २।
४. हिन्दी साहित्यका इतिहास, रामचन्द्रशुक्ल, पृ० ६३९।
५. कामायनीमें काव्य संस्कृति और दर्शन, पृ० ४३३।

रहस्यात्मकता प्रसादजी की अन्यतम विशेषता है[१] । स्वयम् प्रसादजी रहस्यवादको काव्यमें आत्माकी संकल्पात्मक मूल अनुभूतिकी मुख्य धारा मानते हैं। रहस्यवाद शब्द अत्यन्त आधुनिक है। यह अंग्रेजी मिस्टीसिज्मका पर्याय समझा जाता है। यूनानी दार्शनिक सुदास (Suidas) और ड्यानीसस (Dianysius) दोनों Mystic शब्दसे इसका सम्बन्ध स्थापित करते हैं। प्लाटिनस के अनुसार रहस्यवादी अपने भीतर दैवीपूर्णताका अनुभव करता है। प्रसादजीने बड़े ही समर्थभावसे यह सिद्ध किया है कि, सेमेटिक धर्मभावना, सूफी अद्वैतदर्शन, या मैसोपोटामियाके बालईष्टर देवताओंकी उपज रहस्यवाद नहीं है। सेमेटिक कहकर संतोष करने वालोंके ऊपर उन्होंने जातिगत निर्वीर्यताका व्यंग्य भी किया है। आर्यों, भारतीय आर्य व्रात्यों, वैदिक धर्मानुयायी आर्यों, विदेहों, वृष्णियों, औपनिषदिकों, आगमिकों और निगमवादियोंकी विवेक और आनन्दवादी धाराका शास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए अनात्मवाद, आत्मवाद, मायावाद, बुद्धिवाद, प्रज्ञावाद, अवतारवाद, देववाद और शैवागमोंके विश्वात्मवादकी रहस्यमयी आनन्द साधनाका उल्लेख कर सिद्धों, तीर्थंकरों नाथोंके क्रमसे तुलसी, सूर और मीरा तथा कबीरके रहस्य सम्प्रदायका प्रसादने विवेचन किया है। संस्कृत साहित्यमें प्रकृति और शक्तिके रहस्यवादकी धारा शाश्वत रूपसे बहती रही है। हिन्दी साहित्यमें अद्वैत रहस्यवादकी सौन्दर्यमयी व्यंजना स्वाभाविकरूपसे विकसित हुई है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्यके द्वारा अहम् और इदम् के समन्वयका सुन्दर प्रयत्न भी हुआ है। युगकी वेदनाके अनुकूल विरह भी मिलनका साधन बनकर इसमें सम्मिलित है। इससे यह सिद्ध होता हैं कि, वर्तमान रहस्यवादकी धारा भारतकी निजी सम्पत्ति है[२] । इस रहस्यवादी प्रवाहके कई भेद हो सकते हैं। १–योगरहस्यवाद, २–वैदान्तिक रहस्यवाद, ३—निर्गुण रहस्यवाद, ४—सूफी रहस्यवाद, ५—योगपरक रहस्यवाद, ६—महायानी सिद्धों नाथ-पंक्तियोंकी कवितामें, वेदान्तिक रहस्यवाद, ७—संत काव्य और सगुण भक्ति धाराओंमें निर्गुण रहस्यवाद। संत साहित्यकी भाव-धाराका आश्रय रहस्यवाद ही है। सूफी रहस्यवाद ने

---

१. छायावाद : विश्लेषण और मूल्यांकन, पृ० १८८, पं० १६ ।

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ४६-४९ । पृ० ५१-६८ ।

मध्ययुगकी भारतीय रहस्यवादी धाराओंको प्रभावित किया है। सगुण-काव्योंमें अवतारी ब्रह्मका रहस्यवादी रूप भी है। १९वीं शताब्दीके अंग्रेजी रोमांटिक कवियोंने कई प्रकारके नये रहस्यवादोंकी सृष्टिकी। इनमें १—प्रेमरहस्यवाद (Love mysticism–Shelley) २—प्रकृति रहस्यवाद (Nature Mysticism–Wordsworth) ३—बालक रहस्यवाद (Child mysticism) और ४—सौन्दर्य रहस्यवाद (Beauty mysticism) आदि हैं। इन प्रवृत्तियोंका अध्ययन हिन्दी कवियोंने किया और अवश्य ही सभी इनसे प्रभावित भी हैं। इनमें सौन्दर्य रहस्यवादसे प्रसाद, पंत और निराला सभी प्रभावित हैं। प्रसादके अनुसार वर्तमान हिन्दी साहित्यमें प्रचलित रहस्यवादके मूलमें भी अद्वैतभावनाका ही प्राधान्य है। अन्तर यही है कि, इसमें साधनात्मक अनुभूतिकी प्रधानता न होकर संकल्पात्मक अनुभूतिकी ही प्रधानता है। आधुनिक रहस्यवादके अंग-अपरोक्ष अनुभूति, समरसता प्राकृतिक सौन्दर्य, विरह और आनन्दवाद हैं। इन सभी अंगोंमें स्वयम् प्रसादका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

उनकी रहस्यवादी आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंका पहला उन्मेष झरना है[1]। वहां उन्होंने यक्षके मृदुहासको देखा है, शान्त रत्नाकरके नाविकको पहचाना है और कुछ नहीं कहने वालेके ऊपर दयाभाव प्रगट किया है[2]। लहरमें कवि कुछ रहस्यवादी भूमिपर प्रतिष्ठित है। वहां कविने अपने क्षितिजको उदार बना लिया है। प्रियतमकी सुन्दर रूपविभाको उसकी निर्मल शीतल छायाको हिमकनोंमें पानेकी प्रतीक्षा की है। आंखोंकी पुतलीमें प्रान बनकर समाजानेका अभिलाष व्यक्त किया है। प्रसादके रहस्यवादी चिन्तनमें सबसे उज्ज्वल मणि कामायनी है[3]। कामायनीका रहस्यसर्ग आधुनिक रहस्यवादकी अमूल्य सम्पत्ति है। वास्तवमें कवि प्रसाद किसी रहस्यवादी अन्य चिन्तन धारासे प्रभावित नही हैं। आदिसे अन्त तक उन्होंने केवल शैव सर्वात्मवादकी समरसतापर आधारित आनन्दवादको ही अपनी भावभूमिका आधार बनाया है। उन्होंने सारी प्रवृत्तियोंको निरखापरखा, उनके उत्थान पतनके रहस्यको आकलित किया—उनकी

---

१. रहस्यवाद– डा० रामरतन भटनागर, पृ० १७९-१९६

२. झरना–कुछ नहीं, पृ० ७४, पं० ५-८।

३. रहस्यवाद–डा० रामरतनभटनागर पृ० २०२, २०४

स्पन्दन शीलताके लघु लघु कम्पनको मापा परन्तु जब भी वे अन्तर्मुख हुए—कविताकी भावभूमिपर विराजमान हुए, उनकी सरस्वतीने समरसताके सामका गायन किया। कैशोरकी श्रद्धा, परिवारके संस्कार, यौवनकी स्वाध्यायशीलता और संयमसे सिंचित प्रवृत्तियाँ सभीके तार आनन्दवादिताकी नाद योजना से सिंजित हुए—उनकी हृत्तंत्रीके तार प्रत्यभिज्ञाके पंचमका सरगम गाते रहे। वे स्वयम् रहस्यमय थे, उनका सारा काव्य छायावादसे प्रभावित पथप्रवाहको भी रहस्यकी गंगामें ही संगमित करता है।

सन् १९०९ में ही उनका हृदय बरसाती नदी बन गया था। कुलके कूल, संसारके संघाती, सब टूटे और छूटे। भवसागरके प्रबल लहरमें उनकी धारा 'नितहि' समाने लगी थी[१]। 'भव' शब्दको श्लेषार्थक मानकर उन्होंने बिम्ब और प्रतिबिम्ब, शिव और पुद्गल सबको समेटा, सबमें समानरूपसे समाहित होनेके महाव्यवसायका अभिसन्धान किया। मकरन्द बिन्दुओंकी अमृत वर्षा की और अपने प्रेमका प्रतिकार भी अपने प्रियतमसे चाहा। अनुसरण करनेपर प्रियतमके मुख फेरनेपर व्यंग्य भी उन्होंने किया[२]। झरना, लहरके अमृत पथसे गतिशीलताका 'ऋत' प्राप्त करता हुआ अखण्ड आनन्दकी समरसभूमिपर पहुँचकर कवि रहस्यका द्रष्टा बन गया।

५—कृतियां

सन् १९०९—उर्वशी, सम्राट्चन्द्रगुप्त (ऐतिहासिक अनुशीलन)।
सन् १९१०—प्रेमराज्य (कविता)। १९११—सज्जन (एकांकी)।
सन् १९१२—कल्याणी-परिणय (एकांकी) कानन-कुसुमकाव्य, छाया (कहानी संग्रह), करुणालय (गीतिकाव्य)।
सन् १९१३—प्रेमपथिक (काव्य)। १९१४ प्रायश्चित्त (एकांकी) महाराणा का महत्त्व (काव्य)।
सन् १९१५—राज्यश्री (नाटक)। सन् १९१८ झरना (प्रथम संस्करण)
सन् १९१९—चित्राधार। सन् १९२१ विशाख (नाटक)

---

१. उर्वशी–पृ० १७-१८।
२. चित्राधार, मकरन्दबिन्दु, पृ० १८७, पं० ७-११

सन् १९२२—अजातशत्रु (नाटक), सन् १९२३, लहर (प्रथम संस्करण)

सन् १९२३-२४–कामना। सन् १९२५-२६, आंसू, जनमेजयका नागयज्ञ, प्रतिध्वनि (कहानी संग्रह)। सन् १९२७, झरना द्वि० संस्करण

सन् १९२८—स्कन्दगुप्त, (नाटक) चित्राधार। १९२९ एकघूँट, आकाशदीप (कहानीसंग्रह)

सन् १९३०—कंकाल (उपन्यास)। १९३१ चन्द्रगुप्त (नाटक), आंधी।

सन् १९३३—ध्रुवस्वामिनी। सन् १९३४ तितली (उपन्यास)।

सन् १९३५—लहर (काव्य), निबन्ध, १९३६ इन्द्रजाल।

सन् १९३६—कामायनी, (महाकाव्य), निबन्ध, इरावती (उपन्यास)

३ : (६) कृतियाँ और रूपशिल्प

प्रसादने प्रथमतः व्रजभाषा का आश्रय लिया। वह तत्कालीन काव्य-भाषा थी। भारतेन्दु और द्विवेदी युगकी वयःसन्धि-वेलाका लावण्य उस भाषामें अभी लालित्य भर रहा था। इधर खड़ी बोलीमें युगानुकूल चेतनाका नवोन्मेष भी चल रहा था। ऐसी स्थितिमें समाजके बदलते हुए भावोंको रूपादित करना पाश्चात्त्य शिक्षाके सन्दर्भमें समानान्तर था उससे भी विशिष्ट साहित्यका सर्जन करना, हिन्दी साहित्यकारोंका एक उत्तरदायित्व हो गया था। प्रसादने इसे समझा था और इसका संकेत भी 'इन्दु' में दिया था।[1]

चमत्कारपूर्ण विशिष्ट शैली, लालित्यपूर्ण स्वतन्त्र योजना एवम् ओजपूर्ण अपूर्व कल्पनाके द्वारा जैसे आख्यायिका लेखनमें प्रसादने आचार्यत्व किया, उसी तरह कानन कुसुममें उन्होंने नवयुगका प्रवर्त्तन किया। समर्पणमें प्रसादने रीति, भारतेन्दु और द्विवेदी कालकी कविताओं को उद्यान कुसुम कहकर उनकी रीतिबद्धता पर कटाक्ष किया है और कानन कुसुममें स्वच्छन्दतावादी विचारधाराके नवोन्मेषकी उन्होंने अवतारणा की है किन्तु कानन कुसुमोंको भी आराध्य की आराधनाका साधन बना देना भारतीय परम्पराकी रक्षाका दृढ़ निश्चय है। १९०९ से १९१७ तककी कविताओंके इस संग्रहमें प्रसादका अभिनव रूप और शतपर्ण शिल्पकी प्रसन्न समृद्धि पूर्णतया परिलक्षित है।

इसके पूर्व ही चित्राधारके परागमें संगृहीत भावात्मक प्रगीत मुक्तकोंमें प्रसाद ने विशिष्ट साहित्य सर्जनके उत्तरदायित्वका निर्वाह करना प्रारम्भ कर दिया था। वे मुक्तक उनकी विशिष्ट धारणाके निष्पन्द हैं। करुणालय संस्कृतके कुलक, अंग्रेजीके ब्लैंकवर्स और बंगलाके अमित्राक्षर छन्दोंके साम्य प्रभावका निश्च्योत है, जिसका हिन्दीमें नवोदय प्रसादके कलाकार ने ही किया था।[2]

---

१. 'इन्दु' कवि और कविता, निबन्ध सम्वत् १९६७।

२. करुणालय–सूचना।

हिन्दीके रूपशिल्पमें परिवर्त्तनके समर्थक श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी भी थे।[1] शुक्लजी मुक्तकाव्य रचनाको पाश्चात्त्य ढंगके गीतकाव्योंके अनुकरणका परिणाम मानते हैं। इनके मत से नाद योजना या स्वर मैत्री पर ही काव्यका प्रभाव निर्भर नहीं करता।[2] किन्तु हिन्दीमें छायावाद युग में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से आगे बढ़ी। छन्दोंके अतिरिक्त वस्तु-विधान ओर अभिव्यंजना शैलीमें भी कई प्रकारकी प्रवृत्तियां परिलक्षित हुई, जिनके आधारपर काव्यमें अनेकरूपताका प्रादुर्भाव हुआ।

राजनैतिक आन्दोलनों, मशीनोंके पदार्पण, साम्य और समाजवादी नारों, मजदूरों, अछूतोंके उत्थानके विराट् परिवर्त्तनवादी व्यवहृतियोंके कारण हिन्दी काव्यक्षेत्रमें क्रान्तिके नामपर परिवर्तनकी प्रबलकामना, प्रलयकी पूरी पदावलीके साथ व्यक्त हुई[3]। परिणामतः खड़ी बोलीको नया 'रूपरंग' मिला[4]। इसमें लाक्षणिक वैचित्र्य, व्यंजक चित्र विन्यास, रुचिर अन्योक्तियां, अन्तर्भावोंकी अभिव्यंजना, विश्रृंखल वस्तु विन्यास, चित्रमयी कोमलभाषा, रहस्य-भावना आदिसे पूर्ण नयी रचनायें होने लगीं। मानो यही छायावादी कवियोंका साध्य हो गया हो। परिणामतः दुरारूढ़ साधनामें लीन होनेके कारण अर्थभूमिका विस्तार भी रुका।[5] हृत्तंत्रीकी झंकार, नीरव संदेश, अभिसार, अनन्त प्रतीक्षाकी बातें आयीं पर साथ ही साथ भावावेशकी आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाषाकी वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद विन्यास आदिकी प्रवृत्तिने काव्यके स्वरूपको संघटित कर दिया।

लहर तक आते आते प्रसादके काव्यका रूपशिल्प निर्धारित हो गया। वह एक ऐसा विराट् और विश्वरंजक रूप पा चुका था, जिससे निकलने वाले स्फुलिंगोंकी किरण झड़ीसे हिन्दी साहित्य आलोकित हो उठा, झरनामें वेदनाको निःशस्त्र करनेकी धमकी दी थी[6]। वह क्रुद्ध हो गयी। आंसूमें उसने अपना विकराल रूप दिखलाया, लहरमें उसकी गतिविधि छवि

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्रशुक्ल पृ० ६११, पं०२५-२८
२. वही, पृ० ६१२, पं० १६-२२।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ०६१७ पं० ६-८।
४. वही, पृ० ६१८ पं० १७।
५. वही, पृ० ६२१से पृ० ६२६। ६. झरना-वेदने ठहरो ! पृ०८६, पं०१२।

अंकित करने लगी[१] और कामायनीमें विश्व वेदना अखण्ड आनन्दकी समतल भूमिपर जा खड़ी हुई। उपर्युक्त सभी विचार-परम्पराओंमें प्रसाद-का प्रत्यभिज्ञावादी कवि निरन्तर जागरूक रहा।

प्रसादके काव्य और समग्र साहित्यके स्वरूपनिर्माणमें, युगके परिवेश में व्यक्तित्वकी पावन परिधिकी प्रतिबद्धतामें प्रतीपदर्शिनी कायाकी महत्त्वा-कांक्षाओंको शिवत्त्वकी दिशामें अग्रसर करनेके अध्यवसाय में प्रत्यभिज्ञा-दर्शनकी प्रबोधप्रथाही प्रवुद्धभावसे क्रियाशील रही। चिदानन्द इच्छाज्ञान और क्रियाकी पंचरूपतामें क्रियाके उन्मेषने सद्विद्यासे सादाख्य शिवकी ओर बढ़ती हुई परमशिवको महापरिधिमें पहुँचानेका काम पूरा कर दिखाया। शिवम् की इसी धारणाने उनके अनुरागको नभके अभिनव कलरव में फैल जाने दिया।[२] और स्वयं महाकाल समयका सुन्दर वातायन बनकर, अखिलकी लघुता बनकर अदृष्ट नर्तन (तांडव) करने लगा।[३]

भारतीय साहित्यकारोंने परम्परासे वाणीकी सत्यता, प्रियता और हितकारिता पर ध्यान दिया है। ब्रह्मसमाजके महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने इसीको सत्यं शिवम् और सुन्दरम् की कोमल पदावलीमें व्यक्त किया।[४] यद्यपि उन्होंने इसे अंग्रेजीसे ही अनूदित किया था।[५] प्रसादकी भाषाका, उनके रूप शिल्पका सन्दर्भ आद्यन्त शिवम् हो रहा है। उन्होंने नटराज शंकरके जगन्नाटकके अनुकरण पर नाट्यशास्त्रके निर्माणकी बातको

---

१. लहर, पृ० २६, पं० ४-५।

२. लहर, पृ० २२–आहरे, वह अधीर यौवन। पं० ६–८।

३. लहर, पृ० ३९–शशिसी वह सुन्दर रूपविभा, पं० १३–१६।

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५४९-५०।

५. Thus arises the fantom problem of the athatic mode or asthetic state, a legacy from the days of abstract investigation into the good, the beautiful and the true.

Principles of litrary criticism
(I. A. Richards).

वाक्यज्ञके रूप में स्वीकार किया है।[1] प्रतिक्षण जगन्नाट्य प्रयोगकी रसिकता और आनन्दवादिता ही 'शिवम्' का सन्दर्भ है। सत्य और सौन्दर्य तो इसके अनुकर्त्ता और अनुसर्त्ता बनकर साथ ही रहते हैं। यह मध्यमणि हैं। शिवम्के एक ओर सत्य और दूसरी ओर सुन्दरम् विराजमान है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनका अध्ययन करनेके उपरान्त उनके नेत्र पटल खुल गये। उन्होंने पाया कि, तारा प्रकाश नहीं दे सकते। वह तो ज्योतिष्पथ के स्वामीसे ही मिल सकता है। उसी जगन्नियन्ताका यह जगत् राज्य है। और यह 'सच्चा है' यहां करुणा वरुणालयकी कृपासे सभी आनन्द सहित सुखसे रहते हैं और उसीकी शुभ ज्योतिसे, सौन्दर्यसे सत्य पथका निर्धारण भी होता है,[2] प्रसादने शिवम्के इसी सन्दर्भको आत्मसात् कर अपने रूपशिल्प को आकार दिया था।



१. काव्य और कला तथा अन्य निंबन्ध, पृ० ७०, पं० २३-२५। पृ० ७१, पं० १-३

२. करुणालय पृ० ३१, ३७-३८।

७ से १० : अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग

प्रत्यभिज्ञा दर्शन विश्वको चितिके चमत्कारसे अभिन्न मानता है। स्वात्मैकात्म्यका यह दर्शन सर्वात्मवादका चरम उत्कर्ष है। जब तक भेद बुद्धि रहती है, तब तक यह हेय है और यह उपादेय है—यह भाव रहता है। जब यह भेद बुद्धि ही विगलित हो जाती है तब परा संविद्का प्रकाश जागृत होता है। यह विश्व तो भेद भिन्न ही भासित होता है। यह नील है, यह पीत है—इस प्रकारकी अर्थ क्रियाका उदय होता रहता है। इनकी आकांक्षामें एक प्रकार का दैन्य छिपा हुआ होता है। 'यह चाहिये' 'यह नहीं चाहिये', में अपना अभावही अट्टहास करता रहता है। ऐसी अवस्थामें वृत्तियोंकी संहति आवश्यक होती है। एक प्रकारका शून्य अपनी वृत्तिमें लाना पड़ता है। आकाश बीजको जागृत करना पड़ता है और तब विमर्श दशाका सूत्रपात होता है। वहीं नादानुसंधान होता है। योग मार्गमें यही प्रक्रिया कुंडलिनीके जागरण की है। व्यवहार दशामें भी वृत्तिको अन्तर्मुखी बनाना आवश्यक हो जाता है।

जिस विन्दुपर इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, प्रण-संचरण, माता, मान और मेयरूप चक्र ये सभी एक संविद्के सर्वातिशायी ज्ञेयसे अभिन्न प्रतीत होते हैं—वही विन्दु साधकका सर्वस्व होता है। संविद् प्रकाशमें एक ऐसी ज्योति धाराका प्रवाह निष्पन्न होता है, जिसके त्रिकोणमें भेदका कूड़ा भस्मसात हो जाता है। संविद्को ही परामर्श, विमर्श, स्पन्द, हृदय और विसर्ग रूपमें पहचानते हैं। संविद्के विकासमें बिन्दुसत्ताका विलास होता है और उसीमें विश्राम करनेवाला बिन्दु और नादके परम रहस्यको जानकर शिवमय हो जाता है।[1] इस उच्च भूमिपर एक ऐसी भी दशा आती है जब अहम् और इदम् सम भावसे अहमिदम् रूपमें विमर्शानुबद्ध रहते हैं।

प्रसाद साहित्यकी यही कसौटी है। प्रसादका अन्तरङ्ग शिवत्त्वसे आपूरित और संपूरित है। उसमें व्यक्तिसत्ताका सर्वत्र अहमात्मक अविभागांशावभास प्रत्यवमर्श है। प्रारम्भिक कविताओंसे लेकर, कामायनी की प्रौढ़तम कृतितक उनकी यह अन्तरङ्गधारा समान रूपसे प्रवहमान

---

१. तन्त्रालोक, आ० ५।७४-७६, ७८-८५।

है। उनका सारा बहिरङ्ग उसीका प्रकाश मात्र है। उन्होंने मानो बहिरङ्ग का आश्रय लिया नहीं है प्रत्युत् बाह्य स्वयं उनके अन्तरङ्गके आलोकमें खिल उठा है। प्रसाद साहित्यका गहन अध्येता उनके अनावरण भागांश वैचित्र्यपर[1] जितना मुग्ध होता है, उतना ही उसके भेद-संक्रमित शब्द-श्रुतिपर, जिसके अवकाशके अन्तरालमें उनका सारा चम्पू-निबन्ध-नाट्य-उपन्यास और कहानी साहित्य आता है। इसी प्रकार उनके काव्यका समग्र अंश भी अनावरणभागांशवैचित्र्य पर ही आधारित है।

केवल छायावाद ही नहीं, किसी भी काव्यधाराको समझनेके लिये काव्य चेतनाको निरखने और परखने की पद्धतिमें अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग पक्षोंका विशेष महत्त्व है। इस चेतनाकी पृष्ठभूमि और उसका रूपशिल्प दोनों बहिरङ्ग पक्षमें आते हैं। इन दोनोंके अन्तर्गत गतयुगीन साहित्य चेतना रस, रीति, गुण अलंकार और छन्द आदि विद्याये गृहीत होती हैं। अन्तरङ्ग पक्षके भावना और विचार दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। भावनामें आध्यात्मिक, साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण आते हैं। विचारमें व्यवहार और व्यवहार बाह्य, लौकिक और लोकोत्तर दिव्य दोनों बातें आती हैं।[2]

प्रसादने साहित्यकी जिस भूमिपर अपना प्रासाद प्रतिष्ठापित किया है, वह भारतेन्दु और द्विवेदीसे बहुत दूर, सुदूर अतीतमें जाकर वेद, उपनिषद्, वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ और श्रीहर्ष तककी परम्पराके परीक्षण से उर्वर बनायी गयी है।[3] युगचेतनाकी रासायनिक प्रक्रियासे कीटाणु रहित बनाकर साहित्यमें आनन्दका बीज बोया गया है। शृंगारसे सज्जित, वैदर्भी और पांचालीसे पुलकित प्रसाद-प्रसन्न माधुर्य मधु और ओज ऊर्जस्वल बनाकर, अनन्वय और स्वभावोक्तिका आभूषण पहनाकर, तुकान्त और अतुकान्त छन्दोंकी शिविकामें बैठाकर कविताकी दुल्हनको कामायनी की राजमहिषीके रूपमें देखनेका प्रयास बहिरङ्ग दृष्टिसे ही किया जा सकता है। पर राजरानीके हृदय

---

१. तन्त्रालोक, आ० १।१३७।

२. हिन्दी साहित्यका इतिहास–डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० ३९८-३९९।

३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध–पृ० ४६-६८, ७०-७८, १२२-१२५।

में भावनाकी भव्य विभूतिका विभव कोई भूतभावन ही है। अध्यात्म-क्षेत्रमें वहां प्रत्यभिज्ञाका परामर्श है, साहित्यिक दृष्टिसे छायावादकी रहस्योन्मुखी चामत्कारिताका वैचित्र्य है और मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे मनु के मनका, कामनाको विनोद और विवेकका, करुणालयके विश्वामित्रका अथवा अन्यान्य कृतियोंके नायक उपनायकोंका और पात्रोंका संकल्प एवं विकल्प है।

इस भेदावभासमें सर्वत्र अन्तरङ्ग बहिरङ्गमें तथा बहिरङ्ग अन्तरङ्गमें भासित है, प्रतिबिम्बित है और प्रतिफलित है। 'यह' 'वह' बन गया है और 'वह' 'यह' बन गया है। अहम् और इदम्का सामानाधिकरण्य[1] सद्विद्याकी भूमिसे ऊपर उठकर सदाशिव और वहांसे भी ऊपर शिवशक्तिकी तादात्म्य भूमिपर आनन्दवादकी समरसताकी भूमि पर प्रतिष्ठित हो गया है। व्यक्त अव्यक्त हो गया है। इसीप्रकार अव्यक्त, प्रसादके काव्यके रूपमें व्यक्त हो गया है।



---

१. तन्त्रालोक, आ० ५।११८-११९, पृ० ४२७, पं० ९।

: ४ :

प्रत्यभिज्ञाके परिप्रेक्ष्यमें कृतियोंका परीक्षण

४ : (१) चित्राधार

प्रसादकी श्रद्धा गंधर्व राजकुमारी है। उनकी उर्वशी भी गन्धर्वदेशकी नर्त्तकी है किन्तु वह दूसरोंके विलासकी सामग्री बननेको तैयार नहीं। उसके मेषशावक बड़े ही सुन्दर हैं। अपने हृदयकी प्रबल वासनाकी पूर्ति आर्यावर्त्तके किसी प्रान्तमें होगी—यह स्वीकार करती है। श्रद्धाकी मानस तुष्टि भी आर्यावर्त्तके प्रतीक प्रतिनिधि पुरुष मनुसे होती है। मानो उर्वशी-में कामायनीका अंकुर कविके हृदयमें जमनेको कुलबुला रहा हो[1]। कानन कुसुमकी भक्तियोग नामक कवितामें भी कामायनीका बिन्दु विद्यमान है! आनन्द आसनपर सुधामन्दाकिनीमें स्नात होकर हम और वह प्रेम पुलकित गात हो बैठे हुए हैं[2]। प्रत्यभिज्ञाकी सर्वातिशायी दशामें यह अनुभूति हो जाती है कि, उस प्रेममय सर्वेशका ही सारा प्रसार है। सारी जातियां उसकी ही हैं। सारा संसार ही मित्र है। नाममात्रको भी कोई अराति या शत्रु नहीं है[3]। पुरूरवा और उर्वशी हँसती हुई सृष्टिका आनन्द लेते हैं। पर यह आनन्द स्थिर नहीं रहता। उसे छोड़कर वे स्वप्न-लोककी ओर अग्रसर होते हैं।

आनन्दके प्रति जब विश्वास घटता है, तो लालसा बढ़ती है। इसे लोलिका वृत्ति कहते हैं। भोगेच्छाका प्रारम्भ यहींसे होता है। जीवकी गति कार्म, मायीय और आणव मलोंसे आवृत्त हो जाती है। संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। फलतः संसारका आवागमन सातत्यरूपसे परिलालित हो जाता है। संसृतिका चक्र चल पड़ता है। यह अघोरेश और मायाकी सृष्टि मानी जाती है। इसमें हान और उपादानका ज्ञान समाप्त रहता है। अभिलाषा आदि १४ मल, तरङ्गोंकी तरह हृदयमें उठते रहते हैं। कभी

---

१. चित्राधार पृ० १०-१४। २. काननकुसुम पृ० ३७, पं० १७-१८।
३, काननकुसुम, पृ० ३७, पं० ७-८, कामायनी, आनन्द—२८७, पं १३-१५।

कर्ममें वैचित्र्यका अनुभव होता है और कभी इश्वरेच्छासे ही दुष्कृत—सुकृत सबका साथ ही विनाश भी हो जाता है[१]। पुरूरवाका हृदय भी उसी आलोकसे आलोकित है। सारा विश्व उस सौन्दर्यसे संपूरित है[२]।

अर्जुन और उनके वीरपुत्र वभ्रुवाहन पौराणिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमिमें प्रत्यभिज्ञाकी पुलकावलीका मधुर संकेत देते हैं। ज्योत्स्ना-मिश्रित अन्धकारमें एक भ्रान्त पथिक जाता है[३]। भ्रांति एक संकोच है। संकोच चेतनाका होता है। चेतनाके संकोचके कारण चेतनशिव भी विश्वमय अचेतन चेतन चराचर रूपसे भासित होता है[४]। यही पथकी भ्रान्ति है। कवि इस संस्कारसे संस्कृत न होता, तो इस पौराणिक आख्यानको भ्रान्त पथिक विशेषण देनेकी आवश्यकता ही नहीं होती। नगरके प्रान्त उद्यानमें जहां वह पहुँचता है, उससे वह अवगत नहीं होता[५]। वहां दो नारियां हैं। एक प्रौढ़ा है और दूसरी राजकुमारी। ये दोनों इच्छा और क्रियाकी प्रतिनिधि हैं। अर्जुन वहां अज्ञान (संकुचित ज्ञान) के प्रतीकके रूपमें चित्रित हैं। राजकुमारीकी इच्छासे ही वह अतिथि बनाकर राजप्रसाद भेजे जाते हैं[६]। राजकुमारी सौन्दर्य उपवनकी अधिष्ठात्री वनदेवीके समान है। इच्छाकी प्रतीककी इच्छा संकुचित ज्ञानको पूर्णज्ञानकी ओर प्रेरित करती है। गायक वेशमें प्राःभातिक पूजन-की मंगल बेलामें उसे शिवका साक्षात्कार होता है। आनन्दमें ओत-प्रोत है। वह अपनी वीणासे शिवकी मायाकी धन्यताकी रागिनी गुंजित करता है[७]। मायामें आविष्ट होकर ही मन्त्रमहेश सृष्टि करते हैं। मन्त्र-महेश इच्छा शक्तिके क्रमसे सदाशिवके प्रतीक हैं। सदाशिव, शिव और शक्तिके बहिरोन्मुख व्यापारके प्रतीक हैं। मन्त्रमहेशके साथ मिलने पर माया ही संसारकी सृष्टिकी आदिकारण बन जाती है। साधक मायाके महत्त्वको समझता है। उसी मायाके[८] वशीभूत होकर सुर असुर समुदाय भ्रममें

---

१. तन्त्रालोक, आ० ९।५६-६२। १३९, ८४-८६, १३५।
२. उर्वशी, पृ० २५, पं० ३-६। ३. चित्राधार पृ० २२, ३३।
४. प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र ४। ५. चित्राधार, पृ०३३, पं० ५।
६. प्रसाद साहित्यकोश, पृ० २८४, पं० ३२, पृ० २८५, पं० १।
७. चित्राधार, पृ० ३३, पं० १२-१३। पृ० ३६, पं० १७-२३।
८. तन्त्रालोक ९।५६, १५४, १७४-१७६, १७९-१८२।

पड़कर भ्रान्त हो रहा है। समस्त जीव समुदाय मायासे ही प्रगट है। है। जिसपर ऐसी मायाशक्ति संवलित शिव दया और छाया नहीं करते, वह किसी प्रकार भी भवसागरको पार नहीं पा सकता[१]।

अर्जुन चित्रांगदाकी शक्तिसे ईश्वरेच्छावश परिणय बन्धनमें बँध जाते हैं। विरहकी स्थितिमें उसे पूर्व स्मृतिकी झलक मिलती है। यह झलक ही प्रत्यभिज्ञा है। अन्तमें अर्जुन बभ्रुवाहन और चित्रांगदाका सुखद सानिध्य प्राप्त करते हैं। भगवान् शंकरके दास बन जानेके उपरान्त सारी व्याधियां आधियां, सभी विघ्न और सारी बाधायें स्वतः समाप्त हो जाती हैं। परममाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य भी किसी प्रकार दास्य प्राप्त कर सके थे[२]। दास्यभावको अर्जुन पहले ही प्राप्त कर चुके हैं[३]। स्वामीके द्वारा जिसे सब कुछ दे दिया जाता है, वही दास होता है[४]। परमेश्वररूप स्वातन्त्र्यकी पात्रता उसमें आ जाती है। इसीलिये समस्त सम्पदाओंकी समवाप्तिका हेतु प्रत्यभिज्ञाको माना गया है। बभ्रुवाहनकी प्राप्ति, राज्यकी प्राप्ति, चित्रांगदाकी प्राप्ति और अश्वमेध अश्वके विजयकी प्राप्ति, सारीकी सारी प्राप्तियोंमें भगवान् भूतभावनकी अनुकम्पा ही कारण बन सकी।

चिर वियुक्तोंको हृदयसे लगा लेनेकी मङ्गल बेला जीवनमें अति महत्त्वपूर्ण होती है। वास्तवमें हम सभी तो 'स्व' से ही बिछुड़े हुए हैं। संकुचित ज्ञानके कारण स्व और पर का भेद माने बैठे हैं। फलतः संकुचित आत्मवर्ग की श्रेणीमें आ गये हैं[५]। जिस दिन यह भेदभाव समाप्त हो जाता है, आनन्दकी उपलब्धि सहज सम्भाव्य हो जाती है[६]।

---

१. चित्राधार, पृ० ३६, पं० १९-२३ पृ० ४०।

२. कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन्।
समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि ॥
ई० प्र० वि० १।१।१,

३. दास दीनता देखि दयानिधि वेगि करहु अब दाया।
चित्राधार पृ० ३६ अन्तिम पं०।

४. ई० प्र० १।१।१, पृ० १४, पं०७-८। ५. तं० ९।६१।

६. वनमिलन (चित्राधार), पृ० ७०, पं० ११-१२।

विश्वेश्वरकी अनूठी सृष्टि तो निरन्तर देखने योग्य ही है। परम शिव इसी सृष्टिमें विराजमान हैं[1]। वे सबके ऊपर सम दृष्टिपात करते हैं। यह विराट् संसार उसीका व्यक्त अव्यक्त रूप है। कहीं स्थूल और कहीं सूक्ष्म-रूपसे राजित है। वास्तवमें यह व्यक्तरूपभी अव्यक्तही है। जो कुछ भी है, सब उसी परमशिवका अंग है। अंगोंकी शोभा ही सृष्टि शोभाके रूपसे दृष्टि-गोचर हो रही है। अंग अंगीका एक अंश होता है। अवयव अवयवीका अंश होता है। दोनोंमें अवयवावयवि भाव सम्बन्ध रहता है। शिवसे और जगत्में यही अवयवावयविभाव सम्बन्ध है। इस सम्बन्धका स्मरण हो जाना ही प्रत्यभिज्ञा[2] है।

परमशिवरूपी मनोहर मूर्तिकी दिशायेंही वस्त्र हैं। परम शान्ति उस विग्रहमें विद्यमान है। चिताभस्म तमोमय है परन्तु हिमगिरिके सदृश शुचिता भी उसमें है। सूर्य और चन्द्र उसके नेत्र हैं। उसीके प्रकाशसे सारा विश्व देख पाता है। वह व्योमकेश है। उसमें तारक मणियोंके समान खचित हैं। वह गरलकण्ठ है। सारे संसार के दोष वह धारण करता है। अग्निही उसका तीसरा नेत्र है। पराशक्ति प्रकृति उसके अंकमें छविमान हो रही है। वह धर्म वृषभकी सवारी करता है।

उनका परिवारभी बड़ा विचित्र है। षडाननसे लेकर गणेश तक, चूहे से लेकर वृषभतक सब विचित्र हो तो है। पशुपति पशुगणके साथ विचरण करते हैं। प्रेम सहित उनका प्रतिपालन करते हैं। उनका नाम ही विश्वम्भर है। अपने जन का भरण पोषण उनके द्वारा ही होता है।

चन्द्र केतु और ललिताके परिणयमें आनन्दकी रसधार बहाते हुए प्रेमका राज्य चमत्कारसे भर उठता है। जैसा नाम है कविका, उसी नामका जयगीत विश्वविजयका कारण बनता है।[3] अर्जुन पूजा करते हैं—अपने आराध्यकी पूजामें संलग्न होते हैं। पर यह क्या ? वही सुमनावली किरातके गलेमें शोभाका आधार बन चुकी है। अर्जुनको

---

१. वही, पृ० ८२, पं० ११-१२।
२. चित्राधार, पृ० ८२, पं० १३–१४। ई० प्र० वि० १-१–१
३. चित्राधार, पृ० ८२, ८३, ८५, सज्जन पृ० ९९ पं० ८।

प्रत्यभिज्ञान हो जाता है और वे करबद्ध हो हृदयके उद्‌गारमें भक्तिरस का समुद्र उड़ेल देते हैं शठता करने पर भी, प्रभु गुण ही ग्रहण करता है। सारे अपराधोंको क्षमा करता हुआ विजयका वरदान देता है। मृगया द्वैत-सरोवरके सामने होती है। युधिष्ठिर विश्ववैचित्र्यको देखकर उसांसें भरते हैं और विश्वम्भरको पुकारते हैं।

जीवनका वास्तविक कल्याण परमशिव ही कर सकते हैं।[१] इन्हीं की कृपासे इच्छा शक्ति स्वातत्र्य स्वभावके कारण जीव हृदयोंमें भोगेच्छा उत्पन्न करती है और उसी इच्छासे व्यक्ति शुद्ध अध्वाकी[२] ओर प्रवृत्त होता है। शुद्ध अध्वाकी ओर प्रवृत्ता होकर क्रमशः उन्नतदशाको प्राप्त करता हुआ साधक परमशिवको प्राप्ति कर लेता है।

आध्यात्मिक उन्नति उसी परमशिवकी कृपाका परिणाम है। चित्त भावनाओंकी भित्ति है। भावोंके पर्यालोचनमें ही शक्तिका प्रादुर्भाव होता है। वह अपूर्व शक्ति ही चिन्ता है।[३] मनुष्य चिन्तित हो उठता है। वह अघटित घटना पटीयसी शक्तिकी लीला देखते-देखते शक्तिकी खोज करने लगता है। जबतक उसका परिज्ञान नहीं रहता, तबतक अपनी शक्तिके ही व्यामोहसे व्यक्ति व्यामुग्ध रहता है। यही संसारित्व है।[४] जिस समय उसका परिज्ञान हो जाता है, चित्त अन्तर्मुख हो जाता है और चेतन पदका वह अध्यारोहण करता है। चिति शक्तिके चिद्‌विलासमें व्यक्ति चिरन्तन आनन्दकी उपलब्धि कर लेता है।[५]

आनन्दकी उपलब्धि हो जानेके उपरान्त व्यक्तिको परमशिवका सान्निध्य तत्क्षण उपलब्ध हो जाता है। उसे प्राप्त करनेका एक सुन्दर सोपान भक्ति है। परमशिव ही महासागर हैं। सृष्टि उसी महासमुद्रमें मिलनेके लिये आकुल और लालायित है। यह लालसा ही तरंग है। तरंगे जलमें होती हैं। श्रद्धाकी भावनाही जल है। भक्ति का प्रवाह ही ज्ञान है। इस प्रकार श्रद्धा, भक्ति और ज्ञानकी त्रिपुटी बनती है। श्रद्धाके

१. नारी (चित्राधार) पृ० ९९। पृ० १०५, पृ० १०७, १२२
२. तन्त्रसार, आ० ८, पृ० ७५। तन्त्रालोक ९।५५-६०
३. चित्राधार, पृ० १३६, पं० ३, कामायनी सर्ग १।
४. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्-सूत्र १२, तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्
५. सूत्र १३। तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः।

परिपाकमें भक्तिसे मनुष्य सत्यं, मंगलमय स्वरूपको निहारकर शिवम् और अलौकिक सौन्दर्यसे आनन्दित होकर सुन्दरम् की अनुभूति करता है।[1] विश्वम्भर भक्तोंके आर्त्तनाद को सुनकर कभी देर नहीं करते।

परमशिव ही पृथ्वी, जल, आकाश, वैश्वानर, समीर, दिनेश, चन्द्र और सत्कर्म सम्पादक बनकर साधकमें अष्टमूर्त्तिरूपसे विद्यमान हैं।[2] परमात्माकी अनमेल शक्ति ही कवित्त्वमें भी प्रस्फुरित होती है। सारा संसार नियतिकी प्रेरणामें पगा है। जो इससे आगे बढ़ता है, इसको छोड़कर सुख मानता है, वह अवश्य ही परमशिवका कृपा पात्र है।

प्रभु सर्व व्यापक है, सबसे परे है और सूक्ष्म होते हुए भी स्थूलको धारण किये हुए है। वही शब्दमें रहता है। वही अनिर्वचनीय रूपसे भी सर्वत्र व्याप्त है। सूर्य, चन्द्र और मलयानिलमें क्रमशः ओज, कान्ति और सुरभिके रूपमें समन्वित है। वह अनन्त है और दयालु है। आनन्दकी तरल वीचियोंमें विहार करने वाला है। वह शक्तिमान् है। वही परमेश्वर है।[3]

विश्वमें कविको चतुर्दिक् आलोकके दर्शन हो रहे हैं। पावन पवनमें और नील निर्मल आकाशमें सुप्रसन्न महेशको महाशक्तिका विकास परिलक्षितकर कवि आत्मविभोर है[4]। उसकी महामनोहर विश्वव्याप्त मूर्त्ति तो देखने ही योग्य है। वह चित्तका रंजन करती है। वह हृदयमें आनन्द एवं स्फूर्त्तिका संचार करतो है। माहेश्वर और विश्वेश्वरकी शक्तिका वन्दन करनेके लिये सारा संसार विवश है। वह विभु ही आलोक पूर्ण है। वही सर्वलोक विहारी है। वह आनन्दकन्द विभु और पूर्ण है। अखण्डब्रह्माण्डमण्डलमें उसका प्रताप व्याप्त है। ईशान और नाथ तथा पुरारि भी वही है। चित्त ही उसका निवास है। जहां प्रकाशका ही आवास है, उसमें उजाला तो होना ही चाहिये। वे भगवान् आशुतोष हैं। दीनोंके दुःखको देखनेका ही उनका स्वभाव है। वह लीलामय हैं। कविको यह पूर्ण विश्वास हो गया है।[5]

१. चित्राधार, पृ० १३६, पं० १४। पृ० १३७
२. अष्टमूर्ति(चित्राधार)पृ०१४१-१४२, कालिदास-अभिज्ञानशाकुन्तल नान्दी।
३. चित्राधारः पृ० १४४, पं० ५-६। पृ० १५५
४. कामायनी (चिन्ता) ९।३ चित्राधार, पृ० १५६, पं० १-४।
५. चित्राधार, पृ० १५६-५७, 'विभो', पृ० १८०, १८५।

४ : २—करुणालय

गीतिनाट्यके ढंगपर लिखा गया यह दृश्य काव्य, तुकान्तहीन मात्रिक-छन्दोंमें वाक्यानुसार विरामचिह्नोंसे सज्जित एक अभिनव प्रवर्त्तन और प्रयोगके रूपमें हिन्दी साहित्यमें प्रस्तुत हुआ[1]। प्रसाद शैव थे। स्वातन्त्र्यशक्ति सम्पन्न परमाराध्य शिवका स्वातन्त्र्य स्वभाव आराधकमें आ जाय, यह स्वाभाविक ही था। छन्दोंकी रचनामें भी कविने उस स्वातन्त्र्यका सदुपयोगकर साहित्य पुरुषका शृंगार किया। इस पुस्तकमें वैदिक पूर्व पुरुषके सजीव चित्र प्रस्तुत हैं। इससे यह स्पष्ट है कि, २२ वर्षकी अवस्था तक प्रासदका स्वाध्याय अपनी सीमामें वैदिक साहित्य और आगम तन्त्र साहित्यको आत्मसात् कर चुका था।

कवितामें यह आवश्यक नहीं कि, कवि सर्वत्र अपनी दार्शनिकताका ऐश्वर्य व्यक्त करता चले। कविताको धारा स्वाभाविक रूपसे बहती है और उसीमें कविके वैयक्तिक संस्कार अपनी चमक लेकर एक अभिनव आलोकका उत्सर्जन कर जाते हैं। करुणालयका कथानक हरिश्चन्द्रके नरपशुबलिके वैदिक कथानकपर आधृत है। फिर भी कथानकमें एक विशिष्ट संकेतकी सृष्टिकी गयी है। हरिश्चन्द्र, रोहित, वशिष्ठ, अजीगर्त्त ये सभी पात्र सांसारिक अशुद्ध अध्वाके प्रतिनिधि हैं। विश्वामित्र एक नयी चेतना लेकर उपस्थित हैं। सुव्रता सारे रहस्यका उद्घाटन करती है। और शुनःशेपकी प्राणरक्षा हो जाती है। सृष्टि, स्थिति, संहार और तिरोधानके बाद इसमें अनुग्रहका विधान किया गया है। अनुभूतियां परिष्कृत होती हुई शिवके प्रकाशका परामर्श कर लेती हैं। वह सुख और आनन्दका महोदधि है। वहां दुःखका नामो निशान नहीं[2]। उसीकी शक्ति से सब कुछ होता है। शिव शक्तिके विना रहता ही नहीं[3]। वह व्यक्ति शक्तिहीन माना जाता है, जिसके हृदयमें स्वातन्त्र्योल्लासका लेश भी नहीं।

---

१. इन्दु, कला ४ खण्ड १ किरण २, माघ १९६९।

२. करुणालय—प्रकाशकीय, पृ० ६, पं० ७, पृ० ३८ पं० १-६।

३. न शिवः शक्तिरहितः न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
न हिमस्य पृथक् शैत्यं नौष्ण्यं वह्नेः पृथग् भवेत् ॥
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा वि०—३।३१७।

मानो उसकी सत्ताका ही अपोहन हो गया हो। जैसे घटको पटसे आवृत करनेपर घटके रहते हुए भी उसका ज्ञान हत हो जाता है, उसी प्रकार, हरिश्चन्द्र, रोहित, वशिष्ठ और अजीगर्त्त ऐसे पात्र हैं, जो आवरणसे आवृत हैं। उन्हें शक्तिके स्वरूपका ज्ञान ही नहीं रह गया है। वे शक्तिहीन हो गये हैं[1]। शुनःशेप बद्धाणु है। उसकी मुक्तिकी कामना मुक्ताणुतामें परिवर्त्तित करनेकी है। विना समस्वरसे पूरे विश्वके प्रतिपालककी प्रार्थना किये बिना कल्याण नहीं हो सकता। यज्ञ कार्य तभी पूरा होगा, जब शुनःशेप मुक्त हो जाय। समवेत स्वरमें उभरने वाली प्रार्थना विश्वके आधार-का आवाहन करती है। एक शुभ्रज्योति सत्यपथके निर्धारणकी अटूट आकांक्षासे ओत-प्रोत है।

वशिष्ठ जैसा तपस्वी भी शुनःशेपकी बलिके लिये सन्नद्ध ही नहीं है अपितु अपने पुत्र शक्तिको भी प्रेरित करता है। अन्ततोगत्वा वशिष्ठ शक्तिसे निरुत्साहित भी होते हैं। अजीगर्त्तको भी इस बुरे कार्य करनेसे वशिष्ठ नहीं रोक पाते। शुनःशेप यह दृश्य बड़े ही करुणाभावसे देखता है। ज्योतिष्पथके स्वामीसे वह इस विश्वकी रजनीमें प्रकाशकी याचना करता है। प्रभु करुणालय हैं। वह अपने करुणासद्ममें तथा अपने पद-पद्ममें भक्तिभरित साधकको अवश्य ही स्थान देंगे[2]।

गीतिनाट्यके ढंगपर लिखे गये इस दृश्यकाव्यका मूलस्वर आनन्दवादी है। प्रारम्भमें ही प्रकृति आगतपतिका रूपको सजाती है। वह प्रसन्न है, शालिके खेत पुलिनमें सिन्धुके समान तरङ्गायित हो रहे है। वंशीरवसे दिगन्त पूरित है। यह नाद की अवस्था है। इधर आकाशमें परिमलका प्रसार है। प्रेममय शान्ति विश्वमें भरी हुई है। पवन 'आनन्द' में झूम-झूम कर चल रहा है[3]।

प्रकृतिके इस आनन्दवादी वातावरणमें भी जगत्में कंचुक अपना काम करते हैं। मलके आवरणसे आवृत जन नीचे गिर जाता है किन्तु ईश कृपासे सब कुछ प्राप्त हो जाता है। साथ ही पूर्ण आनन्द भी उपलब्ध हो

१. करुणालय, पृ०३८, पं०४। परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्त्तुं न किंचन।
शक्तस्तु परमेशानि! शक्त्या युक्तो यदा भवेत्॥

२. करुणालय, पृ० ३१।१५-१६, पृ० ३२।

३. करुणालय, पृ० १२, पं० १-१६, (रे मनुष्य तू कितना नीचे गिर गया ?)

जाता है। दयानिधि जगदीश जो करुणा वरुणालय हैं—उन्हींकी कृपासे सभी आनन्द सहित रह सकते हैं। यह सारा राज्य जगन्नियन्ताका ही है। वह सबका पिता है। किसीको दुःख देनेका प्रश्न ही नहीं होता। वह प्रकाशमय कभी दुःख नहीं देता। सारा[1] विश्व-बन्धन उसीकी अनुकम्पासे छूटता है। सार्वत्रिक प्रसन्नता व्याप्त हो जाती है। पुष्प वृष्टि के साथ साथ, आलोकके साथ साथ इस विश्वके आकर्षणका पटाक्षेप होता है और उसी अनुत्तर आनन्द सत्ताका साम्राज्य व्यक्तिको चेतन प्रकाशसे चैतन्य बना देता है।

प्रत्यभिज्ञाके परिप्रेक्ष्यमें प्रसादकी कृतियोंके परीक्षणके प्रसङ्गमें करुणालय का कथानक एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। आसुरी मायामें[2] फँसे रहने वाले व्यक्तिकी हिंसा का जागरण हो जाता है। वह हिंसक हो जाता है। हिंसा करने वाला व्यक्ति प्रत्यभिज्ञाके दृष्टिकोणके अनुसार पुद्गल कहलाता है। पुथा (हिंसा) से अपने 'स्व' रूप को गला देने वाला ही पुद्गल है। विश्वामित्रने वशिष्ठ आदिके पुद्गलत्व की ओर ही इङ्गित किया है। हिंसाके जागरणका यही अर्थ है। शक्तिपात होने की अवस्थामें साधक स्वयम् अक्रम मुक्तिका अधिकारी और शक्तिमान् बन जाता है।[3] इस प्रकार करुणालय की कथा प्रत्यभिज्ञाकी प्रवृत्ति का पर्याय बन जाती है।

---

१. करुणालय, पृ०३३, ३५, ३७-३८।

२. करुणालय, पृ० ३३, पं० ८।

३. पृ० ३९ पं० ४।

४ : (३) कानन कुसुम

आदर्श एवं कुशल साहित्यशिल्पीकी आरम्भिक कवितायें नई राहकी खोजमें संलग्न हैं। राहकी इस खोजमें कवि सफल है। वह वहां तक जाता है, जिसके आगे कोई राह नहीं होती[१]।

कानन कुसुम प्रत्यभिज्ञाके परिप्रेक्ष्यमें अपने मूल महत्त्वको स्पष्टरूपसे प्रस्थापित करता है। अपने समर्पणके भावभीने शब्दोंमें कविने प्रियतमको सम्बोधित किया है। काव्यनिर्माणकी वयः सन्धिमें भावुकता भरित-भव्यता-भूति विभूषित अनुभूतियां अपने आराध्य प्रियतम[२] की ही पुकार कर पाती हैं। उनके लिये दूसरे आधारकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। कहां उद्यान कुसुमोंकी मालाका आनन्द और कहां काननके कुसुम? प्रियतमको हार पिन्हा देनेकी उतावलीमें सुगन्ध निर्गन्ध कुसुमोंका चयन तो सम्भाव्य ही है। कहीं मकरन्दकी माधुरीका मधुर आस्वादन और कहीं परागरेणु-रूषित धूसरित सुमन! किन्तु प्रियतमको तो तृप्तकरनेके लिये समर्पणकी भावना ही पर्याप्त है।

महेश्वर ही प्रसादके प्रियतम हैं। समर्पणकी यह भावना भी सहज सम्भाव्य नहीं है। अभिनवगुप्त पादाचार्यने भी परमशिवकी दासता किसी प्रकार ही प्राप्त की थी[३] और तन्त्रालोकके आलोकसे आलोकित कर दिया था। कानन कुसुम भी एक प्रकारका प्रत्यभिज्ञान है। कानन की कुसुमोत्पत्ति अस्तव्यस्त वानस्पतिक विश्वमें एक अभिनव और अद्भुत शोभाका आधान करती है।

हृदय कानन है, विश्व कानन है, इनमें भाव कुसुमोंका सम्भार शिवका श्रृंगार करे—इसमें क्या आश्चर्य? इसी सन्दर्भमें काननकुसुमकी कवितायें अपने अमन्द आमोदसे, अपने मकरन्द-निष्यन्दसे और अपने पावन परागसे वाङ्मय पुरुषको उल्लसित करती हैं।

---

१. कानन कुसुम, प्रकाशकीय—पं० १०-१२।

(यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।)

२. समर्पण का प्रथम शब्द।

३. तन्त्रालोक, आ० १, श्लोक ७।

'प्रभो' ! सम्बोधनसे सम्बोधित कोई आराध्य प्रकाशका पुंज है[1] । वह प्रकाश हमें प्राप्त नहीं हो रहा है। उसकी सत्ताका भान विमल इन्दुकी किरणें ही दे रही हैं। उसकी माया अनादि और अनन्त है। माया ही जगत् को लीला दिखा रही है। वह प्रभु प्रेम मय है, वह प्रकृति रूपी पद्मिनी-का अंशुमाली है। इस असीम उपवनका वह माली है। धरा इसकी प्रमाण है। उसीकी दयासे सब कुछ हो सकता है। यह पारमेश्वरी अनुकम्पा प्रकाशमय शिवकी स्वातन्त्र्य शक्तिके अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस पथमें प्रारम्भिक शैव प्रभावकी सूचना 'इन्दु' की किरणें, प्रकाश, अनादि अनन्त माया, लीला, राग तरङ्ग मालायें आदि शब्द व उनके प्रयोग कविके आदिम अध्ययनके इतिहास कहते पाये जाते हैं[2] ।

जिस मन्दिरमें रंक और नरेश सदा समान रहे हैं, वही मन्दिर प्रसादकी श्रद्धाका आधार है। वसुधाकी वही समतल भूमि है। जहां अपना और पराया कोई नहीं होता। अवयवावयविभावसे बस केवल हमीं हैं या 'मैं ही हूँ' के भावका विकास होता है। यहां 'स्वस्थ' शब्दका प्रयोग साभिप्राय विशेषणके रूपमें हुआ है। 'स्व' शिव है पर भी शिव ही है। स्व और पर दोनोंकी भिन्नता समाप्त होकर केवल स्व की सृष्टि ही शैव सृष्टि है। और उसमें सर्वत्र शिवकी अवस्थिति है। वह पूरा विश्व-गृहस्थ है। उसको ही नमस्कार करनेका लक्ष्य शिव दृष्टिमें निहित है। मन्दिरकी लीला का लालित्य प्रसादको सर्वदा आनन्द विभोर किये हुए है। उस लीला-वपु का आनन्द मन्दिर यह आकाश ही है। 'नाथ। सम्बोधन शिवके लिये ही प्रयुक्त होता है। करुणा क्रन्दनमें मानसयुद्ध की विभीषिकासे भीत व्यक्तिका सहारा वह नाथ ही हो सकता है।[3]

सारा विश्व परम शिवकी महाक्रीडा का स्थल है। सारी प्रकृति, सारा विकास और सारा उल्लास उसी परम शिवकी क्रीडा है। ग्रह, नक्षत्र, तारक, खगोल और भूगोलमें उसी की महाक्रीडा चल रही है। शिव शक्तिके युगल[4] का खेल सर्वदा दर्शनीय है। रसीले रागके साथ'कुछ

---

१. कानन कुसुम, पृ० ५७, पं १७-२०। २. कानन कुसुम वन्दना।
३. कानन कुसुम, नमस्कार–पृ० १ , पं० ५,पृ० १२, करुणक्रन्दन पृ०१३।
४. कानन कुसुम, महाक्रीडा—पृ० ७, पं० १७, पं० ६।

शब्दका प्रयोग रागको रञ्जकताका ही बोधक है।[१] कवि भ्रान्त पथिकके जीवनको भूल मानता है। उसके महत्त्व हीन माननेको भी वह भूलकी संज्ञा देता है।[२] कवि किसी करुणाकुंजका दर्शन कर रहा है, वहां जानेका संकेत करुणाकुंज कविता कर रही है।

कविके जीवनका प्रथम प्रभात कितना भव्य है। बाह्य और आन्तरिक प्रकृतिके सुषुप्त हो जानेपर कोई कृपापूर्ण मलयानिल आ जाता है और जीवन ही नहीं पूरा विश्व विमल हो जाता है। मलों का आवरण जबतक व्यक्तिको आवृत रखता है, तबतक यह अनुभूति नहीं होती। अपगत-मल हो जाने पर यही विश्व आनन्दसदन बन जाता है।[३] ऐसी दृष्टि आत्म विस्तारकी बोधक होती है। आत्म संकोच की निशाके उपरान्त आत्मविस्तारका यह वातावरण वस्तुतः प्रथम प्रभात ही माना जाता है।

प्रकृतिका सारा प्रसार अनन्त सौन्दर्यसे आपूरित है। मधु ऋतुकी माधुरी और मदिर मादकता व्यक्तिको प्रारम्भसे ही आकृष्ट करती है। माधवी लताओंके कुंजमें पहुँचकर यदि प्रकृति सुन्दरीका साक्षात्कार न हुआ, तो यह असाधारण बात है। वहीं सुखमूल प्रियतम ध्यानमें जाता है और भ्रान्त नाविकको यथेप्सित कूलकी उपलब्धि हो जाती है। शक्ति और शक्तिमन्तकी मिलनस्थली पृथ्वी, कुंज क्यारियोंमें खिली हो, तो वसन्त और प्रकृतिके मिलनके रूपमें उसे क्यों न रूपायित कर लिया जाय। फिर तो आनन्द ही आनन्दका साम्राज्य हो जाता है। सुद्यदभाव प्रवाहित होने लगता है। आन्तरिक और बाह्य सत्वमें वसन्तका नव विलास उल्लसित हो जाता है।[४]

विरहकी मर्मान्तिक वेदना व्यक्तिको व्यथित विह्वल बना देती है। वह समस्त व्यथाविपदाओं, और पीड़ाओंका संपीडन स्वीकार कर लेता है। उस समय प्रियतम स्वतः आ उपस्थित होता है। फिर मिलन की

---

१. तन्त्रालोक, आ० ९, १९८–२००। पृ० १५७।
२ कामायनी, (बनाते हो असफल भवधाम)।
३. कानन कुसुम, पृ० २२, पं० ११।
४. नववसन्त पृ० २३-२५।

महाभिलाषा भी नहीं रहती। वहां तो मौन रसानुभूतिका[1] आनन्द प्रवाह होता है। सारा संसार कुछ भी कहे—उस विन्दुपर हम और तुमका भेद समाप्त हो जाता है। और मर्मकी व्यथाका अन्तिम अध्याय भी समाप्त होनेकी वेला आ उपस्थित होती है।

मधुर पीड़ा पाकर मस्त रहने का महनीय मानदण्ड कानन कुसुमकी कविताओंमें एक नया मूल्याङ्कन लेकर प्रस्तुत होता है। हृदयकी वेदना जब प्रियतमके साथ क्रीडा करने लगती है, प्रियतमके अनन्त रूपोंकी कल्पना करने लगती है और उसीमें रम जाती है। वह वेदनाभी धन्य हो उठती है। सदय या निर्दय किसी रूपमें भी उसे प्राप्तकर अनन्त सुख की उपलब्धि होती है। प्रेममयी पीड़ा पाकर शिवत्त्वका विस्मरण अवश्यम्भावी है।[2]

रसके सरोवरमें चिन्ताकी लहरिकायें—कामायनीके चिन्तासर्गकी उद्भूतिमें भी लहराती हुंई प्रतीत होती है। चिन्ता चौदह मलोंका पहला मल है।[3] जगत् की सीपीसे मोती की माला निकलती है। कोई अलक्ष्य धीवर जाल डाल चुका है।[4] कामके मनोहर क्रीडा शैलका निर्माण उसने कर लिया है। सारी गिरिश्रेणी सुधासे सिक्त है। प्रकृति मनोमुग्धकारी गानसे गुंजित है।[5] चारों ओर आनन्दघनकी घटा घिर रही है। शिवप्रकाशमान है। वह अपनेमें ही अन्धकार को भी समाहित कर लेता है। पर कवि संसारसे भी प्राणियोंकी रक्षाके लिये रुद्र शक्तिकी शस्त्र-व्यापार-शीलता को रोकना चाहता है और उसी परम शिवकी सान्त्वना-की प्रार्थना करता है।[6] किसी स्वतन्त्र विनोदसे क्रोडा करने वाला हृदय आनन्दसे ओतप्रोत तो हो उठेगा ही। यह भक्त की अनोखी अनुभूति है कि, परमशिव यदि अपने भक्तके पास आते हैं, तो न केवल भक्तको

---

१. कानन कुसुम, पृ० २७, तन्त्रालोक आ० ९।२३०।
२. कानन कुसुम, ईशवन्दना कविता।
३. तन्त्रालोक आ० ९।८४–८५।
४. कानन कुसुम, मलिना पृ० ४५, पं० १७–१८।
५. कानन कुसुम, जल विहारिणी—पृ० ४८, पं० १-३।
६. कानन कुसुम. ठहरो, पृ० ५१, पं० १७–१८।

आनन्द होता है अपितु स्वयं उसको भी आनन्द विह्वल बना देता है।[1] यही कारण है कि, उसको भक्तके उद्धारके लिए स्वयं दौड़ना पड़ता है।

पशुत्त्व शिवके लिये नये जीवनका प्रारम्भ होता है। हृदय, समय, मर्त्यलोक–कुंज, अभिनव वृत्तियोंका कमल दल नूतन किंजल्कपुंज, नूतनराग की मनोहारिणी श्रुति सुखदता और कमनीयकण्ठ! इन सबके नये-नये अनुभव, 'कोकिल'के सरस गान सब, उसीके अनुरागसे रंजित होनेके कारण हैं। मानो कोकिलको भी यह प्रत्यभिज्ञा हो गयी है कि, मेरा यह नूतन परिवेश उसी चिरन्तनका सनातन स्वरूप है।[2]

कलानिधिका अपूर्व विकासही तो जगत् है। वह प्रियदर्शन तो स्वतः सौन्दर्य ही है। सर्वत्र उसीकी वरेण्य शोभा व्याप्त है। इस पथका जो पथिक बन जाता है, वह सचमुच लुट जाता है अर्थात् समस्त मायावादिताका लोप हो जाता है। बोधकी दो अवस्थायें होती हैं। १—पूर्णंमन्यता और २—अपूर्णंमन्यता। दूसरो स्थितिमें स्वरूप की हानि हो जातो है। व्यक्ति बद्धाणु बन जाता है। अशुद्ध अध्वाका वह पथिक होता है किन्तु जब अशुद्ध अध्वाका परित्यागकर वह शुद्ध अध्वाकी ओर चलता है, तब वह मुक्ताणु बन जाता है। वहीं उसके पशुत्त्वकी हानि हो जाती है। उसका माया धन लुट गया, तो उसका कल्याण ही हुआ।

सत्य और सुन्दर का प्राकट्य अभ्याससे ही सम्भव है। जैसे चित्रफलक बनाने के लिये रंग और तूलिका का प्रयोग आवश्यक है, उसी तरह हृदय पटलपर कल्पना की लेखनी से रेखा बनानी ही होगी। उसी रेखामें शिवका प्रकाश प्राप्त हो जायेगा। उस प्रकाशको प्राप्त कर लेनेकी ललक प्रसादमें पदे-पदे पायी जाती है। हृदयका कुमुद कब विकसित होगा? अपने परिमलसे दिगंतको कब पूर्ण कर देगा। अपने शीतल कर-स्पर्शसे दुःख की पिपासा को कब शान्त कर देगा? यह प्रश्न निरन्तर कविके समक्ष उपस्थित रहता है।

---

१. कानन कुसुम, बालक्रीडा, पृ० ५६, पं० १–२।
२. ,, ,, कोकिल, पृ० ५४। पं० १–३। पृ० ५५, पं० ३–४।

कविको यह भय है कि वह परम प्रियतम सम्भवतः हमें अपने हृदय धाममें स्थान न दे। इसीलिये वह उसके अभय हाथोंको देख लेना चाहता है। उसे देखकर अपने मनकी पीर मिटा लेना चाहता है। प्रेमका अमृत पीकर वह लोक ललाम बन जाना चाहता है। सुख दुःखके द्वन्दोंसे ऊपर उठकर आनन्द कन्दके महामिलन का चिर आकांक्षी बन जाता है।[१] कवि अपने उस प्रियदर्शन प्रियतमका निरन्तर दर्शन करना चाहता है। उसके स्मरणमात्रसे ही सारी वेदनायें समाप्त हो जाती हैं, विश्वबोध हो जाता है। और यह विश्वबोध ही तो मूलतः जीवनका लक्ष्य है!

विश्वबोध की अवस्थामें अहमात्मक बोधभी होता है और विश्वात्मक भी होता है। मैं ही विश्व हूँ, विश्व ही मैं हूँ—इस बिन्दु पर अनुभव भी है और स्मृति भी है। स्मृति चूंकि पूर्वानुभवाधारित होती है। इसलिये अहम् की पूर्व-शिवताकी अनुभूति प्रत्यभिज्ञामें विश्वात्माके रूपमें स्पष्ट हो जाती है। इसीलिये विश्व जनतामें अपने प्यारेको प्राप्त करनेमें कविको कोई कठिनाई नहीं रह जाती है।

विश्वकी क्रीडा और इसके अनन्त आकर्षण व्यक्तिकी चेतनाको आच्छन्न करते हैं और भोगेच्छाको उत्पन्न करते हैं परन्तु कवि उन आकर्षणोंकी मृग-तृष्णामें पड़ने वाला नहीं है। उसका हृदय अत्यधिक सामीप्यके लिये और भी ललक उठता है।[२] वह याचना करने लग जाता है, अपने प्रियतमसे कि प्रभो! मलोंसे आवृत मन दुःखकी ज्वालावलीमें जल रहा है। इससे मुक्ति दिलाने की कृपा करें। हे करुणानिधे! उस समय हमारा मन मधुप तुम्हारे चरणमें ही विश्वस्त और प्रमुदित भावसे शरण प्राप्त कर ले। प्रियतमका आलोक ही कविको अभीष्ट है।[३]

विश्व वर्षाका शरद साकार हो उठता है। प्रियतमकी दिव्यदृष्टि साधक पर पड़ती है और जीवन शरद्के दो 'खंजन' उसकी आँखोंमें प्रत्यक्ष हो जाते हैं। पूर्ण की उपलब्धि हो जानेपर खोई निधि फिर लौट आती है। प्रत्यभिज्ञाके प्रभावके कारण इदन्ताके रूपमें भासित होनेवाली

---

१. कानन कुसुम, पृ० ५७, पं० १७–२०। पृ० ६३–६६।
२. कानन कुसुम, पृ० ६७, पं० १–२। ९–१२।
३. 'याचना' पृ० ६९। पं० ३-४। ९–१०, १३–१४।

सम्पूर्ण अभिव्यक्ति अहमात्मक प्रत्यवमर्शके अमृतसे पावन बन गयी है।[१] प्रेमकी नींद सोकर प्रत्यभिज्ञा जागृत हो गयी है। जीवन मार्गमें पहली दौड़, तटिनी तरंगोंके समान उच्छ्वासका आधिक्य, प्रबल उद्वेग, कुञ्जमें ही विवश विश्राम–इन बातोंके बादही जन्मान्तर की स्मृति हो जाती है। अज्ञातका पदानुसरण प्राप्त हो जाता है। स्मृतिमें एक प्रकारकी समाधि का आनन्द प्राप्त होता है। यही प्रत्यभिज्ञाकी पराकाष्ठा है। उसी समाधि स्थानपर पथिकके गन्तव्य का अन्त हो जाता है और सारथिको रथ रोक देनेका आदेश प्राप्त हो जाता है।

विश्वमें सर्वत्र फैले हुए अनन्त-सौन्दर्यको साधक एकत्र ही देख लेने का अभिलाषी है। 'हमारा' यह अपना सीमित अस्तित्व निश्चित ही अभीप्सित नहीं रह गया है। उसे वह सुधामय संगीत चाहिये, जिसमें आनन्दसे पुलकायमान उसके रोम-रोम आर्द्र रहें।

प्रियतमका प्रसृत अनन्तसौन्दर्य संविद्से पुलकित होनेकी आकांक्षा मूलत: प्रत्यभिज्ञासे ही प्राप्त है। प्रियतमके महाभावको व्यक्त करनेके लिये बैखरी असमर्थ होती है। वह महानुभूतितो परावाक् का ही विषय है। यही कारण है कि, कवि प्रियतमको बहुत कुछ लिखता है। लिखकर जब वह उसे दुहराने लगता है, तो उसे संकोच होता है और तब उस हीनार्थ और अपूर्ण भावों वाली भाषा भेजने के योग्य उसे नहीं लगती। उस अनिर्वचनीय 'भावसागर'के लिये वह फिर क्या कहे? इसीलिये स्मरणमात्रसे उसका हृदय गर्वस्फीत हो उठता है।

चारों तरफ कमनीयतामयी छाया छा रही है। यह उसी प्रियतमका प्रतिबिम्ब है।[२] वास्तवमें यह सारा विश्वही भैरवीय-चिदाकाशमें प्रतिबिम्बित है। जैसे दर्पण पटलमें सारा दृश्य ज्यों का त्यों अंकित हो जाता है। उसी तरह यह जगत् भी आत्मामें प्रतिबिम्बित हो गया है।[४] यह अनुत्तर प्रतिभाका ही चमत्कार है। प्रतिबिम्बको सत्य

---

१. तन्त्रालोक, आ० ९।२३०, कानन कुसुम, 'विरह' पृ० ७५, पं० ७।

२. कानन कुसुम पृ० ७५, ७९, ८४–८५।

३. कानन कुसुम 'मिल जाओ गले' पृ० ८८, पं० ३–६।

४. तन्त्रालोक, आ० ३।५४–५७।

कहें या न कहें—यह प्रश्नही नहीं है। प्रतिबिम्ब तो अपने मूल धर्मका परित्याग करता ही नहीं है।[1] केवल पररूपता प्राप्त कर लेता है। प्रश्न यह है कि, प्रतिबिम्बमें ही क्यों रमा जाय ? बिम्बकी उपलब्धि सम्भाव्य रहते हम प्रतिबिम्बमें क्यों भूल जायँ ? इसीलिये कानन कुसुमका कवि कहता है कि, मुझे तुम इनमें हे प्रियतम ! क्यों भुलवाते हो ? मेरा हृदय तुम्हें न पाकर इन कांटोंके फूलोंमें कभी भी भूल नहीं सकता।[2]

वह परमशिव उत्तमताका पूर्णरूप है। आनन्द घन है। वह शक्ति-सुधासे सिंचित है। सारा विश्वकानन उसीकी हरीतिमासे हरा भरा है। उस महा चेतनकी चित्कला ही सत्ता रूपसे व्यक्त है। व्योममें उसकी पूर्ण महत्ता ओतप्रोत है। स्वानुभूतिका वह साक्षी है। जड़में वही चैतन्यका चमत्कार भरता है। वही विश्व शरीरी शिव अपने स्वभाव स्वातन्त्र्यके कारण अणु-अणुमें व्याप्त हो रहा है और रम रहा है। समस्त गतिविधियों का वही निर्धारण कर रहा है और नित्य नये सम्बन्ध सूत्रोंका वह संचालन करता है। वह विज्ञानाकार, ज्ञानोंका आधार और अनन्त है।[3]

कानन कुसुमका मूल स्वर आनन्दवादी है।[4] प्रारम्भिक कृति होनेके कारण कविके मूल संस्कार इसमें ओत प्रोत हैं और उनके अध्ययनमें इस पुस्तकसे बड़ी सहायता मिलती है। कानन कुसुमका कवि मूलतः और संस्कारतः प्रत्यभिज्ञावादी है। कोई उस प्रियतमको भले ही आँखें बन्द करके देखे, एकान्त निरालेमें उसका दर्शन करे, त्रिपुटी या कुटीमें या समाधिमें लीन हो, उसे प्राप्त करे। पर कानन कुसुमका कवि विश्व-जनतामें अपने उस परम प्रियतमका दर्शन कर तृप्तिका अनुभव करता है।

---

१. तन्त्रालोक, आ० ३।६६। २. कानन कुसुम, पृ० ८८, पं० ४-६।
३. कानन कुसुम, मकरन्द विन्दु-पृ०९९। पं०१५-१८, पृ०१००, पं०१-१०, तन्त्रालोक, आ० ९, पृ० ५१, पं० १८, आ० ९।१-६, आ० ५।५६, पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० ७।९१-९२, ५६, ६४, ६९।
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, आ० ८, पृ० ३१७, पं० १५-१६।
तन्त्रालोक, आ० ३।७८-८१, पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ०३४-३५।२६९-२७९।
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा आ० ८, पृ० ३१७, पं० ६।
४. कानन कुसुम, पृ० १२, पं० ६, पृ० २२, पं० २, ६, ११, पृ० २५।

४: (४)–झरना

'झरना' नाम, रूप और आकृतिमें तरलताकी शाश्वत गति लेकर ऐसा बँध गया है कि, उसे उससे कभी मुक्ति नहीं मिल सकती। उसे मुक्तिकी आवश्यकता ही क्या है ? वह आत्मविस्तार करता है, तो स्रोतस्विनी बन जाता है। उससे भी आगे बढ़कर आनन्दके कारण महोदधिकी अमर तरङ्गोंमें अपनी समरसताका अधिकार ढूँढता है।[1] और फिर वही क्रमवत्ता, वही संस्करण और वही संचरण ! कौन कहता है कि, उसे अपनी सत्ताका, अपने गतिशील अस्तित्वका और अपने उन्मुक्त बन्धनकी प्रत्यभिज्ञा नहीं है ? झरना तो प्रत्यभिज्ञाका ही सूचक वह जीवनमुक्तिका पीयूष प्रवाह है, जो हमें अच्युत होनेका सन्देश देता है।

झरना निरन्तर दान करता है। कविका प्रवहमान जीवनभी दान करनेमें पश्चात्पद नहीं है। उसने हृदयका ही दान कर दिया है। हृदयसे ही परमशिवका साक्षात्कार होता है। उसीको उसने समर्पित कर दिया है। एक तो क्षुद्रता और दूसरे गर्व[2] ? असीम जब छायाका आवरण धारण कर लेता है, तो वह ससीम बन जाता है। इसमें स्वरूपकी हानि हो जाती है[3]। स्वरूपकी हानि ही 'मल' है। संसारके[4] अंकुरके यही कारण हैं। मायाका श्रीगणेश यहींसे होता है और जगत्की उत्पत्तिका भी यही स्थल है।

'स्व', पर' और सर्वका तादात्म्य ही शिव है। तादात्म्यके आश्रयसे संविद् स्वातन्त्र्यके कारण कर्म भस्मसात् हो जाते हैं। समस्त दुष्कृत और सुकृत नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये विश्वात्मभावसे विभूषित होनेपर मदीय-ममत्त्व व्यर्थ हो जाता है। त्वदीय वस्तु तुम्हें अर्पण कर आराध्यका जो आराधन होता है, वह बड़ा ही स्पृहणीय होता है[5]।

---

१. कामायनी 'श्रद्धा' पृ० ५४। पं० ५–८। पृ० ५६।

२. झरना, 'समर्पण' पं० १।

३. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, श्लोक ४७४-४७६। तन्त्रालोक आ०९।१२०।

४. तन्त्रालोक, आ०९। पृ० ५६। श्लोक १३८-१३९।

५. 'समर्पण' कविता।

विश्व बड़ा रहस्यमय है। इसके परिचय और सम्बन्ध भी अज्ञात रूपसे प्रभावित करते हैं। उधर उषा और अरुणोदय. इधर सरोवरमें कमलोंका उल्लास दोनोंके सम्बन्धोंके माधुर्यका आधार क्या है[१]। यह अप्रकाशका प्रकाशन है। यह आनन्दशक्तिका विलास है[२]। जड़तामें क्रियाशक्तिका स्वारस्य है। यही स्पन्द है।

सरोवरके बोच अरविन्द खिल गया है। मधुमय मोहन मकरन्दका माधुर्य उसमें ओत प्रोत है। दिवस पर्यन्त मिलिन्द उस माधुरीका आनन्द अनुभवकर रात्रिमें उसे छोड़कर अन्यत्र कैसे चला जाय ? वह वहीं बन्धन बद्ध हो जाता है अथवा अन्यत्र रहकर भी खिलते ही उपस्थित हो जाता है। इसमें 'परिचय' और सम्बन्धकी परिकल्पना मधुर मधुमय मकरन्दपर ही आधारित है। यह मकरन्द चितिके अमृत तत्त्वके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

यही अवस्था मलयानिल और गन्धवहकी है। परिमल रोज मिलता है। उसे वहनकर मलयमारुत अपनेको महनीय बना लेता है। परिमल ही इस परिचय और सम्बन्धका आधार है[३]। रागकी अरुणिमा, मकरन्दकी माधुरीके आस्वाद और परिमलसे सानन्द सम्मिलन जिस परिचय और जिस सम्बधकी ओर संकेत करते हैं, वही अहं और इदम् तथा मदीय और त्वदीय में है। इन दोनोंके मध्य एक प्रेमका मङ्गलमय सूत्र है, जहां रागारुणतामें ज्ञानात्मकताका, मकरन्द माधुरीकी आस्वादन शीलतामें, इच्छाका तथा परिमल वाहकतामें क्रियाका समन्वय है। इन तीनोंके सामरस्यमें ही चित् और आनन्दका स्फुरण होता है।

'झरना' बह चलता है। उसकी लहरिकाओंका माधुर्य और स्रोतकी मिठास कितनी आकर्षक है। किसी प्रकारका उत्पात नहीं, केवल अधोप्रवाह ही है, जिसमें छटा छहरी हुई है। इस अधोगामी प्रवाहमें भी वही छटा है। परमशिवकी स्वातन्त्र्यशक्ति संविद् प्रकाशका माधुर्य ऊर्ध्व और

---

१. झरना 'परिचय' पं० १-५।

२. ई० प्र० आ० ५।२३, तन्त्रालोक, आ० ३।६८, आ० ३।१०३।

३. झरना, 'परिचय' २ 'झरना'

अधस् सबको ओत-प्रोत करता है। यही उसकी आनन्द शक्ति है[१]। प्रवाहमें विघ्न बनकर आने वाले गिरिके मर्मका कृन्तन किये बिना गति अप्रतिरुद्ध नहीं रह सकती। किन्तु यह गहरी बात है। कुछ रहस्य है, जो छिपा हुआ है[२]। उसीका उद्घाटन झरना करता है और अपने माधुर्यको गतिशील बना देता है।

वह मधुर स्रोत कब प्रबाहित हुआ? किस कालकी कलना-कलाका वह अंश इतना उद्वेलित हो उठा कि, शैल भी कट सका। झरना बह सका[३]। झरनाके बह सकनेमें कारण वर्षा है। प्रथम वर्षासे वह झरता है। वर्षा वरुण तत्त्वका विस्फार है। वरुण तत्त्व 'व' है। 'व' में उन्मेष शक्ति और अनुत्तर शिवतत्त्वकी सन्धि है। अर्थात् उन्मेष शक्ति ही अनुत्तर के अधिकरणमें सर्वस्वके आसिंचनकी प्रक्रियाका प्रारम्भ करती है। और वर्षा हो जाती है।[४] वर्षा हुई। झरनामें उन्मेषकी ऊर्जा है और अनुत्तरका ओज है। ऊर्जा और ओज इन दोनोंने जड़ शैलको काट डाला। झरना को देखकर शैलके काटनेकी स्मृति स्वाभाविक ही है। यन्त्रणातन्त्रको तोड़ डालना, उसे उट्टंकितकर आगे बढ़ जाना यह परमेश्वरका अनुग्रह है। झरनाका बहना भी अनुग्रह ही है। अनुग्रह हुआ और झरना बह गया। फिर सारा तनमन आप्लावित हो उठा। अनुत्तरकी अपाङ्ग धारा बही, हृदयसे वह ढुलक पड़ी। द्रव बह चला। आंखें रस बरसने लगीं। प्रणय वन्याका यह पसार कितना प्रिय है। इससे सारा तनमन आप्यायित न हो उठे तो क्या हो?[५]

झरना बहकर तापमय जीवनको शीतल कर देता है। किसीके सौन्दर्यकी परिधिमें यदि सत्य इस प्रकार उद्वेलित हो उठे और झरना का शाश्वत प्रवाह प्रवहमान हो जाय, तो बोधके महासिन्धुमें शक्तियोंका उल्लास ऊर्मियोंकी तरह स्वात्मसंघट्ट वैचित्र्यको क्यों न इस प्रकार झरनामें बहा दे? यही तो क्रियाशक्तिका बाह्य शरीर है।[६]

---

१. तन्त्रालोक, आ०३।२०९-२१०। २. झरना, 'झरना' पं० ५-६।
३. झरना, 'झरना' पद २, पं० १-६। ४. तं० ३।१५६।
५. झरना, "झरना" पद २ पृ० १४।३ तं०३।२८५
६. झरना, 'झरना' पृ० १४, पं० ३-९। तं० ३।१०२-१०४

विश्व कोलाहलमय है। नीरवताका और निर्जन शून्यताका यहां नाम तक नहीं। कवि नीरव और निर्जनमें विकल और चंचल मानसको शान्त करना चाहता है पर कुछ ऐसी हलचल हो जाती है, जिससे वह भ्रान्त बन जाता है और भ्रान्तिके बनमें भटकने लग जाता है। वहीं विश्वका कुसुमित कानन है।[1] नीरवता और निर्जनतासे कुसुमित कानन तकका यह संवेदन और गतिशीलता, यह अनुद्घाटित इतिहास कविको प्रत्यभिज्ञा दृष्टिकी ओर संकेत करते हैं।

आन्तरिक और बाह्य दृष्टियां एकही दृष्टिके दो पक्ष हैं। लक्ष्य भीतरकी ओर तथा दृष्टि बाहरकी ओर हो, तो बाहर और भीतर सब एक हो जाता है। कवि उस अवस्था पर पहुँचा हुआ है। उसकी आन्तरिक और बाह्य प्रकृति सभी सो रही थी। हृदय नील गगन सा शान्त था और अन्त करणके मनोहर नीडमें खगकुलके समान सभी मनोवृत्तियां सुषुप्तिकी शैय्यापर विश्राम कर रहीं थीं। उस समय तक कोई स्पन्दन नहीं था। मन मुकुल तुष्ट, पुष्ट और आत्म तत्त्वावच्छिन्न विमल मकरन्द से महनीय था।[2] चित्तकी विश्रान्ति जब आत्मामें होती है, तब अमृतात्मक स्थिति होती है।

अचानक ही मलयानिल बह जाता है। फूलोंका सौरभ उसमें लदा रहता है। जहा उसका स्पर्श हुआ कि, गुदगुदी बल खाने लगती है। आंखें फिर आन्तरिक पक्षको छोड़कर बाह्यकी ओर खुल जाती हैं। आनन्द दृश्य बन जाता है, अर्थात् दृश्यके आकर्षणमें एक अभिनव आनन्दकी अनुभूति होने लगतो है और मनोवेग मधुकरके समान गूँजने लगता है। तथा मधुर-मधुर स्वर्गीय गान गाने लग जाता है[3]

---

१. तन्त्रालोक, आ० ९।२०२, पृ० १६०, मालिनी विजयोत्तर तन्त्र १।२९, झरना, पृ० १५।

२. झरना प्रथम प्रभात, पृ० १७ पं० १-६, तन्त्रालोक आ० ३।९२

३. झरना, प्रथम प्रभात, पृ० १७, पं० ७-१२

क्षोभके अनन्तर ही आनन्दकी प्राप्ति होती है।[1] चित्तकी विश्रान्तिमें भाव कुसुम मकरन्दकी वर्षा करता है। प्राणका पपीहा पुकार उठता है। प्रकाशकी प्रथम रेखा मिल जाती है। जीवनका वही वास्तविक और प्रारम्भिक प्रकाश होता है। वही 'प्रथम प्रभात' है।[2]

द्वार तो तभी बन्द हो जाता है,[3] जब पूर्णताका ज्ञान समाप्त होकर अपूर्णंमन्यतासे व्यक्ति ओत-प्रोत हो जाता है। एक तरहसे वह स्वयं स्वरूपकी हानिकर स्वयं बोध-कपाटको बन्द कर लेता है। यदि वह अपनी इस अवस्थाका अनुभव करे, अपने कार्योंसे, अपने नियमनसे और अपने संविद्प्रकाशरूप ज्ञानसे अपनी कर्म परम्पराका, अपनी अबोधताका निरास करनेका प्रयास करे अथवा अपनी विवशताका अनुमापन करे, तो वह अवश्यही धन्य हो उठे। संविद स्वातन्त्र्यके कारण उसके पाप, दग्ध हो जायं।

कवि अपनी विवश दशाका, मायाकी मोहकता रूप रजनीके महा-भयानक जड़त्वमें परिवर्त्तित करने वाले शैत्यका अनुभव कर रहा है। उसकी कमली शिशिर कणोंसे लदो हुई है। उसके तार-तार भींग गये है। जो रक्षक बनकर अपने आवरण अन्तरालमें उसे छिपाये थी, उसीकी यह दशा है। पश्चिमका मारुत शीतलताका भार लेकर चल रहा है। रजनीका कबरी भार भीग रहा है, तो फिर रक्षाका एकही उपाय अवशिष्ट रह गया है। प्रियतम ही दरवाजा खोलकर जब बाहर आ जाय और अरुण किरण विकीर्णकर अपनी अकारण करुणाका प्रसार कर दे।[4]

विपथ भ्रान्त होनेमें पान्थ परीशान हो जाता है। उसे खाक छाननी पड़ती है। राजमार्ग हो तो पदोंमें धूलि न लगे। यहां तो धूलिमें, काटोंमें, ऊबड़-खाबड़ राहोंमें उसे भूलते-भटकते चलना पड़ा है। वह धूलि सने कंटक-विद्ध पदोंके द्वारा अपार दुःख झेलते प्रियतमके द्वार आ पहुँचा है। सबसे बड़ा प्राप्य उसे प्राप्त हो गया है। अब वह उसे छोड़ नहीं सकता

१. तन्त्रालोक, आ० ३।९२। २. झरना, प्रथम प्रभात।

३. झरना, 'खोलो द्वार', कविता। तन्त्रालोक ९।१२९, १३५।

४. झरना, 'खोलो द्वार', पृ० १९, पं० १-४। पृ० १९, पं० ५-६।

है। प्रियतमके श्रेय प्रेय मय पदोंसे लिपटे-लिपटे ही अपने पदका निर्धारण किया जा सकता है। अपार रजनीका दुख मिटाया जा सकता है। केवल दर्शनों की देर है।

भक्तकी प्रार्थना सुन ली गयी है। द्वार खुल गया है। 'रूप' माधुरीके आकर्षणसे सारा विश्व मुग्ध है। रूप जलधिकी लहरियां उठ रही हैं। उसकी चितवन सृष्टिमात्रको चमत्कृत कर रही है। सुमन-सुरभि मकरन्दसे सिक्त पंखसे मानो तितलियां उसे व्यजन कर रही हैं।[1]

बसन्तकी प्रतीक्षा है! क्यारी और कुंज बनानेमें साधक लगा हुआ है। परिश्रममें जुटा हुआ है। आनन्दकी अनुभूतिसे वह विभोर है। हृदय पसीज रहा है। आंखें स्रवित हो रही हैं। उसी जलसे वह उस मल्लिका-कुंजको सींचे जा रहा है, जो बसन्तमें अवश्य खिलकर ही रहेगा। यह दाढर्य है। कांटोंको सजाकर रखना और उनमें भी फल खिला देनेकी उद्दाम लालसा; अपने प्रयत्नके साफल्यकी भव्यभविष्यद्-भावना सराहनीय है।[2]

किरणें पराहंकाररूप परमशिवकी चमत्कृति हैं।[3] वे अदृश्य लोककी अज्ञातविश्वकी वेदना-दूती हैं। धरा पर प्रार्थनाके सदृश झुकी हुई हैं, उनका मौन मधुर मुरलीके मौन सदृश है, जो अतीतमें कितने अनन्त गानों की सृष्टि कर चुकी हैं और भविष्यत्‌को अपने आनन्दवादी निनादसे मोदमुग्ध बना देनेकी क्षमतासे संवलित हैं।[4]

प्रकाश तो सर्वात्मना माहेश्वर संविद्‌रूप ही है। वही उपाधिभेदसे सूर्य, सोम और वह्निके प्रकाशमें भासित होने लगता है। यह सोपाधिकता ही वेदना है। इसीलिये किरण वेदनाकी दूती बन जाती है। सूर्यकी तीक्ष्ण किरणें जलमें पड़कर दृष्टिको आनन्द प्रदान करने लगती हैं। प्रातिबिम्बिक रूप औपाधिक है। औपाधिकताकी अनुभूति वेदना की

---

१. झरना, रूप पृ० २०, पं० ८-१६।
२. झरना 'बसन्तकी प्रतीक्षा' पृ० २४, पं० १–४।
३. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० ४७। ३७४।
४. झरना 'किरण' पृ० २६,

अनुभूति है। सारे संसारको वह इसी वेदनाका संदेश दे रही है कि, विश्व इसी उपाधिजन्य भेदवादितासे ग्रस्त हो चुका है। इससे 'स्व' रूपकी हानि हो जाती है।[1]

उषाके अंचलमें अविश्रान्त नर्त्तन, भोले मुखका चुम्बन, सम पर ताल देनेकी प्रक्रियाका प्रवर्त्तन, सुन्दर सरस हिलोर उठाकर प्रकृतिको परमानन्दका दान, भूलोक और स्वर्गके सूत्रोंका संगठन यह सभी किरणोंके गुण है।[2] प्रकाशकी यही परिभाषा है। प्रकाशकी इस परिभाषासे यदि किरणोंके माध्यमसे सम्बन्ध स्थापन हो जाय, तो विरज और विशोक होना सहज सम्भाव्य है। किन्तु किरणकी उपयोगिता सुमन मन्दिरके द्वार खोलनेमें है। वसन्त वहीं सोया है। वह जग जाये और फिर 'सर्व' और प्रकाशमय शिव बन जाये।

सोम, सूर्य और अग्निमें जो अविभक्त प्रकाश है, वह विन्दुरूप है। विन्दुका अर्थ ज्ञान है। विद् धातुसे निष्पन्न क्रिया है—'वेत्ति'जानता है अर्थात् वेत्ता ही विन्दु है। विन्दु अनुत्तर 'अकार' और आकाश प्रतिनिधि 'हकार' के साथ मिलकर 'अहं' को अभिव्यक्त कर देता है। अहंका जागरण ही वसन्तका आगमन है[3]।

वसन्तका आगमन न हो, अहं का जागरण न हो, दोषका बीज पशुत्व विद्यमान हो, अहं ममात्मक आतङ्क हो, तो अभिलाष, अज्ञान, अविद्या, लोलिका, अनुप्लव, ग्लानि, शोष, विमूढ़ता आदि व्यतिरेकी दुःस्थितियां ही मनुष्यको आक्रान्त करती हैं। इससे स्वरूपका गोपन होता है। ग्लानिसे उत्पन्न विषाद भी एक प्रकारका मल है, जो प्रकृतिके करुण काव्यके समान है। काया तो नश्वर है किन्तु इसमें वह मानो अमर बना बैठा होता है[4]।

अपनेको न पहचानना स्मृतिका उपहास करना है। स्मृतिके उपहासमें प्रत्यभिज्ञाको ठेस लगती है। बिना ठेस लगे जल्दी कोई जगताही नहीं। आशाके उपरान्त ही व्यक्तिको ठेस लगती है। मानो आशा ही उसे ठेस

---

१. तन्त्रालोक, आ० ९। ३२। २. झरना, 'किरण' पृ० २६–२७।
३. झरना, पृ० २७, पं० १६। ४. झरना विषाद, पृ०२८, पं०१-४।

लगाती है। जीवनका नव उल्लास क्षितिजमें जाकर सो जाता है[1]। हृदय उसे खोजता है। वह प्रेमका निकेत हैं[2]। यह खोज प्रकाशमें ही पूरी हो सकती है। गोधूलीका धूमिल प्रकाश जब अपनी तमोमयी चित्र-पटी समेट ले, तब चितिका[3] निर्मल दीप जलता है। अहं प्रत्यवमर्श[4] चितिके द्वारा ही होता है और दीप जल उठता है।

वीणा अब मधुर मधुको वर्षा करेगी। प्रियतम उस वर्षासे भीग जायगा। परिणामतः वह इस कुटियामें पुनः प्रत्यावर्तित होगा जो अपना सर्वस्व है, उससे लज्जा और संकोच किस बात का? संकोच से प्रियतम रूठते हैं। संकोच हैं किस कामका? हृदयकी सभी अभिलाषायें लज्जावती लतायें बन गयी हैं। स्वयं हृदय भी इतना संकुचित है कि, वह अपनेमें ही छिप जाना चाहता है[5]। संकोच एक कला है। इसका विनाश करना तथा ग्राह्य ग्राहक भूमिका परित्याग कर, बहिर्मुखताका बहिष्कार कर, अन्तर्मुखीय स्वभाव द्वारा चेतन पदपर आरूढ़ होना आत्माके परिज्ञानका लक्षण है। इस दशामें चित्त ही चिति बन जाता है[6]। वह 'स्व' की पराभूमिमें प्रवेश करता है। यही शिवाभेद परामर्श है। इसमें शिवकी इच्छाशक्ति ही कारण बनती है। अहं प्रत्यवमर्श दो प्रकारका होता है। एक शुद्ध और दूसरा मायीय। विश्वाभिन्न संविन्मात्र और विश्वकी छायामें व्याप्त स्वच्छ आत्मामें अहं का अवमर्श प्रथमकोटिका शुद्ध परामर्श है। द्वितीय कोटिमें मायीय परामर्श वेद्य रूप देह आदिमें होता है। प्रथम कोटिमें कोई प्रतियोगी अपोहितव्य नहीं होता। क्योंकि विद्या आदि भी प्रकाश रहस्य रूप हैं। प्रतियोगीके अभावके कारण ही वह शुद्ध अवमर्श है।

द्वितीय कोटिमें वेद्य शरीर आदि तथा अन्य देह व घट आदि वस्तुओं-में परामर्श होता है। इस परामर्शको विकल्प कहते हैं। चित्तत्त्व प्रकाश-मात्र रूप होता है। उस प्रकाश विमर्शको छोड़कर प्रसादके अनुसार 'अहम्'

---

१. झरना 'विषाद' पृ० २९, पं० १-४, १४-१६।
२. ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्षिणी—१।५।१८।
३. झरना पृ० ३१, पं० ५-६, ९, ५-३२।
४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, विमर्षिणी, अ० १, आ० ६, का० १।
१ झरना 'अर्चना', पृ० ३४, पं० १-१२। २. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र १३

के अस्तित्वको अर्द्धचन्द्र देकर अपनी प्रधानताका विस्मरणकर, भिन्न देह आदिमें 'मैं देह ही हूँ', नील आदि प्रमेयोंका प्रमातामें ही हूँ। इस प्रकारके अभिमानसे समन्वित होकर, अपनी स्थूलताको ही प्रमुखता प्रदान कर देनेका विमर्श करना विकल्प भूमिमें ही प्रवेश करना है। चार्वाक दर्शनमें चैतन्य विशिष्ट शरीरको ही पुरुष माननेका सिद्धान्त इसी विकल्प भूमिका परामर्श है। यही संकोच है।

प्रियतमके गलेमें इसी संकोचके कारण स्निग्ध कामना-कुसुमोंसे निर्मित यह मालिका पड़ नहीं सकी। प्राण प्रदीपमें वह आलोक भी नहीं आ पाता कि प्रियतमके रूपका दर्शन हो सके। अश्रु सलिलके द्वारा प्रियतमका अभिषेक न हो सका। अतः प्रियतमकी प्रसन्नताके अभावमें सब व्यर्थ है। व्यर्थताकी अनुभूति ही तो विरतिको जन्म देती है। कवि उसी पूर्ण विरतिका आकांक्षी बनता जा रहा है। समस्त स्रोतोंको लीन करनेके बाद ही यह अवस्था आती है।[1]

दूध और पानी मिल गये हैं। खटाई देकर उसे फाड़ना उचित नहीं है। हृदय जलदसे सभी प्रेमजल बरस चुके हैं। अब वे शून्य हो गये हैं। खेल-खेलमें ही मिलने वाले जीवन और मरण यहांकी समस्यायें हैं। अब तो 'स्व' भावका प्रकटीकरण ही सर्वोत्तम समाधान है। 'स्व' रूप और 'स्व' भाव दोनों अवस्थाओंमें ज्योतिरूप और सत्यप्रकाशरूपताकी स्थिति होती है। परम अर्थका अनुसरण करने वाले व्यक्तियोंमें दोनों अवस्थाओंका अभाव नहीं होता। किन्तु जो संकोचशील प्राणी है, वहां चितिशक्ति ही संकुचित हो जाती है। परिणामतः विषय ग्रहणकी प्रवृत्ति बढ़ती है। चिति चित्तमें परिवर्त्तित हो जाती है। 'स्व' भाव बदल जाता है। 'स्व' भावका एकत्व, द्विरूपत्व अर्थात् शिवत्त्व प्रकाश रूपत्त्व और संकोचावभास रूपत्त्वसे दो प्रकारका हो जाता है। पुनः आणव, कार्म और मायीय मलावृत्त होकर तीन प्रकारका, चार प्रकारका एवं ३५ प्रकारका होकर सर्वरूपमें प्रतिभासित होता है।[2] ऐसी अवस्थामें प्रत्यभिज्ञा होती है ओर स्वभावका प्रकटीकरण हो जाता है।[3]

---

१ झरना, 'अर्चना' पृ० ३५-३७।

२. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र ७।

३. झरना, 'स्वभाव' पृ० १६।

छिछले जलके मीनके जीवनके प्रति भी सन्देह हो जाता है। महा-सागरके भीतर रहकर भी इस छिछलेपनकी सृष्टि मैंने स्वयं की और उसीमें समा गया। यह साधकके असन्तोषका ही परिणाम है।[1] ऐसी अवस्थामें अब अनुनयके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं रह जाता। स्मृतिके सौरभमें मृग मन मस्त रहने लगे और हृदयमें प्रियतमका निवास हो जाय, तो सौभाग्य भास्करका अभ्युदय अवश्यंभावी हो जाय। प्रियतम दूर हो तो फिर पानीका सहारा लेना पड़ता है। वह भी जब न्याय, अन्याय और व्यवहारकी समालोचनाका प्रसंग हो। तबतो आकुल हृदय अपने अमर्षको भी, आक्रोशको भी व्यक्त कर देता है। अन्तरमें प्रियतमकी स्मृति लिये हुए जीवन निःशेष कर देनेके लिये सोचना पड़ जाता है। उस समय समस्त कामनाओंका विसर्जनकर केवल प्रियतम हमें अपना बना ले—यही साध रह जाती है।

बाह्यका वियोग और मनका मिलन है क्या ? समन्वयानुभूतिही तो है। सकृत् आभासके द्वारा देश, काल और आकारके मिश्रणात्मक योजनाभाससे यह सिद्ध होता है कि, सारी समस्याओंका समाधान हो गया है। हीरक पात्रमें चन्द्रकिरण, हिमविन्दु और मधुर मकरन्दसे निर्मित सुधा रखी हुई है। इसे हिलानेमें सुधाके छलक पड़नेका भय है। ऐसा ही यह हृदय है, जो प्रेमसे परिपूर्ण है। अब मायाके प्रबल प्रभन्जनके थपेरोंसे स्पन्दित-विचलित वह नहीं हो सकेगा।

मधुर तम एक विलक्षण मोह है, जहाँ सकल उद्वेग समाप्त हो जाते हैं। नीरव व्योममें वंशी की स्वर लहरी गूंज रही है।[2] एक ओर प्रकृतिका आकर्षण है। बीच नदीमें ही नाव किनारे लगती है। यहां क्रमका कोई महत्त्व नहीं है[3]। अक्रम मुक्तिका यह निदर्शन है। नाव तो किनारे लगती है, पर यह भौतिक सत्ताका सत्य है, प्रत्यभिज्ञामें तो मध्य-धारामें किनारा भी निहित है। जहां नाव किनारे लगी, वहीं उस मोहन-का दर्शन प्राप्त हो गया।

---

१. झरना, 'सन्तोष' पृ० ४०, पं० ६-१० ।

२. झरना, 'अनुनय' पृ० ४१, प्रियतम, प्रत्याशा, स्वप्नलोकदर्शन ।

३. झरना, 'दर्शन'

कोकिलोंकी पंचम-विपंचीका महोच्चार—चन्द्रिका मलय मारुत, मधुप और माधविका कुसुम कुंज ये सभी आज समन्वित सौन्दर्यका सृजन कर रहे हैं[१]। यही विसर्गामोद सौंन्दर्य संवलित उल्लास है। अविभागावभासका स्वानुभवसिद्ध माधुर्य है। जो विश्वमें व्याप्त दीख ही नहीं, अनुभूत भी हो रहा है। आसक्तियुक्त योगियोंको भी सहसा ही संविन्मयीभावना हो जाती है। आज इस माङ्गलिक वेलामें सभी साज मिलकर बज रहे हैं। बजनेवाली वाक् शक्ति है। यह ४ प्रकारकी होती है, परा, पश्यन्ती, मध्यमा, और बैखरी। इन चारोंके सम्मिश्रणमें नाद रूपिणी स्वर सन्दर्भ सुभगा शक्तिका विस्फूर्जन होता है। हृदय महोदधिके विषय में तो कहना ही क्या है ? इसमें तो आज तुंग तरंगवालियोंका उद्वेलन हो रहा है।[२] शतशत शीतांशु समुदित होकर अमृतके शाश्वत प्रवाहमें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। आकाशमें तारिकाओंकी झालरें टंग गयी हैं। वायुमण्डलकी तहें गन्ध और सौरभ संभारसे संभरित हो गयी हैं। इधर अन्तरिक्ष सुरभित कर देनेका उपक्रम है और इधर चन्द्रमा पीयूषकी वर्षा कर रहा है। सारी सृष्टि दृष्टि-पथमें समा गयी है तथा नव्य आलोकसे आलोकित हो गयी है। 'यह' इदं प्रत्यवमर्श आक्रान्त विश्व वैभवसे भरित हो चुका है। हृदयकी वीणा अपना प्रस्तार कर रही है। उसमें तीव्र पंचमका उल्लास है। पिककी काकलीकी कमनीयता उस राग रंजकताके समक्ष तुच्छ है। पिक बेसुरा है। इस रसीली मूर्च्छनाकी मत्तता अद्भुत और विलक्षण है।[३]

जगत्के जीवन, विश्वके विकास, परम प्रकाश और स्वयं पूर्णकाम परमेश्वर शिव हैं। विधि और निषेधमें निर्भय और अभेद-अभिराम भी वही हैं। कार्यकारण भाव और कृषिकर्मके नवीन घनश्याम, महामोदमय, परमरमणीय, रोम-रोममें रमे रहने वाले विलक्षण हे शिव ! आप ही सर्वत्र हैं।[४]

---

१. झरना, 'मिलन' पृ० ५४, पं०३-६।

२. झरना, 'मिलन' पृ० ५४, पं० ७-८, तन्त्रालोक, आ०३।१०२।

३. झरना, 'मिलन' पृ० ५४-५५

४. 'तुम' पृ० ६१, पं० १-८ पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ०६-; श्लोक ३७ ४० ५४

समस्त बाधाओंको, बन्धनोंको और भेद को तोड़कर, अहमितिके स्वार्थका परित्यागकर जीवन-घटमें सुधा भर लेना ही जीवनका लक्ष्य है। द्वन्द्व विष है। इसके पान करनेसे अस्तित्वके प्रतिही संदेह उत्पन्न हो जायेगा।[1] भेद एक भूधर है। इसे नष्ट करनेके लिये बज्रकी आवश्यकता होती है। समाधि ही वह बज्र है।[2]

जिसके द्वारा भेदका भूधर नष्ट हो सकता है।[3] द्वन्द्व में भेदवादिता है। यह सत्तर्कसे कटती है।[4] आनन्द अमृत है। भोग गरल है। जो साधक सुधाको छोड़कर गरलको ही पेय बना लेता है अथवा सुधामें ही गरल मिला देता है, वह दुर्बुद्धि है।[5] फिर सुधामें गरल मिला कैसे? कंठको सींचने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। सुधाकी याचनाके लिये विवश होना पड़ा। आकांक्षाके प्रतिकूल गरल पान करने को मिला। परिणामतः गरमझीलका मीन जैसे ऐंठकर प्राणोत्सर्ग करनेको विवश हो जाता है, वैसी ही स्थिति यहाँ भी उत्पन्न हो गयी।

सुना था कि, तुम बड़े ही सुन्दर हो और सरल हो। पर तुम्हारे सारल्यका यह निदर्शन तो बड़ा ही स्पृहणीय रहा।[6] वास्तवमें गरल यह माया है। अनावृत स्वरूप विभुका भी यह आच्छादन करती है। परमेश्वर की यह मायाशक्ति द्वैतमुक्त महेश्वरको अद्वैतकी भूमिसे द्वयता और द्वन्द्वकी भूमिपर प्रतिष्ठित कर देती है और 'झरना' उसी महेश्वर को अभिषिक्त करनेमें शाश्वत रत है।

●

---

१. झरना, 'आदेश' पृ० ७५, पं० ९-१२।

२. तन्त्रालोक, आ०३, १६४-१६६।

३. समाधि वज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभि' ॥
प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र ११, पृ० १५, पं० १०-११।

४. दुर्भेदपादपस्यास्य मूलं कृन्तन्ति कोविदाः।
धारारूढेन सत्तर्क-कुठारेणेति निश्चयः ॥ तन्त्रालोक आ० ४।१३।

५, यथा साम्राज्य संभोगं दृष्ट्वा दृष्ट्वाथवाऽधमे।
भोगे रज्येत दुर्बुद्धिस्तद्वन्मोक्षेऽपि रागतः ॥ तन्त्रालोक आ० ४।१८-१९,

६. झरना 'सुधामें गरल' पृ० ८२, पं० १-८।

४ : (५) आंसू

आंसू हिन्दी साहित्यका एक विरह काव्य है।[१] विरह वेदनाकी आकुल अनुभूतियोंका महाभाव उसकी मूर्च्छनामें रूपायित हुआ है। वेदना 'ग्लानि' की ही एक विकसित रूप है। मल संसारके अंकुरका या संसार रूपी अंकुरका कारण है। यह चाहे विभुको आवृत करे या अणुको आवृत करे—पशुत्व ही प्रदान करता है अथवा रूपका ध्वंसही करता है। प्रत्यभिज्ञादर्शनकी यही विशेषता है कि, सकल अवस्थामें भी यदि शिव समावेश समापन्न हो जाय, तो वह मुक्त हो जाता है।[२] किन्तु आवरण इतना घना हो जाता है कि, इसका टूटना असम्भव प्राय हो जाता है।

दुःखानुभूतिके दो कारण हैं। १—अप्राप्त की अभिलाषा और २—प्राप्तकी रक्षाके प्रयत्न। ये दोनों भी दो स्तरोंपर प्रभावित करते हैं। १—भौतिक स्तरपर और २-आध्यात्मिक स्तरपर। भौतिक स्तरपर अभिलाषा १४ मलोंकी उत्पादिका बनकर व्यक्तिको बद्धाणु बनाती है। मलोंकी आवृत्तिमें ही द्वन्द्वात्मकताका उद्दामवेग व्यक्तिको उद्विग्न करता है। शृङ्गार रसकी संयोग और वियोगकी दोनों अवस्थायें सुख और दुःखकी संवेदनशीलताको प्रभावित करती हैं और वहींसे दर्शनका प्रारम्भ हो जाता है। दुःखसे उत्पन्न करुणाके आंसू प्रियतमकी पुकारसे कृतार्थ हो जाते हैं। आंसू की काव्य धाराका यही परिवेश है।

संसार भौतिक धारा और अभौतिकधारा दोनोंमें आता है। एकमें विष बनकर और दूसरीमें अमृत बनकर। विष बनकर वह शिवसे जीवको अलग करता है। एवं पशु बना देता है, वियुक्त कर देता है और रोनेको विवश कर देता है। आध्यात्मिक स्तरपर संसार अहमात्मक हो जाता है। अहं प्रत्यवमर्श और पूर्णाहन्ता ज्ञानके उदय हो जानेपर समरसता

---

१. प्रसाद साहित्य कोश हरदेव बाहरी पृ० ३७, १७।

२. समावेशदशापन्नो देहस्य सकलोऽप्ययम्।
मुक्त इत्युच्यते शास्त्रे पतिश्चापि भवत्यसौ॥
पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ० ६२। १५७।

आ जाती है। और आनन्दका प्रसार जीवको शिव बना देता है।[1] उत्कर्षकी परम्परामें जब साधक आगे बढ़ता है, तो वह प्रियतमके लिये रोताभी है, हंसता भी है और संसारको धन्य बना देता है।

हृदय करुणासे कलित है[2]। कलित शब्दमें 'क्त' प्रत्ययका प्रयोग भूतार्थका द्योतक है। अतीत और भूतके तत्त्वों, कालकी प्रेरणाओं और नियतिकी नियमन शीलताओंसे—उसमें करुणाका प्रादुर्भाव पहले ही हो चुका है। आणव, शाक्त और शाम्भव समावेशसे भावित जीव उन उन दशाओंमें आविष्ट होकर उन उन भावनाओंको अपने व्यवहारसे व्यक्त करता है। उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थानकी सीमामें आणव समावेशसे समाविष्ट होनेपर उसकी हृत्तंत्री विकल हो जाती है। वह स्वयं भी विकल हो जाता है। मानो उसकी समस्त चित्कलायें स्पन्दित हो उठीं हों।

स्पन्दन एक प्रकारका क्षोभ है। क्षोभ ज्ञेय होता है। क्षोभकी क्रियाको क्षोभणा कहते हैं। यह क्षोभ्यकी संप्रेषणीयता और प्रेरणाको व्यक्त करती है। विश्वको बाह्यरूपसे यह अवभासित करती है[3]। कविका हृदय क्षोभ-का आधार है। कारणकी पृष्ठभूमिपर कार्यका अंकुर उदित होता है। यहां कार्य है—विकल रागिनीका बजना। रागिनी बजनेमें रागकी अभिव्यक्ति या शब्दकी बहिष्कृति अपेक्षित है। मूल शब्दका आधार हृदय है। उस मूलावस्थामें शब्द अव्यक्त रहता है। उसमें वर्ण विभाग नहीं होता। केवल ध्वनिका स्पन्दन मात्र होता है। स्वयम् शिव प्राणियों-के हृदयमें निवास करते हुए उस ध्वनिमूलमें स्पन्दन प्रारम्भ करते हैं। वहीं से आणवमलका 'वर्ण' समावेश प्रारम्भ होता है। वर्ण स्थानके बिना उच्चरित नहीं हो सकते। त्रिकोण, केन्द्र, हृदय, कण्ठ और अन्य ताल्वादि स्थान, आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नके माध्यमसे वे वर्ण स्फुट होते हैं। देहमें प्राणमें और बाह्याकाशमें ध्वनि विभिन्न स्पन्द, आकार और रूपमें व्याप्त है। सृष्टिके बीजरूपमें विन्दुके साथ नाद भी ग्राह्य है[4]। स्वर-

---

१. जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्। स्वच्छन्द तन्त्र।

२. आंसू, पृ० ७, पं० १। ३. तन्त्रालोक, आ० ३, श्लोक ८२-८३।

४. एकः नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः ॥ तन्त्रालोक ६।१२६।

व्यंजन-संहृतिमें स्फुट होकर वही समस्तज्ञान विज्ञानका आधार बनता है। चाहे वह स्मृत हो या उच्चारित हो—उन उन अवस्थाओंमें तत्तद् विशेषताओंसे संवलित संवित् उत्पन्न करता है। लोकोत्तर ऋषिदृष्ट ऋचा या मन्त्र रूपमें या लौकिक वाणीके रूपमें इसका प्रसार विश्ववाङ्मयको विकसमान करता है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियोंके सामंजस्य-से अर्थकी भावना होती है। चाहे वह लौकिक व्यवहार जगत् हो या मनो-राज्य हो। मनोराज्यमें, स्मृतिकी अवस्थामें नादकी महत्ता विलक्षणरूपसे सामने आती है।

आंसूका सारा वस्तुवाद सीत्कार और सम्यक्‌की भूमिकाका उद्भावन करता है। नाद रूपी बिम्बका प्रतिबिम्ब ही आंसूकी मुख्य पृष्ठ भूमि है। रागिनी हृदयमें बज रही है। उसकी बाह्य अभिव्यक्ति या बहिष्कृति या बहिः निष्कृति नहीं है। स्पष्ट है कि, स्फुट वर्ण-पदा वाग् बैखरीकी भाषा-का आश्रयण वहां अनावश्यक है। यह मध्यमावाक् है। परा और पश्यन्ती के अमृतरससे सिक्त होकर मध्यमाका ऊहन—प्रत्यूहन आंसूमें हुआ है। आंसू काव्यको बैखरी वाणीमें ढाल देनेके बावजूद भी बैखरी यहां मौन है। इसका वाच्यार्थ समय सापेक्ष है।

इसका लक्ष्यार्थ स्वरोंके 'हा हा' कारको व्यक्त करता है। 'ह' समस्त विसर्गका स्थूल रूप है। 'आ' अनुत्तरका विस्फार और आनन्दका प्रति-निधि है 'ह' और 'आ' के सम्मिश्रणसे 'हा' की उत्पत्ति होती है। 'हा हा' कार सृष्टिका सीत्कार है। स्वरोंमें वही भरा हुआ है 'हा हा'[१] कार काम-तत्त्वका प्रवर्त्तक है। कामतत्त्व भौतिक और आध्यात्मिक भेदोंसे उभयात्मक है। हाहाकारके स्वरोंमें असीम वेदना गरज रही है[२]। असीम वेदना शब्दोंका साभिप्राय प्रयोग है। तत्पुरुष या कर्मधारय दोनों समासार्थोंमें यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। तत्पुरुष पक्षमें यह वेदना देहात्मवादीकी नहीं हो सकती। जब पशु अन्तर्मुख होता है, तो शिवकी कलाका उसमें जागरण हो जाता है। शक्त्यंश संस्फुरणसे ससीम असीम बन जाता है। असीमकी

१. नित्यानन्द रसास्वादाद्धाहेति गलकोदरे।
स्वयंभूः सुखदोच्चारः कामतत्त्वस्य वेदकः॥
तन्त्रालोक, आ० ५, पृ० १५१, पं ४-५।

२. आंसू, पृ० ७, पं० २-३।

आकस्मिक स्मृति प्रत्यभिज्ञा और अनुभव दोनों वेदना (ज्ञानवत्ता) को जन्म देते हैं। उसका गरजना भी असीम हो सकता है। असीम गरजती शब्दका भी विशेषण बन सकता है।

संगीत शास्त्रमें विकल रागिनियोंके बजनेकी दो बेलायें मानी जाती है। एकतो सन्धि प्रकाश बेला और दूसरी निशीथ बेला। आंसू सन्धिप्रकाश बेलाकी रागिनी है। दिवस व्यतीत हो गया है। रात्रिका आगमन हो गया है। दिवसमें किसी प्रकारकी कोई विकलता न थी। उसके चाकचिक्यमें सारा समय सुखमें बीता। किन्तु अब ? यह 'अब' शब्द विगतकी अनुभूतिका परामर्शक नहीं है। यह वर्तमानकी मधुवन्ती और भीमपलासी है। यह मूलोत्तानी है। इसी लिये यह विकल रागिनी है। रात्रिके भयावह वैरूप्यकी कल्पना अपने अस्तित्त्वके सन्दर्भमें पूरियाकल्याणको उजागर करती है। और हृदयको करुणा कलित कर चुकती है। 'इस' प्रत्यक्ष परामर्शक सर्वनामके द्वारा करुणासे आर्द्र हृदयकी ओर संकेत किया गया है। स्पष्ट है कि इस हृदयके अतिरिक्त अन्य हृदयोंमें स्मृतिके सीत्कारका समुत्थान नहीं है 'स्व' की ओर औन्मुख्य नहीं है। जहां प्रत्यभिज्ञा होगी—'स्व' के अहमंश और इदमंशका अहंता और इदन्ताका परामर्श होगा व स्वात्मानुरंजन होगा ही। अनुरंजकताका यह अवश्यंभावित्व रागिनीके रूपमें व्यक्त हो रहा है। यह कविका कथ्य है कि, वेदना स्वरोंमें है।

उन्हीं स्वरोंके आश्रयमें वेदनाका विस्फूर्जन हो रहा है। वह गरज रही है। प्रत्यभिज्ञा हो गयी। मैं क्या हूँ ? यह नहीं हूँ क्या ? अरे सचमुच मैं तो परमप्रकाश रूप हूँ। यह औन्मुख्य हो गया। पर आश्चर्य है, अभी पशुभावापन्न नरको कौतूहल अधिक है। अभी वह स्थितिको पूरी तरह समझ नहीं पाया है। सम्भल नहीं पाया है और एक प्रखर प्रकाश उसे छू गया है। वह थोड़ा स्तब्ध हुआ। शान्त हुआ—पर असीम वेदनाका उद्दाभ दध्मान कम नहीं हुआ है। वह पूछ बैठता है—अपने आपसे, वातावरणसे और स्वयम् अपने हृदयसे कि क्यों ? क्या बात हो गयी ? सागरकी अनन्त गरजती तरजती उर्मियोंकी परम्पराका[1] यह चंचल

---

१. तन्त्रालोक आ० ३। १२०, आंसू, पृ० ७, पं० ४।

चंक्रमण क्यों ? पर जवाब कौन दे ? किसी अदृश्यने जो विकल रागिनी बजा दी, उसके अभाव चिन्तन और अनुभूतिमें जो वेदना गरजने लगी है, उसके हाहाकार के स्वर, चुप होनेका नाम लेने वाले नहीं है। कविकी जिज्ञासा भी साधारण नहीं है। अपनी पूरी उथल पुथलका चिन्तन है। वही मानस सागर जिसके तटपर लहरोंका रास रचा जाता है आज लोल लहरकी घातोंसे उसका तट आहत हो रहा है। वह कुछ कह रहा है। कुछमें बीती और विस्मृत बातोंका अवसाद भरा हुआ है। यह परापर विश्व ग्राह्य है। मेरी ध्वनि 'मैं' की होगी। यह अपनी सीमामें विश्वके नानात्वको एकीकृत कर यदि ध्वनन करे, तो यह आवाज माया तक ही जायगी। अर्थात् शून्यमें समाहित हो जायगी। अभेदकी स्थितिमें तो प्रतिध्वनिका प्रश्न ही नहीं है। वहां तो शिवसे धरा पर्यन्त सब कुछ अभेदसे ही स्फुरित होगा। मैं की भेदवादिता पगली सी फेरी दे रही है। नाना ग्राह्योंसे टकराती है। भेद भूधरसे टकराकर चूर्ण न हो सकी, केवल प्रभावित हुई और बिलखाने लगी। अब वह फेरी दे रही है। इसी चक्रमें चल रही है[२]।

चेतनाकी तरङ्गिणीके दो कूल हैं। एक है जड़ता और दूसरी अजड़ता। आकाश गङ्गा जैसे दोनों छोरें छिटकाकर मृदुल हिलोरे ले रही है, उसी प्रकार कविकी या साधककी चेतनामें दोनों छोर छिटके हुए हैं। दोनोंके बीचमें धारा (स्वतंत्रा चिति) विश्व सिद्धिकी हेतु बन रही है। चितिमें तो मृदुल हिलोर स्वाभाविक है, स्वातन्त्र्य शक्ति प्रेरित है पर उसमें चेतनाके कारण व्यथाका भी प्रभाव परिलक्षित है।

प्रश्न समाप्त हैं। जिज्ञासा स्वर्लोककी लहरिकाओंमें खो गयी है और आंसूके पृष्ठ ९ का ऊपरी स्थल जहां एक पद रह सकता था-रिक्त है।[३] वह रिक्तता ही परावाक्की प्रतिनिधि है। मौन शून्यताका आलेखन है। वहां स्वर व्यंजन संहति नही है पर अर्थ व्यापार है। रहस्य लोककी छाया वहां पड़ रही है। कविकी भावस्तब्धता उसके प्रत्यभिज्ञानको अभिनव रूप प्रदानकर रही है। वह स्पष्ट अनुभव कर रहा है कि, इसी

---

१. आंसू, पृ० ८, पं० १-४। २. आंसू. पृ० ८, पं० ५-८।
३. आंसू, पृ० ९ प्रथमपदका रिक्त स्थान।

हृदयमें स्मृतियोंकी एक बस्ती बस गयी है। मानो इस नील निलयमें नक्षत्र लोक फैला हुआ हो। प्रश्नके माध्यमसे व्यक्त उसका कुतूहल अपने समाधान का आधार पा गया है।[1] कुछ निरावरण सा हो रहा है। रहस्य खुल सा गया है। हृदयमें आ बसने वाली बस्ती इसके द्वारा बसायी गयी है या स्वयम् स्वातन्त्र्य शक्तिसे सम्पन्न हुई है-इसकी क्या कथा ? वह बस नही रही है। वर्तमान उसे अन्तर्भूमिमें पहलेसे ही प्रतिष्ठित कर चुका है। वह बस गयी है। जहां हेयोपादेय की भावना जगी, संस्कार प्रबुद्ध हुए, वहाँ प्रत्यभिज्ञान हुआ।

ज्ञानकालमें अनन्त 'भाव वर्ग' उत्पन्न होते हैं। वे नक्षत्रोंकी तरह अपना मद्धिम प्रकाश विकीर्ण करते हैं और वह भूमिका तैयार कर जाते हैं, जहां क्षण भरमें सुकृत और दुष्कृत जलकर खाक हो जाते हैं।[2] नक्षत्र लोक रात्रिमें ही अपना प्रकाश विकीर्ण करते हैं।[3] परम प्रकाशक सूर्य (शिव) के महाप्रकाशमें उनकी प्रकाशवत्ता नीरक्षीरकी तरह मिल जाती है।[4] रात्रिमें नक्षत्र प्रकाशमें विभागावभास नहीं होता, नक्षत्रोंमें भेदावभास अवश्य रहता है। यह स्थिति अनन्त भाव गर्भीकृत विभासकी ओर संकेत करती है।[5]

चितिही कविकी ज्वालामयी जलन है। वहां केवल अंगारकत्त्व नहीं रह गया है। अंगारकी ज्वलनशीलतामें विकास हो चुका है। वह अब ज्वालामय बन गया है। अर्चि अब महार्चिमें परिणत हो गयी है[6]। जलन अब ज्वालामयी बन गयी है।[7] ज्वालामयी स्थिति उसकी उद्दाम ज्वलन-शीलताकी सूचक है। उसे बल मिल गया है। आग जब जोर पकड़ती है, तो समस्त इन्धन समुदायको क्षणमात्रमें दग्ध कर देती है।[8] यही बलका

---

१. कामायनी चिन्ता, १४।३ निर्वेद २१९।१३।
२. तन्त्रालोक, आ० ९।१३५। ३. आंसू पृ० ९, पं० ३।
४. झरना, 'स्वभाव' पृ० ३८, पं० ४-५। ५. तन्त्रालोक आ०९।१५१
६. तन्त्रालोक, आ० ५। ४८, आ० ३। २२७।
७. आंसू, पृ० ९, पं० २।
८. यथा वह्निरुद्बोधितो दाह्यं दहति, तथा विषयपाशान् भक्षयेद्। प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, पृ० ७८।

लाभ है। बलके लाभ करने पर वह विश्वको आत्मसात् करती है।[1] आत्मसात् करनेकी अवस्था जीवनके महामिलनके समान है। महामिलन-का निज बोध हुताशन[2] जब प्रबुद्ध होता है, तो अनन्दोंके स्फुलिङ्ग, खुशीकी आतिश बाजियां उड़ती हैं। व्यक्ति की यह व्युत्थान दशा है। इस अवस्थामें ही चिदानन्द लाभ हो जाता है। चिदैकात्म्यकी दृढ़ प्रति-पत्तिही जीवन्मुक्ति है। महामिलन एक कादाचित्की स्थिति नहीं है। चितिकी प्रकाशमानता तो शाश्वत है। अन्यथा देहादि जड़ पदार्थोंका प्रकाशन ही असम्भव हो जाय।

चितिके महाप्रकाशमें देहादि भेदवादका निमज्जन ही विश्वात्मक साक्षात्कार है। यह एक समावेश भूमि है। उसी महामिलनके शेष चिह्न ये नक्षत्र लोक हैं। कुछ उन्मज्जनमें विद्यमान रह गये और आजभी चमक रहे हैं तथा कुछ निमज्जनमें डूब गये हैं। कविका वह महामिलन कितना मङ्गलमय है। जिसके प्रमाण नक्षत्र रूपी स्फुलिङ्ग ही हैं।

यह ज्वाला शीतल है। इसकी दाहिका शक्तितो भेद रूपी इन्धनको भस्म करती है किन्तु इसके प्रकाश का पीयूष (सोमरूपी) आनन्दकी शीतलता प्रदान करता है। दृग्जलही बन्धन बनता है। अब यह सांसकी गतिशीलता व्यर्थ हो गयो है। संसारके सारे इन्द्रियार्थ (विषय) जो श्वास सूत्रमें लड़ीकी तरह पिरोये हुए थे, वे विगत हो गये हैं। श्वासें अनिलका काम कर रही हैं !

यह प्रणयसिन्धु अब लहराने लगा है। प्रियतमके रूपके जलमें आंखें मछली बन गयी थीं। उनसे निकलने का नाम तक नहीं लेती थीं।[3] रूपका जल स्वात्म संघट्ट वैचित्र्य है। ग्राह्य ग्राहकभाव परमार्थ रूपतामें परस्पर लोलीभाव उत्पन्न होता है। बोध रूपी महासिन्धुमें उल्लासिनी महाशक्तियां ऊर्मियोंकी तरह आचरण करती हैं।[4] सिन्धुमें बुलबुले फूट पड़ते हैं। नक्षत्र मालिकायें टूट पड़ती हैं।

---

१. बललाभे विश्वमात्मसात् करोति, प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र १५।

२. तन्त्रालोक आ० ३, श्लोक २९५-२९९।

३. आंसू, पृ० १०, पं० १

४. तन्त्रालोक, आ० ३, श्लोक १०२-१०३।

अब धरणी मुक्तकुन्तला हो गयी है।[1] नभही उसके मुक्त कुन्तलका प्रतीक है। नभ शून्य है। शून्य प्रमाता माया तत्त्व है।[2] माया तत्त्वही नील निलय है। वही धरणी रूपी नायिकाका उन्मुक्त कुन्तल है। कुन्तल उन्मुक्त होनेकी अवस्था स्त्री जातिके शृङ्गारकी नहीं, विरहकी द्योतिका है। या तो वह कुपित होकर कुन्तलोंका संग्रथन न कर सकी हो, या प्रियतमके मिलनके महाभिलाषके समक्ष शृंगार सज्जाका उसे ध्यान ही न रहा हो। यहां कविकी अन्तदृष्टिमें धरणी लुट चुकी है[3]। धरणीका लुटना क्या है ? दो अवस्थाओंमें यह लुटी मानी जा सकती है। १–अन्धतमस्का विदारक विद्याङ्कुर उत्पन्न हो जाय। और धराका भेद सिद्ध इदन्तापरामर्शकरूप समाप्त मान लिया जाय। २–उसका भौतिक शृंगार लुटा जा चुका हो। दोनों अवस्थाओंमें धरणीकी ओर कविकी दृष्टिका जाना जल और नभके अतिरिक्त धरणीकी आकर्षण शीलताका ही अङ्कन करता है।

पहली अवस्थामें विकल्पका क्षय, ऐकाग्र्य, और ईश्वरताकी ओर उन्मुखता होती है। दूसरी अवस्थामें मलका आवरण घना होता है[4]। 'स्व' के भौतिक रूपमें आसक्ति होती है और संसार आगे बढ़ जाता है। संसार या संसारीपनका बढ़ना भी धरणीके लिये लूटे जानेके ही सदृश है। इसकी स्थूलता एक तो नभ और सिन्धुकी अपेक्षा अपने ही अधिक है, दूसरे इसमें प्रणयका ज्वार भी यदि भाटेमें बदल जाय, तो इसकी सरसता समाप्त हो जाय। समरसताकी समाप्ति ही लूट है। वह लूटी हुई दिखलाई पड़ती है क्योंकि वहां समरसता ही समाप्त हो गयी है[5]।

मुक्तकुन्तलरूप और उसके लुट जानेका अनुभव सिद्ध मालिन्य दोनों वेदनाके आन्तरिकरूपको बाह्य जगत्में व्यक्त कर देते हैं। व्यथा बढ़ जाती है, वेदना विकल हो जाती है और कोई ऐसा है, जो इस विकल

---

१. आंसू, पृ० १०, पं० ९-१२। २. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, पृ० ११६।
३. आंसू (नभयुक्त कुन्तला धरणी, दिखलाई पड़ती लूटी)।
४. Pratyabhigva Hridayam—By giving up Vikalpa and by one pointedness of concentration, one gradually reaches the stage of I shwarship. P. 83.
५. तन्त्रालोक, आ० ९।४५-४७।

वेदनाको लेकर सुखको ललकारने लग जाता है[१]। सुख अहन्ताकी भूमिपर और दुःख इदन्ताकी भूमिपर निवास करते हैं। विकल वेदना इदन्तामय विश्व है और सुख अहन्तासे आच्छादित है। आज वेदनाको लेकर अहन्ताको ललकारनेको प्रक्रियामें विरुद्ध क्रियाशक्तिका जागरण हुआ है। ऐसी दशामें चैतन्य अकिंचन और अबोध हो जाता है। अबोधता बोधाभाव नहीं है। न बोध, अबोध इस नञ्समासमें विपरीत बोध और अपूर्णबोध दो अर्थ होते हैं। कविका जो अपूर्ण बोध चैतन्य है, यह बेसुध हो गया है। बेसुध होना चितिका संकोच है। चितिके संकोचमें चेतन बेसुध, अकिंचन और अशुद्ध होकर संकुचित विश्वमय हो जाता है[२]। यह स्थिति ऊहापोहकी है। ललकारने वाला प्रत्यक्ष नहीं है। अनुभव गम्य है। चैतन्यके संकोचसे उसका अनुमान लगाया जा सकता है। कुछ लक्षण तब प्रकट होते हैं—अनुमानको आधार तब मिलता है, जब अभिलाषाओंकी करवटका पता चलता है।

सुषुप्त अभिलाषाओंकी करवट हुई और इधर विश्व बन गया। इस स्थितिमें घाटा भी है और लाभ भी है। घाटा शक्ति संकोचका है। भेदाभासमें संसारीपनका लाभ है[३]। यह हानि और यह लाभ समभूमिपर होते हैं। ये दोनों एकार्थक हैं। ये सुप्त व्यथाको जागृत कर देते हैं। सुख स्वप्न बन जाता है। करुणा सान्द्र बन जाती है। आर्द्र पलकें केवल अपने दोनों छोरोंको लाचारीसे लगा पाती हैं। न वहां सुषुप्ति है, न तन्द्रा है और न वैचारिकताका निमीलन है। भीगी पलकोंके लगानेमें केवल जड़ता, मूर्च्छा, स्तब्धता, शून्यता, सर्वनाश या आत्म संकोच कुछ भी कहें सब है[४]। कहां तो हृदय कमल मण्डलके अन्तर्गर्भमें नर शक्तिस्वारस्यके सौधमन्दिरमें शिवकी प्रतिष्ठा, भेदावभासभूमिको भव्य बनानेका अध्यवसाय और कहां हृदय कमलका अलि अलकोंसे घिर जाना। परिणाम स्पष्ट है। मकरन्द भूमिसात् हो जायेगा। गिरकर वह कहां जायेगा? धरणी ही तो उसे अपनायेगी, जो रस निधिके रूपमें अरविन्दको प्राप्त था, वह गिर गया। सौभाग्य यही है कि, मकरन्द आंसूके हैं। अर्थात् अभी यह अनुभूति अवशिष्ट है कि, हम जिस दिशामें दौड़ रहे हैं, यह

---

१. आंसू, पृ० ११, पं० १-२। २. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् ४।
३. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् सूत्र १२। ४. आंसू पृ० ११, पं० ९-१२।

भयावह दिशा है।[१] यहां मकड़ीका जाल है और मृगतृष्णा है। इस भयादोहनके वातावरणकी प्रभाववादिताने मकरन्दको आंसू बना दिया है। प्राणवायु निःश्वासकी आगमें उस आंसूका शोषणकर उसकी अनुभूतियोंको आत्मसात् करता है। प्राणवत्तामें भी आंसूकी संप्रेषणीयता आ जाती है।

मन विषयानुसारी बनकर अधोमुख हो रहा था। उसे ऊपर संसरणके लिये प्रेरित करना था। वह भूल गया था—अपने सत्यस्वभावको। उसे सत्यमार्गपर लानेकी क्रीड़ा कवि कर रहा था।[२] विना प्रत्यभिज्ञाके यह क्रीड़ा सम्भव न थी। उपचारकी भाषामें उसे मोहमयी और मादक कह लीजिये किन्तु अभिधा शक्तिका समावेश इस मोहमयतामें नहीं है।

यहां भक्तिकी मुग्धता है, जहां कवि समानान्तर समभूमिपर खेल खेलता है। जीवको शिव बनानेकी क्रीड़ामें एक आयोजन था, अनुशासनका अनुमापन था। पर अब वह खेल बिगड़ गया है और उसकी स्मृतिमात्र अवशिष्ट है।वह मधुरप्रेम इस समय अन्तःकरणमें हिलोर पैदा करता है। वह सूक्ष्म रूपमें ही आन्तर शरीरमें उद्बुद्ध है। उसकी स्मृतिसे पूर्वानुभवके कारण पीड़ा उत्पीड़ित करती है।[३] वह प्रेम विषमय नहीं था, मधुमय था। विषमय प्रेम वासना होती है और मधुमय प्रेम मधुमती भूमिकामें प्रतिष्ठित करता है। यह पीड़ा भी श्लाघ्य है, यदि हो जाय!

उमंगोंको सुखभी आहत करता है और दुःख भी। दुःखका आघात इतना सघन होता है कि, गर्म लोहा भी चिपककर ठोस हो जाता है। चैतन्यपर चोट उसे जड़ बना देती है। यह चोट कंचुक और मल करते हैं। सुनारकी चोट सुखकी चोट है। उससे शृंगारका शृंगार होता है। सुखने कविकी उमंगोंको आहत कर दिया है। पारससे लोहेका आकस्मिक संयोग हो गया है।

ऐसे सुखसे आहत उमंगें अब शान्त हैं। सासोंका बेगार ढोया जा रहा है। हृदय समाधि बन गया है। समाधि परसंविद्कलाके संस्फुरणको कहते हैं। ऐसी स्थितिमें करुणाके लिये स्थान नहीं रह जाता। वह कोनेमें बैठने बिलखनेके लिये बाध्य हो जाती है। और आंसूके आगे बढ़नेका मार्ग

---

१. तन्त्रालोक, आ०३, श्लोक ११२। २. आंसू पृ० १२, पं० १-६।
३. आंसू, पृ० १३, पं० ७-८।

अवरुद्ध हो जाता है। पृष्ट १३का ऊपरी भाग जहां एक पद रह पाता, पुनः रिक्त छोड़ दिया जाता है। यह रिक्तता कितनी रमणीय है, कितनी चित्तविश्रान्तिप्रदा है—कैसे कहा जाय ? वहां बैखरी मौन हो जाती है और सूक्ष्मताका साम्राज्य शून्यमें समाहित हो जाता है।

शून्यकी नीरवताको चातककी चकित पुकारें भग्न कर देती हैं। कहीं श्यामाकी रसीली ध्वनि समरसताका प्रसार करती हैं—पर इस भग्न-पर (पंख) या (परतत्त्व) साधककी कथा कुछ दूसरी है। वह करुणासे आर्द्र है। उसकी टुकड़ी आंसूसे गीली है। पूरी कथा करुणासे आर्द्र और वर्त्तमानका अंश अश्रुसे सिक्त है[1] यह क्यों ? रिक्तताके पश्चात् अनुभूतिकी यह आर्द्रता किस ओर संकेत करती है ? न यहां सृष्टिकी समीहा है, न स्थितिकी समीहा है, न संहारकी व्याहृति है और न अनुग्रहका कोई उपादान है। इसीलिये यह तिरोधानकी स्थितिमें स्वरूपका नियतिके द्वारा आच्छादन है।

आंसूके इस प्रसङ्गकी गीली कथाकी टुकड़ी स्वात्माच्छादनरूप तिरोभाव की कहानी है। एक अवसर आया था कि, शक्तिपात हुआ—प्रियतमकी झांकी मिली पर दुर्भाग्यका विजृम्भण कि, कथा आनन्द रसके अमृतसे आर्द्र न होकर करुणासे आर्द्र हो गयी। जो अनुग्रहके पात्र थे, जिन्होंने उस अप्रत्याशित शक्तिपातको सम्भाल लिया था, वे अपने सुखसे बेसुध हैं। उनकी व्यथायें सुप्त हो गयी हैं। उनको अनुग्रहके पर-रसास्वादका आनन्द मिल रहा है। वे किसीकी करुणकथाको क्यों सुनने लगें ?

पीड़ा घनीभूत हो जाती है। मस्तकमें वह स्मृति बनकर छा जाती है। स्मृति पूर्वानुभूत अर्थका वर्त्तमान अन्तर्बोध है[२]। प्रश्न यह है कि, यहां पूर्वानुभूत अर्थ क्या है ? यदि इदन्ताका परामर्श अहम्का आश्रय लेता है, तो स्मृतिका रूप होगा—अहम् इदम् (मैं यह हूँ)। यदि इदन्ता अहम्का आश्रय न लेकर केवल 'इदम्' के ही पूर्वानुभूत अर्थका आश्रय ग्रहण करती है, तो केवल इदन्ताकी सीमाके अन्तर्गत ही रह जायगी।[3] इदन्ता

---

१. आंसू, पृ० १२, पं० ९-११, पृ० १३, पं०१४।
२. आंसू, पृ० १२, पं० ८-१०।
३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी–अ०१।४। १

परामर्शिका स्मृतिकी पीड़ा भौतिक क्षेत्रमें घन बनकर दुःख मोह आदिका विस्तार करेगी और वहां दुर्दिन–भौतिक सुखाभाव होगा और उसमें मूखतापूर्ण पातित्यका जड़ अश्रुपात होगा। इसके विपरीत यदि वह स्मृति पूर्वानुभूत अहम्का परामर्श करेगी और इदन्ता अहम्का आश्रय लेगी, तो पीड़ा प्रियतम परम शिवके लिये होगी[1]। यही दुर्दिन है। प्रियतमका पूर्वानुभव तो है पर प्रत्यक्षीकरण नहीं! अपनी ऐंद्रियिक भूमिपर भी वह प्रियतमको पूर्णरूपमें पा लेना चाहता है पर दुर्भाग्य! प्रिय-विरहकी पीड़ा भी आज पसीज उठी है।[2] आंसू बनकर साहित्य क्षेत्रमें वह आज बरसने आ गयी है।

यह पीड़ा शक्तिपातको अनुग्रहके अनुसंधानके लिये प्रेरित करती है। वही अनुग्रह किसी अदृश्य अनुग्रहकारीको बिजलीकी माला पहनाकर मुसकानभरी मुद्रामें आंगनमें ला खड़ा करता है और मनमें रसकी बूँदे बरस जाती हैं। उस शाश्वत सौन्दर्यके निदर्शनके दर्शनकी अवस्थामें कवि मुग्ध आनन्दास्वाद मग्न था। उसके ओझल होते ही यह मिथ्या संसार सामने आ खड़ा हुआ। वस्तुतः इस मिथ्या जगका सत्य वही चिर सुन्दर परमशिव है। कल्याणसे कलित इस मगके जीवन संगीको कौन भूला सकता है? यही अखण्ड आत्मानुसन्धान है।[3] फिर तो साधन भी चलता है, निर्जन रातोंमें तारोंके दीप जलाये जाते हैं, स्वर्गङ्गाकी धारा में उज्ज्वल उपहार चढ़ाये जाते हैं।[4] और उसका फल भी मिलता है।

यह चर्याक्रम है। दर्शन, कथन, शास्त्र संबोधन, चर्या आचरण और चरुदान आदि अभ्यासके प्रकार हैं। इसप्रकार चर्याक्रमके अन्तर्गत साधक ने सबकुछ किया और उसे सफलता भी मिली।[5] प्रियतम स्वयम् मिलनेके लिये आ गये। कितनी बड़ी बात घटित हो गयी। किन्तु प्रियतमके आने पर उनको आत्मसात् करनेकी अपेक्षा अकिंचनताके आवरणने ही साधक

१ आंसू, पृ०१४ पं०५-७।

२. आंसू, पृ०१४, पं०८। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी, पृ० ११७-११८, का१

३. आंसू, पृ० १६, पं० ५-८, ९-१२, तन्त्रसार, पृ० १२, पं० १-२।

४. आंसू, पृ० १७, पं० १-४।

५. तन्त्रसार, पृ० १२३। पं० ४-६।

को आवृत कर लिया। गर्व हो आया कि, मेरे यहां प्रियतम आ गये। सबेरेका सपना तो सत्य होता ही है। सपना सत्य भी हुआ और स्वप्न भी बन गया।[१]

जीव और शिवका पूर्व परिचय तो है ही। शिव ही तो क्रीडा करते करते हुए पशुत्वका आनन्द ले रहे हैं। प्रथम दर्शनमें ही मधु राका की मुस्कानका प्रकाश कविको प्राप्त हो गया है।[२] देखनेमें प्रथमतः प्रकाश मिला फिर आनन्दका विस्तार हो गया। राका (पूर्णिमा) मुस्करा पड़ी। अर्थात् सोमांशका जागरण हुआ। सोम तत्त्व क्षोभानन्द सम्भूत दीर्घविश्रान्तिको कहते हैं।[३] यह सुखप्रद आह्लादका उत्कृष्ट अंश है। यह अमृतकी वर्षा करता है। राकाकी मुस्कानमें वही अमृत तत्त्व भरा हुआ था। अमृतका आस्वाद जिससे मिले, उसे पूर्व परिचित तो कहा ही जायगा। बिना परिचयके कोई अमृत तत्त्व प्रदान करेगा? प्रथम दर्शन क्षणमें ही परिचित सा लगना स्मृतिके क्षेत्रको उसी अमृतसे सींचने के सदृश है।[४]

प्रियतम आये भी तो कहां? पतझड़ प्रभावित झाड़ झंखाड़से भरे सूखे उद्यानमें। पर क्या प्रियतमके आनेपर यह शुष्कता रह जायेगी? कभी नहीं। तुरत ही इस शरीरकी क्यारीमें प्रत्यभिज्ञाके परिवेशमें अंकुरण के बाद किसलय आये और कुसुम सम्पदा भी बिछ गयी।[५] बिछी ही नहीं वरन् उसने बिछा दिया। इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तिका सामन्जस्य-पूर्ण स्फुरण हुआ।

वह मुख शशि सदृश सुन्दर था। शशि चूंकि सुव्यक्त प्रकाश्यवस्तु सारांश वर्षीय होता है। इसलिये वह मुख भी समस्त भाववर्गको अमृत सिंचित करने वाला था। आह्लादका उसमें प्राधान्य था। प्रकाशमयता के कारण, ज्ञान शक्तिकी आह्लादकताके कारण क्रिया-शक्तिका वहां

---

१. आंसू, पृ० १७, पं० ५-८।
२. आंसू, पृ० १७, पं० ९-१०।
३. तन्त्रालोक, आ०३, ११९, १२०-१२२, १२४, १३०; १३२।
४. सोमो वर्षति चामृतम्, तन्त्रालोक, आ०३, पृ० १२५, पं०६, पं०७-८।
५. आंसू, पृ० १९, पं० १-४।

स्वारस्य था।[1] सोम सूर्यके साथ ही अंचलमें दीपका प्रकाश भी था। चतुर्थ प्रकाश विद्युतका होता है। वह भी घनमें सुन्दर बिजलीके रूपमें वहां विद्यमान था।[2] सारा का सारा वातावरण चित्रभानुकी चारुताकी मरीचियों से चमत्कृत था।

प्रकाशकी अविभागावस्थामें प्रातिस्विक अवभास तो नहीं होता किन्तु मिश्रित वैचित्र्यकी अनुभूति तो होती ही है। शास्त्र उस अवस्थाको शिव-विन्दु कहता है[3]। कवि उत्प्रेक्षाके आश्रयके लिये बाध्य हो जाता घनमें बिजली, बिजलीमें चपल चमक, आंखोंमें पुतली और पुतलीमें श्याम झलक सी, प्रतिमामें सजीवतासी—सुछविका उसे साक्षात्कार होता है। वह एक लकीर थी पर लाखोंसे अलग थी[4]। कालक्रमको अतिक्रान्त-कर उदित होने वाली वह छवि उच्छलित संवित्ति थी[5]।

परमशिवके परम प्रकाशमें उसके यौवनमें समस्त रूप सीमाका स्वारस्य मिला हुआ है। रूपसीमा तो बहुत निकृष्ट श्रेणीमें चाक्षुषप्रत्यक्षके परिवेश-में पलती हैं। इसलिये सारा आकार मात्र ही प्रकाश्य होनेसे मेय बन जाता है और मेयांश ही सोमांश कहलाता है। सारा सोमांश आह्लादक होनेके कारण चिरयौवनके उल्लासका ही प्रतीक है। परमप्रकाशकी यह सारीकी सारी समरसता मनके निःसीम गगनमें समा जाय, तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। आनन्द इसीबातका है कि, गगन शून्य होता है। गगन-शून्य-मनमें यदि सोमांशकी रूप सत्ता भरकर उसकी शून्यताको, उसके अभावको समरसतासे या सरसताके भावसे भरदे तो काया कृतार्थ हो जाय। और यही हुआ।

लावण्यका शैल उसके परमप्रकाशके समक्ष राई सा था। राई नहीं था—राई सा था। सादृश्यमें सर्वांश सत्यता नहीं होती। शैलकी लघुता उस विराट् विभ्राजमान विभापर बलि हो गयी, न्योछावर हो गयी।

---

१. तन्त्रालोक, आ० ३, श्लोक १२०-१२१ का भाष्य।

२. आंसू पृ० १९, पं०५-१।

३. तन्त्रालोक, आ०३। ३४। ४. आंसू, पृ० १९, पं० ९-१२, पृ०२०।

५. तन्त्रालोक आ०३।१२८-१२८।

उसकी कमनीयताकी केवल एक कलाकी सुषमामें जो प्यार भरा हुआ था, उसे इन आंसूके प्रसाद छन्दोंमें एक बार ही नहीं कहा जा सका। द्विरुक्ति-के सौन्दर्यसे इसे सजा दिया गया।

कला स्वयं आनन्द रूपसे सक्रिय थी। इसी सक्रियताकी अनुभूतिमें स्मृति हो जाती है और पुनः आंसूका पृष्ठ २१का ऊपरी स्थान रिक्त हो जाता है। अनुभूतिमें छन्दोंकी समाधिका यह सुन्दर उदाहरण है। समाधि एक प्रकारका समावेश है। समावेशमें चित्कलाका उन्मज्जन होता है और उस व्युत्थान दशाका अभिव्यंजन इस मौनसे परिपूर्ण हो जाता है।

मायाकी जंजीरें काली होती हैं। वह इनसे विधुको बाँध लेती हैं। मणिवाले फणियोंका मुख सुकर्मरूप हीरोंसे भरा हुआ है। जड़ता चैतन्यके गले लगकर ही अपनी मायाका प्रसार कर पाती है[1]। बन्धन मिलता है और करुणा ऐंठीसी रह जाती है। असीम अम्बरका अन्तर चपलाकी चमकसे क्षणभरके लिए उद्भासित हो उठता है। उसी प्रकार अपना अन्तर भी अचिरद्युति भासिनी विद्युत्शक्तिके द्वारा अवभासित हो जाता है[2]।

संविन्मात्रमें सभी भावोंका अवस्थान होता है। यही इच्छाशक्तिका परा-मृतत्त्व है[3]। इच्छा शक्तिही कविके हृदय पटलपर अभिलाषा बनकर उतरती है और उसमें विकसमान प्रियतमकी विभ्राजित मूर्त्ति दीख पड़ती है। शक्ति मणिदीपमें निवास करती है। मणिद्वीपसे निकलने वाली आभा पावक पुंज बनकर अपनी किरणोंकी लटें बिखेर रही हैं। चतुर्दिक् प्रकाश ही प्रकाश हो गया है। इतनी ऊंचाई तक पहुँचनेपर भी अधःपात सम्भव है। दीनता कभी दर्प बन जाती है और हृदयकी तीव्र मदिरा छक लेनेके बाद भी कोई उसे लौटा देता है। यह प्रत्यावर्त्तन आशाके विपरीत है, अप्रत्याशित है फिर आंसूके नदमें हृदयके मरुस्थलके डूब जानेके अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं रह जाता।

---

१. आंसू, पृ० २१, पं० १-४, पृ० २५ पं० ३-४।
२. तन्त्रालोक, आ० ३।७-९।
३. तन्त्रालोक, आ०३।८१।

नाविक जहां तक खींच लाया है, वहांसे फिर उस पार तमके मलीन अंचल में (शुद्ध अध्वासे अशुद्ध अध्वामें) जाना सम्भव नहीं। वास्तवमें जीवन क्या है—छद्‌ममय छलकी एक वेदना है।

जीवनकी यही तरणी तिमिरके जलधिमें तिर रही थी। मुखका चन्द्र वहां दिखलाई पड़ गया। धरणी (आश्रय—परमशिवत्त्व) समीप आने लगी। पानेको अभिलाषा इतनी तीव्र हो उठती है कि, जीव धूलकणोंमें भी चमक उठा है। वह अब सौरभमें उड़ेगा और ग्रहपथसे भी टकरायेगा[१]। अब उसका आत्मारोहण व्यापार बन्द नहीं होगा[२]। यही कारण है कि, चकोरोंको अंगारें चुगनेका अवसर मिल गया है। शीतल किरणोंके सहारे चन्द्रमा हृदयमें आ बैठा है।[३]

दीप या भास्करकी किरणोंसे दिग्विभागादिका बोध हो जाता है। उसी तरह शक्तिके द्वारा परमशिवका बोध हो जाता है। वैसेही शीतल किरणोंके सहारे चन्द्रका बोध हो जाता है और उसके हृदयदेशमें विराजमान होनेकी अनुभूति हो उठती है। यह सुखानुभूति है। इसमें दुःखभी असाधारण रूपसे विद्यमान है। सुखमें और दुःखमें जगत उठ रहा है, एवं गिर रहा है।[४] सुख परम शिव है। शिव आनन्दरूप है। प्रकाश वपुष् है। संसार उसीमें तिरोहित होता है। यह सब नियतिकी क्रीड़ा है। जीवको वह कन्दुककी तरह नचा रही है। इस व्यथासे व्याकुल विश्वके आंगनमें अपने अतृप्तमनको भरनेको वह नित्य प्रयत्न कर रही है। यदि जीवको नियतिके इस खेलकी बात ज्ञात हो जाय और वह ग्लानि ग्लपित होनेकी अपेक्षा अपना समर्पण प्रियतमके चरणोंमें कर दे तथा उस प्रियतमकी कृपा प्राप्तकर अपनी उपाधिवादिताको समाप्त करनेके लिये आहको शिथिल बना ले, तो उस प्रियतमको अनिवार्यतः आनाही पड़ेगा—इसमें संदेह नहीं। पर इसमें शर्त यही है कि, वह आह करे। उसे समझे।

---

१. आंसू, पृ० ३८।३९-४३।
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, पृ० १३२, आ० १।४।४, पं० ८।
३. आंसू, पृ० ४३, पं० ९-१०
४. तन्त्रालोक, आ० ३, पृ० १७१, पं० ४, १०-११, आ० ३।१९।

यदि कहीं जड़ताका परामर्श हुआ और अहम् की भूमिसे इदम्को ही सर्वस्व मानकर साधक बैठा रह गया तब क्या होगा ? कवि वहां भी आशावादी बन रहा है। विस्मृतिकी समाधिपर भी वह कल्याण जलदकी वर्षाको कामना करता है। यदि सुख थका हुआ सो जाये, तो विपदकी चिन्ता ही छूट जाय।[1] किन्तु यह चिन्ता छूटती नहीं।

कविकी वेदना-ज्वाला जग रही है। वह मानवताके शिरकी रोली है। वह अनल बाला है, जीवन सागरमें सोई हुई बड़वानलकी ज्वाला है और संसारसे समस्त कलुष जला देनेकी उसमें क्षमता है।[1] सतत जलने वाली कविकी ज्वाला सभी अवस्थाओंमें ज्वलनशील है। गुहा गहनान्तावस्थामें सुषुप्तिकाही प्राधान्य होता[2] है, तो भी वह ज्वालामुखी की तरह जलती है।

वास्तवमें सृष्टि, स्थिति और संहारकी उपाधिको नष्ट करनेके लिये ज्वालाको दो प्रकारसे जलना पड़ता है १—मधुपाकक्रमसे और २—हठपाकक्रमसे।[3] प्रथम विधामें गुरूपदेश, आत्मचिन्तन, संयम, नियम, चर्याका आचरण—यह सोपान परम्परा होती है और धीरे-धीरे कलुष जलता है। हठपाकक्रमकी दूसरी विधामें बलात् चिदग्निका साक्षात्कार करनेका प्रयास होता है। ऐसी अवस्थामें तत्काल ही भेदरूपी इन्धन भस्मसात् हो जाता है। अपने स्वरूपका बोध होता है। बोध तो महान् हुताशन है। वहांतो सूर्य, सोम, अग्नि और विद्युत् सभी अविभागावभास दशामें प्रज्वलित होते हैं और शिव बिन्दुकी शाश्वत प्रकाश क्रियाको विकीर्ण करते हैं। अपनी स्वातन्त्र्य शक्तिसे ही इनका समिन्धान होता है।[4] यही कारण है कि, सारा कलुष झटिति भस्मसात् हो जाता है।

---

१. आंसू, पृ० ४६, पं० १—४, पृ० ५१-५२, ५५।

२. आंसू, पृ० ६०, पं० १-४, पृ० ६१, पं १-४। पं० ५-१२।

३. तन्त्रालोक, आ० ९।१३८, आंसू, पृ० ६०, पं० ११।

४. आंसू, पृ० ६०, पं० ९-१२।

५, तन्त्रालोक, आ० ३। २६०-२६२।

जलते हुए हृदयकी कल्याणी शीतल ज्वाला इस निर्मम जगतीको भी मङ्गलमय उजाला प्रदान करती है। परिणामतः यह वेदनावाला संसार कुछ करुण उजाला पाकर चेतन बन जाता है।[१] हठपाकसे जब भाव विलापित होते हैं, तब संवित्ति देवतायें विश्वको परबोधैकरूपमें, अमृत-रूपमें ही परामृष्ट करती हैं।[२]

ज्वालासे जलकर स्वर्ण तापदिव्य कांचन बनता है। कविका प्रेम परिनिष्ठित हो गया है। 'मैं' के मधुवनमें मधुर भावनाओंका कलरवतो नित्य अपेक्षित है। वह प्रेम मंगलमय है, परामृत है। वह स्वात्ममें विश्रान्तिके कारण परामृतात्मक है।[३] सच्चे जीवनका जागरण तभी हो सकता है, जब सारा कलुष (तम)[४] जडत्व और पशुत्व शिवत्त्वमें परि-वर्तित हो जाय।

कवि महेशकी अनुकम्पाका पात्र है। वह अपने पूजाके प्रतीकको अविचल बना लेनेके लिये कृतसंकल्प है। विमर्श दाढर्यको ही तो पूजा कहते हैं।[५] स्वतन्त्र विमल अनन्त चिदात्मा परमशिवके साथ भाववर्गकी संहतिका नामही पूजा है।[६] निर्विकल्पक परमव्योम रूप महाशिवमें आदर णपूर्वक लयको ही पूजा कहते है।[७] इस भाव समाहितिसे जगतीका अपावन कलुष नष्ट हो जायेगा और इदन्तका यह रूप अहन्तामें प्रतिभासित

---

१. आंसू, पृ० ६१, पं० ८-१२, पृ० ६२–६३।
२. तन्त्रालोक, आ० ३, श्लोक २६३।
३. तन्त्रालोक, आ० ३।९२, २६४।
४. आंसू, पृ० ६५, पं० ८।
५. तन्त्रसार आ०१३, पृ० १४०, पं० २३-२४, पृ० १८१, पं० १-६, पृ० १८०, पं० ११-१२
६. तन्त्रालोक, आ०४, श्लोक १२१-२२।
७. पूजानाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥
तन्त्रालोक, आ०४, सृ० १२४, पं० १

होनेलग जायेगा। यह साराका सारा पाप पुण्य-बनकर जीवको शिवत्त्व-के सन्दर्भमें ला खड़ा कर देगा। जन्म-जन्मके जीवनके अकृत (दुष्कृत) और कृत (सुकृत) सभी क्षण भरमें नष्ट हो जाते हैं और निर्मलता निखर उठती है।

भावनाकी इस भूमिपर एक बार पुनः कविके हृदयमें सिन्धुकी लहरों-के समान गलदश्रु भावुकता सजग हो जातो है।[1] कवि एक साथ सब कुछ कह दे रहा है। सबका निचोड़ लेकर यदि सूखे से सूखे जीवनमें प्रभात के हिमकनसे आंसू बरस जाय[2], तो विश्व पावन हो जाय। सर्वमय-विश्वमय तो शिव ही है। शिवादिधरान्त ३६ तत्त्वोंमें विराजमान सर्वके निचोड़ (सार) अंशकी वृष्टिकी कामनाके कारण आंसू अमृत वर्षी आह्लाद-जनक सोमांश-प्रधान काव्यकी श्रेणीमें ही रखने योग्य एक प्रत्यभिज्ञावादी स्वयं सिद्ध काव्य-रत्न है।[3]

---

१. तन्त्रालोक, आ०३ श्लोक १०२। २. आंसू, पृ० ७९, पं०९-११
३. सोमोवर्षति चामृतम्। तन्त्रालोक, आ० ३ पृ १२५, पं० ६।

४ : ६–लहर

ज्ञानको बोधका सिन्धु कहते हैं। बोधके इस सिन्धुमें शक्तियोंका उल्लास होता है। लहरें उठती हैं लहरोंका संघात होता है और ग्राह्य ग्राहकताके परामर्शमें परस्पर लोलीभावका जागरण होता है। क्रियाक्ति-का स्पन्द वपुष् वहां क्रियाशील होता है[1]।

लहरका कवि बोधसिन्धुकी उन्हीं ऊर्मियोंकी प्रथमावस्थाको अनु-शासित कर रहा है। यह काव्य प्रथम क्रियाका ही स्पन्दन है। इच्छासे सृष्टि बन गयी[2]। ज्ञानशक्तिके जागरणसे ज्ञेय वस्तुका 'स्व' रूप स्फुट हुआ। अब क्रियाशक्तिका स्वारस्य भी मिल रहा है।

प्रथम क्रिया लघु लघु लोल लहर ही तो होती है। अभी वह उठी नहीं है। उठनेकी तैयारीमें हो या उठनेकी बेला आ गयी हो। इसीलिये उद्बुद्ध शिवस्वरूपतापन्न महाकवि उन लहरियोंको उठा देनेका उत्तर-दायित्त्व अपने ऊपर लेकर बोल रहा है—'उठ उठ री लघु लघु लोल लहर !'

तट सूख गया है। शुष्कताके सन्दर्भमें लहरको छिटकना है और छहरना है[3]। 'शोष' मलका संवाहक है। शोषके कारण ही तट शुष्क है। सरिता और समुद्र अथवा अचल सरोवर किसीका भी तट हो—शुष्क नहीं रह सकता। उसकी आर्द्रता आधार-सापेक्ष होती है। जलाशयका शाश्वत सम्पर्क आर्द्रताको सुतरां सुरक्षित रखेगा। पर आश्चर्य है—यह तट सूखा है। लहर उठेगी, छिटक छहरेगी और तटको सिक्त कर देगी। निवेदन सिक्त करनेके लिये नहीं है। केवल छिटकने छहरनेके लिये ही है। उसकी छहरनका परिणाम उभयगामी होगा। लहरका उल्लास सूखे तटके आनन्दवादमें, तटको सिक्त करनेके समरसतावादमें व्यक्त हो जायगा।

लहर उठी, गयी, आयी और फिर चली गयी। उसके इस सातत्यमें विलम्ब ठीक नहीं। विलम्बसे तो सिक्ततामें, सरसतामें कमी आ जायेगी। इसलिये कवि उसके प्रत्यावर्त्तनकी प्रक्रियामें सशङ्क हो उठता है। ठहर

---

१. तन्त्रालोक, आ०३।१०२-१०४। २. तन्त्रालोक, आ०९।१४९।
३. लहर, 'उठ उठरी लघु लघु लोल लहर' पृ० ९, पं०१-६।

ठहरकर वह यह खेल खेलनेकी बात करता है। कविकी कल्पनाको कमनीय बनाती हुई लहर आ ही जाती है। उठते गिरते अपना पथ पूरा करती है। वह थिरक पड़ती है। सिकतापर विचित्र रेखाओंको उभारकर अपनी तरल सिहरन वहां भर जाती है। यदि कहीं वह पंकजोंके वनमें पहुँच जाय, वहांके आकर्षणसे आकृष्ट हो जाय, तो फिर, इस जीवनका सूनापन कैसे भरेगा ?

वास्तवमें लहर है क्या ? मात्र प्यार और पुलकसे भरी ढुकलन है। उसका आना अत्यन्त आवश्यक है। पुलिनके विरस अधर उसे चूमते हैं। सिकतामयी भूमिकामें मधुमयताकी प्रतिष्ठा करनी है, तो ऐ लहर आ[१]। लहर गतिशीलताकी प्रत्यक्ष कला है। कला वह शक्ति है, जिसके द्वारा स्वात्मगुप्त निरुद्ध शक्तिमें कर्तृत्वका उद्‌वलन होता है। इसी कला शक्तिको जगाकर कवि अपने कर्त्तृत्वको कमनीय बनाना चाहता है।

लहरकी सारी कविताओंका प्रवर्त्तन इसी कलातत्त्वसे कमनीय है। इसकी उपादान माया है[२]। मायातत्त्व संसारकी बीज है। नित्य, विभु और अव्यय है। समस्त आत्मवर्गको मायामें स्थितकर स्वयं शिवही इसमें क्षोभ पैदा करते हैं, जिससे लहरें बनने और बिगड़ने लगती हैं। खेल ही खेलमें दण्डसे आहत बेरके फल चारोंओर छिटककर गिरते हैं। उसीतरह मायासे जगत् भी उत्पन्न होता है[३]।

शिव प्रकाश मय है। माया उसकी अलकें हैं। मायाके अन्धकारमें शिव छिप नहीं सकता। उसका छिपना एक आंख मिचौनीका खेल है। छिपनेमें छिपनेवालीकी एक ही इच्छा होती है कि, खेलके दूसरे पक्षका खिलाड़ी मुझे देख न ले। इस इच्छाको फलवती बनानेके लिये कवि पहले से ही तत्पर है। उसका सिर झुका हुआ है। अब छिपने वाला आयेगा। खिलाड़ीके नेत्र अपनी अंगुलियोंसे दबाकर पूछेगा—'बता मैं कौन हूँ ?' उसकी स्मृतिका प्रकाश उसमें सिहरन भी पैदा कर देता है। किन्तु ऐसा खेल कब तक चलेगा ? अब तो खेल बीत चला है और खेल खतम होने-

---

१. लहर. पृ० ९, पं० ५-१६। २. तन्त्रालोक, आ०९ १५८।

३. मायातत्त्वं जगद्‌बीजं, नित्यं विभुतया व्ययम्।
तत्स्थं कृत्वात्मवर्गं तु, युगपत् क्षोभयेत् प्रभुः॥ स्वच्छन्द तन्त्र ११।६०,

को है, तो अब अंगुलियोंसे नेत्रनिपीड़न मात्र ही अपेक्षित नहीं, अपनी बाहु लताओंसे जकड़कर इस क्रियाकलाको धन्य बनाना भी अपेक्षित है। मानसके जलधिको चिरचुम्बित रखनेके लिये क्षितिजको उदार बनना ही पड़ेगा[1]।

इस गम्भीर अनन्त नीलिमामें असंख्य जीवन अपना व्यंग्यपूर्ण मलिन इतिहास कह रहे हैं। वह इतिहास क्या है—उपहासमात्र है। ऐसी अवस्थामें औरोंकी सुनते हुए स्वयं मौन रहना उत्तम है। इस तरह काल का आकलन होगा। अपनी रीती गागर भरनेका प्रयत्न होगा। थकी सोई मौन व्यथाको जगानेकी अपेक्षा अनुरागिनी उषाके सुहागकी मधुमयता का स्मरण करना ही उत्तम है। कन्थाको सीवन उधेड़कर देखनेकी अपेक्षा स्मृतिको पाथेय बनाकर इस पन्थको पार करनेमें ही जीवन लगा दिया जाय। जीवनके जड़त्वके ऊहापोहमें व्यर्थ समय लगाना ठीक नहीं अपितु उसके अरुण कपोलको छायाका अनुसंधान करना ही उत्तम पक्ष है।[2] इस प्रकार भेद और अभेदकी भूमिकाके दोलेपर आन्दोलित कविकी कल्पना आत्मानुसंधानके आकलनकी प्रबल समर्थिका सिद्ध हो जाती है।[3]

वरुणाके शान्त कछारमें अमिताभकी आभाके अभिव्यंजनमें भी शून्यवादकी अपेक्षा विश्वमानवताके जयघोषका ही आकलन है। यहां की वसुधा भी सकल है। कछार जगत्की नश्वरतामें लघुत्राणके सदृश है, जिसकी पवित्रसन्धि स्वर्गभी थी और जिससे संसार गूंजता था। वही स्वर्गीय रहस्य गूंजन कवि सुनना चाहता है।[4]

स्वयं गतिमें असमर्थ होनेके कारण अपने नाविकको भुलावा देकर कवि उस स्थानपर ले जानेका निवेदन करता है। जहां सागरकी लहरि-कायें अम्बरके कानोंमें गहरी निश्छल प्रेम कथा कहती हों।[5] यह अवनी

---

१. लहर, पृ० १०, पं० १-१६।

२. लहर (मधुप गुनगुनाकर कह जाता–परिचय) पृ० ११, पं० १५-१७

३. तन्त्रालोक आ० ९।१०७,११०-११६।

४. लहर, (अरी वरुणाकी शान्त कछार) पृ०१३, पं० ११, १२-१४

५. लहर, (ले चल वहां भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे) पं०१७-१८।

कोलाहलमयी है। कवि वहां जाना चाहता है, जहां विश्वरूपी चित्रपट की चल मायामें विभुता विभुसी दीख पड़ने लगे। हिम शैल बालिका कभी चली थी। उसका कलरव संगीत युगोंकी गाथाओंका गायन कर रहा था। उसका सम्मिलन अनन्त मिलनमें परिणत हो गया है [१] फेनिल तरल खील विकीर्ण होने लगा है। यह अरुण नील संगम शिव और माया तत्त्वके महामिलनका प्रतीक है। बलके लाभ होनेपर विश्वको आत्मसात् करने वाली चितिकी चेतनाका चमत्कार है और अभेद सत्ताका स्फुरण है। जीव जैसे शिव महासिन्धुमें अवगाहनकर अपना पशुत्व समाप्तकर देता है, उसीप्रकार हिमशैल बालिका आकुल होकर अकूल बनने के लिये इस महायात्राके लिए प्रस्थित हो चुकी है। वह अकूल होकर लहराना चाहती है। कूलकी सीमा उसे सह्य नहीं है। देवलोककी अमृत कथाकी माया भी उसे बिरस प्रतीत हो रही है। हरित काननोंकी अलस छाया भी उसे पसन्द नहीं। अब तो वह अपने स्वप्न को साकार करनेपर तुली हुई है। अपना विश्राम अब उसे चाहिये। निःसीमशून्यमें अरुण प्रकाशकी सलील झील ही उसका समाधान है।[२] अब उसे बाह्यान्तरपरिकल्पना असह्य हो उठी है।आत्मसंवित्प्रकाश बोध उसका उद्दीप्त हो गया है। सलीलता अनुत्तरानन्द चितिकी ही प्रतीक है।[३] आनन्दकी यही अवस्था जीवनका सर्वोत्तम लक्ष्य है। जो व्यक्ति इसको प्राप्त कर ले, वह धन्य है।

फूलोंने पंखुड़ियोंकी आंखें खोलकर उससे ठिठोलीकी थी। विकल्प ही उसका छिन्नपात्र है। उसे लिये हुए जागतिक माधुर्यसे वह चकित था। कुछ समझमें नहीं आ रहा था कि, यह ऐसा मधुवन छिपा कहां था ? मधु-मयता और मङ्गल मोदकी वर्षा, कांटोंके मोती का शृंगार कितना अद्भुत था। आशा कांटोंकी मोतियोंको बटोरनेमें लीन हो गयी। उसे यह निश्चय हो गया है कि, यह सारा धन हमारा ही है[४]।

---

१. लहर, (हे सागर संगम अरुण नील) पृ० १५, पं० ९-१४।
२. लहर (हे सागर संगम अरुण नील) पृ० १६ पं०१-८।
३. तं०५।१५८, ९।२२९ आ०३।९४, १५७, १६० १६२ १८८-१९०।
४. लहर (उस दिन जीवनके पथमें) पृ० १७, पं० १-१५, पृ०१८।१-१०।

विभावरी क्या है? यदि चेतना ऊषानागरीके अम्बर पनघटमें ताराघट डूबोनेपर भी, किसलयके अंचलके डोलनेपर भी, लतिकाओंके मधुमुकुल नवल रस गागरी भर लानेपर भी न चेते, तो इसे क्या कहा जायगा? ऐसी अवस्था जागरणके लिये प्रेरित और उद्बुद्ध करती है[1]। इसके लिये अलख जगाना पड़ता है। भैरवकी[2] भैरवी शक्तिके जागरणसे ही अलख जगता है। यह एक विलक्षण विधान है। सागरका अंचल उद्वैलित हो गया है। मानो वह छलछलायी आंखोंको पोंछ रहा है। लहरोंकी चंचल क्रीड़ाके प्रसङ्गमें शक्तिके जागरणका पता उसे नहीं चल पाता, तब भैरवी आंखोंसे अलख जगाने आ जाती है[3]।

आंखोंसे अलख जगे—यह तो ठीक है किन्तु यौवन एक ऐसी उद्दाम मनःस्थिति और वयः प्रकर्ष है, जिसमें मल, मायाकी प्रसूति वासनाके सौरभ और मायाकी मदिराका अविश्रान्त वर्षण होता है। सिन्धु वेलाके समान घन माला अखिल किरणोंको ढक कर चलती है। वासनाका भी यही स्वभाव है।

क्रीड़ा रंगमंच पर ही होती है। रंगमयी भूमिका ही अखिलकी लघुता बनकर आयी है। इस अखिलमें और उसकी इस लघुतामें वास्तविक भेद नहीं है। 'एक एव शिवः प्रभुः' यह ईश्वराद्वयवादकी प्रतिष्ठाका ही भावात्मक प्रतिपादन है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि, जैसे धर्म और धर्मीमें वास्तव भेद नहीं है। वैसे ही शक्ति और शक्तिमान्में भी वास्तवभेद नहीं है। अखिल तो वस्तु शून्य अभिधेय रहित विमर्शात्मक स्थिति है और उसकी लघुता रंगमयी नयी भूमिका है। पर है वह वही।

नील पीत दुःख सुख सबमें वही प्रकाशात्मा शिव प्रकाशित है, इस परमाद्वैत प्रकाशात्म शिव विस्तारमें अन्य कोई है–इसकी संभावनाकी कल्पना ही नहीं है। जैसे घट कुम्भमें अर्थतः कोई भेद नहीं है, उसी तरह

---

१. लहर 'बीती बिभावरी' पृ० १९, पं० १-१०।
२. तन्त्रालोक, आ० १।९६-९९, १११, १२३।
३. लहर 'आंखों से अलख', पृ० २०, पं० १-१२।
४. लहर—आहरे अधीर यौवन, पृ० २१, पं० १-५।

उस परमाद्वैत भूमिमें नील पीत सुख दुःख विति जड़का कोई भेद नहीं है। इसप्रकार विश्व मधु-ऋतुके कुसुम-विकासमें मधुर जीवनका पूर्ण विकास बड़ा ही सार्थक बन गया है[१]। परिणामतः जीवन उसी रसमें तिरने लग गया है[२]।

जीवनके जलनिधिमें विकल अनिलसे प्रेरित लहरी जितने दिन तक अपनी गतिविधिमें उठती गिरती रुक रुककर छविका सृजन करती रहेगी-उसकी जड़तामें चित्का अधिष्ठान होता रहेगा। नीलमेघ पटलपर जब चपला चित्र खींचना प्रारम्भ करती है, तो उसमें 'मेरी' जीवन स्मृतिके मधुर रूप उभरा करते हैं। तब फिर पुतलीमें विश्वका जड़त्व क्यों समाये ? इसमें प्राणवत्ताका समावेश होना ही चाहिये। स्मितिका वह चित्र बनना चाहिए, जिसे विश्व सदा सर्वदा निहारा करे।[३]

अविकल्प भूमिमें जहां अविभागावभास होता है, वहां प्रकाश विन्दु माना जाता है और जहां महासमुद्र कण कणमें बिखर पड़े, तो वह कण भी विन्दु कहलाता है। दोनों विन्दुओंके महामिलनकी परामृतमयी परा-वाक् बैखरी बनकर भी उभरती है।[४] वर्ण-वर्ण भी बूंदे हैं। वे परस्पर आकर्षणके कारण जुटती हैं और अभिनव अर्थको व्यक्त करती हैं। बूंदे-बूंदोंसे मिलती हैं। उनमें भी मधुर आकर्षण होता है। एक विन्दुका जल दूसरी बूँदसे मिलता है। दोनोंके नस नसमें लघु लघु सुन्दर धारा बह जाती है और ऐकात्म्य स्फुट हो जाता है[५]। यही तत्त्वोंकी चिल्लयी दशा है—मोक्ष है।

वसुधाके अंचलपर कण कणका विखराव ही अणुत्व है। अणु अणु प्रातिस्विकरूपसे भिन्न हैं किन्तु उनके सम्मिलनकी अनुभूतिका निखार प्रत्यभिज्ञा प्राप्त ही है। यह अकथ्य पदवी है[६]। कण कण मिलकर अनन्त अम्बुधि बन जाते हैं। यह लीला कभी रुकने वाली नहीं है। शाश्वत है।

---

१. लहर, पृ० २२। पं० २-३। २. पृ० २३। पं० १५।

३. तन्त्रालोक आ०९।१४४, लहर, पृ०२६-२८।

४. तन्त्रालोक, आ० ३।११०-११३। ५. लहर, पृ० ३०।

६. तन्त्रालोक, आ०१।१५३-९५६। ९।११, २।३३-३५।

सीमा विहीन जल वैभव एक कणको निहारता है। यह कणकी अयोग्यता है कि, वह अब तक प्यारकी परिभाषा भी न समझ सका। यही आणव समावेश है।

प्रकाशमें सारे कर्म उज्ज्वल हो जाते हैं। इस उज्ज्वलताके अभावमें तो जड़ भी प्रकाशित नहीं हो सकते। इसीलिये तो प्रकाशके कणको उधार रूपमें लेकर अब चुकता करना है। यह प्रकाश बनकर ही चुकाया जा सकता है[1]। यदि हम अपनेको प्रकाश नहीं मानते, तो यह हमारा अज्ञान ही है।

कर्म भेद वैचित्र्यके रंगकी बहार लेकर क्षितिज पार चित्र उन्मीलित करने वाला यह अज्ञानान्धकार तो है पर उसमें केवल प्यार ही प्यार भरा हुआ है[2]। लोलिका ('स्व' में सांकाक्षता) तथा राग (कुछ मुझे हो जाय) दोनों प्रकारके निष्क्रिय और सक्रिय आकांक्षाके उदयमें जो मोह हे, प्रवृत्ति है, वही प्यार है। यह प्यार कलाकारका ही है।

शिवही जो जीव बन गया है, अचेतन कलाकार है।[3] जो रंगकी बहार लेकर चित्रको उन्मीलित करता है। जिसमें प्यार ही प्यार भरा हुआ है। कठिनाई यह है कि, प्यार करने वाला कहीं दिखलाई नहीं पड़ता। वही आँखोंमें आता है, आंसू बनकर ढुलकता रहता है। सूने नभमें आग जलाकर, सुवर्णके समान हृदयको गलाकर, जीवन सन्ध्याको नहलाकर वह रिक्त जलधि भरनेवाला कहाँ छिपा हुआ है ? पता नहीं क्यों कवि से डर रहा है। कवि उसे देख नहीं पाता है। उसे यह आशंका हो गयी है कि शायद मैं ही उस परमप्रेय रूपके दर्शनसे वंचित होऊँ और अन्य आराधक सम्भवतः दर्शन पा गये हों। इसीलिये वह पूछ बैठता है—सबसे कि, क्या किसीने मुझसे प्यार करने वाले को देखा है।[4]

उसे उत्तर मिल गया है कि, नहीं, उसे किसीने देखा नहीं है। तब वह स्वतः प्रियतमको सम्बोधितकर दर्शनकी प्रार्थना करता है। प्रार्थना अस्वीकृत हो गयी। तब उसने सानुनय अनुरोध किया—प्रियतम ? चाहे

---

१. लहर, पृ० ३०। पं० १५-१६। पृ० ३४-३६।

२. लकर, पृ० ३७, पं० १-६। ३. लहर, पृ० ३७, पं० ३।

४. लहर, अरे कहीं देखा है तुमने पृ० ३८।

वह लोकोत्तर लालित्य ललाम कलेवर न दिखाओ पर उसका जो आह्लादकत्व है, शीतलत्व है, उसे तो तुम हिमकणोंमें बिखरा दो, ताकि छाया भर भी आंखोंसे देखनेको मिल सके ।[1]

इसी आशामें पड़ा हुआ साधक भविष्यके मधुमिश्रित उत्कर्षका चिन्तन करता है। बीज अंकुरित होंगे, अंकुर फूटेंगे, कोरक किसलयोंके क्रमसे उसमें पल्लवों का उल्लास होगा। संसार आगे बढ़ेगा। 'मैं' के बीजसे निकलने वाला मेरे किसलयका यह लघु-लघु भव, यह संसार किसीको खल नहीं सकेगा।[2]

आणव मलके प्रसङ्गमें यही क्रम प्रत्यक्ष है। वह अणुतामें अंकुरित, बुद्धिधर्म रागमें मुकुलित और राग (अवैराग्य) में फूलता और फलित होता है। मल (कंचुक) का आवरणही अभिनव लघुभव है। कविको यह अटूट विश्वास है कि, जवा-कुसुमसी उषा प्राचो, इस जागतिक-जीवनकी मेरी लघु प्राचीमें अवश्य खिलेगी[3] अर्थात् पशु संस्कार क्षीण होगा, परमस्थिति प्राप्त हो जायेगी और विकस्वर निर्विकल्पक पौरुष विज्ञानका अभ्युदय होगा। क्रमशः तारतम्यसे ही हृदयका नैर्मल्यातिशय सिद्ध होता है। पशुकी अविकल्प भूमिका नामही शाम्भवी दशा है। प्रमाताके दौरात्म्यसे इस दशामें कमी आ जाती है और दौरात्म्यके अभावमें वही विकस्वरता पुनः प्राप्त हो जाती है।[4]

अणु अस्फुट भेद है। उसी भेदका उपाय आणव उपाय होता है। इसमें विकल्पका ही निश्चय होता है। अन्तमें अणु ही निर्विकल्पक स्थिति पा लेता है। शिव ही तो स्वरूप गोपनकरके इस प्रकार स्थित है। इसलिये स्वप्रकाशात्मप्रच्छादक परिमित प्रमाता बननेपर भी परमशिवता उसको प्राप्त होती ही है। शिवही अधोव्याप्त होकर बुद्धि और मनकी भूमिमें भी

---

१. लहर, पृ० ३९ "शशि-सी वर सुन्दर रूप विभा" कविता।

२. लहर "अरे आ गयी है भूली सी" कविता। पृ ४० पं० ९-१०।

३. लहर पृ० ४० "अरे आ गयी हैं भूली सी" कविता पं०९-१२ पं०१७-१८

४. तन्त्रालोक, आ० १।४१, १७६, २१६।

पोषित होता है[1]। इसीलिए उसीका राग दिनको रंग देता है। अन्धकार का जलधि लांघकर शशि किरणें आ जाती हैं। अन्तरिक्ष निशामें मधुर तुहिन को कण कणके रूपमें छिटक देता है। यह एकान्त सृजन है। इसमें कोई बाधा नहीं डाल सकता।[2]

सृजनका अर्थ यहाँ अभिव्यक्ति ही है। स्वरूप गोपन स्वभाव वाला शिव सर्व रूपमें अभिव्यक्त होता है और पुनः निर्विकल्पभावमें भी वही अवस्थित होता है। जब शक्तिकी उन्मुखता हो जाय, तो तन्मयताकी स्थिति तत्काल हो जाती है। शिव शक्तिसे अभिन्न है। शक्तिमें अधिष्ठित होने पर शिवमें ही व्यक्ति अधिष्ठित हो जाता है[3]।

जीव मायाका गरल-तरल विषाद-द्रव पीकर मूर्छित हो जाता है, उसमें शिवत्वकी सरल सरल सुख लहरें उठाई जा सकती हैं। विश्वकी मधुर माधवी संध्यामें जब रागारुण रवि अस्त हो गया हो, तो फिर विकल कल्पनाका परिणाम सन्ध्या ही हो सकती है। यद्यपि नक्षत्रोंका प्रकाश अपनी रश्मि विकीर्ण करता है फिर भी कमल तो मुकुलित हो ही जाते हैं। ऐसे ही अवसर पर अन्तरिक्षमें सोई हुई उषा मधुबालाका जागरण आवश्यक होता है। रजनी रानीकी बिखरी म्लान कुसुम मालाको हटाकर, जीवनके दिन-पथको लानेका प्रयत्न करना चाहिये। इसी प्रयत्नमें लहरका सम्पूर्ण संग्रह अपने प्रकाशको रूपायित करता है[4]।



---

१. तन्त्रालोक, आ०, १।२२१, २२३, २२५। २. लहर, पृ०४१, पं०१-८।
३. तन्त्रालोक, आ० १। २०६। ४. लहर, पृ० ४३, ४५।

४ : (७) कामायनी

कामायनी प्रसादकी सर्वोत्कृष्ट रसवती कृति है। यह प्रसादके दार्शनिक विचारोंकी निकष है। इसकी स्वर्णखचित रेखायें साहित्य-रसके पारखियोंको आत्मतुष्टि प्रदान करती हैं और चिन्मयानन्दकी ओर इंगित करती हुई प्रतीत होती हैं। वे कमनीय किरण-कलाकी रागारुण रश्मि-मालाके समान श्रद्धाकी स्मिति-लेखामें उभरती हैं। कामायनी जगत्‌की अकेली मंगल कामना है। यह विश्व मानस महोदधिसे निष्पन्न पीयूष है। इसकी जीवन्त ज्योतिसे हिन्दी जगत् वस्तुतः ज्योतिष्मन्त हो चुका है[1]। इसमें प्रसादने जिस सन्देशका निवेशन किया है, वह 'इदं' को परिष्कृत करने वाला और 'अहम्' का परामर्शक है। इस विश्वनीडमें प्राणविहग उन्मुक्त चिरन्तन आचरण कर सके और दुःख सुखकी दृश्यमानतामें भी वह सभी भेदभावोंको भुलाकर आत्मतत्त्वकी उपलब्धि कर सके, यही कामायनीकी स्वरसरणीका संग्रथक सूत्र है। इस सूत्रमें अपनी आत्म-सत्ताको पिरोनेके लिये यह उद्‌बुद्ध करती है। कामायनी लीलामय आनन्द विहार करने वाली सजग महाचितिकी आनन्द सत्ताका[2] सुखस्पर्श प्रदान करती है। यह प्रेयकी पावन प्रेरणा और श्रेय की सर्वस्व है।

यह सचराचर मूर्त विश्व अपने सुख दुःखसे पुलकित अवश्य है फिर भी यह चितिका ही विराट् मंगल वपु है, यह सत्य है, सतत है, शाश्वत है और चिर सुन्दर है[3]। चिति प्रत्यभिज्ञा दर्शनकी विश्वसिद्धिकी हेतु भूता स्वतन्त्रशक्ति है। यह स्वेच्छासे विश्वका उन्मीलन अपनी ही प्रकाश-भित्तिपर करती है[4]।

---

१. कामायनी, आनन्द पृ० २९०, पं० १-८।

२. कर रही लीलामय आनन्द, महाचिति सजग हुई सी व्यस्त। कामायनी, श्रद्धा पृ० ५३।

३. कामायनी–आनन्द, पृ० २८८, पं० १७-२०।

४. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र १, २।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया वाले त्रिकोणका ही मध्यविन्दु मनु (जीव) है।[1] जीव पाशबद्ध पशु होता है। वह तीन मल और छ कंचुकोंके आवरण से आवृत होकर अपने शिवत्त्वका विस्मरण कर चुका होता है। शिवत्त्वके विस्मरणसे उसके सामने ही दिव्यतामें दिग्दाहके धूम जलधर, धरा और अन्तरिक्षको आच्छादित करते हैं[2], और अगजगको धूमिल बना डालते हैं। शिवशक्तिका उन्मेष ही उस कालुष्यको प्रकाशमें परिणत कर सकता है।

प्रथमतः मनु पाशबद्ध जीवके रूपमें चित्रित हैं। कामायनीके निर्वेद सर्गतक आणवस्थितिमें रहकर सृष्टि, स्थिति और संहारके आघात प्रति-घातोंको सहते हुए वे जीवत्त्वका श्रृंगार करते हैं। विकल्प बुद्धिके कारण मौन, नाश, विध्वंस, अंधेरा, शून्य और अभावको सत्य मानने की कुण्ठा उनके मनमें घर कर गयी है[3]। इधर परम व्योमसे भौतिककणकलित कुहासेकी वृष्टि हो रही थी और उधर अनस्तित्वका तांडव चल रहा था। मनुके हृदयमें विश्ववन की व्याली फुङ्कार कर रही थी। अभावकी चपल बालिकाके व्यामोहमें वे माया मुग्ध विवश थे। आधिव्याधिकी सूत्र धारिणी चिन्ता उनके ऊपर मधुर अभिशाप बनकर अपना दूषित प्रभाव डाल चुकी थी।

अब वे सृष्टिको भी अभिशाप समझने लगते हैं। यद्यपि प्रसादके मनका वह महाभाव वहां पर भी 'विभूति' विभोर ही है फिर भी मनु मृत्युके स्पन्दनोंके समविषमके समापनमें ही सम्पृक्त हैं।[4]

---

१. इस त्रिकोणके मध्यविन्दु तुम शक्ति विपुल क्षमता वाले ये।
एक-एक को स्थिर हो देखो, इच्छा ज्ञान क्रिया वाले ये।
कामायनी–रहस्य, पृ० २६२

२. दिग्दाहों से धूम उठे या जलधर उठे क्षितिज तटसे।
सघन गगनमें भीम प्रकम्पन झंझाके चलते झटके।
कामायनी–पृ० १३, पं० १७-२०।

३. कामायनी,–चिन्ता, पृ० १८, पं० ९–१२।

४. कामायनी, चिन्ता, पृ० १९, पं० १४।

वासना सरिताका मदमत्त प्रवाह तिनके को बहा ले जानेमें नितान्त सक्षम है। वह प्रलय महोदधिमें मिलकर अपना परिवर्तित विस्तार करता है[१]। यहाँ प्रलय शब्द 'स्व' के कंचुक कालुष्य कलुषित होनेके अर्थमें ही प्रयुक्त है। लय और उदय दो ही भाव होते हैं। लय निमेष है और उदय उन्मेष[२]। निमेषकी अवस्थामें शिवका, शिवत्त्वका भेदमय विक्षेप हो जाता है। उन्मेषमें वही जीवत्त्व शिवत्त्वसे संवलित हो जाता है। महेश्वर वपुष्मान् बन जाता है और अपने महेश्वरत्त्वका अथवा संविद्रूपत्त्वका परित्याग कर देता है। घटके सम्बन्धमें यह नियत अवभास होता है कि, यह वस्तु यहां है[३]। इस अवभासमें शिवका संवित्तत्त्य (चेतनत्व) जाड्यमें आपतित हो जाता है। जाड्य ही प्रलय जलधि है, जिसमें वासनाकी सरिता गिरती है। इसी दशाको मनु प्राप्त कर चुके हैं।

यह एक विलक्षण सत्य है कि, शिवका तांडव शिवत्त्वमें भी होता है और जडत्त्वके परिवेशमें भी। अन्तर यही होता है कि, जडत्त्वमें शिवपंच-भूतमय साकार विग्रहमें तांडव करते हैं[४]।

नावतो बस जब एक ही रह जाती है। नाव नाविककी आधार है। उसीपर नाविक चढ़ता है। जड़ता ही वह नौका है, जिसमें न कोई डांड़ा है और न पतवार। वह पगली प्रबल तरङ्गाघातोंसे टकराती है, उठती है और गिरती है। यही उसकी दुर्दशा है। तट धुंधला हो जाता है। कहां जाना है, यह भी अनिश्चित हो जाता है। अब तो नियति ही पथ बनकर मार्ग दर्शनके लिये शेष रह जाती है[५]।

---

१. कामायनी, चिन्ता, पृ०१०, पं०१४।

२. अनन्तशक्तिवैचित्र्यलयोदयकलेवरः।
अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः॥ तन्त्रालोक, आ०३।९९-१०२।

३. तन्त्रालोक, आ०३, पृ०१०९, श्लोक १०० का भाष्य।

४. पंचभूतका यह तांडवमय नृत्य हो रहा था कबका।
कामायनी, चिन्ता, पृ०१५ पं०१-६।

५. कामायनी, चिन्ता, पृ०१६, पं०१-८।

मनुका[1] चित्रण भारतीय वाङ्मयमें कई रूपोंमें हुआ है। कहीं ये मन्त्र-द्रष्टा ऋषि हैं। कहीं देवता हैं[2]। कहीं ऐतिहासिक महापुरुष हैं[3]। कहीं सामाजिकताके प्रवर्त्तक बनकर पृथ्वीसे अन्नकी उत्पत्ति करते हैं, कहीं प्रतीकके रूपमें पृथ्वीके वत्स बन गये हैं। कहीं श्रद्धा और कामके यज्ञके सम्पादक हैं और कहींपर मनके प्रतीक मात्र[4]। जो कुछ भी हो, प्रसादको मनुका एक नया रूप ही मान्य है। प्रसादके समक्ष एक दार्शनिक पृष्ठ भूमि है। उसीके परिप्रेक्ष्यमें उन्होंने मनुका नया सांचा गढ़ा है, मनुको नये रूपमें ढाला है और मनुकी नूतन सृष्टिकी है। प्रसादने उन्हें प्रजापति, अमरताका जीवित जर्जर भीषण दम्भ, सर्गके प्रथम अंकका अधम पात्रमय विष्कम्भ, सर्गके अग्रदूत, महानृत्य (मृत्यु) के विषम समस्पन्दन, तथा चिन्ताके मन्त्र-द्रष्टा, जड़तासे अपने शून्यके भरदेनेके आग्रही एक पुरुष[5], संसृतिजल-निधिकी तरङ्गोंसे फेंकी हुई एक मणि, एक भटकी तरङ्ग, शून्यताका उजड़ा राज, विस्मृतिका स्तूप, ज्योतिका धुंधला प्रतिबिम्ब, जड़ताकी जीवनराशि, सफलताका संकलित विलम्ब, अनजान, अमृतसंतान, अहेरी[6], डीह, दुलारका भिखारी, निर्मोही, रजनीतमपुंजीभूतसदृश, विश्वपथिक, क्रतुमय पुरुष, नरपशु[7], यायावर, शासनका सूत्रधार, प्रवासी आदि निर्वेद-सर्गतक जो कुछ कहा है—सबमें वही पृष्ठभूमि काम करती है। निर्वेद सर्गतकका मनु वैविध्यका, अन्तर्द्वन्द्वका, जीवनके जीवन्त संघर्षोंका, पलायनका, अभिशाप और तापसे तापितका चित्र है। वे मंगलकी मायाको समझ नहीं पाये हैं। हर्ष शोककी छायाको ही पकड़नेमें व्यस्त हैं। क्रोध-

---

१. ऋग्वेद—१, ९०, १६, १, ११४।२, २-३४-१३, निरुक्त दैवतकांड १२-३४,

२. ऋग्वेद ८-२७-२, ८-२८-२-५, ८-३१, १-४, ८-२७-३१, १०।५७

३. महाभारत, मनुशतरूपा वृत्तान्त। रामायण–मनुशतरूपा तपस्या–राम-जन्म हेतु।

४. ऋग्वेद १-१३-४, १-२६-४, सायण भाष्य।

५. कामायनी, चिन्ता, पृ०१८, स्वप्न, पृ० १८४, पं०५, पृ०७,६,१९।

६. श्रद्धा, पृ०४९। पं०११-१६, पृ०५२ पं०१२,५८ पं०१, १४२ पं०३।

७. कामायनी, पृ०१४५, पं०८, पृ० १४८, १४५, ईड़ा १६७, १५९ स्वप्न-१८३-१८४।

मोहके उपादानोंसे उनके 'मैं' का गठन हुआ है, मानो उन्हें किरणोंने अबतक छुआ ही न हो। वे जीवनका कंकाल लेकर स्वयं भटकते हुए अनुभव कर रहे हैं। और अन्तमें अपनी इस दशापर उन्हें झुँझलाहट भी होती है।

उनके हृदयके पात्रमें बुद्धि और तर्कके दो ऐसे छिद्र थे, जिनसे श्रद्धा-की मधुमती अमृतधारा बह गयी थी। उनके भीतर भयंकर आंधी चल रही थी और अन्तमें अपना मुख और कलुषित काया भी श्रद्धाके सामने ले जानेमें वे डरते हैं और भाग खड़े होते हैं। 'भाग अरे मनु !' उनके अन्तर-का वैवश्यपूर्ण स्वर था[१]।

यह स्वाभाविक, तत्त्व और तथ्यसे संवलित वर्णन मनुके अनजान[२] और अमृत सन्तान होते हुए भी नरपशुरूप का चित्रण करनेके लिए ही है। प्रत्यभिज्ञा दर्शनके सिद्धान्तोंको चरितार्थ करनेके लिये मनुके इस शातपथ कथानकसे उत्कृष्ट कोई कथा वस्तु मिल ही नहीं सकती थी। प्रसादके सामने मनुके अतिरिक्त 'इन्द्र' भी काव्यके नायकके रूपमें चित्रित करने योग्य पौराणिक और वैदिक पुरुषके रूपमें प्रस्तुत थे किन्तु मनुके समक्ष वे टिक न सके। इन्द्रका चरित्र पाश-बद्धतासे युक्त तो है किन्तु शाक्त और शाम्भव स्थितियोंका उद्रेक कभी उसमें नहीं हुआ। परन्तु मनु के जीवनके रहस्य अध्याय जब खुलते हैं, तो वे शाश्वतप्रकाशका उद्घाटन करते हैं।

मनु अमृत सन्तानके रूप में देवपुत्र हैं। हिमालयके उत्तुंग शृङ्गपर सबसे पहले पाठक उनको देखता है। उनकी ओर आकृष्ट होता है, उनका स्वस्थ शरीर जहां आकर्षणका विषय है, वहीं, उनकी दृष्टि भी ऐसी ही है जो घन और तरलको एक तत्त्व माननेकी प्रतिपादयित्री है।

मनु प्रलयका प्रवाह तटस्थभावसे नहीं, भीगे नयनोंसे देख रहे हैं। उनका मर्म ही मानों बिंधता गया हो। चिन्ता, आशा श्रद्धा और कामके क्रममें उनमें पुनः वासनाके संस्कार उदित होते हैं, जिन्हें वे जला नहीं पाते। वासना सर्ग तक जाते-जाते उनके ऊपर एक ऐसा 'कसाव' आता है, जिसे सांसारिक मलोंका कसाव मानते हैं-पाशका कसाव !

---

१. संघर्ष, पृ०१९९, पं०१८, २०९, २११, २२७, २२८, २२९।
२. तन्त्रालोक, आ० ९। ५०-५४। ६०-६१

प्रत्यभिज्ञा दर्शनके अनुसार शिव स्वातन्त्र्यशक्ति सम्पन्न हैं। वे इच्छा, क्रिया और ज्ञान शक्तियोंके माध्यमसे ६ कंचुकोंसे आवृत हो जाते हैं। जब तक शिव शुद्ध-अध्वाके पांच तत्त्वों शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्याकी अनुत्तार स्थितिमें रहते हैं, तबतक उनमें मलोंका सम्पर्क-सांकर्य नहीं आता। उक्त पांच तत्त्व शुद्ध तत्त्व माने जाते हैं। क्रमशः इन्हें शाम्भव, शक्तिज, मन्त्रमहेश, मन्त्रनायक और मन्त्र कहते हैं।[1] शिव शव तक बन जाते हैं, जब उनपर ३१ अन्य तत्त्वोंका प्रभाव पड़ जाता है। यह शुद्ध अध्वाका मार्ग है। यहां साक्षात् शिवेच्छा ही कर्तृत्वाभासकी विभेदिका होती है। अशुद्ध अध्वामें अघोरेश भगवान् शिव ही ईश्वरेच्छा-वश क्षुब्ध भोग लौकिक चिद् समवायको विभक्तकर सितेतर सृष्टि करते हैं। सितेतर सृष्टिका जितना सुन्दर सामन्जस्य मनुमें (कामायनी में) किया गया है, उतना कहीं नहीं। प्रसादजी का प्रत्यभिज्ञा दर्शनको कामायनीके पटल पर प्रतिफलितकरना एक महान् साहित्यिक और दार्शनिक महाध्यवसाय है।

आजतक किसी दर्शनको साहित्यका इतना सुन्दर आधार नहीं मिला था। यद्यपि संस्कृत साहित्यमें ऐसे प्रयास छिटपुट किये गये हैं जैसे-प्रबोध चन्द्रोदय नाटकमें कृष्णमिश्रने श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य दम्भ और हिंसा आदि अमूर्त पदार्थोंको मूर्त पात्र बनाकर मंचपर लाने और वेदान्तके रहस्यका उद्घाटन करने का प्रयास किया है। कवि कर्णपूरने अपने चैतन्य को अमूर्त्त पदार्थोंके साथ सहभावसे प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार अश्व-घोषने भी विशेष उद्देश्यकी सिद्धिके लिये तत्वज्ञान प्रचारकी पद्धतिका परित्यागकर बौद्ध धर्मको साहित्यका आधार प्रदान किया है। अश्वघोष बुद्ध चरित और सौन्दरनंद दोनों महाकाव्योंमें प्रव्रज्याके परिवेशको ही पुष्ट करनेकी चेष्टा की गयी है। हिन्दी साहित्यमें तुलसीके महाकाव्य रामचरितमानसमें भी विशिष्टाद्वैतकी झलक आती है किन्तु उपर्युक्त सभी प्रयास प्रेयको हेयकी श्रेणी देनेके कारण सोद्देश्य हैं। उनके पात्रोंमें वह उपयुक्तता नहीं, जो यथार्थतः साहित्यकी दार्शनिक धाराको रस-शय्या प्रदान कर दे।

---

१. कामायनी, श्रद्धा, पृ० ५२, पं० २०, पृ० ५८ पं० १।
२. ,, स्वप्न, पृ० १८४, पं० १५। ३. चिन्ता, पृ० ३,।

कामायनी इस दृष्टिसे दर्शन और काव्य दोनों की प्रतीक बन गयी है। यह ऐसी गंगा जमुनी धारा है, जिसमें सरस्वतीका साक्षात् समागम संगम हुआ है। इसी पीयूष रससे वाङ्मय पुरुषका अभिषेक करता हुआ कामायनी महाकाव्य विश्व वाङ्मयकी विभूति बन गया है।

अणु[1] निष्कर्मा होता है। उसमें क्रिया-रूपताका अभाव, केवल स्वभावाभिलाषिता की स्थिति और 'स्व' की साकांक्षता[2] मात्र होती है। इसमें अपूर्णज्ञान, अपूर्ण मन्यता या अपूर्ण अहन्ता[3] होती है। 'स्व' का रूप तो पूर्ण ज्ञानात्मक होता है। यदि उसीकी अख्याति हो जाय, तो उसे अज्ञान[4] ही कहेंगे।

अज्ञानके दो अर्थ हैं। ज्ञानाभाव या संकुचित ज्ञान। ज्ञानाभावमें अपने स्वातन्त्र्यका ही बोध नहीं रहता। संकुचित ज्ञानकी अवस्थामें बोधके ही स्वातन्त्र्यकी हानि हो जाती है। अणुओंकी अणुता की यही योग्यता है।[5] इन अणु मलोंकी उक्त दोनों स्थितियोंके प्रतीक मनु हैं। न उनमें बोधका स्वातन्त्र्य है और न स्वातन्त्र्यका ही बोध है।

मनुकी अपूर्णमन्यता चरम सीमापर है। वे संसृति जलनिधिके तीरपर तरंगोंसे फेंकी हुई मणि हैं, जो अपनी प्रभाकी धारासे निर्जनका अभिषेक करते हैं।[6] श्रद्धाका उत्तर देते हुए वे अपनी अपूर्ण अहन्ताका, अज्ञानता, अनजान स्थितिका, अणुत्वका परिचय देते हैं—मैं एक उल्का सा जलता पिण्ड हूँ, जो पथ भ्रान्त है और शून्यमें फिर रहा है। वे अनजान बनकर चलते हैं। नील गगनके विवरमें वायुकी भटकी हुई तरंग हैं और शून्यता के उजड़े राज हैं। विस्मृतिके अचेत स्तूप हैं, ज्योतिके धुंधले प्रतिबिम्ब हैं। जड़ताकी जीवन राशि हैं और सफलताके संकलित विलम्ब हैं।[7] वे यह नहीं जानते कि, महाचितिही सजग होकर लीलामय आनन्द कर रही

---

१. तन्त्रलोक, आ० ९। १४४। २. प्र० हृ० सूत्र २।
३. तं० आ० ९। पृ० ६१, कामायनी, इडा, पृ० १६१, पं० ११, पृ० १६३ पं० ६-९, पृ० १६५, पं० १२।
४. तन्त्रालोक आ० ९। १२०, आ० १। २५-२७, ३५-४४।
५. तं० आ० ९। १३२-१३४, १४४। ६. श्रद्धा, पृ० ४५, पं० १-४।
७. कामायनी, श्रद्धा, पृ० ४८, पं० ७–१६। पृ० ४९। पं० १-१६।

है। विश्वका यह उन्मीलन बड़ा ही अभिराम है। सारा जीववर्ग इसीमें अनुरक्त होता है। श्रद्धा उन्हें जीवनके दांव हारनेके प्रति सजग सचेत करती है। उन्हें आत्मविस्तारके लिये प्रेरित करती है, जड़ और चेतनके आनन्दकी दिशाका बोध कराती है और मानवताको विजयिनी बननेकी मङ्गल कामना करती है।[1]

आलोक जितना रूप बनता है, वही आंखोंका अवगुण्ठन हो जाता है। सुन्दरताके परदेमें कोई धन है।[2] यह उनकी अपूर्णता और अज्ञताके सूचक विचार हैं क्योंकि वास्तवमें वह धन तो वही हैं। उन्हें अपनी पहचान ही नहीं है।

काम सर्गमें परमाणु बालकोंके दौड़ने, अनुराग रंजित होने[3], अपनी मायामें मतवाली सृष्टिके बननेका जितना वर्णन दिया गया है, वह प्रत्यभिज्ञा दर्शनकी सृष्टि रचनाके सिद्धान्तके ही अनुकूल है।[4]

सृष्टिके आदि और अन्तमें शिव तत्त्वकी स्थिति ही मान्य है। स्वातन्त्र्यशक्ति, क्रम-संसिसृक्षा और क्रमात्मता इन तीनों स्थितियोंमें विभुकी विभूतिही व्याप्त है। अनन्त शक्ति भगवान् शिवही देश कालात्मक विश्व वैचित्र्य संवलित सर्गकी सिसृक्षा करते हैं। यह सिसृक्षा भी सृष्टिके लिये होने वाली पारमेश्वरी इच्छा ही है। पदार्थानुगत अनन्त-भेदाभासके कारण आत्मरूपका संकोच हो जाता है। परिणामतः मनु 'स्व' को समझनेमें असमर्थ रहते है। वे उसी आत्मसंकोचके प्रतीक नर हैं। श्रद्धाने इसीलिये उन्हें आत्मविस्तार करनेकी दिशामें उद्‌बुद्ध करनेका प्रयास किया है[5]।

---

१. कामायनी, श्रद्धा पृ० ५३, ५९।

२. कामायनी श्रद्धा पृ० ६५। काम, पृ० ६६, पं० १५-१६।

३. कामायनी श्रद्धा, पृ० ७२, पं० १५-१६। पृ० ७३। पं० ७-८।

४. तन्त्रालोक, आ० ९, श्लोक ६१-६२। श्लोक १३, पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ० ४१। ३४४।

५. कामायनी, श्रद्धा, पृ०५६, पं० ११-१२।

श्रद्धा शक्तिकी ममताको लेकर ही अवतरित है। इसीलिये अपने समर्पणकी वेलामें वह मनुके लिये दया, माया, ममता, मधुरिमा, अगाध विश्वास और हृदयका स्वच्छ रत्नाकर निछावर करती है। मनुको संसृति-के मूल रहस्य बननेके लिये वह उद्बुद्ध करती है[१]।

क्षेप, ज्ञान, संख्यान, गति और नाद इन पांच प्रकारोंसे पराशक्ति संसारका भेदाभेदत्त्व सिद्ध करती है। 'स्व' और 'पर' का भेद क्षेप है। भेदितमें अविकल्प बुद्धि ज्ञान है। प्रति जीव नियत भावकी प्रस्थापना 'संख्यान' है। संविद्रूप 'स्व' में आरोहण और उसका प्रापण 'गति' है। स्वात्मपरामर्शकी आत्मध्वनि ही 'नाद' है।[२]

ऐसी पराशक्तिके प्रति जागरूक करने वाली देवी श्रद्धा है। श्रद्धा जननी है। उसमें मातृत्व है। उसका लक्ष्य ही है—सर्वका उद्धार करना। इसके उद्धारमें कोई क्रम नहीं है। क्रम और अक्रमसे रहित संवित्तत्त्व है। संविद्का प्रवर्त्तन तादात्म्यमें होता है। तादात्म्यमें ही समर्पण होता है यही कारण है कि, समर्पण करनेके लिये श्रद्धा ही अग्रसर होती है[३]। यह दोष देना कि, श्रद्धाके समर्पणमें स्वाभाविकताका ध्यान प्रसादने नहीं रखा है—अज्ञता है। वस्तुतः यही स्वाभाविक है।

प्रत्यभिज्ञाका उपपादन समस्त सम्पत्तिकी समवाप्तिका हेतु है[४]। श्रद्धा मनुकी प्रत्यभिज्ञाका ही उपपादन करती हुई पायी जाती है। वह उन्हें 'शक्तिशाली हो विजयी बनो' का विश्वगान सुनाती है[५]। विवशता यह है कि, मनु श्रद्धाके समस्त उद्बोधनोंको नकार बैठते हैं। उन्हें आत्मबोध नहीं होता। उनकी कुंठित आस्थामें उतना बल नहीं रह गया था। वे अधमके अधम ही रह गये थे और मंगलकी मायाको समझनेमें नितान्त असमर्थ थे[६]। उनका सबकुछ क्रोध और मोहके उपादानसे गठित हुआ था, उन्हें मानों किरणोंने अबतक छुआ ही न था—यह उन्हें निश्चय हो जाता

१. कामायनी, श्रद्धा, पृ० ५७, पं० १-१२। २. तन्त्रालोक, ४।१७४-१७७।
३. कामायनी, श्रद्धा, पृ०५७, पं०१-२।
४. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, अ० १।१, पृ०६।
५. कामायनी, श्रद्धा, पृ० ५७, पं० १५-१६।
६. का० निर्वेद पृ०२२७।

है क्योंकि किरणोंके स्पर्शसे कमलमें अवश्यम्भावी विकास अनिवार्यरूपसे आता ही है। परिमित प्रमाता पुरुषोंकी यही दशा होती है। वह न तो ऊपर ही सरकता है और न उसका उतना अधः पात ही सम्भव है[१]।

अज्ञानी को अणु कहते हैं। कभी अज्ञान रहितको अणु नहीं कहते। यद्यपि ये भी महेश्वरसे भिन्न नहीं हैं फिर भी चूंकि ये चिदचिद्रूपताके शिकार होते हैं, भेदाभेदकी स्थितिमें रहते हैं और भेदकी ओर ही अधिक उन्मुख रहते हैं—आत्माके स्वरूपको हिंसित कर देते हैं और शरीर रूपी क्षेत्रको ही सबकुछ मान लेते हैं। इसीलिये इन्हें पशु भी कहते हैं। मनु भी अजान हैं। अपूर्ण अहंता के प्रतिनिधि हैं। उनकी दुर्बलता उन्हींको ले डूबने वाली है।[२]

सारस्वत नगरका समस्त वैज्ञानिक उत्कर्ष और उससे भी आगे बढ़कर इड़ाको भी पा लेनेकी उद्दाम वासनाका उद्वलन, सागर की लहरोंसे उठकर सहजभावसे ही शैल श्रृंगपर चढ़ जाने वाला भोगेच्छुक अप्रतिहतगतित्व और अन्तमें अन्धकारका नीला आवरण सबकुछ दृश्य जगत्से भी बड़ा बनकर सामने आता है[३]। सारस्वत नगर क्षुब्ध मलिन और मौन था, जिसके उपर विगत कर्मका विषाद—आचरण विष बनकर तना हुआ था। रह रहकर यह पुकार आने लगती है कि, यह भवरजनी भीमा है[४]। मनु यहां तक भोग लोलिकाके प्रभावसे भावित संकुचित आत्मवर्गके व्यक्ति ही प्रतीत होते हैं।

इड़ाको मनु जब अनुत्तर आनन्दकी स्थितिमें दीख पड़ते हैं, तब वह श्रद्धाके चरणोंमें अपना शीश रख देती है। मनु चेतन पुरातन पुरुष ही बन गये थे। वे चिरमिलित प्रकृतिसे पुलकित थे। आनन्दका महोदधि अपनी शक्तिसे वहां तरङ्गायित था। उन्हें कोई पराया नहीं प्रतीत होता।

---

१. मेरा सबकुछ क्रोध मोहके उपादानसे गठित हुआ।
ऐसा ही अनुभव होता है किरणोंने अबतक न छुआ ।।
कामायनी, निर्वेद पृ० २२७ पं०५-६।

२. कामायनी–इडा, पृ०१६१-१६३।

३. कामायनी, निर्वेद, पृ०२०९ पं०११-१२, पृ०२०६ पं० ११-१२।

४. कामायनी, निर्वेद, पृ०२०५, पं० १-१२।

संसार और स्रष्टामें उन्हें अवयवावयवि भाव सम्बन्धका भान हो जाता है[१]। यहां मनुमें अबोधसे बोधका विस्फार स्पष्ट परिलक्षित है। उनका अबोध नष्ट हो गया है।

बोधकी दूसरी अवस्थामें भी यही स्थिति पहले ही रहती है। वहां पूर्णाहंमन्यता, या पूर्ण मन्यता होती है। यहां आनन्द स्पन्द हो जाता है। आनन्द छलक पड़ता है। पलकोंमें रुदन और हास दोनों छलकते हैं[२]।

विमुक्तिके लिये ललकमें, भोगेच्छाके लिये ललकमें बड़ा अन्तर है। यही ललक अक्रम मुक्तिकी कारण बनती है। अनुत्तर और आनन्दका अकार 'इच्छाके' 'इकार'से मिलकर 'एकार'त्रिकोणकी सृष्टि कर दिया करते हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया वाले त्रिकोणको श्रद्धाने मनुको दिखाकर उनकी विपुल क्षमताका भान करा दिया है[३]। अनुत्तरानन्दमय देव भोक्ता होता है। इच्छादि उसकी भोग्य शक्तियां है। उस स्थितिमें इच्छा, ज्ञान और क्रिया सब मिलकर परमशिवमें लय हो जाते हैं। दिव्य अनाहत निनादमें तन्मय होना ही पड़ता है।

इस महास्थितिको परमोपायदशा कहते हैं। शाम्भव अद्वैत भावको प्राप्त करना साधारण नहीं है। इस अनुत्तम भावभूमिको बहुत कम भाग्यशाली प्राप्त करते हैं। वहां पहुँचकर स्नान, व्रत, देह शुद्धि, धारणा, मन्त्र योजना, अध्वा क्लृप्ति, यागविधि होम, जप और समाधि इत्यादि सारी बातें अभेदभावमें हो जाती है। सृष्टि, स्थिति, संहार और तिरोधानके आगे अनुग्रहका अधिकारी बनकर ऐसा साधक अपनेको सत्पात्र बना लेता है। उसके लिए जड़ और चेतन सभी समरस बन जाते हैं। एक अखण्ड चैतन्यका विलास उद्भासित हो जाता है और केवल आनन्द, अखण्ड आनन्दका महोदधि लहराने लगता है।[४] मनु इसी सामरस्यको प्राप्त करते हैं। उनके लिए जीवन वसुधा समतल हो गयी है। जो जहाँ है, वही समरस है। ऐसी स्थितिमें शापित और तापित होने का प्रश्न ही

---

१. कामायनी, आनन्द, पृ० २८६, पं० ९-१२, पृ० २८७ पं०९-१६।

२. कामायनी, संघर्ष, पृ० १९१। पं० ५-६।

३. कामायनी, रहस्य, पृ० २७२, पं० १-४। तं० ३।९४-९५।

४. तन्त्रालोक आ० ३। ८८-९१। का० आ० २९४ पं० १७-२०

कहां उठता है ? देहकी सत्ता एक निर्मित आकार मात्र है। जैसे समुद्र लहरोंमें बिखर उठता है, उसी प्रकार यहां विश्व चेतना भेदकी लहरों में बिखरी दीख पड़ती है।

प्राणोंकी सृष्टिके स्वरूपका एक नया रहस्य ही उद्‌घाटित हो जाता है। सबमें घुलमिलकर एक रसमय चरमभाव प्रवाहित होता जान पड़ने लग जाता है। चाहे दुःख हो या सुख सबसे यह चराचर विश्व पुलकित होता है। यह महाचितिका ही मंगल विराट् वपु है। सत्य सतत और चिरसुन्दर है।[1] यह सभी शिवसे ही स्फुरित है। शिवमें ही प्रतिबिम्बित है और शिवसे भिन्न नहीं है। यह तीन अनुभूतियां दृढ़ और रूढ़ हो जाती है। यही शाम्भव उपायकी परमस्थिति है।[2]

अहं परामर्शमें केवल अपनी देह सत्ता नहीं होती। वहां तो इदम् ही अहम् बन जाता है। इदम् और अहम्‌की भिन्न अनुभूतियोंका द्वैधीभाव वहां रहता ही नहीं। अहम् 'अकार' और 'हकार'के साथ विन्दुके प्रयोगसे बनता है। अकार अनुत्तर स्थिति है। हकार विसर्ग है। अनुत्तर परमेश्वर का यह शाक्त विसर्ग है। विसर्ग ही फिर विन्दु बनकर प्रत्यावर्त्तित होता है। अहम्‌के अनन्तर शाक्त विसर्ग पुनः विन्दु बन जाता है। अ और विन्दुके मध्यमें ही शक्ति विसर्ग (ह) है। यह सम्पुटीकृत स्थिति है। तीनों एक ही है। अनन्तविश्व 'अ' और विन्दुके गर्भमें धारित है। यही अहम्‌का परामर्श है।[3] प्रत्यभिज्ञा दर्शनकी पूर्णाहन्ताका यही विमर्श है, जो रूढ होनेपर जीवको शिव बना देता है। शिवत्त्वकी इस दशा में श्रद्धा और मनु दोनों तन्मय हो गये हैं। उस समय जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये सभी चितिकी चितामें भस्म हो चुके होते हैं। वहां इच्छा, क्रिया और ज्ञान तीनों मिलकर एकीकृत हो गये थे। वहां दिव्य अनाहत परनिनाद मुखरित था।[4]

---

१. कामायनी, आनन्द पृ० २८८ पं० १-४ पं०५-८, १३-१६ १७-२०

२. मत्तएत्रोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्;
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः। तन्त्रालोक आ० ३। २८०।

३, तन्त्रालोक, आ० ३। २०१-२०४।

४. कामायनी, रहस्य, पृ० २७३, पं० ९–२०।

कामायनी एक कुटुम्बकी यात्राका अन्तिम चित्र प्रस्तुत करती है, जहाँ जगत्‌के समस्त अघ ओघ 'छूट जाते हैं। उस कुटुम्बमें माया है, कला है, राग है, नियति है और काल भी है। मनु कैलाशकी ओर इंगित करते हैं और कहते हैं कि, यहां कोई पराया नहीं है। शिव और जीवमें अवयवावयवि भाव सम्बन्ध है। मनु सबकी भेदवादिताको निरस्त करते हैं। मैं और वह, सब हममें'समाहित हो गया हैं। कुटुम्ब अवयव बन गया है उस अवयवीका, जो अणु-अणु कण-कणमें रम रहा है। वह सर्वत्र अद्वय भावसे स्थित है क्योंकि अपनी स्वतन्त्र सत्ताकी-पूर्णाहन्ताकी विस्मृतिसे ही द्वैधीभावकी उत्पत्ति होती है। परिस्थिति जन्य भिन्नता तो एक पक्षमात्र है। मैं, की मेरी चेतनता सबका स्पर्श किये हुए है।[1]

'यह में हूँ' मानवका यही उद्‌घोष कामायनी का लक्ष्य है[2]। इसी लक्ष्की पूर्तिके लिये कामायनी महाकाव्यका निर्माण हुआ। प्रसाद मानो आत्मप्रसाद ही थे। उनके व्यक्तित्वके विकासका जो चित्र कामायनीमें अंकित हुआ है, वह उनके स्वयं समुपलब्ध शिवत्त्वका निदर्शन है। वे स्वयं शैव थे। शिवत्त्वका उन्होंने प्रत्यक्ष किया था, उसे आत्मसात् किया था और उसे ही अपने काव्यमें अभिव्यक्त किया।

कामायनीका कथानक हिमालयके उत्तुंग शृंगसे प्रारम्भ होता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शनका सिद्धान्त भी शिवसे प्राप्त होता है। शिवसे अधिक उत्तुंगताकी कल्पना ही नहींकी जा सकती है। हिमका वह आलय है। समस्त जडत्वका निलय शिव ही तो है। अहम् प्रत्यवमर्शमें अकार हकार और विन्दुका सामरस्य ही स्फुट होता है। अकार और विन्दु दोनों ही शिव हैं। हकार विसर्ग है। विसर्ग जड़ है। वही हिम है। उस हिमके आलय शिव हैं। वास्तवमें उसकी शीतल छाया सबको प्राप्त है किन्तु विश्व विभ्रान्त है। उसे 'स्व' की विस्मृति है। अपनेको ही वह भूल गया है। यह विस्मृति ही मल[3] है।

---

१. आनन्द, पृ० २८७–२८९।
२. कामायनी, आनन्द, पृ०२८९, पं० १७-२०।
३. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, ४६२-५११, तन्त्रालोक आ०९।६२-६६।

कामायनीके प्रारम्भसे क्रमिक विकासपूर्ण सर्गोंमें क्रमशः मलोंका विजृम्भण और अन्तमें उनका क्षय ही प्रदर्शित है। जैसे कृषिकर्म मधु मासमें हो तो फलशरद्में जाकर मिलता है, उसी प्रकार मनुने उन्मुक्त विलासकी जो कमाई की थो, उसकाफल स्वप्न और छलनामें मिला[1]। बीज जो बोये जायेंगे, वैसे ही अंकुरित होगें। मनु स्वयं देव थे। परिणामतः सृष्टि विश्रृंखलित हुई और अचानक कड़ी आपदाओंकी वृष्टि हुई। स्वयं देव मान लेना एक बात है और क्रमिक देवत्वका विकास दूसरी बात। एकमें अहंकारकी स्थूलता है और दूसरेमें श्रेयकी समुपलब्धिकी प्रबल समीहा। वासना सरिताका मदमत्त प्रवाह प्रलय जलधिमें ही संगमित हो जाता है। विकल वासनाके प्रतिनिधि अपनी ज्वालासे जलेगें और जलमें गल जायेंगे। ऐसी दशामें पंचभूतका ताण्डवमय नृत्य अवश्यम्भावी है[2]।

मनु प्रारम्भमें सर्वांशतः अनजान बनकर चलते हैं[3]। यह ज्ञानाभाव है। विस्मृतिका अचेत स्तूप[4] ज्ञानवान् कैसे होगा? यही नरपशु[5] अन्तमें जीवनकी समतल वसुधापर पहुँच जाता है, जहां सर्वत्र समरसताका साम्राज्य है[6]।

कामायनीकी एक एक घटना और उसका इतिहास अपनेमें महत्त्वपूर्ण है। शतपथ ब्राह्मणमें वर्णित मनुका अवसर्पण[7] क्या एक रूपक मात्र है? प्रसादके सामने भी यह प्रश्न था। उसका समाधान करनेका उन्होंने प्रत्यक्ष प्रयास नहीं किया है किन्तु इस महाकाव्यमें उन्होंने जिस रूपककी अवतारणाकी है, वह स्वयम् समाधान बन गया है।

विस्मृतिके[8] के गर्भमें अपने स्वरूपको समावृतकर शिव ही स्वातन्त्र्य-शक्तिके कारण जगद् रूपमें आभासित होने लगते हैं। हृदयमें जब आनन्द स्पन्दन और भावोच्छलन होता है और व्यक्ति चेतना उद्बुद्ध होती है, तो उसे शिवका ही आधार मिलता है। उसके चारों ओर जड़ताका समुद्र

---

१. कामायनी, चिन्ता, पृ० ८, पं० १-६। तन्त्रालोक ९।१२६।
२. कामायनी, चिन्ता, पृ०९-१५।
३. कामायनी, श्रद्धा, पृ०४९, पं० ४। ४. पृ०४९, पं० १३।
५. स्वप्न, पृ०१८४, पं० १५। ६. आनन्द, पृ०२८८। पं० १-४।
७. शत० अ०१ प्रपाठक ८।१-६। ८. कामायनी, पृ०४९, पं०१३।

लहराता रहता है। जड़ता और चेतनता, घनता और तरलता, जल और लहर, शब्द और अर्थ सभी एक ही तत्त्व हैं। इनका आभासित होने वाला भेद आभास मात्र है, एकत्वका ही उच्छलन है, महावृत्तिका विक्षोभ मात्र है। यह आनन्दका अंकुरण है। उसीका पल्लवन और उसीका विकास तथा उसीकी प्रतिष्ठा कामायनीमें की गयी है[१]।

आनन्द ही जीवनमें समरसताका आधार बनता है और समरसतासे ही आनन्दका निष्यन्द होता है[२]। इसी समरसताके चरम उत्कर्षके स्तरपर पहुँचना प्रसादका लक्ष्य था। इस लक्ष्य प्राप्तिमें वे पूर्णतया सफल हुए। उन्होंने हिन्दी साहित्यके महाप्रवाह और प्रचलित परम्पराओंके अनुरूप जो कुछ किया था, उससे अधिक आनन्द उन्हें कामायनी लिखकर हुआ था। कामायनी लिखकर उनके चेहरेपर अपूर्व शान्ति विराजमान हुई थी[४]। वे साहित्यिक थे, साथ ही साथ दार्शनिकताके भी निकष थे। उन्हें शैव दर्शनकी ओर झुकनेमें उनकी शैववादी प्रवृत्तिने अधिक सहयोग दिया।

व्यक्तिके जीवनक्रमको मलकी चौदह स्थितियाँ प्रभावित करती हैं[३]। यह सभी संसारके अंकुरकी कारण बनती है। उन चौदहोंकी प्रथम वृत्ति अभिलाष है। मनुके मनमें प्रथमतः अभिलाषका विकास प्रदर्शित है। अभिलाषको ही इच्छा कहते हैं। इच्छाके उत्पन्न होनेके साथ चिन्ता उत्पन्न होती है। वही विश्ववनकी व्याली बन जाती है[५]। इच्छा शक्ति (अभिलाष) का क्रमिक विकास दोष बीज, अज्ञान, शोष, विमूढ़ता अनुप्लव लोलिका, भवदोष, मायाशक्ति, अविद्या, अहंममात्मक आतङ्क, ग्लानि, पशुत्त्व, आवृत्ति रूपमें प्रतिफलित होता है।

कामायनीका यही सर्गक्रम है। इस क्रमिकताका श्रीगणेश अभिलाष-की मूल वृत्तिसे होता है। इनका अन्त दर्शन और रहस्य सर्गोंमें पशुत्त्व और आवृत्ति नामक वृत्तियोंके विश्लेषणमें निहित है[६]। कामायनीका

---

१. हिन्दी साहित्यका इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ०६५२, पं०२३-२७, पृ०६५८-६६०।

२. कामायनी, पृ०२९४, ३. प्रसाद और उनका साहित्य पृ० ३७।

४. तन्त्रालोक, आ०९।८४-८५। ५. कामायनी, चिन्ता, पृ०५, पं०१-४।

६. तन्त्रालोक, आ० ९।७४-८५।

इतिवृत्त इन्हीं परिधियोंके परिप्रेक्ष्यमें प्रस्तुत किया गया है। ११ वां सर्ग आनन्द सर्ग है। वहां समरसताका उदय होता है।[1] आनन्दमें समरस हो जानेके बाद षोडशकला सम्पन्न परमशिवकी अनुत्तर साम्यावस्था आ जाती है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वाणोकी अभिव्यक्ति वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती अवस्थाओंको पारकर परारूपता प्राप्त कर लेती है, और उसके आगे राह समाप्त हो जाती है। वह राह की समाप्ति सांख्य और पांचरात्र दृष्टिके अनुसार अहं ममत्वका संत्याग है, जो नैष्कर्म्यके लिये उपदिष्ट है। कमायनीका इतिवृत्त नैष्कर्म्यके विपरीत है। जो व्यक्ति निष्कर्मा बन जाता है, वह कार्म मलोंसे तो सम्पृक्त रहता ही है, विना कार्म मलोंके अभावके निष्कर्मा व्यक्ति की दशा त्रिशङ्कु की तरह की हो जाती है। न तो वह शुद्ध अध्वाकी ओर ही सरक पाता है और नहीं अशुद्ध अध्वाकी ओर ही जाकर भौतिक भव्यतासे विभूषित होता है। उसे शिवके अभेदका स्पर्श तक नहीं हो पाता।[2]

कामायनीका मनु अभेद भावका स्पर्श ही नहीं करता वरन् अभेद-भावमें रम जाता है और समस्त इतिवृत्त एक विचित्र दीप्तिसे उद्दीप्त हो उठता है। अपूर्ण मन्यताकी स्थिति ही मल है। इसी स्थितिसे ऊपर उठकर पूर्ण मन्यताकी दशाको प्राप्त कर भेदके भूधरको समाप्त किया जा सकता है।[3] जैसे घटको पटसे आवृत करनेपर भी घट रूप विशेषका बोध नहीं होता वरन् तद्विषयकज्ञाताका ज्ञानही उपहत हो जाता है, उसी प्रकार शिवके ऊपर अभिलाषसे आवृत्तितकका आवरण ही मल है। यह पृथक्तत्त्व नहीं होता।

मलके आवरणकी पाँच अवस्थायें होती हैं। प्रथम अवस्था 'दिध्वंसिषुता' ध्वंस् + ध्वं+स्+सन्+उ+ता) है। इधर अभिलाषका आवरण जोर पकड़ता है और उधर उसके प्रति औदासीन्य भी। दिध्वंसिषुतामें प्रकृति आवरण मुक्त भी होती है। मायापटके सदृश जवनिका हटती सी

---

१. कामायनी, पृ० २९४, पं० १७–२०।

२. तन्त्रालोक, आ० ९। ८९–९१।

३. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र ७–१० का भाष्य।

प्रतीत होती है। मनुके सामने यह समस्या है कि, जीकर क्या करना होगा ? यहां समाधि भाषाका प्रयोग प्रसाद जी ने किया है। वेदना तो अमर है। उसी अमर वेदनाको लेकर मरनेकी वेलाकी जिज्ञासा क्या कभी मृत्युको स्पष्ट कर सकेगी ? वस्तुत: यहां मृत्यु शब्द रहस्य गर्भित है। शरीरसे प्राणका वियोगभी मृत्यु है और शिवसे पशुत्त्वका-पाश बद्धताका अनावरण भी पशुत्वकी मृत्यु है। वेदनासे वियुक्त होकर जीना ही अमरता है और अमर वेदना लेकर जीवित रहना तो प्रतिक्षण मृत्यु है। इसलिये पशुत्त्वसे मुक्ति भी मृत्यु है, जिसके गर्भसे शिवत्त्वका विस्फुरण अक्रम भावसे सम्पन्न हो जाता है।[1]

दूसरी अवस्था 'ध्वंसमानता' (अनपेक्षितके ध्वंसकी प्रारम्भिक स्थिति) है, इसमें अभिलाष कुछ विकसित होता है और आवरण कुछ शिथिल होता है। पूर्व अवस्थामें अपनी स्थितिका आकलन होने लगता है। नभ धरणी बीच जीव निरुपाय और रहस्यमय जीवन लेकर उल्काके समान जीवित रहने वाला भ्रांत है, अपने विषयमें वह सोचता है, शोक विह्वल हो उठता है और उसकी वेदनाका संवेग उग्र हो जाता है तथा अपनी हतभाग्यतापर व्यक्ति पश्चात्ताप करने लगता है। जो हिम खंड गलकर शैल निर्झर न बन सके। दौड़कर जलनिधिके अंक न मिल सके। उसकी हिमखंडता व्यर्थ है। गलना-बहना और महोदधिकी अमर तरंगोंमें लहराने की समीहा-महाचितिकी लीलामय आनन्द वादितामें, विश्वके अभिराम उन्मीलनमें अनुरक्तिके ही समान है।[2] यह 'नैष्कर्म्य' नहीं वरन् जीवनको कर्मकी उद्दीप्तिसे उजागर कर शिवत्त्वकी ओर उन्मुख होना है। यह जीवनका तिरस्कार नहीं, भवधामको असफल बनाना नहीं, अपितु काम मंगलसे मंडिन श्रेय—सर्ग, जो इच्छा का ही परिणाम है, उसका आनन्द लेते हुए परम शिवत्त्वकी उपलब्धिके सदृश है। इसमें उत्कर्षके प्रयासका प्रारम्भ हो जाता है। मनुमें वह स्पष्ट परिलक्षित है।

ध्वंसमानताके ही भेद किंचिद्ध्वंसमानता' की स्थितिमें आवरण कुछ कुछ टूटता दृष्टिगत होता है। कामायनीके १ से ८ सर्ग तक अर्थात् चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, और ईर्ष्या सर्गों तक 'दिध्वं-

---

१. कामायनी, आशा, पृ० २८, पं० १–४। ९–१२, ५-८।

२. श्रद्धा, पृ० ४८, पं० ९–१६।

सिषुता' ही है। मनु पंचभूतकी रचनामें एकतत्त्व बनकर रमण करना चाहते हैं और द्वैतको प्रेम बांटनेका प्रकार मानकर आगे बढ़ते हैं।[१] यह विज्ञानाकल दशा है। वह व्यक्ति अपनी कार्य (परम्परा) का परित्याग कर देता है।[२] किन्तु उसका संकोच उसे विवश करता है। यह आणव दशाही है। यही कर्म की कारण बनती है। पूर्वाज्ञानके ध्वंसकी इच्छा इस अवस्थामें होती रहती है।[३] यह विज्ञानाकल व्यक्तित्त्व है।

कामायनीके इड़ा, स्वप्न और संघर्ष तीनों सर्ग किंचिद्ध्वंसमानता स्थितिके द्योतक हैं। इसमें कर्म जहां निमित्त होता है, वही कार्म मल होता है। कर्मके निमित्त उपर्युक्त १४ अभिलाष आदि मल ही हैं। यही कर्म वैचित्र्य है।[४]

कर्मका निरोध नितान्त दुष्कर कार्य है। इसके प्रवाहको रोकनेके लिये कर्म ही कारण भी बनता है। कर्म को संयमित करना तप है। तपसे भी कर्म का नियंत्रण होता है। कर्म और तपके अतिरिक्त ज्ञानसे भी कर्मका निरोध होता है।

ज्ञानके बलसे हेय और उपादेय भावरहित वृत्तिका उत्कर्ष होता है। ज्ञानका अग्नि देहस्थ समस्त अकृत और दुष्कृतको जला डालता है। किन्तु ज्ञानावस्था प्राप्त करनेके लिये कर्म संस्कार अनिवार्य है। कर्मको ही संस्कृत बनानेकी ५ अवस्थायें ऊपर वर्णित हैं, जिसकी दूसरी अवस्था 'किंचिद्ध्वंसमानता' है। एक तरफ तो इसमें जीवनके विक्षुब्ध महा-समीर झंझा प्रवाहके समान जिस गहन गुहासे निकल पड़ते हैं, उसकी जिज्ञासा होती है। अस्तित्त्वका चिरन्तन धनुष तन जाता है और उससे यह विषम जीवन तीर छूट जाता है। पता नहीं किस लक्ष्यका बेध इस क्रियाका निजी लक्ष्य है।[५]

दूसरी ओर अभी मनु जीवनकी स्थिर मुक्ति और प्रतिष्ठा भी नहीं चाहते वरन् अपनेको अबाध गति मरुत मानकर अपने मनकी ही करना चाहते हैं। वे ज्वलनशील गतिमय उस पतंगके सदृश हैं, जो अग जग

१. कामायनी, पृ० १५३, पं० ५–१०।
२. ईर्ष्या, पृ० १५४, पं० ९–१०।
३. तन्त्रालोक, आ० ९। ७४। ९५–९८। ४. आ० ९। ८४–८६।
५. कामायनी, इडा। पृ० १५७, पं० १–९।

चूमता चला जाता है। उसके प्रतिपगमें (किरणोंमें) कम्पनकी तरंगे हैं।[१] कल्पना लोकमें निवास करने वालेको उजड़ा स्वप्न दीख पड़ने लगता है। ऐसी अवस्थामें भला उसे कुसुमके हासके दर्शन कैसे हो सकते हैं।[२]

शिव परम प्रकाश स्वरूप हैं। उन्हीं के प्रकाश से विश्व भी प्रकाशमान है। पर प्रकाशसे व्यतिरिक्त न होने पर भी धरा आदिकी व्यतिरिक्तता दृश्यमान है। उसी तरह मल भी पृथक् दृश्यमान है। पर प्रकाश से इसकी व्यतिरिक्तता नहीं है। यह मुक्ताणुओंको आवृत नहीं करता। जिनका ज्ञान संकुचित होता है, जिनके अज्ञानका ही विजृम्भण होता है, उनके ऊपर इसका आवारकत्त्व चरितार्थ होता है। यह व्यापक होते हुए भी प्रत्येक पुरुषके ज्ञान और क्रियात्मक स्वरूपको ही आवृत कर लेता है। चूंकि शिव अनादि शुद्ध बोधरूप हैं। इसलिये उनके प्रति या ज्ञानवान्के प्रति इसकी आवश्यकता नहीं होती है।[३]

इड़ाका मनु प्रलयाकलसे विज्ञानाकलकी श्रेणीपर पहुंचता है। मलके त्राससे इसमें 'किंचिद् ध्वंसमानता' होती है। सद्विद्याका अंकुरण होता है। जिस तरह शिवका बहिरौन्मुख्य शक्ति है, उसी तरह ईश्वरका बहिरौन्मुख्य सद्विद्या है। सद्विद्याके अंकुरणमें क्रिया शक्तिकी प्रधानता होती है। इड़ाका मनु सर्वाधिक क्रियाशील है। क्रियाशीलतामें बोधकी स्थिति अपूर्ण मन्यताकी होती है, इसमें स्वरूपकी हानि होती है। यही कारण है कि, मनुके दुःखमय जीवनका प्रकाश नभकी नील लताकी डालोंमें हताश होकर अपने सुखसे उलझा हुआ है[४]।

चेतना (सद्विद्या) की किरणें डूबने लगती हैं। वे निर्विकार होती हैं। ज्योतिकलाका किंचिद् विकास दृष्टिगोचर होता है, मायारानीका केशभार जीवन निशीथका अन्धकार बन जाता है। यह सभी कुछ

---

१. कामायनी, इडा, पृ० १५७, पं० १५–१८।

२. कामायनी, पृ० १५८। तां० ८–९। श्रद्धा, पृ० ४९, पं० १२।

३, तन्त्रालोक। आ० ९, श्लोक ६३–६९ का भाष्य।

४. कामायनी, इड़ा, पृ०१५८, पं०१०-११।

अभिलाषाके नव ज्वलन धूमके समान दुर्निवार भावसे घूमने वाला है। इसमें लालसा अपूर्ण होती है। कसक होती है। वहां पिक प्रणोंकी पुकार सुनाई देती है। सूखे तरुपर मनोवृत्ति आकाश-बेलिके समान हरी भरी रहती है। जीवन समाधिके खंडहरपर दीपक (ज्ञानके) अशान्तभावसे जल उठते हैं और फिर शान्त हो जाते हैं[१]।

असुरोंमें प्राणोंकी पूजाका प्रचार कोई आश्चर्यका विषय नहीं है। देव भी 'मैं सतत आराध्य आत्ममंगल उपासनामें विभोर उल्लासशील आत्मकेन्द्र' मानकर भी और यह सोचकर भी कि, मैं किसकी शरण खोजने जाऊँ ?' की जिज्ञासाके अनुसार प्राणोंकी पूजाका प्रचार करते हैं।

यह जीवन आनन्द-उच्छलित शक्तिका केन्द्र है, विकासके वैचित्र्यसे ओत-प्रोत है—यह अपना नव निर्माण किये हुये सदैव हरा रहता है। यह अपनी 'अपूर्ण अहंता से विवश होता है' अपनेको ही प्रवीण मानकर चलने लगता है। यह भी इसका दुर्निवार हठ बन जाता है। ममत्वमय आत्ममोहकी स्वातन्त्र्यमयी उच्छृंखलता और प्रलय भोतिके कारण तन-रक्षाकी व्याकुलता श्रद्धा विहीनतासे और भी दीन बना देती है[२]।

दार्शनिक शैव दृष्टिमें यह 'मन्त्र' स्थिति कहलाती है। इसमें द्वन्द्वोंका उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता है। अपनी रुचिसे बँधा हुआ व्यक्ति जिसको चाहता है, बोन लेता है। प्राणमणी ज्वालाका प्रणयप्रकाश सदैव गृहीत नहीं होता।[३] फिर नियति-चक्रके प्रवर्त्तन का यन्त्र बनकर ही व्यक्ति रह जाता है।

सरस्वतीका प्रवाह कर्मकी निरन्तरताका प्रतीक बनकर बह रहा है। ईड़ाका स्वयंका चित्र इसी 'मन्त्र' दर्शनका माध्यम है। अनुराग और विराग ही उसकी आंखें हैं। अनुराग तत्त्वमें दो बातोंका समावेश होता है। १—लोलिका और २—बुद्धिधर्म (सांख्यमतानुसार)। लोलिका लालसाकी दार्शनिक संज्ञा है। इसके द्वारा सामान्याकारमात्रावच्छिन्न वृत्तिका उदय होता है और बुद्धिके धर्मके रूपमें तत्तद्विषयाभिलाष उत्पन्न होता है, और जागतिक अध्यवसाय सम्पन्न होते हैं। रागकी यह दोनों

---

१. कामायनी पृ० १५९, पं०१-१७, पृ० १६०।

२. कामायनी इड़ा पृ०१६१, पं० ४-१८। ३. तन्त्रालोक, आ०९।५०-५४।

अवस्थायें इड़ामें प्रतिफलित हैं। उसके वक्ष स्थलपर ज्ञान और विज्ञान धरे हुए हैं। वसुधाके जीवन रसका सार सर्वस्व लिये हुए वह एक हाथमें कर्म कलश लिये हुये है। दूसरा हाथ विचारोंके नभको अवलम्ब दे रहा है।[1]

इस प्रकार इड़ा सर्गमें प्रज्ञावादका प्रस्थापन किया गया है। गगनके-हास्य[2] का दर्शन है। जीवनको कर्मोंकी पुकार और सुख साधनका द्वार बनानेका आग्रह है। स्वप्नमें प्रतिबिम्बवाद, एवं सुख दुःखकी लड़ियोंको सुलझानेकी जिज्ञासा है। आकांक्षाकी लहरिकाओंका दुःख तटिनीपर टकराव, मनुका नगर, वर्गवाद, देशकालके लाघवका विचार, नर-प्रयत्न, स्वचेतन प्राणीकी अपनी कुशल कल्पना, स्वावलम्ब, सृष्टिबीजका अंकुरण-पल्लवन, प्रफुल्लन और फलन, श्रद्धाके स्वप्नलोककी समृद्धि[3]—यह सारी बातें एक विशेष रहस्यका उद्घाटन करती हैं। यह कर्म कलापका क्रिया विभव है। इस वैभवका प्रभाव भीषण होता है।

स्वयं मर्यादा बनाकर स्वतः बद्ध हो जाने वाली शक्ति शिवात्मक न रहकर पशु बन चुकी है। पशु[4] यहां अमर्यादित हो उठता है। परिणामतः अन्धकारकी घन माया फैल जाती है। यह तमसावृत कालिमाकी माया ही प्रलय है।

इड़ाका आलिङ्गन करनेके लिये मनुका अग्रसर होना और अन्तरिक्षमें रुद्रकी हुंकार, गगनकी देव शक्तियोंका क्षोभ, रुद्रके तृतीय नेत्रका खुल जाना और अजगवपर प्रतिशोध भरी शिंजिनीका तन जाना, प्रकृतिका त्रास, प्रजाकी असहायता और उसका क्षोभ[5], शक्ति तरंगोंका आन्दोलन और उधर उसपार महानील लोहितज्वालाका नर्त्तन, मनुका जीवनका लेना देना सोचने शयनकक्षकी ओर प्रस्थान, इन बातोंके क्रमिक चित्रणमें प्रसादने हेय और उपादेयको विश्वके समक्ष प्रस्तुत कर दिया

१. कामांयनी, इड़ा, पृ०१६३, पृ० १६७, ६८।
२. कामायनी, इड़ा, पृ० १४६, पृ० १७१।
३. ,, स्वप्न, पृ० १७६-१७७, पृ० १७९-१८३।
४. कामायनी, पृ० १८४, पं० १५।
५. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, १६०, कामायनी, पृ०१८५,पं०१-१२।

है। प्रकृतिकी तांडव लीला रुक नहीं रही थी। भौतिक विप्लव देखकर प्रजा घबरा गयी थी। बुद्धिबलसे चलने वाले मनुके प्रयत्नकी असफलता और अन्तर्द्वन्द्वकी स्थितियां मनुकी भौतिक मान्यताओंपर करारी चोट हैं।

इड़ाने यह स्पष्ट किया है कि, यह मनुष्य चेतनाका विकसित आकार है। अपने ही आवरणोंसे निर्मित यह विश्व है। चिति केन्द्रोंका सततगतिशील संघर्ष—द्वैधताके भावको भरा करता है। व्यक्ति चेतना रागपूर्ण बन गयी है। द्वेषके पंकमें सन गयी है। अपने लक्ष्यके समीप चलनेका नामही जीवन है। यही बुद्धिकी साधना है। अनन्त चेतन उन्मद गतिसे यहां नाच रहा है। मनुने भी यहां उसीका अनुसरण किया है'। यही ज्ञान संकोचका द्वैधीभाव रुद्रका नाराच बनकर मनुपर गिरता है[१]।

कामायनीका निर्वेद सर्ग 'ध्वंसमानता' का चित्र है। इस स्थितिके आजानेपर मन्त्रेश्वरत्वकी प्राप्ति हो जाती है। इसमें भव रजनीके भीमस्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है और उसकी पुकार सुनाई देने लग जाती है।[२] विगतकर्मके विष विषाद आवरणसे आवृत सारस्वत नगर मलिन दीख पड़ता है।[३]।

चतुर्दिक शून्यके वातावरणके बीच, जहां धराका आधार न हो, कौनसा परदेशी आ सकता है। इसकी अनुभूति इड़ा ही कर सकती है[१]। यहां सकल आत्मा ही परदेशी है। सकलकी दो शक्तियां होती हैं। १—विद्या, २—कला। कलामें ज्ञानेन्द्रियां सजग रहती हैं और कलामें कर्मेन्द्रियां[५]। दनोंके प्रयोगसे मनु शासनके चित्रधार बन जाते हैं[३]। श्रद्धाके पुनर्मिलनके प्रसङ्गमें उन्हें इस बातका बोध हो जाता है कि,

---

१. कामायनी, पृ० १८६, १८९, १९२, १९३, २०० ।

२. कामायनी, निर्वेद, पृ० २०५, पं० ९१२ ।

३. तन्त्रालोक, आ० ८, पृ० १४३, श्लोक २०३, कामायनी निर्वेद, पृ० २०४

४. कामायनी, निर्वेद, पृ० २०९, पं० १-४ । ५. तन्त्रसार, पृ० ९३ ।

६. कामायनी, निर्वेद, पृ० २०९, २१८, २१९, २२१, २२६, २३६ ।

अन्धकार बड़ा भयावना है। कहीं वे इसमें पुनः खो न जांय। इस छायाके बाहर ही रहनेके लिए वे व्यग्र हो उठे हैं। यहां तनिक रहना भी उन्हें सह्य नहीं है।

नीले नभके नीचे छाया पथके समान श्रद्धाकी मङ्गलमयी स्मितिही उनके हृदयको खोल देनेके लिये पर्याप्त है। उसने ही विश्वको खेलके सदृश खेलनेकी शिक्षा दी थी और सबसे मेल करनेकी भावना भी।

मङ्गलकी मायाको समझना साधारण नहीं। यही मनुकी अधमता थी, जिसमें उन्होंने अपना समय गंवाया था। मनुके भीतर आंधी उठ रही थी। परिणामतः वे अपनेको अपराधी मान बैठते हैं।

'किंचिद्ध्वंसता' की चौथी अवस्था यहींसे प्रारम्भ होती है। उनके मनमें यह बात बैठ जाती है कि, मेरा निवास वह नीड है, जहां शाश्वत सुख मिल सकता है। ये सारे विभाग भौतिकताके ही हैं। यह जगत नित्य है। और चितिका स्वरूप है[१]। यह शतशत परिवर्तनमय विश्व सतत आनन्द मय है।

विरह मिलनके नृत्यमें निरत एक राग ही यहां गाया जा रहा है। उसका मुख्य स्वर है—,जाग जाग' श्रद्धा मनुको उनकी मुक्तिका सन्देश देती है। मनुके हृदयमें एक स्पन्दित आह्लाद प्रभापुंज विकीर्ण करता है। चितिमय प्रसादकी प्रसन्नता उन्हें प्राप्त हो गयी है। आनन्दपूर्ण तांडवसे श्रम सीकर झर रहे हैं। संहार और सृजन दोनों गतिशील है। अनाहत नाद सुनाई पड़ रहा है। मनु नर्त्तित नटेशको देख पाते हैं। वह समरस अखण्डवेश शिव उन्हें दृष्टि गोचर हो जाता है।

मनुके लोचन निर्निमेष थे। शून्यसार इतना अनन्त था कि, जिसके आर पार कुछ देखनेकी स्थिति नहीं थी। कुछ ही क्षणोंमें तमस् जाल अलक जाल बन जाता है और सर्वांग विशाल ज्योतिर्मय हो उठता है। चित्सत्ता शून्य मेदिनी बन गयी थी।

---

४. ई० प्र० वि० आ० । कारिका १२-१३, कामायनी, दर्शन पृ०२४२।

यह मन्त्र-महेशत्त्व है। नटराजको नृत्य निरत देखना, अन्तरिक्षका मुखरित औंर प्रहसित होना, दिशाकालका लुप्त होना, मन्त्र महेश्वर दशाकी अनुभूति ही है, जिसमें समरसता और अखण्ड आनन्दवादका स्वारस्य ऊर्जस्वित होता है[1]। इतना होनेपर भी अभी बुरे संस्कार पूरी तरह ध्वस्त नहीं होते हैं। 'किंचिद्ध्वंसता' की संज्ञा इसीलिये दी गयी है। मनुके मनमें बचा खुचा कुसंस्कार जोर मारता है और वे पुनः उसी विन्दुपर पहुँचना चाहते हैं, जहांसे रूठकर चले आये हैं। वे कुसंस्कार नीचे छूट गये हैं पर उन्हें अभी वे भूल नहीं पाये हैं[2]।

श्रद्धा अशुद्ध अध्वापर परावर्त्तनकी कामना वाले मनुको सावधान करती है, उनकी अनुभूतिको उद्‌बुद्ध करती है। उनकी घबराहट को दूर करती है। मनुकी आखें खुल जाती हैं। मानो वे कुछ त्राण पा गये हों। उनकी स्थिति भावनाकी उच्च भूमिकापर पहुँच जाती है, जहां 'सकलाकल' भुवन होता है। अभिनव ऊष्माका अनुभव, ग्रहतारक नक्षत्रोंका अस्त होना, दिवारात्रियोंकी सन्धियोंका अभाव, ऋतुओंके स्तरका तिरोधान, रेखा विलीन भूमण्डल और उस निराधार देशमें नवीन चेतनाका जागरण तथा त्रिपुरका दर्शन उनकी आदि शिवत्त्व की उपलब्धिके निदर्शन हैं[3]।

त्रिकोणके मध्य विन्दुके रूपमें वे अवस्थित हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रियाका वहां समन्वय हो जाता है। यही मलकी 'ध्वस्तता' है। रहस्यके अन्तर्निहित तत्त्वोंका उद्‌घाटन जैसा प्रसादने यहां किया है और उसका क्रमिक लाक्षणिक वर्णन जो प्रस्तुत किया है, वह प्रत्यभिज्ञा दर्शनकी मान्यताओंका ही प्रस्थापन है[4]।

---

१. कामायनी, दर्शन पृ०२४२, २४९, २५१-२५४।

२. कामायनी, रहस्य, पृ० १५९, पं०५–१२।

३. कामायनी, रहस्य, पृ०२६०, २६१।

४. कामायनी, रहस्य, पृ० २६२, पं० १ से पृ०२६५, पं०८ तक। पृ०२३६ पं० १से पृ०२६९, पं० ४ तक। २६९ पं०९ से २७२, पं० १६ तक।

ध्वस्तता की दशामें इच्छा, क्रिया और ज्ञान मिलकर लय हो जाते हैं। स्वप्न, स्वाप और जागरण भस्म हो जाते हैं। दिव्य अनाहत नादमें श्रद्धा और मनु तन्मय हो जाते हैं[1]।

उक्त १४ मलोंकी ये पांच आवृत करने वाली 'दिध्वंसिषुता, किंचिद् ध्वंसमानता, ध्वंसमानता किंचिद् ध्वस्तता और ध्वस्तताकी आवृत्तियोंसे क्रमिक रूपसे मुक्त होने वाला जीव क्रमशः, विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मंत्र महेश और आदि शिवत्त्वको प्राप्त करता है। इन पांचों रूपोंके अन्तमें ही आनन्दकी रस-धार बहती है, जहां इसलिये यात्राकी जाती है कि, जीवन घट को पीयूष रससे भर लिया जाय।[1]

श्रद्धा और मनुका समन्वित आनन्दवादी स्वरूप अनुत्तर आनन्दका 'अकार' है। स्वरमें अभिव्यक्तिकी स्थूलता नहीं होती। स्थूलता व्यंजनसे प्रारम्भ होती है। पाणीनीय व्याकरणके अनुसार व्यंजनका आदि हकार है। वह स्थूल है। यही कुमारावस्थामें विसर्ग है। अ के साथ विसर्ग संयोगसे अः निष्पन्न होता है। मानो आनन्दकी गोदमें सृष्टिका विसर्ग बैठा हो।[2] चिर मिलित प्रकृतिसे पुलकित वह चेतन पुरातन पुरुष अपनी शक्तिसे तरंगायित हो रहा था। आनन्दका शोभन अम्बुनिधि[3] अनुत्तर आनन्दके अकारमें समाहित हो गया था। कुमार अभिव्यंजनका स्थूलरूप विसर्ग है। वह श्रद्धाके अंकको भर रहा था। पर श्रद्धा वहां कहां थी ? वह तो अर्द्धनारीश्वरकी अर्द्धाङ्गिनी थी, जो अकारसे व्यतिरिक्त है हो नहीं। कुमारका श्रद्धाकी गोदमें बैठना 'अ' के साथ विसर्गका संयोग है। ऐसी दशामें बुद्धिको श्रद्धाके चरणोंपर पड़ना ही पड़ता है। बुद्धिको समझ तभी आती है कि, पहले उसमें तनिक भी समझ न थी। इसके बाद यात्रा सफल होती है और सभी अघ छूट जाते हैं।

---

१. कामायनी, रहस्य, पृ०२७३, पं० १७-२०।

२. कामायनी, आनन्द, पृ० २८३, पं० ३-४।

३. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० ७३, श्लोक ५९४-५९६।

शिव और सर्गमें अवयावयविभाव सम्बन्ध है। मनुरूप शिवके सभी अवयव हो गये हैं। अवयवी पूर्ण और अवयव पूर्ण। कहीं कमीका कोई प्रश्न ही नहीं है। जीवन वसुधा समतल हो गयो है। जो जहां है वहीं समरस है, फिर शापित और तापित होनेका प्रश्न ही कहां है ?[१]

इस विन्दुपर समरसता वाद,[२] बिम्बप्रतिबिम्बवाद,[३] अभेदवाद,[४] चिति माहात्म्यवाद[५] सबकी सर्वशिवतावादमें समाहिति हो जाती है। अभासावाद[६] सर्वप्रकाशवादमें परिणत हो जाता है। प्रेमकी विमल ज्योति सभी आंखोंमें प्रज्वलित हो जाती है। परिणाम स्वरूप अपनी ही एक कलासे सभी परिचित हो जाते हैं।[७]

जड़ या चेतनकी समरसताको सर्वोत्कर्ष भावस्तर पर पहुँचाकर कामायनी चेतनाके विलासमें अखंड आनन्दकी अनुभूति देकर स्वतः शिव बन जाती है[८] और समस्त विश्वको शिवत्वका सन्देश देती है।

मल (कञ्चुक) आवारक तत्त्व हैं। ये शिवको आवृतकर जीव बना देते हैं। कामायनीमें सर्ग-क्रमसे आवरण या आवेशकी स्थितियोंका चित्र नीचे दिया गया है। इसमें आणव, शाक्त और शाम्भव स्थितियोंके साथ मलोंकी १४ दशाओंका भी चित्र है। दिध्वंसिषुता, किंचिद्ध्वंसमानता, ध्वंसमानता, किंचिद्ध्वस्तता और ध्वस्तताकी ५ दशायें भी हैं। उपयोगिताकी दृष्टिसे यह चित्र आवश्यक है।

---

१. कामायनी, आनन्द, पृ० २८६, २८८।

२. कामायनी, पृ० २८८, पं० १-४।

३. आनन्द, पृ० २८८, पं० ९-१२।

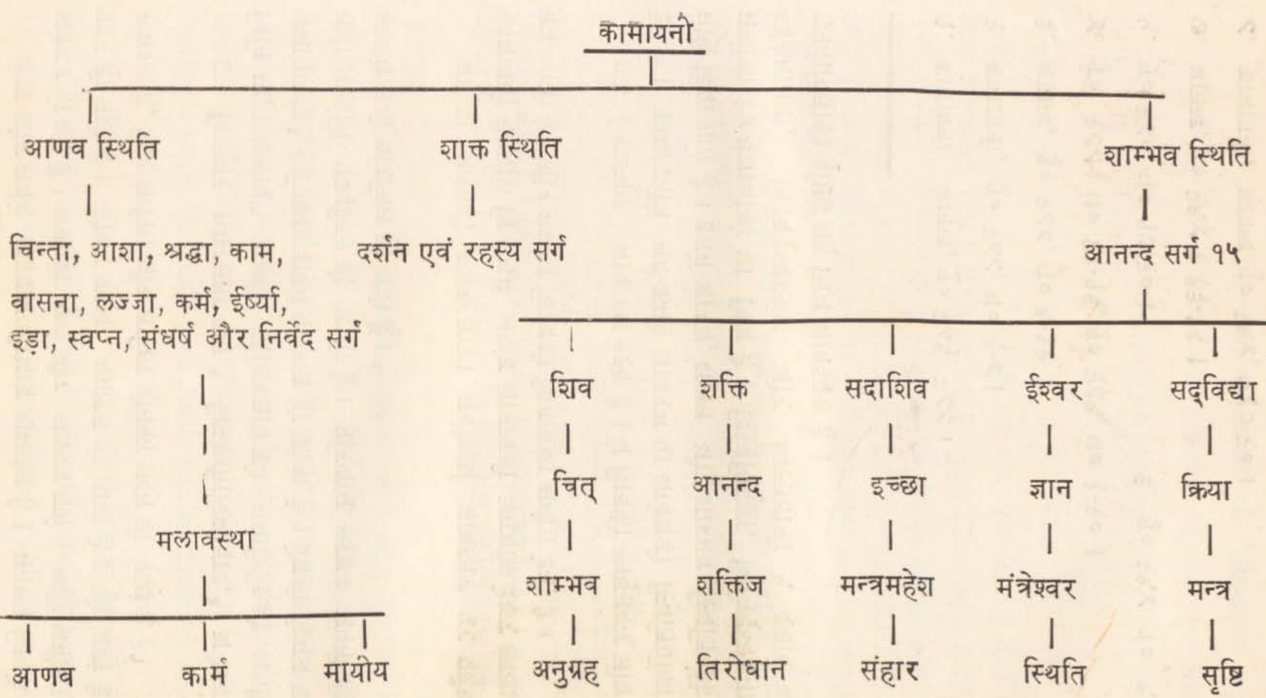
४. पृ० २८८। पं० १३-१६, पृ० २८९, पं० १-२०।

५. पृ० २८८, पं० १७-२०।

६. पृ० २९४ पं० ९-१२।

७. आनन्द, पृ० २९४ पं १३-१६।

८. कामायनी, आनन्द पृ० २९४, पं१७-२०।


कामायनी
आणव स्थिति
शाक्त स्थिति
शाम्भव स्थिति
चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम,
वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या,
इड़ा, स्वप्न, संघर्ष और निर्वेद सर्ग
दर्शन एवं रहस्य सर्ग
आनन्द सर्ग १५
मलावस्था
आणव
कार्म
मायीय
शिव
शक्ति
सदाशिव
ईश्वर
सद्विद्या
चित्
आनन्द
इच्छा
ज्ञान
क्रिया
शाम्भव
शक्तिज
मन्त्रमहेश
मंत्रेश्वर
मन्त्र
अनुग्रह
तिरोधान
संहार
स्थिति
सृष्टि

चौदह मल और १४ कामायनीके सर्ग—

१–अभिलाषा—चिन्ता सर्ग।	२–दोषबीज—आशा सर्ग।
३–अज्ञान—श्रद्धा सर्ग।	४–शोष—काम सर्ग।
५–विमूढ़ता—वासना सर्ग।	६–अनुप्लव—लज्जा सर्ग।
७–लौकिक—कर्म सर्ग।	८–भवदोष–ईर्ष्या सर्ग।
९–माया—इड़ा सर्ग।	१०–अविद्या—स्वप्न सर्ग।
११–अहंममात्मक आतङ्क—संघर्ष सर्ग।	१२–ग्लानि—निर्वेद सर्ग
१३ पशुत्व—दर्शन सर्ग	१४–आवृत्ति—रहस्य सर्ग।

सर्ग क्रममें मलके आवरणकी पांच अवस्थाएं

१	२	३
दिध्वंसिषुता	किंचिद्ध्वंसमानता	ध्वंसमानता
१-८ विज्ञानाकल	९-१०-११ मन्त्र	१२ मन्त्रेश्वर

४	५
किंचिद्ध्वस्तता	ध्वस्तता
१३ मन्त्रमहेश	१४ सदाशिव

मलरहित अवस्था :—

आवरणसे उन्मुक्त कामायनी का पन्द्रहवाँ आनन्द सर्ग—यह सर्ग शाम्भव समावेशका प्रतीक है।

•

४: (८) भावरूपक

१–कामना

'फूलों' के द्वीपमें समुद्रके किनारे लेटी हुई कामना उषाके अपांगमें विद्यमान जागरणकी लालीका दर्शन करती है और पृथ्वीके प्रांगणमें प्रभात टहलने लगता है।[१] कामना अभिलाषका ही दूसरा नाम है। अभिलाषा रूपी लतिकाका आधार संसारका वृक्ष है, जिसके तले शिवामृत-समुद्रके किनारे फूलोंके द्वीपमें वह निवास करती है। संसारके अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होनेकी प्रक्रियाका समीकरण शिवके अणु स्वभावके कारण ही होता है।

कामना संतोषको अकर्मण्य कहती है।[२] अकर्मण्य निष्कर्मा बनकर अज्ञान नामक मूलमलसे आविष्ट रहता है। परिणामतः वैचित्र्यके अभाव के कारण न शुद्ध अध्वाकी ओर जा पाता है और न वहांसे नीचे आ पाता है। ऐसे व्यक्तिसे कामनाकी पट भी कैसे सकती है? सन्तोष भी उससे अलग ही रहना चाहता है। कामनाकी बहन लीला है। लीला ही तो उल्लासिनी शक्ति है। बोधके महासिन्धुमें यह उत्पन्न होती है। लीला के पथपर चलनेसे सन्तोष इन्कार करता है।[३] कामना और विलास तथा महत्त्वाकांक्षाका कार्य-कलाप आगे बढ़कर मोहको उत्पन्न करता है। अपराध और निषेधकी पूर्वावस्थाका चिन्तन विवेकको भी व्यथित करता है।

विलास इस नये द्वीपके जीवनपात्रमें अमृतमयी हाला ढाल देता है। विवेकको विलास पागल कहता है। विवेक इन सब प्रपंचोंसे दूर भागता है। कामना और विलासके विचारोंमें नियम, नियति का निर्माण करते हैं। असफलता ग्लानि और प्रतिफल भी उत्पन्न करते हैं। विश्वमें व्यक्ति जानते हुए भी अनजान बन जाता है।[४]

---

१. कामना, पृ० ७, अं० १, दृश्य १, पं० ३–६। २. पं० ११।
३. कामना, अं० १, दृश्य २, पृ० १४, पं० २।
४. कामना, पृ० ३३, ३४, ३७, ४५।

विलास शुद्ध अध्वाका निर्वासित व्यक्ति है और अशुद्ध अध्वाका राजा है। आनन्दके लिए ही अलात-चक्र में दग्ध करनेकी व्यवस्था है। कामना विनोदके सेनापतित्वमें और विलासके मन्त्रित्वमें अपनी नीतिका सूत्रपात करती है। विश्व खेल बन जाता है। इसमें खेलनेके लिये बुलाया जाता है और उसमें फँसाकर नचाया जाता है। स्वयं ज्वाला फैलायी जाती है। जब उसपर पतंग गिरने लगते हैं, उन्हें भगानेका प्रयास होता है। इससे सुन्दर खेल हो ही क्या सकता है?[1] इस खेलमें दम्भ, दुर्वृत्त, क्रूर और प्रमदा भी भाग लेते हैं, भूमि पिच्छल बन जाती है और स्खलन विवेक बनकर खड़ा होता है। फिर भी कामना अपने निकटतम रहस्यको अमावस्यासे भी काली चादरसे छिपाये रखना चाहती है। अन्तमें उसे विवेकसे लिपटर अपने पश्चात्तापकी पीड़ा शान्त करनी पड़ती है। विराट् विश्व और विश्वात्माकी अभिन्नताका विस्मरण और विषमताके विषमय द्वन्द्वका आखेटक बन पशु हाहाकार और रुदनका उपहार प्राप्त करता है। कामना इसके विपरीत महामिलनकी क्रीड़ाके अभिनयका स्मरण दिलाती है।[2] पूरा रूपक प्रत्यभिज्ञा की पृष्ठभूमि को पुष्ट करता है।

२—एक घूंट

एक घूंट भावरूपकमें कविने आनन्दवादी धाराका प्रवाह स्वतन्त्ररूप-से प्रवाहित किया है। आनन्द शिवकी कामनाका मूल रहस्य है। आनन्द-वादका आधार है—ज्ञान, भाव और कर्मका संतुलन। ज्ञान, भाव और कर्मके संतुलनमें इच्छा, ज्ञान और क्रियाका सामरस्य ही परिलक्षित होता है।

स्त्री और पुरुष, हृदय और मस्तिष्कके उभय पक्षके प्रतिनिधि हैं। दोनोंका साहचर्य मंगल जनक होता है। रसाल और आनन्द तथा वन लता और प्रेमलता आंखों और बन्धन दोनों को खोलने का ही सन्देश सन्देश प्रसारित करते हैं।[3] बन्धनका खोलना ही प्रसादका दार्शनिक प्रतिपाद्य विषय है।

---

१. कामना, पृ० ५० पं० २५-२७। २. कामना, पृ० ९१-९२।
३. एक घूंट, आश्रम संगीत।

४: (६)–नाटक

१–विशाख

विशाखका रचनाकार शैव दृष्टिके माया पक्षको उद्‌घाटनमें प्रवृत्त है। उसका मन्तव्य बौद्धोंके ह्रास, धर्म सांकर्य, राजशक्तिके दुःशीलत्व और प्रजाके पीड़न-उत्पीड़नका ही चित्रण भी था। यह कृतिकविकी, अंकुरति कमनीयताकी प्रतीक है। इसके द्वारा यह ज्ञान हो रहा है कि, कविकी दृष्टि उषाके समान अरुणोदय ला देना चाहती थी। संसारको कूप और मिथ्या मानने वालोंके प्रति उसके मनमें आक्रोश है[1]।

जो साध्य है, अन्वेष्टव्य है, वह तो आनन्द रूप ही है। आनन्दवादके प्रति आकर्षण कदिके प्रत्यभिज्ञानको जाग्रत कर रहा था। खोजने वालेसे ही वह प्रश्न करता है—'तू किसे खोजता है? वह तो सर्वस्व है—वही सबका स्वरूप है[2]।

उस विशाल विश्वरूप परमेश्वरके प्रेमके प्रभावने सबको पागल बना दिया है। परमेश्वरका प्रेमही चिति है। चिति स्वेच्छासे ही स्वभित्तिमें ही विश्वको उन्मीलित करती है। उसीका ममत्त्व चेतना लेकर घूम रहा है[3]। इसी विश्वमें शक्तिके स्वरूपको पहचाननेके लिये शान्तिकी सत्ताका साक्षात्कार करना चाहिये। चूंकि यह शान्ति सत्ता करुणामें प्रत्यक्ष निवास करती है। इसलिये जिसका करुणाकोष पूरा है, वह अवश्य भगवान् है। ऐसी ही अवस्थामें तृणसे त्रयस्त्रिंश तकको समसत्ताका भान हो जाता है। समसत्ताके भान हो जानेमें प्रत्यभिज्ञाका परिमल प्रणयवनको पावन कर पाता है[4]।

●

---

१. विशाख, अं० १, दृश्य ४, पं० ८-९। प्रत्यभिज्ञा हृदयम् सूत्र १६-१७।

२. विशाख, अं १, दृश्य ४, पं० १६, १९, ५।

३. विशाख अं० १, दृश्य ४, पं० १५।

४. विशाख, पृ० २७, पं० १३ तथा दृश्य ६ अं० २, पृ० ५५ पं० ५-८।

२–अजात शत्रु

गौतम बुद्धके जीवनकालकी घटना होनेके कारण बुद्धकी सक्रियता और जीवनमें उसे उतार लेनेकी आग्रह शीलताका यह चित्र है। इसमें प्रत्यभिज्ञादर्शनका अखण्ड आनन्दवाद प्रतिपादित नहीं हुआ है, वरन् करुणावादकी व्याख्या है[१]।

३–जनमेजयका नागयज्ञ

महाभारतकालीन विविध संदर्भोंके चित्रणमें रत रहते हुए जनमेजयके नागयज्ञका कृतिकार अद्वय–चेतन और नियति–प्रकृतिको नहीं भूल सका है। उसकी यह मान्यता है कि, मनुष्य प्रकृतिका अनुचर और नियतिका दास है।

सृष्टिके प्रारम्भमें शुद्धनाद[२] था। उसमें कोई पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरीकी विकृति नहीं थी। क्रमशः उसमें स्वरसरणी अग्रसारित हो गयी। कारण और कार्यकी अभिन्नता निश्चित है। कर्म भी चेतनाका ही प्रतीक है। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह जैसे शिव करते हैं, वैसे ही जीवभी करते हैं। केवल व्यष्टि और समष्टिका भेद मात्र है।

लीलामयकी लीला ही सुख दुःखके औपाधिक भेदसे भिन्न प्रतिभासित हो रही है। व्यक्तिका यह रूप खेल है। अन्यथा जीव ही शिव है— स्वामी है, केवल और स्वच्छ है। वह नियति प्रदत्त जागतिकताके कालुष्यको नियामक मानकर ही मिटा सकता है। अन्यथा अन्ध नियति कर्त्तृत्वमदसे मत्त मनुष्योंकी कर्म शक्तिको अनुचरी बनाकर अपना काम करती है[३]।

वास्तवमें विश्वात्माके उत्थानका महालक्ष्य लेकर चलना ही श्रेयस्कर है। प्रेम ही सबसे बड़ा संसारका आकर्षण है। लीलासे ही जल, थल और नभका कुहक बन जाता है। परछाईं सा वही हम सबमें खेल कर रहा है।

---

१. प्रसाद साहित्यकोश, पृ० ८, स्तम्भ १, पं० २७-२८।

२. तन्त्रालोक, आ०६। १६१-१६३। ४।१७५।

३. जनमेजयका नागयज्ञ, पृ०४३, ५१, ६६।

अहमितिसे अपनी सत्ताका पूर्णनुभव वही करता है और यह प्रत्यवमर्श होने लगता है कि, 'तू' 'मैं' ही हूँ।'[१] । बोध तीन प्रकारका माना गया है। १—मूल, २—मध्य और ३—अग्र। तू मैं ही हूँ—इस बोधमें तू और मैं का यह अवभास मध्य बोध है-इसीका संकेत प्रस्तुत नाटिकामें हुआ है[२]।

४–स्कन्दगुप्त

स्कन्दगुप्त नाटक संघर्ष, युद्ध प्रतारणा, षड्यन्त्र और प्रवंचनाकी राजनीतिका एक चित्र है। इसमें कवि इतना व्यस्त है कि, वह मानो अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमिसे नीचे उतरकर विडम्बनाओंके आडम्बरको निकटसे देखनेमें तल्लीन हो गया हो। जहां कहीं वैष्णव ब्राह्मण और बौद्ध वैषम्यका धर्मके सन्दर्भमें सामाजिक चित्रण है, वह कविका स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं—वरन् पात्रोंकी प्रज्ञाका ही प्रतिमान है। जहां कुछ व्यस्तताओंसे थोड़ा भी अवकाश कविको मिला है, वहां उसकी अपनी मान्यता शब्दोंमें स्वरूप ग्रहण कर सकी है।

संसृतिके सुन्दरतम क्षण उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। शिवकी निष्कर्म अवस्थाओं, इच्छाशक्तिके उन्मेषको वह क्या कहे? उचछृंखलता तो उसे कहा नहीं जा सकता! व्याकुल परिरम्भके मुकुलमें 'मैं' अलिके समान बन्दी बन गया है। हालाकी लहरिकाओंमें 'मैं' से सम्बन्धित सुख नापा जाने लगा है। अपनी ही क्रीड़ाके विभ्रमसे सुखानुभूति होने लगो है। मधु जलनिधिके मिलन क्षितिज तटमें हिलकोरकी आशा ही अब आश्रय रह जाती है[१]।

विश्वका उन्मीलन तो चितिकी इच्छाके फलस्वरूप ही होता है। इस विश्वकी इन्द्रजालीकी अनन्त इच्छाको पूर्ण करनेका साधन—यह मधुर मोह ही है। इसीके कारण अभिलाषसे मचलनेवाले भूखे हृदय (जड़-पशु-पुद्गल-जीव) को आधार मिलता है[२]। अभिलाष इच्छाका मूलाधार भी है और १४ मलोंका आदि मल भी है। मलोंके अभिलाष मूलक अस्तित्वकी पृष्ठभूमिमें ही जड़ प्रकृतिके चेतन रहस्यका प्रत्यभिज्ञान होता है।

---

१. जनमेजय नागयज्ञ, पृ० ९७, पं० २४-२५। २. तं० ८।१२-१४।

१. स्कन्दगुप्त, अंक १, दृश्य ३, पृ० -२। पं० १–१-।

२. स्कन्दगुप्त, पृ० २३, पं० २०–२२।

पुरुषत्व और स्त्रीत्वकी समष्टिमें क्रियाशील प्रकृतिके[१] प्राकट्यकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है। अपनी नियतिका पथ अपने पैरों चलनेकी आस्था उत्पन्न होती है।

सूची-भेद्य अन्धकारमें छिपने वाली रहस्यमयी नियतिका, प्रज्वलित कठोर निर्यातका नील आवरण उठाकर झांकने वाले प्रपंच-बुद्धि हो कहे जा सकते हैं[२]। अभी उसमें शक्तिका संकोच होता है, वह मलसे आवृत होता है। अतएव वह संसारी होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृतिका निरन्तर संगीत श्रवण भी आवरणकी 'ध्वंस्तता' दशाकी पहली अवस्था किंचिद्ध्वस्तताकी स्थिति ही होती है। इसी अवस्थामें जीवनका उद्देश्य कोई निगूढ़ रहस्य है—इसका ज्ञान भी हो जाता है।

अपने स्वरको विश्ववीणाके स्वरमें मिलानेके लिये परिष्कृत करना पड़ता है। विश्वके प्रत्येक कम्पमें एक 'ताल' है और प्रत्येक परमाणुके मिलनमें एक 'सम' है और प्रत्येक स्पन्दनमें एक 'लय' है—इसको समझना पड़ता है।[३] तभी छबिरसमाधुरी व्यक्ति पी पाता है, जीवन लतिकाको सींच पाता है और यह मायाका खेल जीवन-भर खेलता हुआ घने प्रेमतरुतले स्नेहसे गले मिल पाता है। जो ऐसी स्थितिके 'स्वारस्यसे वंचित रहता है, वह पशु है। उसे व्यर्थका लोभ है।[४] वास्तवमें जीवन सर्वात्माके उत्थानका सुन्दर स्थल है। जीवनका संगीत तभी मनोहर हो सकता है, जब सर्वात्माके स्वरमें, आत्म समर्पणके प्रत्येक तालमें अपने विशिष्ट व्यक्तिवादको विस्मृत किया जा सके। हृदय, चक्षु, चित्त और बुद्धिके कलहको 'मैं' मिटाता है—और व्यक्ति 'स्व' में स्थित हो जाता है[५]।

नदी कूलोंमें उफन कर बह चली है, तुमुल तरङ्गें हैं, पवन प्रचण्ड है और भयानक वर्षा है। फिर भी जीवनकी नौकाका चलानेका उत्तर-दायित्त्व है, इसे चलाना ही होगा। रागके दो रूप हैं। एक भौतिक और

१. स्कन्दगुप्त, अंक १, दृश्य ४, पृ० २६, पं० १०।
२. स्कन्दगुप्त, अंक 1, पृ० २८। पं० ४–५।
३. स्कन्दगुप्त, पृ० ४७, पं० १०-११। पृ० ४९।
४. स्कन्दगुप्त, पृ० ४९, पं० ९।
५. स्कन्दगुप्त, पृ० ८५, पं० 1। पृ० ६६, ९२।

दूसरा पारमार्थिक। प्रथमरूपमें तो वह वस्तुतः नीरस है किन्तु दूसरी दशामें वह रसीला बन जाता है। आनन्दही रस है। आनन्द की ६ अवस्थायें होती हैं। १—निजानन्द, २—निरानन्द, ३—परानन्द, ४—ब्रह्मानन्द, ५—महानन्द, ६—चिदानन्द। प्रथम तीन माता, मान और मेयकी भूमि का आनन्द है। चतुर्थ नील पीतादि सर्वभेद स्वीकरणमें उपवृंहणके कारण होता है। पंचम क्षोभका, लोलिका का और रागका सर्वात्मना अभाव है तथा छठां चिदानन्द सर्वोत्तीर्ण आनन्द है। इन सबमें प्रत्यभिज्ञाके परामर्शसे व्यक्ति जीव भावसे उठकर शिवभाव तक पहुँच जाता है। यहीं जीवन आनन्दमय बन जाता है[1]। और यह स्पष्ट हो जाता है कि, मैं ही सब कुछ हूँ। चिति रूपात्मक चिदैकात्म्य प्रतीतिपर ही जीवनमुक्ति सम्भव है।[2]

५–राज्य श्री

शक्तिकी भीख मांगने वाला जीव भी शक्तिके स्वारस्यपर राज्यश्रीपर मुग्ध होता है। वह उसके रूपकी वास्तविकतासे और अपने स्तरसे अपरिचित ही रहता है। स्वात्मप्रच्छादित, विस्मृत पशुका ही प्रतोक शान्तिभिक्षु है। प्रसादजीके इस ऐतिहासिक रूपकमें प्रत्यभिज्ञा दर्शनका विशेष प्रतिपादन नहीं है। ऐतिहासिकताका पक्ष ही प्रशस्त किया गया है। फिर भी इसमें शुद्ध अध्वाका प्रतीक मन्त्रेश्वर रूप दिवाकर मित्रका चित्रण है। वह मायाको, शक्तिको, चितिको तटस्थ भावसे देखता है। इस प्रकार इस नाटकमें प्रसादका आग्रह दार्शनिकताका निरूपण नहीं है।

६–चन्द्रगुप्त

आर्यावर्त्तके स्वर्णयुगके सूत्रपात्रका सन्दर्भ, उसकी भूमिका और उसकी प्रतिष्ठाके संयोजनका एक अनुपम आकर्षक और कमनीय प्रतीक 'चन्द्रगुप्त' हिन्दी नाट्य साहित्यका शिरोरत्न है। यह दर्शनका प्रतिपादन नहीं है और न ही दर्शन इसका प्रतिपाद्य विषय है फिरभी आत्माकी संकल्पात्मक अनुभूतियोंको काव्यकी अभिनव परिभाषा मानने वाले और उसी परिवेश-

---

१. स्कन्दगुप्त, पृ० १२४, पं० २। पं० ३-४।
२. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र १६।

में श्रेय और प्रेयकी प्रसूतिको स्वीकार करने वाले[1] प्रसादजीके काव्यमें दर्शनकी अविश्रान्त धारा प्रवहमान है, जिसमें अवगाहन सहज संभाव्य है।

प्रसाद साहित्यमें जहां कहीं राष्ट्रीय, मानवीय शक्तियोंका आकलन है—वहां भी दर्शनका साथ कभी नहीं छूटता है। वस्तुतः मानवात्माके सम्बन्धसे दर्शन और साहित्यकी समानता सिद्ध होती है। चन्द्रगुप्तमें भी यह रहस्य स्वतः आवृत हो गया है। 'स्व' शब्दकी समरसतासे इसका श्रीगणेश होता है। 'स्व' स्वतन्त्रमें स्वातन्त्र्य शक्ति होती है। प्रत्यभिज्ञा दर्शनके अनुसार 'स्व' का अर्थ अनुत्तर विमर्शमय शिव है। उसका तन्त्र उन्मेष और निमेष है। चितिके प्रसारमें ही जगत्का उन्मेष होता है और निवृत्त-प्रसरावस्था ही निमेष है[2]।

शिव प्रकाशरूप है। चिति उसकी शक्ति है। अतः वह भी प्रकाशैकात्मकतासे संवलित है। इससे सिद्ध हो जाता है कि, देश और काल तथा आकृतिमें जो कुछ प्रकाश्य वस्तुराशि है, वह भी प्रकाशमय है और यही 'स्व' का तन्त्र है। यही कारण है कि, चितिको स्वतन्त्रा कहते हैं। स्वतन्त्र शब्द विशेषण है[3]। इसमें 'स्व' ही सर्वस्व है। चन्द्रगुप्तका निर्माता भी 'स्व' के राज्यमें विचरण करने वाला असामान्य महा पुरुष है। वह अमृत

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३७, ३८।

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ६, तं० ८।२८३।

३. This is an abjedtive qualigying chiti. This means dependents only on itself and nothing else It means that it is absolved of all condtiions and is free to do any thing it likes. the word swatantra, has therfore. be rerdered by two words; viz, absolute, and of its own free will.

Pratyabhigya Hridayam–By Jaidevsingh,

P. 109 Line 21–26

होकर जीता है, मायाके स्तूपोंको ठुकरा देता है और प्रकृतिके कल्याणके लिये अपने ज्ञानका दान देता है'[1]। अपने शब्दमें भी, 'स्व' का सार-रहस्य ही अभिव्यक्त है।

स्वराज्य शब्दका प्रयोग इस अवसर पर बड़ा सार्थक है। प्रसाद जैसे दर्शनवादी साहित्यिक और साहित्यवादी दार्शनिक द्वारा प्रयुक्त यह शब्द विशेषरूपसे विचारणीय है। तान्त्रिकों और आगम-वादियोंकी दृष्टिसे सृष्टि प्रक्रियामें मातृका शक्तिका महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वराज्य शब्दमें स्, उ, अ, र, आ, ज्, 'इ' और 'अ' इतने वर्ण-समाम्नायके मूलतत्त्व हैं। सकार जीवनात्मक होता है।[2] 'उ' कार उन्मेष और 'अ' कार अनुत्तर शिवस्थितिके द्योतक है। इन दोनोंकी सन्धिसे अर्थात् अनुत्तरका आधार ग्रहण कर उन्मेषके विकसित होनेकी अवस्थामें 'व' कारका अभ्युदय होता है। यह सृष्टि सारका प्रवर्त्तक वरुण तत्त्व है।[3] 'र' कार अग्नि तत्त्व है। यह 'ऋ' और 'अ' अर्थात् गत्यात्मक तैजस ऋत और अनुत्तर 'अ'का दीर्घ स्फार आनन्दरूप 'आ' कार और आनन्दके सोमात्मक तत्त्वके संयोगसे बनता है। जगत् वस्तुतः अग्नि सोमात्मक होता ही है। राज्यका 'रा' कार प्रकाशमय और प्रकाशित आनन्दात्मक विश्वका प्रतिनिधि है। अ'की सृष्टि इच्छाके सावर्ण्यमें सम्पन्न होती है। चवर्गका यह तृतोयाक्षर है। इ, चवर्ग य और श तालव्य वर्ण है। इच्छा जननी है। जगत् धात्री है। इकारका प्रथम वर्णोदय चकार चितिका, द्वितीय वर्णोदय, छ प्रकाशका और तृतीय ज कार वर्णोदय जगतका का प्रतीक है। 'इ' और 'अ' अर्थात् इच्छा और अनुत्तर दोनों की सन्धिका स्वारस्य 'य' कार आता है। इसप्रकार स्वराज्य शब्दका अर्थ जीवन, उन्मेष, अनुत्तर, तेज, आनन्द, जगत्, इच्छा और परमशिव का सामरस्य है। इसी समरसताके क्षेत्रमें ब्राह्मण विचरण करता है।[4] इसीलिये वह अमृत होकर जीवित रहता है। शिवामृत परिप्लुतत्व ही ब्राह्मणत्व[5] है। यही प्रसादकी मान्यता है। तभी आत्मसम्मानकी प्राप्ति

१. चन्द्रगुप्त, अंक १, दृश्य १, पृ० ५७, पं० १-४।
२. तन्त्रालोक, आ० ३। २८३। ३. आ० ३.१५६
४. चन्द्रगुप्त, अं० १, दृश्य १ पृ० ५७, पं० १।
५. अं० १, दृश्य १। पृ० ५७, पं० २ तं० आ० १।८४।

हो सकती है। मालव और मागधकी सीमाका संकोच उत्सृष्टकर आर्यावर्त्तका आत्मविस्तार ही प्रसादको अपेक्षित है। इसीलिये चाणक्य पुरुषत्त्वका प्रतीक 'पुरुष, पंचनद नरेश (प्राण) से मिलने पर ही साफल्य की अनुभूतिसे सम्पन्न है। मनोबलमें स्वतन्त्रताका उदय भी ऐसी ही अवस्थामें होता है।

किरणें प्रकाशकी प्रतीक हैं। उनका प्रकाश भी परमप्रकाशकी उपाधिमात्र है। कनक किरणोंके अन्तरालमें वही परमप्रकाश मानो लुका छिपी करता है[1]। यौवन क्या है ? रस कणकी वृष्टि करने वाला एक घन, गर्वीला किन्तु नत, जिसमें अनन्त सौन्दर्यकी प्रतिष्ठा है, किन्तु लाजसे परिपूर्ण और मौन ! उसका यह मौन, उसका यह संकोच और उसका यह अमृत वर्षी स्वरूप है क्या ? उसमें तरल हंसी है, जो मधुकी सरिताके समान प्रवहमान है। उसकी वह हँसी जाती कहां है ? मानो तृषित समग्र प्रवाहको पी सा रहा हो। वह हँसी कभी अधरोंके कगारोंमें कल्लोल करती है और कभी कल-कल ध्वनिकी गुंजारोंमें गुंजरित होती है। पर उसकी प्यास बुझानेमें ही यह निहित और समाहित हो जाती है।

विभ्रमकी इस वेलामें जबकि रहस्यका सम्यक्तया उद्घाटन नहीं हो पाता, एक विवशता होती है। जब वह समाप्त हो चली हो, रजनी गंधाकी कली खिलने लग गयी हो, तो फिर दुकूलमें अपनेको आवृत करनेकी आवश्यकता क्या है ?[2] यही लुकाछिपी स्वात्मप्रच्छादन है, अचिदधिष्ठान है, अपोहन शक्तिका यह स्वातन्त्र्य है। यही परिच्छिन्न प्रकाशत्व है[3]। जगत् उसी यौवनकी अनुभूति है। यह सत्त्व, रज और तमके कारण सुख दुःख और मोहमय है।

भेद भूमिपर अभेदकी अभिन्नताका यह संगीत है। नियतिकी योजनाका विशिष्ट कार्य मण्डल है। शरद नीरदमालाके बीच चपला सी तड़पने वाली आह यदि उत्पन्न हो जाय और वह भीतर ही भीतर अपनेको क्षुब्ध

---

१. चन्द्रगुप्त, अंक १, दृश्य २, पृ० ६५। पं० २१–२२।

२. ,, अंक १, दृश्य २। पृ० ६६. पं० १-१२।

३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, आ० ४, पृ० ११३, तं० ३।१०१।

करती रहे—हँसीका शीत बचाती रहे और प्रलय तक अधीर भावसे यदि अपने लिए सुरक्षित लक्ष्य तक पहुंचे, तो ये सुन्दर विरह-निशीथके तारे ढुलक पड़ें और आंसू भरे तथा प्रियतमकी चाहसे भरे नेत्र पुलकित हो उठें[1]। स्पर्शमात्रसे ही भीषण तापसे छायाका वन भस्म हो जाय किन्तु ऐसे अवसरपर वृत्तियां रोकती हैं। कहती हैं—उस सोये हुए, सुकुमारको जगानेकी आवश्यकता नहीं है[2]।

यह समझमें नहीं आने पाता कि, हमें क्या करना चाहिये? काल अपने परदेको गिराता जा रहा है या उठाता जा रहा है। इसका ज्ञान नहीं रह जाता। वासनाके कारण सुवासिनियोंपर अनन्त राक्षस अपनी सत्ताको विस्मृतकर जीवनको लालसा लालित लालित्यसे ललित बनाना चाहते हैं और अमृत पान करनेके लिये सौ बार मरनेका नतमस्तक गर्व वहन कर रहे हैं।[3]

संसार चक्रमें चलना तो निश्चित है। व्यक्ति चलता ही है। पथका अन्त नहीं है। वह अनन्त है। न कहीं पान्थशाला और निकल पड़नेपर पहुँचनेका न कोई निर्दिष्ट स्थान। स्रोतस्विनी शैलसे गिरा दी गयी है। अब उसे बहना है। महासमुद्रसे उसका महामाङ्गलिक मिलन कब होगा—इसका भी निश्चय नहीं है। बस गतिशीलता, भ्रमण, ठोकरें, तिरस्कार और विश्वके इस बीहड़ अरण्यमें अवश विहार—यही तो जीवनका चित्र होता है।

संसार चक्रकी एक सीमा है। इसमें रहते हुए भी आत्म विस्तार संभव है। संकोचका परित्याग आवश्यक है। देश, उसके पर्वत, उसकी नदियाँ और अरण्य, सारी भूमि और उन सबके प्रत्येक परमाणुमें अपने को देखने की उद्दाम भावनाका उत्कर्ष ही श्रेयस्कर है। 'सर्व' में स्व का दर्शन, अहम्में 'इदम्'का दर्शन ही आत्म विस्तार है। स्थिति सत्यको उद्घाटित कर रख देती है। पवनकी परिक्रमा, सिन्धुकी गतिशीलता, वारिदमालाके तले विहग बालाओंकी उन्मुक्त उड़ान—यह सभी प्रत्येक परमाणुके अदृश्य आकर्षणकी ओर स्पष्टरूपसे संकेत करते हैं। कालकी

---

१. चन्द्रगुप्त, अंक १, दृश्य २, पृ० ६७। पं० ११–२२।

२. चन्द्रगुप्त, अंक १, दृश्य २, पृ० ६८। ७–१०।   ३. पृ० ७३

इस गतिमें कोई बुलाये भी सुनने वाला नहीं है। अपने आपसे कहकर अपनी बात अपनेको सुना लेने वाला ही सफल है। सिन्धुके एक विन्दुको बुलाकर रुकनेकी बात कौन करेगा ? इसलिये यहां स्वयंको सोचे, समझे और उत्कर्षकी दिशामें अग्रसर हो जाय, भूमाके सुखको देखे, उसकी महत्ता का आकलन करे और उसका आभास करे। इन नश्वर चमकीले प्रदर्शनोंसे अभिभूत न हो और किसीकी इच्छाका क्रीड़ा-कन्दुक न बने—जगत्को वंचित न करे, तो उसका जीवन दर्शन विश्वेशका शृंगार कर सकता है[1]।

मधुमयताकी दृष्टि आनेपर सारा वातावरण और सारा दिक्काल मधुमान बन जाता है। उस अवस्थामें 'हमारा' 'तुम्हारा' को आत्मसात् कर लेता है।[१] चतुर्दिक् प्रकाशका अरुण आलोक विकीर्ण हुआ सा दृष्टि-गोचर होता है। वास्तवमें वही हमारा, हम सबोंका जिन्होंने प्रातिस्विक रूपसे आत्मसंकोच स्वीकारकर इस लीला-लास्य-लालित्यकी उल्लिलसिता का आनन्द उठानेका उद्वेग स्वीकार कर लिया था, ऐसे अणु समुदाय का देश है कौन ? वही अरुण और मधुमय देश जहां अनजान क्षितिज को सहारा मिलता है।[२] कलासे लेकर क्षितिपर्यन्त तत्त्वोंकी आकृति, नाम और रूपोंका एक आधार क्षिति ही है। क्षितिसे आकार ग्रहण करने वाले चर और अचर क्षितिज हैं। जो पदार्थ जहांसे उत्पन्न होता है उसके लिये वही क्षिति बन जाती है। जल वायु, आकाश और अग्नि भी अपने-अपने परमाणुओंसे समुद्भूत पदार्थोंके लिए क्षिति ही हैं। इनके उपादानोंसे उत्पन्न पदार्थ क्षितिज हैं। वे सभी अनजान हैं। अनजान क्यों हैं ? इसलिये कि उनमें ज्ञानकी दो विषमतायें हैं। १–विपरीत ज्ञान, विपरीत ज्ञानवान् भी अनजान है, २—ज्ञानका विस्मरण । अनजान अवस्थामें बोधके स्वातंत्र्यकी हानि होती है और स्वातन्त्र्यकी अबोधता भी। यह दोनों बातें केवल पुद्गल, जड़, अणु और पशुमें घटित होती हैं। यद्यपि ये शिवसे अभिन्न हैं, फिर भी भेदभिन्न भासित होते हैं। ये जहां

---

१. चन्द्रगुप्त, अंक १, पृ० १०१, पं० २–५। १०५, १०६।

२. चन्द्रगुप्त, अं० २ पृ० ११९, दृश्य १, पं० ९।

३. चन्द्रगुप्त, अं० २ दृश्य १, प. ११९ पं० १०-११।

हैं–यह उनका वास्तविक देश नहीं है। वहां पहुँचकर अनजान क्षितिज को सहारा मिल जाय, वास्तवमें वही मधुमय देश अपना 'हमारा' कहा जा सकता है।

सभी खग उधर ही तो, उसी नीडकी ओर तो मुंह किये हुए हैं।[१] अनन्तकी लहरें जहां किनारा पाकर टकराती हैं। उषाका हेम कुम्भ जीवके सुखको तब ढुलकाने लगता है, जब रजनी भर जागकर तारे अस्तमनके लिये उद्यत होते हैं। रातमें जगना दो अवस्थाओंमें होता है। १—संयम सम्पन्न हो, योगावस्थित रहनेपर। जड़ताकी दशामें जो व्यक्ति अज्ञान अन्धकारके विजृम्भणमें, यमराजकी जृम्भामें ही जी रहा है, वह भी रातभर जगकर जीवनको डुबो देता है। उषाके हेम—कुम्भका सुख वर्षण संयम सम्पन्नताकी दशामें ही सम्भव है, जो विना प्रत्यभिज्ञानके असम्भव है। वास्तवमें शैवदर्शनकी यह मान्यता ही प्रसाद सम्मत भारतीय संगीत है[२]।

इस संगीतके स्वारस्यका आस्वाद आसादित हो जानेपर लड़ना जीवनका उद्वेग जनक अंश नहीं रह जाता। साधक निरन्तर ध्यानस्थ ही रहता है। प्रत्यभिज्ञानका यही तो सर्वातिशायी प्रभाव है। वह सर्वदा 'स्व' में निमग्न हो जाता है[३]। इसमें आवश्यक होता है—सम्भल कर चलना। भले ही विलम्ब लग जाय पर जीवनकी सभी साधें सम्पादित हो जाँय, आशाको अवलम्ब मिल जाय। विश्वकी सुषमाओंका स्रोत आंखोंकी राह बह चले, तो फिर उस तादाम्यमें, रूपरत्नाकरमें, स्रोतस्विनीके महासंगममें एक दूसरेकी पहचान आवश्यक नहीं रह जाती। उस व्यक्तिके प्राण भी धरोहर होते हैं। संसारके भयसे उसकी रक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती है[४]।

---

१. चन्द्रगुप्त, अं०२ दृश्य १, पृ० १११।

२. चन्द्रगुप्त, अं० १ दृश्य १ पृ० ११९। ३. अं० २, पृ० ११८।

४. ,, ,, पृ० १४०। प० १–४१ पृ० १५७।

यह जागतिक अन्धकार उजालामें परिणत हो सकता है, हँसीकी हंस-माला मँडरा सकती है। एवं मधुमती पूर्णिमाका आगमन हो सकता है। इसके विना सुख और दुःख इन दोनोंका अन्तरभी समझमें नहीं आ सकता है। विना जागतिकताके प्रति निष्ठुर हुए महत्त्वाकांक्षाका मोती मिलना असम्भव है, जो प्रत्यभिज्ञासे ही सम्भव है[१]।

संसारके उपवनमें आकर प्राण-मधुप केवल प्रेम रस सौरभ और सुहागका आकांक्षी रह गया है। इसके लिये वह पागल है। जहां यह हाला उसे मिलती है—उसीसे वह अनुराग करता है। कुसुम धूलिसे वह धूसरित हो जाता है, कांटोंमें उसे उलझना पड़ता है। पर रङ्गरलीका बावला सुखमय क्रीडाकुन्जका अनुरागी कभी एक कलीका नहीं हो पाता[२], आठों यामकी बजनेवाली बंशी वह नहीं सुन पाता। विन्दु और नाद ही तो विश्व है। अभिराम प्रियतमकी आनन आभापर अपने उत्सर्जन और नादके अनुरणनके श्रवणमें ही जीवनकी सार्थकता है। किन्तु आह! कामकी विपंची इसी वेलामें बज जाती है और दिव्यता भौतिक रूपसुधा-के दो दृग्प्यालोंसे उड़ेली मदिरासे अदिव्यतामें परिवर्तित हो जाती है तथा मदिरासे मति बेकाम बन जाती है[३]।

उर्मिल चेतन सागरकी तरंगोंकी कम्पनमय तान सुनाई देती है, प्राण पुलकित होते हैं। ऐसी दशामें अनुराग अनन्तताकी निधिका नाविक बनकर प्रकट होता है। स्मृतिकी सुनहरी पाल बन जाती है और अतीतमें ही व्यक्ति जग पड़ता है। और फिर सीमाका आभास भी समाप्त हो जाता है[४]। इस उथल पुथलको दशामें कभी अन्धकार भी सेवकका रूप धारण कर उपस्थित होता है। वह हटता है, तो संसारको जगाकर[५]। जागरण, कर्मक्षेत्रकी उभयविध गतिशीलता, अध्यात्म और भौतिकताकी धारामें बहने वाले ज्ञानका चिदचिद् रूपताभासी प्रकाश![६] इस अवस्था में व्यक्ति जब शुद्ध अध्वाकी ओर अग्रसर होता है, तो उसे ज्ञात हो जाता

---

१. चं०, पृ० २०९। पं० १५। २. चं०, पृ० २१९। पं० ९-१०।
३. चन्द्रगुप्त, पृ० २२०। पं० ११-१३। ४. चं०, पृ० २२१। पं०५-१६।
५. चं०, पृ० २ २। पं० २-३।
६. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, आ०१।५।२।३। तं० आ० ९।१४४।

है कि, मैं कुछ नहीं हूं। अहंकार व्यर्थ है वस्तुतः तब मैं 'का विस्तार हो जाता है। उसका कुछ सर्व में समाहित हो जाता है। प्रत्यभिज्ञानकी स्थितिमें ही जान पड़ता है कि, स्वरूप विस्मृत हो गया था। नियतिकी इस योजनाको कोई नहीं जान पाता[1]।

जीवनमें अपने अस्तित्वकी समीक्षाकी आवश्यकता प्रतिक्षण पड़ती है। हमें यह जानना है कि, हम अमर्त्य हैं और पन्थको पुण्य तथा प्रशस्त करने वाले हैं। जगत्में हम सभी पीछे हट आये हैं। हमें आगे बढ़ना है—अपने परमशिवके लक्ष्यतक ! स्वतन्त्रताकी यही पुकार है। वह समुज्ज्वला एवम् स्वयं-प्रभा है। स्वतन्त्रता चितिका स्वभाव है। उसका सन्देश ही प्रत्यभिज्ञानकी प्रतिष्ठा कर सकता है। और तभी प्राचीमें सूर्योदय हो सकता है[2]।

मनुष्य साधारणधर्मा पशु है। विचार और निःस्वार्थता दोनों उसे आगे बढ़ाते हैं। प्रेमका सच्चा विकास अत्यन्त आवश्यक है। मूर्खोंकी निवृत्तिसे यह विकास नहीं होता। उनकी वह निवृत्तितो प्रवृत्ति मूलक ही होती है। जब अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व जागृत हो जाता है, तभी चैतन्य सागर निस्तरंग होता है और चन्द्रगुप्तका यही मुख्य स्वर है। निस्तरङ्ग चैतन्य सागर यहां शाश्वतरूपसे लहरा रहा है[3]।

७-ध्रुवस्वामिनी

इस नाटिकाका पूरा वस्तुतत्त्व प्रत्यभिज्ञा दर्शनकी दार्शनिकताको रूपायित कर रहा है। ध्रुव स्वामिनी शक्तिकी स्रोतस्विनी है। वह जीवको तो अनायास ही इच्छावश प्राप्त हुई है। रामगुप्त सम्राट् है। शिखर स्वामीके द्वारा वह सिंहासनासीन हुआ है। कलासे लेकर क्षिति पर्यन्तका साम्राज्य मायामें प्रवेशकर मन्त्रराट् ने 'पुद्गल' 'अणु' 'जीव' को सौंप दिया है। यह उनके ऊपर निर्भर करता है कि, वह उस साम्राज्य लक्ष्मी-

---

१. चन्द्रगुप्त, पृ० २२२, २२४, २३४।

२. चन्द्रगुप्त, पृ०२२३, १०-२१। २२३। ३. चं०, पृ० २६२। ६।

की रक्षाकर सकता है या नहीं। अपनी शक्तिको वह पहचान नहीं पाता। उसमें अपूर्ण मन्यता है एवं 'स्व' की विस्मृति है। अपनी शक्तिको वह संशयकी तुलापर अधिरूढ़ कर देता है।[1]

कोमा और ध्रुवस्वामिनीके उभयकोटिपर आश्रित संशय ही शकराज है[2]। वह उस जोवकी शक्तिको छिन्न भिन्न अपमानित, अमर्यादित और उच्छिन्न कर देना चाहता है। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' के अनुसार अनुत्तर आनन्द महोदधिके दो स्वरूप हैं—शिव और जोव। उसी तरह समुद्र-गुप्तकी आत्माके दो प्रतीक हैं—चन्द्रगुप्त और रामगुप्त। रामगुप्तका संशयके झूले पर झूलना चन्द्रगुप्तको सह्य नहीं है। सारी प्रवंचना और कुतर्कोंके इन्द्रजालको उद्धूलित करता हुआ वह स्वतः 'स्व' का उत्कर्ष करता है। शिव शक्तिके सामरस्यका अवसर आता है। वैदिक आचारकी रूढियों और कर्मकाण्डकी प्रच्छन्न दुर्बलतापर आगम व्यंग्य करता है. राजतन्त्रपर 'स्व' के स्वातन्त्र्यका संस्थापन होता है।

ध्रुव स्वामिनी महादेवीकी मनुष्य प्रदत्त उपाधिको व्यर्थ करती है। धर्म ही इस सत्यका निर्णय कर सकता है और करता भी है। अन्तमें चन्द्रगुप्तपर ही प्रहार करने वाला रामगुप्त गिरनेके लिए विवश होता है।

शक्तिपात पवित्रित वातावरणमें जीव नहीं रह सकता। उसका तो अपना अलग क्षेत्र ही होता है। यही कारण है कि, जिस दुर्गमें चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनीका साम्मुख्य होता है, वहांसे केवल रामगुप्तको बाहर जानेको ही कहा गया है।[3]

पर्वत सीधा तना हुआ है। अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर है। प्रभुत्वकी साकार कठोरता ही मानो पर्वतमें रूपायित है। यह भेदके भूधरका रूपक है। बोधकी स्वातन्त्र्य हानिकी अवस्थामें महान् भी क्षुद्र हो जाता है। कोमल निरीह लताओं और पौधोंकी क्षुद्रता अणु और पुद्गल जीवों की प्रतीक है। उनकी शक्तिका उत्स मलावेष्टित अथ च कंचुकांचित हो गया है। राजकुलका अन्तःपुर है–रजोगुणका दुःखमय अन्तर्गर्भ।

---

१. ध्रुवस्वामिनी, पृ० १९। १६-१७।
२. ध्रुवस्वामिनी, पृ० ४३। ११। पृ० ४७। ५-६।
३. ध्रुव स्वामिनी, पृ० ६४।

उससे सम्पूर्ण मनुष्यताकी आशाभी दुराशामात्र है।[१] ऐसे राजकुलका राजा अनुग्रह भी क्या कर सकता है? अनुग्रह करनेका अधिकार तो शिवका ही है। अनुग्रह पंचकृत्यका अन्तिम और सर्वातिशायी अनुत्तर कृत्य है, जहां शक्तिपात होता है और जीव शिव बन जाता है।

काई जातिकी वल्लरीभी प्राणोंकी क्षमता बढ़ा लेने पर स्वयम् आश्रय होने योग्य बन जाती है। व्योमविहारी पक्षी अपने नीड तो लौटते ही हैं किन्तु मलाविष्ट शक्तिजका नीड यह स्वर्ण पिंजर शरीर नही बन सकता। राजाधिराजके दर्पसे दृप्त रामगुप्तके हृदयमें युद्ध चलता है। क्योंकि कि जगत्की अनुपम सुन्दरी उससे स्नेह नहीं करती।[२] रामगुप्तकी विजय यात्राका गिरिपथ भी अवरुद्ध है। विजयलक्ष्मी और राजलक्ष्मी दोनों उद्देश्योंकी पूर्त्तिमें पुरुषार्थ ही कारण होता है, जिसका जड़में नित्य अभाव है। वहां तो पुरुषार्थका नाम भी नहीं है, वहांसे वीरता भाग रही है। उसके पैरोंसे राजनीतिक छल छद्मकी धूल उड़ रही है। वीरता साधना है, चिन्तन है और स्व सामरस्य की ओर बढ़ चलनेका अध्यवसाय है। वह रामगुप्तमें कहां?[३]

जगत्में न्यायका पक्ष दुर्बल हो जाता है। इसी दुर्बलताको सबलता में बदल देनेके लिये संविद् स्वातन्त्र्यको जागृत करनेकी आवश्यकता पड़ती है। इसीलिये मन्दाकिनी न्यायका दुर्बल पक्ष ग्रहण करनेका निर्णय करती है। यह वसुधा दुखिया है। इसपर शीतलता फैलानेका, प्रेमकी छलकनका और अपने अस्तित्वके उत्कर्षका सामगान वह करती है।

गुप्त साम्राज्य विश्व है। इसमें प्रकट शिवभी गुप्त है। विश्वका यह सामाज्य मायारूपी शक्तिके सामंजस्यसे अघोरेश (अनन्त या मन्त्रमहेश्वर) के द्वारा बढ़ता है।[४] उत्कर्षके लिये भी चितिका साहाय्य अपेक्षित है। पर दुर्भाग्य जीव रूपी रामगुप्तका कि, स्त्री सम्प्रदानका हेयकर्म करनेमें संलग्न वह उपादेय का विस्मरण कर जाता है। इसीलिये सिंहासनपर वह भूलसे बैठा हुआ कल्पित है। वह राष्टरक्षायज्ञमें रानीकी बलि करने पर तुला हुआ है और दुष्कार्य कर ही बैठता है। नारी रूपी शक्तिके

१. ध्रुवस्वामिनी, पृ० १४। २. पृ० १६, १७, १८।
३. ध्रुवस्वामिनी, पृ० १८, पृ० २०।
४. तन्त्रालोक आ० ९ पृ ५६।

सौन्दर्यको प्रत्यक्ष देखकर भी अपने भ्रमात्मक अस्तित्वके लिए वह व्याकुल है। किन्तु शक्तिकी प्रतीक ध्रुवस्वामिनीमें आत्मसम्मानकी,[1] अहं प्रत्यवमर्शकी ज्योति है। उसके सामने संशयरूप शकराजको और पशुरूप रामगुप्त दोनोंको मात खानी पड़ती है।[2]

यह ध्रुव सत्य है कि, जीवन नियतिके शासन पर चलेगा ही शिवरूपी चन्द्रगुप्तने मर्यादाके लिये, महत्त्वको स्थिर रखनेके लिये राजदंड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया था। वह मर्यादा रामगुप्तरूपी जीवके यहां कैसे निभ सकती थी? विनय ही प्रवंचकोंके लिये आवरण बन जाती है।[3]

आश्चर्य है कि, विश्वमें वसंतके मलय मारुतके पावन स्पर्शसे कोई परिचित नहीं हो पाता। स्पर्शसे अपरिचित जीवन वस्तुतः वास्तविक जीवन नहीं है। मनुष्य जीवनके लिये प्रश्नोंको उपयोगी समझने लगता है। जीवनमें अनेक समस्यायें, अनेक प्रश्न सामने आते हैं। वे प्रत्यक्षतः सामने नहीं आते। मानव जीवनतो अभावमयी लघुता है। इसको महत्त्वपूर्ण दिखानेका अभिनय नहीं होना चाहिये। वरन् आत्म विस्तारसे स्वयम् महान् हो जाना चाहिये।

जगत्के असत्कर्तृत्वकी ओर कोई नोल लोहित रंगका धूमकेतु अविचल भावसे (इस बनावटी विश्व) दुर्गकी ओर भयानक संकेत करता रहता है[4]। फिरभी जड़ता चलने नहीं देतो। गुप्त कुलके गौरवको कलंक कालिमाके सागरमें रामगुप्त गिरा ही देता है। किन्तु स्वयं शक्ति ही उसका अपनोदन करती है।[5] धर्म भी नारद, पराशर और कौटिल्यके शब्दोंमें प्रत्यक्ष हो जाता है। कर्म ध्रुवस्वामिनीके मोक्षकी आज्ञा देता है। चन्द्रगुप्त राजाधिराजके पदपर अधिष्ठित होता है। जीव और शिवके सामरस्यमें शक्ति स्वामिनीकी[6] यह कथा हो ध्रुवस्वामिनी नाटिका है।

---

१. ध्रुवस्वामिनी, पृ. २८, २२, २४।
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा–विमर्शिणी, अ० १। ६।१।
३. ध्रुवस्वामिनी, पृ० २९, ३०, ३१।
४. ध्रुव०, पृ० ४५। २३-२४। ५. ध्रुवस्वामिनी, पृ० ६४। १९।
६. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, पृ० ३४। १९-२०।

४ : (१०) कहानी

१—आकाशदीप

इस नीलनभके नीचे, नील जलनिधिके ऊपर एक भयानक अनन्तमें निःसहाय और अपनेको अनाथ मानकर निवास करने वाला पशुके अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह विश्व एक समुद्र है। इसके वक्षपर राग रंजित सन्ध्या हमेशा थिरकती है।[1] इसे अपनी पूर्णताके लिए सैकड़ों चक्कर काटने पड़ते हैं। जबतक पूर्णता नहीं मिलती, तबतक पशुको अपूर्ण मन्यताका अज्ञान घेरे रहता है। यही तो जड़ता है, पशुता है और अज्ञानता है। यही प्रचण्ड आँधी है। उसमें प्रकाशकी एक-एक किरणके लिये व्याकुल होना सौभाग्य की बात है।[2]

वस्तुतः जीव एक भटकी हुई बुलबुल है। कुञ्ज विस्मृत हो गया है। यही कारण है कि, वह अपरिचित हो गया है। बुलबुलको विश्रामको आवश्यकता है पर क्या उसे मिल पाता है? बुलबुल की ध्वनिको क्या कहा जाय? रोना, गाना, क्रन्दन या आह्लादका आध्मान? वह वसन्तके शुभागमनके लिये आकुल है। इस रजनी विश्रामका मूल्य चुकाकर ही तो यहां से प्रस्थान करना है।[3]

कालके विश्रृंखल प्रहारसे विशीर्ण होकर जब तक यहाँ रह लिया जाय, पर्याप्त है।[4] इसी विश्व प्रांगणमें पशु का प्रत्यक्षीकरण शिवसे होता है। उसीकी तूलिका ही तो स्वप्रकाश चैतन्यको जड़ बना देती है। भीतरी आन्दोलनसे बाह्य और आन्तरिक दृश्यके रूप आकृतियों की विकृतियोंमें स्थायीसे लग रहे हैं।[5]

---

१. आकाशदीप, पृ० १२, तन्त्रालोक, आ०९। १९९, १८९–९०।

२. आकाश दीप, पृ० १५, पं० २१–२२।

३. स्वर्गके खण्डहरमें; पृ० ३६, पं० १८-२५, पृ० ४८, पं० २०-२२।

४. कला, पृ० ८३, पं० १४। ५. आकाशदीप, पृ० ८३।

जब आश्रयहीन जीव अपने स्वातन्त्र्य महलसे ठुकरा दिया जाता है, तो उसे कलासे क्षिति पर्यन्त 'स्थान' रूप झोपड़े ही स्थान प्रदान करते हैं। यह जगत् एक आश्रय स्थान है। यह तभी तक रहता है, जबतक दूसरा (परप्रकाश शिव) आश्रय नहीं मिलता।[1]

जीवन जलधिमें नाव चल पड़ी है। उसे खेना नहीं है। तटस्थ बनकर देखना है कि, वह कहां जा रही है? देखना है कि, फूल ही तो बुलबुलको नहीं खोज रहा है।[2] ये दृष्टि सीकर प्रत्यभिज्ञाके पारखीकी कला तूलिकासे यत्र तत्र रूपायित हो सके हैं।

२—आँधी

प्रसादकी उत्तरकालीन प्रौढ़ रचना है। इसमें तीन प्रकारकी रचनायें हैं। १—प्रेममूलक, २—ऐतिहासिक और ३—यथार्थोन्मुख। इस संग्रहमें अशुद्ध अध्वाका ही विस्तार है।

३—प्रतिध्वनि

सन् १९२४–१९२६ के बीच की लिखी मनोवैज्ञानिक ऐतिहासिक और भावप्रधान कहानियोंके इस संग्रहमें केवल प्रलय कहानीमें प्रसादकी दार्शनिकताका कुछ स्वरूप स्फुरित है। रहस्यवादसे वह संयुक्त है। प्रत्यभिज्ञाकी छायामात्र है।

४—छाया

हिन्दीका यह प्रथम कहानी संग्रह है। इसमें भी प्रेममूलक, ऐतिहासिक और यथार्थोन्मुख कहानियां हैं। हृदय पर अपूर्व भावोंकी छाया डालना ही इसका लक्ष्य है।

५—इन्द्रजाल

यह पांचवाँ और अन्तिम कहानी संग्रह है। इसमें प्रेममूलक, प्रागैतिहासिक, बौद्ध धर्म सम्बन्धी हिन्दू मुस्लिम ऐक्य सम्बन्धी कहानियां हैं। स्पष्ट है कि, उद्देश्य भिन्न होनेके कारण प्रत्यभिज्ञाकी ज्ञात सिद्धान्तवादिताका ज्ञप्तिमात्र इनमें विद्योतित है।

---

१. आकाशदीप, पृ० ११५। पं० १२।

२. प्रणय चिह्न, पृ० १५४, पं० १०।

४ : (११) उपन्यास

१–कंकाल

लोलिका नामक निष्कर्मा अभिलाष अपूर्ण मन्यताके अज्ञानको जन्म देता है। वही मल है। इससे ही भोगेच्छा उत्पन्न होती है। इससे संसार बनता है। इसीसे आनन्द और अवसाद होते हैं।

एक नीरव अवसाद विश्व संध्यामें चितिरूपी गङ्गाके दोनों कूलोंपर बने झोपड़ोंपर अपनी कालिमा विकीर्ण कर रहा है[1]। यही विश्व है। 'तासों चुप ह्वै रहिये, गूंगेके गुड़का, लवणसिन्धुमें गिरी नमककी डलीका, और इदामित्थंका रहस्य रहस्य ही है। 'अवचनेन प्रोवाच' का यह दर्शन 'ब्रह्म'की अनुत्तर दशाका दर्शन है।[2]

आनन्दशक्तिमें विश्राम करने वाला योगी समरस होता है। योगीको 'स्व' में अवस्थित हो जाना चाहिये। 'स्व' की सत्ताके स्वीकरण और उसमें समाहितिके अतिरिक्त कोई अन्य रास्ता ही नहीं है। उसीका अनुसरण करने वाला सुखी है। ऐसे व्यक्तिको समग्र पुरोवभासमान विश्व भावमण्डलके रूपसे ही भासित होता है। उसे तीन प्रकारकी अनुभूतियाँ होती हैं। १—मुझसे ही यह सब उदित है। २—मुझमें ही प्रतिबिम्बित है और ३–यह मुझसे अभिन्न है। ऐसे व्यक्तियोंके लिये पूजा पाठ, मन्त्र तन्त्र, चर्य्या आचरण, विधि-निषेध किसी प्रकारके विभ्रमकी चिकित्साकी आवश्यकता नहीं रह जाती। ये 'स्व' में स्थित होकर कृतकृत्य हैं। स्वमें अवस्थित व्यक्तियोंके लिए 'स्व' का अवस्थान सब कुछ है। मौन ही वहां कथन बन जाता है। यह सर्वातिशायी अवस्था है। सामान्य साधक जो उद्वेगसे उद्विग्न है, विकल्प कल्पनाओंसे व्याकुल है, उसके लिये उस लोकोत्तर दशाका स्पर्श करना भी असम्भाव्य है। 'किशोरी' नामके श्रवण मात्रसे जिस पुद्गलमें आकुलताकी लक्ष लक्ष लहरिकायें लक्ष्यको ही विक्षुब्ध कर बैठें[3], उस देव निरंन बने पशुके लिये उस दशाकी कल्पना

---

१. कंकाल, प्रथम खण्ड, पृ० १० । ३-४ । २. पृ० ११ । ९-१२ ।
३. कंकाल, प्रथम खण्ड, पृ०१२ । १४-२४, पृ०१३, १-१० । पृ० १४,४-१२

भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः निरंजन मायाग्रस्त जीव बने निरंजन-शिवका ही प्रतीक है। किशोरी माया है। जिन दोनोंसे जगत् बनता है। विजय जगत्का प्रतीक है।

निरंजन योगी होता है। शक्तिमान् परमेश्वर प्रकाश स्वरूप परमात्मा शक्तिके द्वारा परिमित प्रमाताओंके प्रति अंजित होता है—व्यक्त होता है। जैसे दीपक या दिवाकरकी किरणोंसे समस्त दिग्विभागादि या वस्तुराशि प्रकाशित होती है, उसी तरह शक्तिके द्वारा शिव प्रकाशित होता है—उपाधिमान् होता है।

प्रकाश्य पदार्थ तीन प्रकारका होता है। १—एषणीय, २—ज्ञेय और कार्य। एषणीयसे ज्ञान और क्रियाका, ज्ञेयसे इच्छा और क्रियाका तथा कार्यसे इच्छा और ज्ञानका अंजन नहीं होता। यह शक्ति-त्रितय लोलीभूत अवस्थामें अविभक्त रहते हुए त्रिशूल कहलाता है। क्रिया सामरस्य निरञ्जन अवस्था है। उसीमें समावेश करनेपर योगो निरंजन हो जाता है[१]। कंकालका निरंजन मूर्ख निरंजन है[२]। उसकी शान्ति बड़ो दुर्बल है। उसमें लौटनेकी शक्ति नहीं है। वह विक्षेप विक्षिप्त है। मायाका आवरण कहकर वह मायाकी छायाको ठोस कर रहा है[३]। त्यागपूर्ण थोथी दार्शनिकता जब किसी ज्ञानाभासको स्वीकार कर लेती है, तब उसका सम्भालना मनुष्यका काम नहीं रह जाता।[४]

विश्वका यह जनस्रोत छायामय है। नियतिके थपेड़ेसे वह तरंग संकुल होकर झूमता है। व्यक्ति उसीका एक तिनका है। कूल और किनाराका कहीं नाम नहीं[५]। निरंजन अपने लिये भक्तिको भी आवरण बना लेता है। क्योंकि अपराधसे लदी हुई आत्मा मुक्तिके लिये दूसरा उपाय नहीं देखती है[६]। ऐसी अवस्थामें द्वैत भी निःसार हो जाता है। यही जड़ता है। जीवनमें जड़ताकी विडम्बना प्रवृत्तिका सुख बनकर आती है। संसारमें प्रवृत्त होनेसे प्रसन्नता होती है। दो दो दाने बीनकर

१. तन्त्रालोक, आ०३, श्लोक १०२-१०९ तक का भाष्य।
२. कंकाल, पृ०१४। ९। ३. कंकाल, पृ० १६। ९-११।
४. ,, पृ० ९। १४-१५। ५. ,, पृ० ४८। ५-९।
६. ,, पृ०६८। १५-२०।

ले जाने और जीवनको लम्बा करनेमें उत्कण्ठा भरी रहती है। उत्साह होता है और जीवन सुखकी वस्तु बन गया होता है[१]। पर मनुष्य यह भूल जाता है कि, मनुष्यकी असुविधाओंका अनन्त सुविधाओंके रहते हुए भी अन्त नहीं। वह उच्छृङ्खल होना चाहता है।

प्रवृत्तिमूलक समाजमें धर्म ही मानव स्वभावका शासन करता है[२]। जगत्में प्राप्त 'मैं' तो विष ही घोल रहा है। नियति चाहे जिस किसीको भी निरवलम्ब कर देती है। विशिष्ट कार्य मण्डलमें आयोजित करना ही उसका कार्य है[३]। वह चारों ओरसे दबाती है, पर जीवनका लक्ष्य इस दबावसे धूमिल नहीं होना चाहिये। एक अनन्त अनलशिखा सर्वत्र प्रज्वलित है। वहां चरम शीतलता है। परम विश्राम है। वहां किसी तरह पहुँचनेका प्रयत्न करना चाहिये। साथही विधाताकी झुंझलाहट (क्षोभ) को समझना चाहिये[४]। अविभक्त ही विभक्त है, इस रूपमें प्रगटमें है—इस मर्मपर ध्यान देना चाहिये[५]। कंकालका सारा वस्तुवाद मायाके प्रपञ्चमें सच्चे साधु (निरंजन) के फंस जानेपर ही आधृत है—यह स्पष्ट रूपसे कहा जा सकता है।[६]

२–तितली

संसारके नश्वर लोकमें अपने अस्तित्त्वको सिद्ध करने वाली तितली महीयसी और गरिमामयी है। उसका पति मधुबन कारागारमें बन्द होनेके लिये विवश होता है, जैसे जीव विवश है। सारी कथा तितलीकी प्रेमनिष्ठा, पर्वतकी तरह अडिगता, सागरकी तरह गम्भीरता और पृथ्वीकी तरह सहिष्णुतासे सम्पृक्त है। यह उपन्यास जन्तु विमोहिनी मायाके महामोहास्त्र का वेग व्यक्त करता है। उसकी अति दुर्घटकारिताको व्यक्त करता है।

---

१. कंकाल, पृ० ९२। ५८-८।

२. कंकाल, पृ० ११०-१११, तन्त्रालोक, आ०९।१२१।

३. कंकाल, पृ० १८४। ६। तन्त्रालोक, आ० ९।१४५, २०२।

४. कंकाल, पृ०२५७। १। तन्त्रालोक, आ० ९। १४३, २२५।

५. कंकाल, पृ०३००। १२-१३। ६. कंकाल, पृ० १८२। ६-७।

कहां शैला और कहां इन्द्रदत्त, कहां ग्रामीण मधुबन और कहां कलकत्ताका कारागार—सर्वत्र एक विशिष्ट आयोजन है। इसकी आयोजिका नियति ही है। नियति प्रसादके वस्तुवादको प्रभूतरूपसे प्रभावित करती है।

३–इरावती

अग्निमित्र संस्कारोंकी गठरी लिए हुये जीवका और इरावती मायाकी प्रतीक मानी जा सकती है। यद्यपि पूरा उपन्यास बौद्धोंके ह्रासोन्मुख चित्र और बौद्ध ब्राह्मण विवादको रूपायित करता है तथा बौद्धोंके क्षणिकवाद और अनात्मवादके घातक परिणामोंको उपनिबद्ध करता है फिर भी वस्तुसे सांकेतिक रूपसे उक्त प्रतीकवादिताकी प्रतीति हो जाती है। अग्निमित्र भौतिक सेनाका महानायक बनता है और इरावती जीवन रागिनीकी वर्जित स्वर है।

पूरे उपन्यासमें जीवनके घात प्रतिघातोंका महाप्रभाव परिलक्षित है। सुख, दुःख, मोह, अज्ञान और कंचुकोंकी अवृत्तिका यह उपन्यास एक सुन्दर निदर्शन है। निष्कर्षरूपसे यह कहा जा सकता है कि, प्रसादके उपन्यासोंमें अशुद्ध अध्वाकी इन्हीं भावनाओं और माया तत्त्वके इन्हीं रहस्योंका सविस्तार उद्भावन है।

●

कामायनी और प्रत्यभिज्ञादर्शन

: ५ :

१–आणव स्थिति (चिन्तासे निर्वेद सर्गतक)

प्रत्यभिज्ञादर्शनमें माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति ये छः तत्त्व षट् कंचुकके नामसे जाने जाते हैं। असीम आत्मा इनसे आवृत होकर सीमाका बन्धन स्वीकार करता है—परिमित हो जाता है। यही परिमित आत्मा 'अणु' कहलाता है। वस्तुतः यह स्वयं शिव है। शिव ही स्वयं पशुभाव ग्रहणकर संसृतिके मूलमें स्पन्दित होता है[१]

ज्ञानका अधिकरण 'स्व' और 'पर' तक सीमित है। यह 'स्व' और 'पर' भी विकल्पसे व्युत्थित है। एकही संवित् दो रूपोंमें भासित होती है। शिष्य गुरु बनता है। गुरु सिद्ध और मुक्त बनता है। यह ज्ञानके अधिकारके विस्तारका रहस्य है। वह स्वयं मुक्त होता है और शिष्यको मुक्त कर देता है। उसी प्रकार शिव जीवको तृप्त करता है और जीव भी शिवताको प्राप्त कर लेता है। आणव स्थिति इसीलिये मूल स्थिति[२] कहलाती है। छः कंचुकोंसे समावृत जीवका यह कर्तव्य होता है कि, वह आवरणको भग्न करे। कंचुकोंके निवारणके लिये ही उपायोंकी आवश्यकता होती है।

हिमगिरिके उत्तुंगशिखर पर शिलाकी शीतल छांह बैठ प्रलयका प्रवाह देखने वाला एक पुरुष कितना विवश था। उसकी एकाकी अवशिष्ट सत्ता मानो उसकी विवशता पर अट्टहास कर रही थी। वह बैठा हुआ है—हिमगिरिके साधारण शिखरपर नहीं—वरन् उत्तुंग शिखर पर। किन्तु न तो उसे हिमगिरिकी उत्तुंगता आकृष्ट कर रही है और न ही शिलाकी शीतल छायाका सुखावह सम्पर्क ही कोई प्रेरणा प्रदान कर रहा

---

१. शिव एव गृहीत पशुभावः। तन्त्रालोक, आ० १, पृ० २४४।
२. तन्त्रालोक, आ० १, पृ० २४१।

है। न जाने वह कैसे वहां पहुँचा है। हिमरिरिका उत्तुंग शृंग अपना उन्नत मस्तक ऊपर उठाये प्रलयकी अनन्त गहराइयोंके प्रति उदासीन है।

वही एक पुरुष प्रलयके प्रवाहको देख रहा है। स्पष्ट है कि, उसकी इच्छाके प्रतिकूल यह सब घटित हो गया है। उसके देखनेमें अभिव्यक्त होती हुई उसकी विवशता उसके 'स्व' की अवहेलाके समान ही सुस्पष्ट है। नेत्रोंका गीलापन[1] उसकी कारुणिकता की कहानी कह रहा है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनमें संवित् अर्थ-प्रकाश रूपा मानी जाती है। यह स्वप्रकाशात्म होती है। स्वप्रकाशता ही स्वतन्त्रता और पर-प्रकाश्यता ही पारतन्त्र्य माना जाता है।[2] मनुका पारतन्त्र्य ही प्रत्यक्ष अनुभूतिसे अभिभूत है। उन्हें यह भान भी नहीं रह गया है कि, मैं क्या हूँ? मानो उनकी चेतनाका, आत्माका और पुरुषत्वका प्रकाश ही समाप्त हो गया हो। वह अपने विवश एकत्वसे आवृत पुरुष मात्र रह गये हैं। यद्यपि वे सर्वेश्वर हैं किन्तु उनका सर्वेश्वरत्त्व यहां कुण्ठित हो गया है। अनवच्छिन्नप्रकाश परमेश्वर जो अपने ही आनन्दमें ओत प्रोत है, वही स्वातन्त्र्य स्वभावके कारण अपने स्वरूपको संकुचित कर चुका है। ऐसी अवस्थामें वह अणु बन गया है।

मनुकी यह आणव स्थिति है। प्रत्यभिज्ञा दर्शनके अनुसार शिव दो स्वरूपोंमें प्रतिभासित होता है। १—अनुपायात्मा और २—सोपायात्मा इन दोनों स्थितियोंमें उपाय पक्षमें ही शाम्भव, शाक्त और आणवस्थितियां आती है। आणव स्थिति क्रिया रूप होती है।[3]

---

१. हिमगिरिके उत्तुङ्ग शिखर पर बैठ शिलाकी शीतल छांह।
एक पुरुष भींगे नयनोंसे देख रहा था प्रलय प्रवाह॥
कामायनो—चिन्ता, पृ० ३।

२. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, श्लोक १३२-३४। ३. आणवस्तु क्रिया रूपः।

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह इन पांचोंकृत्योंमें अपने कर्तृत्वका संवहन करने वाला शिव छः वस्तुओंमें व्यापृत माना जाता है। १. विन्दु, २. नाद, ३. व्योम, ४. मन्त्र, ५. भुवन और ६. विग्रह[१]। मनुकी आणव स्थिति सृष्टि, स्थिति और संहार तक ही सीमित है। चिन्ता सर्गके प्रारम्भका मनुका शब्द-चित्र यह स्पष्ट रूपसे व्यक्त कर रहा है। 'विन्दु' उनका विश्लिष्ट व्यक्तित्व है। सब कुछ उनका अतीतमें विलीन हो गया है। अतीतकी चिन्तामें सृष्टि, स्थिति और संहार तीनोंका समन्वय होता रहता है। प्रलयके प्रवाहके दर्शनमें वही तीनों स्थितियां विद्यमान हैं। प्रलय स्वयम्‌में ध्वंस है—संहार है। पर चूंकि प्रवाहमय प्रलय है। अतएव उसमें स्थितिकी अनुभूति हो रही है। वह संहार भी है और स्थिति भी है। यह सृष्टिका ही एक स्वरूप होता है। यद्यपि एकही तत्त्वका विविधरूपसे आभासनमात्र वहां है। एक तत्त्वका यह वैविध्य तथा वैविध्यमें भी एकत्त्वका दर्शन प्रसादजीकी अन्तर्दृष्टिका प्रिय विषय रहा है। वे जलकी तरलता, घनता और विरलता तीनोंको एक तत्त्व सिद्ध करते हैं[२]।

मनु विवश भावसे उस भीषण दृश्यका दर्शनकर स्तब्ध हो जाते हैं। हृदय उनका जड़ हो जाता है जैसे हिमगिरिका हिम जमकर स्तब्ध हो रहा है। स्तब्धतामें नीरवता और पवमानका टकराव—यह सारी बातें दुःखावह और कारुण्य जनक हैं।

आणव स्थितिकी अभिव्यक्तिका सूत्रपात चिन्तामें ही होता है। आणव समावेशके १—उच्चार, २—करण, ३—ध्यान, ४—वर्ण और ५—स्थान ये पांच स्वरूप हैं। मनुका शब्दचित्र उनका उच्चार स्वरूप है[३]। अचेतन देहका चैतन्य प्रतिभासन ही उच्चार है। इसका वर्णन प्रसादके कला नैपुण्यका ही अभिनव निदर्शन है। बोध्यको विस्मृतकर स्वात्मैकतान बोधयुक्त होना ही करण व्यापार है।[४]

---

१. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा ४९।५०। २. कामायनी चिन्ता ५-८।

३. प्राण व्यापार उच्चारः उच्यते जीवनात्मकः।
देहापचेतनस्यापि चैतन्य प्रतिभासकः ॥ पूर्णता प्रत्यभिज्ञा। ७८।

४. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा ९३-९४।

मनुकी चिन्ता, अमरकी चिन्ता, अमरकी मृत्युकी कल्पना कितनी गहरी नींव डालती हुई प्रतीत हो रही है[1]। वह सर्गका अग्रदूत आज असफल हो गया है, विलीन हो गया है। चाहे वह रक्षक कहा जाय या भक्षक—वह अपना मौन बनकर रह गया है। केवल अपनत्वमें डूबा हुआ संस्कारबद्ध मौन मात्र !

चिद्घन परमेश्वर विद्यात्म और मायात्म भेदसे उभयात्मक माने जाते हैं। माया स्वरूपके गोपनकी क्रीड़ामें बड़ी दक्ष है[2]। इससे ग्रस्त जीव सकल मनुष्य होता है। मनुकी यही दशा है। वे पुरातन अमृत हैं, अगतिमय हैं। उन्हें मौन, नाश, अन्धकार, विध्वंस और शून्य तथा अभाव ही सत्यसे उद्भासित होने लगते हैं। माया महानृत्यकी सम विषमके समान थिरकती रहती है। उसमें ही अखिल स्पन्दन होते हैं और उसीकी विभूति से सृष्टि बनती है। यह पूर्णताके आनन्दके संभोग को प्रच्युत कर देती है। हृदयमें अनन्त क्षोभोंकी सृष्टि करती है। नानारूपोंका अवमर्श मायाके माध्यमसे ही होता है।[3]

'स्व'रूपका गोपन, दुर्घटका घटन, असम्भवका सम्भव न जड़में अजड़त्वानुभूति, अजडमें जड़त्वका अनुमान यह सब मायाकी महिमा है। कामायनी के प्रथम सर्गका चित्र अमरताके जीवित दम्भके सदृश ही है। मानो वह सर्गके प्रथम अंकका अधम पात्रमय विष्कम्भ ही हो[4]।

---

१. मनन करावेगी तू कितना उस निश्चित जातिका जीव।
अमर मरेगा क्या ? तू कितनी गहरी डाल रही है नींव ?

कामायनी, चिन्ता, पृ० ५

२. स्वरूप गोपन क्रीड़ामयी माया विलासिनी। पूर्णता प्रत्यभिज्ञा १५।१-२६

३. तन्त्रसार, पृ० ९३। तन्त्रालोक, आ० १।१३५। आ०९ पृ० १४४।

४. आज अमरताका जीवित हूँ, में वह भीषण जर्जर दम्भ।
आह सर्गके प्रथम अंकका अधम पात्र मय सा विष्कम्भ ॥

कामायनी, चिन्ता, पृ०१८,

मनु वास्तवमें अणुताके ही प्रतोक हैं[१] । उन्हें तांडव भी दीख पड़ा, तो पञ्चभूतका[२] । यह जड़ताका ही परिणाम है । जड़तासे प्रकाश परिछिन्न हो जाता है । जड़ताके प्रभावसे दीपशिखा भी स्थिर प्रतीत होती है । उसका प्रकाश अकर्तृत्त्वसे आवृत हो, तो वह प्रकाश व्यर्थ ही सिद्ध होगा । पूर्णताका अभिमान भी अपूर्णताका द्योतक है । पूर्णतामें ही स्वतन्त्रता होती है । स्वातन्त्र्य भावकी हानि आणवमल और आणव स्थितिमें होती है । चेतना वहां बिलखने लगती है[३], मृत्युका काला शासन चलता हुआ दृष्टि गोचर होता है और व्यक्त नील घनमालामें जीवनका क्षुद्र अंश अपने वैवश्यको कोससे लगता है । मानो वह सौदामिनी सन्धिकी क्षणताका प्रतीक ही है ।[४]

हृदयके लहलहे खेतोंपर घिरना, करका घनके समान घिरने वाली चिन्ताका स्वभाव ही है । अन्तर तममें निगूढ़ धन-सी छिपी हुई, अन्तरमें तमसका हो विस्तार किया करती है[५] । व्यक्तिकी पशुभावापन्न स्थिति ही उसे इस प्रकार परीशान करती है । चिन्ताकी पहली रेखा ही विश्व वनकी व्याली बनकर फुंकार उठती है । ज्वालामुखीके भीषण स्फोट उत्पन्न करती है । फलतः एक विचित्र उन्मत्ततासे पशु समावृत हो जाता है ।

प्रकृति[६]के शक्तिचिह्न विश्वेदेव, सविता, पूषा, सोम, मरुत, पवमान और वरुण आदि प्रकृतिके संकेतपर ही चलते हैं, अपना कार्य करते हैं, अपनी सीमामें रहते हैं और किसीके कार्यकलापमें हस्तक्षेप नहीं करते । सारा भूतचेतन समुदाय विश्वमें विवश और निरुपाय है । समस्त दृश्य पदार्थ परिवर्तनके पुतले हैं । और गर्वरथमें तुरंगके समान यथा मनोरथ जुत रहे हैं ।

---

१. अणवः मनवः स्मृताः । पूर्णता प्रत्यभिज्ञा । १९।१५३ ।
२. कामायनी, चिन्ता, पृ० १५ । ३. कामायनी, चिन्ता, पृ० १७ ।
४. कामायनी पृ० १९ । ९-१२ । ५. कामायनी, पृ०६ ।
६. अरे प्रकृतिके शक्ति चिह्न ये फिर भी कितने निबल रहे ।
कामायनी, आशा, पृ० २५ ।

विश्वका यह वैभव जो भले ही कभी प्रलय संघात संपीडित रहा हो, करुणा विकल[1] कहानी-सो मर्मवेदना उससे मुक्त होकर आणव स्थितिमें अंकुरित होती है। वहां अकेली पहचानी-सी, हंसती-सी प्रकृति उस मर्म वेदनाको सुनती है। प्रलय निशाकी हलचल स्मृतिमें सिन्धु सेजपर ऐंठी-सी धरा वधू मान किये प्रतीत होती है।

आणव स्थिति एक प्रकारसे संधानात्मक स्थिति ही मानी जाती है। कारण यह है कि, महानील इस परम व्योममें अन्तरिक्षमें ज्योतिर्मान ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण किसी अलक्ष्य शक्ति सम्पन्नका ही अनुसंधान करते हैं। पंचभूतात्मक विश्वमें पांचो गुण—चित् और भूतके संयोगसे उत्पन्न होते हैं और लीन होते रहते हैं। ग्राह्य, ग्रहीता और ग्रहण रूप यह विस्तृत विततविचित्र विश्व उसी शक्ति चक्रका रूप है। यह शिवसे विभिन्न नहीं है। अपनी विमर्श शक्तिसे वह परमेश्वर शिव अपनेमें ही सर्ग, स्थिति और ध्वंसको धारण करता है।[2]

आणव स्थितिका रसास्वाद भी परनिर्भर आस्वाद है। क्योंकि मोक्ष-लक्ष्मीके समाश्लेषसे रसास्वादमय तो स्वयं शिव ही है। शाम्भव उपायकी स्थितिमें वही रस उपलब्ध होता है। यहां तो समस्त तृण वीरुध लहलहे होते, निकलते और छिपते रहते हैं। पता नहीं किसके रससे वे सिंचे हुए हैं और विलीन हो जाते हैं।[3]

सिर नीचा कर सभी यहां किसी की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनका मौन ही मानो प्रवचन बन जाता है, और उस अलक्षित अस्तित्वकी जिज्ञासा मानवको या जिज्ञासुको जिज्ञासितव्य की ओर प्रेरित कर देती है। वह अनन्त रमणीय है। वह कैसा है? क्या है इस विचारका भार भी असह्य हो उठता है। वह इतना विराट् है कि, इसीमें समस्त विश्व है। वह विश्वदेवमय है। उसीकी प्रशस्तिमें सागरका सामगान भी सतत मुखरित है।[4]

---

१. चिन्ता, पृ० ४, २. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, २४।१९६।
३. कामायनी, आशा, पृ० २४-२६।
४. कामायनी, आशा। पृ० २६ प० १७-२०।

प्राण समीर बनकर आशाप्रति व्यक्तिके हृदयमें मधु स्वप्नोंका सर्जन करती है। वह अधीर-सी, व्याकुल-सी व्यक्त होती है। सहृदय हृदय ही उसकी उत्पत्ति भूमि है। वह बड़ी स्पृहणीय होती है। सुषुप्तिके अनन्तर जैसे जागरणकी माधुरी हो। उसमें जीवनकी पुकार होती है। दाहकी शीतलता असम्भाव्य है किन्तु जीवनकी इस प्रवाहमयतामें दाह भी शीतल बनकर आता है। उत्साह सम्पत्-सम्पन्न प्रभाव अपने आपको किसी अज्ञातके चरणोंमें अर्पित करता है और पुनः अपनी भेद सत्ताका मान अहंको उद्वेलित करता है।[1]

यद्यपि प्रत्यभिज्ञा दर्शनके अनुसार यह प्रपंच फलभेद विवर्जित है, फिर भी भेद दृश्यमान होता ही है। शिव स्वतन्त्र तत्त्व है। वह स्वयं भासित होता है। जड़ चितिप्रकाश्य होता है। प्रकाशके सम्बन्धसे जड़ भी भासित है। अतः वह भी प्रकाशसे भिन्न नहीं है। वह अपने लिये भासित नहीं होता अपितु चिदात्माके लिये ही उसका अस्तित्त्व समर्पित है। जड़से भिन्न चैतन्य कभी दृष्टिगत नहीं हो सकता।[2] चैतन्यके विलय होनेपर जड़ ही अवशेष दृष्टिगत होता हैं। ऐसे अनेक प्रकारके तर्क इस चिदात्मा की पृष्ठ भूमिमें स्वतः समाप्त हो जाते हैं। ज्ञानकी सत्ता तीन प्रकारसे भासित है। १—अभेद, २—भेदाभेद और ३—भेद सत्ता। इसमें भेद सत्ताका भान ही आणव[3] उपायके अन्तर्गत है। कामायनीके आशा सर्गके अन्तर्गत 'मैं' रहूँ। इस प्रकारका संगीत नभके शाश्वतगानोंमें भरित है—यह मनु सुनने लग गये हैं। मैं हूँ और मैं रहूँ ये दोनो भाव आणव भावके ही द्योतक हैं। जीवनकी प्रखर विलासमयी लालसा मनुको उत्तेजित कर रही है। उन्हें यह विलक्षण संकेत प्राप्त हो रहा है[4]।

उनके हृदयमें जीवनकी तरङ्गोंकी उच्छलताके प्रति संशयके भाव भी जाग्रत हो रहे हैं। जोकर यदि व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता, तो मर भी वह कैसे सकता है? फिर स्वर्णशालियोंके कलमोंमें उन्हें शरद इन्दिराके मन्दिरकी गैलका आभास होने लगता है। सानु शरीर हिमालयके

---

१. कामायनी, पृ० २७, प० १–९६। २. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, २५१।
३. कामायनी, आशा, पृ० २८, पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ० १०।७१।
४. कामायनी, आशा, पृ० २८, २९।

चरणोंमें नीरवताकी विमल विभूतिका अर्पण होने लगता है। जीवनकी अनुभूतियाँ बिखेरतीं, झरनोंकी धारायें अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। हिमगिरिकी वह सुधर सुढर उठान अद्‌भुत जगतीकी हंसी और उल्लास, लीलाका दर्शन कराने लगती है। हिमालयकी हंसीका आवेग मनुकी जीवन-नीलिमामें किसीकी मृदु मुस्कान भर देता है। मनु हिमालयकी रमणीय गुहामें अपना स्थान बना लेते हैं। 'स्थान' आणव स्थितिके अन्तर्गत एक विशेष अंग हैं। स्थानके अभ्याससे ही शिवात्मकता होती है।[१]

वस्तुतः अनन्तकी गोद ही विश्वका स्थान है। हिमालयकी गुहा उसकी प्रतीक है। मनुका स्थान अनन्तकी गोदके अतिरिक्त हो भी क्या सकता है? हिमालयकी उत्तुंगताके नीचे, धराकी सेजके ऊपर हिमालयकी गुहा। कितनी सुन्दर, स्वच्छ और वरणीय रही होगी वह[२]!

स्थान तीन प्रकारके होते हैं। १—देहस्थान, २—प्राणस्थान और ३—बहिः स्थान। इसी प्रकार अन्य भेदोंकी कल्पना करनेपर यह १६ प्रकारके होते हैं। परतत्त्वके अन्तः में प्रविष्ट होनेका आकांक्षी जो साधक उक्त शैव, शाक्त और आणव समावेशों द्वारा अपनी स्थितिको उत्कर्षकी दिशामें प्रेरित करता है, वह पूर्णताको तत्काल प्राप्त करनेमें अग्रसर होता है।[३]

मनुकी बुद्धिमें यज्ञके माध्यमसे क्रियाका परावर्त्तन होता है। पाकयज्ञ चलने लगता है। वहाँ नीरवताकी गहराई है, उनका भग्न एकाकी जीवन अस्थिर है, और दिन भी दीन होकर बीतने लगते हैं[४]। यह उनकी वैकल्पिकी स्थितिका चित्र है और विना वैकल्पिकी बुद्धिके आणव स्थिति बनती ही नहीं[५]। शाक्त-स्थितिमें चेतस स्मरण होता है। बाह्यका अवलम्बन नहीं होता और

---

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, ७०, १०३।

२. कामायनी, आशा, पृ० ३०। ३. पूर्णप्रत्यभिज्ञा, पृ० १०-१४।७४-१०९

४. कामायनी, आशा, पृ० ३२, ३३।

५. वैकल्पिकीं विना बुद्धिं नाणवो प्यस्ति कश्चन।
पूर्णताप्रत्यभिज्ञा—पृ० ३०।२५०

आणवमें बाह्यका अवलम्बन ही आणव समावेश माना जाता है। इस भूमिका अनुसरण करने वाला साधक निश्चयात्मिका बुद्धिसे आणव उपाय के द्वारा भी भोग-मोक्षके आनन्दको उपलब्ध करता है।

मनुके सामने नित्य नये-नये प्रश्न उपस्थित हो रहे थे। अनागत अदृष्ट और अकल्पित था। अन्धकारकी मायामें किसी प्रकारका निश्चय करनेका प्रसङ्ग नहीं था। विराट्की छायामें प्रतिपल वे प्रश्न रंग बदलकर उनके सामने उपस्थित हो रहे थे[1]। नाना प्रकारके प्रश्न नाना अभिलाषाओंके प्रतीक हैं। अभिलाषाओंका अंकुरण—प्रस्फुरण आणव मल-सम्भूत वृत्ति परिवर्त्तन मात्र ही है। आणवमल अभिलाष, अज्ञान, अविद्या, लोलिका, भवदोष, अनुप्लव, ग्लानि, शोष, विमूढता, अहं ममात्मक आतङ्क आदि माया शक्तियोंकी आवृत्तिसे उत्पन्न होता है। इसी दोष बीज से संसारका अंकुर उत्पन्न होता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शनके अनुसार यहीं से पशुत्त्वका प्रारम्भ होता है। पशु पाशबद्ध होता है। पाशमुक्त सदा शिव होते हैं। आणवमलमें स्वरूप संकोच अवश्यम्भावी है[2]।

बीज स्वतन्त्र होता है। स्वातन्त्र्यशक्ति ही योनि है। बीज शिव है[3]। विसर्ग बीज और विन्दुसे होता है। शक्ति कुलेश्वरी है। शिव कुलेश्वर हैं। इन दोनोंकी समन्वित विकसमानता 'अं' और 'अः' में परिदृश्यमान है। विन्दुकी तीन अवस्थायें होती हैं। १—स्थूल रूप प्रकृति, २—सूक्ष्म अवस्था माया और ३—परावस्था और महामाया।[4] मनुके मनके उठते हुए प्रश्न अन्धकारकी मायामें ही उपस्थित थे और विराट् की छायामें वे रंग बदलते थे। यह तीनों अवस्थायें विन्दुकी स्थूल, सूक्ष्म और परावस्थाओंकी ही द्योतिका हैं। प्रकृति सकर्मक है। उससे अर्द्ध प्रस्फुटितसे उत्तर प्राप्त हो रहे हैं। जीवन अपना अस्तित्त्व बना रखनेमें व्यस्त हो रहा है। क्रिया शक्तिका विस्तार होता है। मनुके कर्ममें तप और संयम-नियमका समावेश होता है। फिर कर्मजालके सूत्र यदि घन होकर विश्व रंगमें घिरने घुलने लगें, तो क्या आश्चर्य[5] ?

---

१. कामायनी, पृ० ३३। २. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० ५६।४७३।
३. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, ४७६। ४. तं०, आ०८।३३२-३३७।
५. कामायनी, पृ० ३३।१३-१६, १७-२०।

इस विश्वमें नियतिका ही शासन है । इसका अनुभव करते हुए एकान्त वासी मनु विवश हैं । स्वेच्छा और स्वातन्त्र्यका अभाव होनेके कारण वे धीरे धीरे गतिशील होते हैं । सागरके तीरे शान्त लहरोंका एक एक कर आगे बढ़ना जितना मोहक होता है—उस आणव स्थितिमें, उसी प्रकारकी मनुकी गतिशीलता भी मोहक प्रतीत हो रही है ।

विन्दुकी चौथी अवस्था शान्ति है । इसके दो भेद होते हैं । १—शिव शान्ति और २—शक्ति शान्ति । जहां स्पन्दन और क्रियाशीलता होगी, वहां शक्तिका स्वारस्य होगा । इसीलिये मनुके हृदय-समुद्रमें शान्त लहरका स्पन्दन है । यह शक्ति-शान्तिका प्रतीक है । प्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार २७ भुवन और सात भुवनेश्वर होते हैं—माया, कला, काल, नियति, विद्या, राग और प्रकृति इन सातों भुवनेश्वरोंमें यहां 'नियति' भुवनेश्वरका शासन है ।

शिव घोर अघोर दो रूपोंमें गम्यमान है । अघोर रूपमें उसकी घोरता समाप्त होती है । शान्ति अघोरताकी प्रतीक है, कामायनीके पृष्ठ ३४ की चौथी पंक्तिके बादकी रिक्तता उसी शान्तिकी प्रतीक है ?

यह वह समय था, जब जगत् विजन था । तन्द्रा थी औंर उसमे आने वाले सपने सूने थे । ग्रह पथके आलोक वृत्तसे 'काल' अपना जाल तानता जा रहा था । यह तीसरा भुवनेश्वर है । आणव स्थितिमें इसकी बलवत्ता प्रत्यक्ष होती है । प्रहर, दिवस और रजनी सभी आते जाते हैं किन्तु किसी के पास सन्देश नहीं होता । नवीन आरम्भ पहले तो निष्फल ही होता है[१] । पवन पुलकित होकर पावन उद्गीथ गाता है, चन्द्रकी बिम्बकी मनोहरता लोकोत्तर होती है । इस तरह 'प्रकृति' की सप्तम भुवनेश्वरी अपना कार्य करती रहती है ।

कामायनीमें नील शब्दका व्यवहार कई अर्थोंमें हुआ है । जैसे व्यक्त-नीलमें चल प्रकाशका कम्पन सुख बन बजता था । इस पद्यमें नील शब्द आणव मलके अर्थमें ही प्रयुक्त है । चेतनाकी आंखें खुलती हैं । व्यक्त नीलमें चंचल प्रकाशका कम्पन हो रहा है । कंपन सुखके संगीतको जन्म

१. कामायनी, आशा, पृ० ३४, पं० १२ ।

दे रहा है और उससे एक अतीन्द्रिय स्वप्न-लोकका रहस्य उलझ रहा है। आदि बनकर अनादि वासना जग जाती है। प्राकृतिक भूख लगती है और अनुमानमें द्वन्द्वका अनुमापन प्रारम्भ हो जाता है।[१]

मनु विषयक श्रद्धाकी जिज्ञासा मानव मनोविज्ञानका शाश्वतिक सत्य है। श्रद्धा एक वैदिक मन्त्रद्रष्ट्री ऋषिका है। श्रद्धा सूक्तमें सायणने लिखा है–"काम गोत्रजा श्रद्धानामर्षिका"।[२] मनुकी उस एकान्त नीरव उन्मन वेलामें श्रद्धाका प्रवेश प्रत्यभिज्ञाके वाग्विमर्शका बोधक है।[३] मनु संसृति जलनिधिके तीरपर तरंगोंसे फेंकी हुई एक मणि हैं। अपनी दीप्ति सुधाधारासे वे चुप चाप निर्जन का अभिषेक कर रहे हैं। उस एकान्तमें श्रान्तभावसे संसारका एक सुलझा हुआ रहस्य ही वहां अभिव्यक्त हो रहा है। मानो मौनही प्रत्यक्ष रूपायित हो रहा हो, जि पर करुणाका आवेश हो और मनकी चंचलता स्वतः अलस बन गयी हो।[४]

वस्तुतः जीवन उल्काके समान उद्भ्रान्त होकर शून्यमें असहायकी तरह घूम रहा है। यह रहस्य और निरुपाय है। यहाँ हिमखण्ड जड बन गया है। उसकी तरलता सघन हो गयी है। यही कारण है कि, वह द्रवित नहीं होता और गतिशीलताका प्रतीक शैलका निर्झर नहीं बन पाता। फिर जलनिधिके अंकमें मिलनेका प्रसङ्ग कैसे प्राप्त हो ?

श्रद्धा सर्गका मनु पशुभावापन्न जीव मात्र है। जिसकी विवश वेदना चरम सीमापर पहुँच गयी है।[५] श्रद्धाने उसके मनोबलको ऊंचे उठानेकी सफल चेष्टा की है। वह कहती है–त्यागने कहीं मनुको वंचित तो नहीं कर लिया है ? वह प्रश्न भी पूछती है और साथ ही कामसे उसकी झिझक के प्रति उसे सचेत भी करती है।

---

१. कामायनी, आशा, पृ० ३५।
२. कामायनी, आमुख, पृ० ५। अनुच्छेद २। ऋग्वेद, श्रद्धासूक्त।
३. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० ५९। ४७०।
४. कामायनी, श्रद्धा, पृ० ४५।
५. श्रद्धा, पृ ४८, पं० १-१६, पृ० ४९।

महा चिति सजग है। व्यक्त सत्तामें आकर ललित लीलाका आनन्द ले रही है। उसकी लीलामें ही विश्वका उन्मीलन होता है और सभी इसीमें अनुरक्त होते हैं।[1] यह सर्ग इच्छाका ही परिणाम है। श्रेय काम मंगलसे मंडित है। यह विस्मृत करने योग्य नहीं है। इसका तिरस्कार महाचितिकी लीलाके तिरस्कारके समान होगा। ऐसा करनेसे यह भव-धाम असफल हो जायगा।[2]

प्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार यह विश्व महाचितिका ही लीला विलास है। वस्तुतः यह जगत् या जागतिक जीवन अभिशाप नहीं हैं। यह ईश का रहस्य वरदान है। एक नील झीना परदा पशुत्वका है। वह आवरण है। उसी परदेके भीतर सुखगात पर-सर्वेश्वर मुस्कराता हुआ विराज-मान है।[3]

परमेश्वरके स्पन्दनमें क्रियाशक्तिका प्रमुख प्रभाव है। विषमताको जबतक वस्तुतः जाना नहीं जायगा, तबतक इसकी पीड़ासे विश्व संतप्त ही रहेगा। दुःख और सुखके विकासका सत्य इसमें निहित है। पारमैश्वर्य-सम्पन्न (भूमा) का यह मधुमय दान है। समरसताका अधिकार यहां नित्य उमड़ता रहता है। जैसे समुद्र। इस समुद्रकी लहरें व्यथासे नीली पड़ रही हैं। वियोगानुभूतिके भ्रममें यदि यह हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।[4]

शक्तिके कटाक्ष विलाससे निष्प्राण शव भी शिवत्वको प्राप्त हो जाता है और उसीकी इच्छासे शिवभी पशुताकी समता प्राप्त कर लेता है। आशाके आह्लादको सुषुप्त देखकर विरत नहीं रहना है वरन् जीवनकी सत्यतापर आस्था रखनेकी आवश्यकता है। तपका मार्ग जीवनकी सच्चाई पर धूलिक्षेप न कर बैठे, इसके लिये सब लोगोंको सावधान रहना चाहिये। नूतनताका आनन्द नित्य है। परिवर्तनकी इस महनीयता पर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता होती है।[5]

---

१. श्रद्धा, पृ० ५२-५३।

२. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, ५१७-५२४, कामायनी, पृ० ५३।

३. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र १।

४. कामायनी, श्रद्धा, पृ० ५४। ५. कामायनी, श्रद्धा, पृ० ५५-५६

जड़ चेतनका आनन्द क्या है ? कर्मका भोग करना है और भोगका कर्म करना है। इससे विरत रहना व्यर्थ है। आत्म विस्तारका दृष्टिकोण प्रत्यभिज्ञादर्शनका दृष्टिकोण है। जगत्, शक्ति और शिव इन तीनोंके सामरस्यमें ही आत्मविस्तार निहित है।

शक्तिका क्रीडामय संचार मानवताको हँसानेका सतत उपक्रम कर रहा हैं। मानवता ही शक्तिके व्यस्त विद्युत्कणोंको जो विकल और निरुपाय हो इधर-उधर बिखरे हुए हैं, उनका समन्वय कर सकती है, क्योंकि इसीके पास शाक्तोपायकी अनुभूतियां हैं।[1]

जगतीके नील आवरणके प्रति यदि मन प्रबुद्ध हो जाय, तो उसे यह ज्ञात हो जाता है कि, प्रकाशात्मा शिवका आलोक ही रूप बनता है। यह रूप ही आंखोंका आवरण बन जाता है। इस रूपके भग्न होनेपर रूपका मूल प्रकाश प्रत्यक्ष हो सकता है। अन्तरिक्षमें आमोद है और हिमकी कणिकायें ही मकरन्द बन जाती हैं। रहस्य बनकर सौन्दर्यमयी चंचल कृतियां नाच रही हैं[2]। आंखें कैसे आगे बढ़ें ? सुन्दरताके इस परदेमें कोई अन्य धन धरा हुआ प्रतीत होता है।

अक्षयनिधिको पहचान पानेकी आकुलता प्रत्यभिज्ञाकी उत्तम स्थिति है। उसी समय श्रुतियोंमें कोई चुपके चुपके मधुकी धारा घोलता है और इस नीरवताके परदेमें कोई कुछ बोलता हुआ प्रतीत होता है। जीवनधनकी छवि देखनेके लिये भीड़ लगी हुई है। आश्चर्य है—यही भीड़ आवरण बनकर प्रिय शिवके मिलनमें विरोध-अवरोध उत्पन्न कर रही है।

अनादि वासनाका आसव पीनमें कितना मधुर है। पर इसकी मादकतामें उन्मत्त हुआ व्यक्ति अपने स्वप्नोंके उन्मादको यहीं बिखेर देता है। अपनी मायासे चंचल हो जाने वाले मनको विश्रामकी उपलब्धि नहीं हो सकती। काम ही कृतिमय जीवनका मूल तत्त्व है। यह कार्म मलके अन्तर्गत जाता है किन्तु आणवकी सीमामें भी यह परिदृश्यमान है। अनादि वासना ही रतिरूपसे उद्बुद्ध होती है[3]।

---

१. कामायनी, श्रद्धा पृ० ५९ पं० ५-१२।
२. कामायनी, काम, पृ० ६५, ६६। ३. काम, पृ० ६८, ७२।

अव्यक्त प्रकृतिके उन्मूलनमें रतिकी चाह स्वाभाविक होती है। प्रकृति लताके यौवनमें मधुलताका हास और माधवका पुष्पवतीके साथ सहभाव अद्वयमें द्वयके बीजका वपन करता है। यह भावनापर निर्भर करता है। मूल शक्ति जबतक सुषुप्त रहती है—तबतक प्रलय रहता है। उसकी जागृतिमें प्रथम क्रियाका स्पन्दन होता है। यही उसकी सजगता है—आलस्यका परित्याग है। मूलशक्ति आलस्यका ज्योंही परित्याग करती है, उठ खड़ी होती है और परमाणु बाल उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं। मानो मूलशक्ति अपने ममत्त्वसे उनको अभिषिक्त करनेके लिए अतीव आकुल हो। परमाणु बालककी तरह अनुरागरक्त होकर मूलशक्तिसे मिलते हैं और इसप्रकार पारमाणविक सृष्टि स्वतः निर्मित हो जाती है। अन्तरिक्षमें मधु उत्सव सम्पन्न होता है। आकर्षण और मिलनकी उस आदिम लीला-स्थलीमें मायाका लीला विलास उल्लसित होता है और सब कहते हैं कि, सृष्टि बन गयी। स्पष्ट है कि, यह सब मायाका ही विलास है[1]।

नाशकी वेलामें बिखराव होता है। वह बिखराव जब पुनः श्लिष्ट होने लगे, विश्लेष ही आश्लेषमें परिवर्तित होने लगे, तो जिस पदार्थका सर्जन होगा, वही सृष्टि होगी। रति और कामके इस मनोवैज्ञानिक आनन्दवादी समन्वयमें आकांक्षा और तृप्तिका उद्वलन विश्वको उद्वेलित करता है। यह सारी स्थिति आणव स्थितिके ही अन्तर्गत आती है। इस स्थितिमें सांसारिक मल तत्त्व (कंचुकों) के कारण बाह्याचारोंका अवलम्बन करना पड़ता है। बुद्धि विकल्पपूर्ण ही रहती है। क्रियाकी प्रधानता होती है। भेदवादकी भी प्रधानता होती है[2]।

इच्छा और क्रियाका द्वन्द्व जहां चलता है—ज्ञान लुप्त रहता है। उस अवस्थामें अपना अस्तित्व लिये हुए भटकना ही पड़ता है। आणव समावेशका चतुर्थ स्वरूप 'वर्ण' कहलाता है। आरम्भ और परिणामोंके सम्बन्ध सूत्रकी स्थापना नीचे अम्बरमें घुलती हुई लाली युक्त उषाकी गोदमें वहाँ होती है। सृष्टि और संहारके बीज 'वर्ण' विद्यमान रहते हैं।

काम तत्त्व एक तरहसे परिपूर्ण तत्त्व सा माना जाता है। आकांक्षा और तृप्तिका मनोविज्ञान इस मनोवृत्तिका पोषक है। कर्म साधककी क्रियासे निष्पन्न होता है। मायाके नीले अंचलमें आलोक-विन्दुके समान कर्म

---

१. कामायनी, काम, पृ० ७२, ७३। २. तन्त्रालोक, भाग १, पृ० १४२।

झरता रहता है। प्रेमकला ही वह मूलशक्ति है, जिसकी लीलाका विकास यहां दीख रहा है। श्रद्धा उसी प्रेमकलाका संदेश सुनानेको इस धराधाम-पर अवतीर्ण होती है। योग्य बननेका सन्देश उसीसे प्राप्त होता है[१]।

वासनाका पूरा सर्ग ही मिलनके संगीतको श्रीमन्त बनाने वाला है। पुरुष और नारीका यह युगल स्वरूप शिव शक्तिकी उस समन्वितिका परिचायक है, जिसमें शिथिल प्रकृतिके नील आवरणपर प्रचुर मंगलखील उगाने रजनीमें तारकगण उदित होते हैं। अपनी विस्मृतिमें ही, अचेत अवस्थामें ही 'मैं तुम्हारा हो रहा हूं' का सुदृढ़ विचार उठता है और चेतनाकी परिधि चक्राकार घूमती रह जाती है।[२] अभिमान उभरकर सामने आ जाता है[३]। यह आणव श्रेणीका वैलक्षण्य है। अपनी ही नियति बन्धन मुक्त होकर खेल खेलती है। नयी-नयी इच्छायें मनुष्यको समीपसे समीप खींच लाती हैं। यह जीवन क्या है–मात्र बुल्लेका विभव ! इसका बिखराव अवश्यम्भावी है। उत्तमता यही है कि, वह सुरभित लहरोंकी छायामें अपना अस्तित्त्व समाहित करता है। निर्मल मुकुरमें भूमि जल आदि प्रतिबिम्बित होते हैं। उसी प्रकार लहरमें बुद्‌बुद भी उत्थित अवसित होते हैं और उसी प्रकार समस्त प्रकृति, नियति और विश्व वृत्तियां उसी सर्वेश्वर शिवमें सर्वसात् होती रहती हैं। होना यह चाहिये कि, रसका निर्झर जो ऊपरसे नीचेकी ओर गिर रहा है, उसे आनन्द शिखरकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा दी जाय। दुःख यह है कि, अपना स्वरूप विस्मृत होनेपर व्यक्ति अवसादसे ग्रस्त हो जाता है। लज्जा जागृत हो जाती है और मनको मरोरती हुई उसके विकासके अवसर भी समाप्त कर देती है[४]।

नीरव निशीथमें लतिका सी, हृदयकी परवशता, सौन्दर्यकी धात्री, देवसृष्टिको रतिरानी, रतिकी प्रतिकृति, गौरव, महिमा और शालीनताकी शिक्षिका लज्जाका अपना एक विशिष्ट महत्त्व है[५]। वासनाका स्वैर

१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, अधिकार १, पृ० ३५-३८।
२. कामायनी, काम, पृ० ७४-७७। ३. कामायनी वासना, पृ०८५-९१।
४. कामायनी, वासना, पृ०८३। लज्जा पृ० ९७-१०३।
५. कामायनी, लज्जा, पृ० ९७।

विलास लज्जासे नियन्त्रित होता है। लज्जासे संकोचका उदय होता है और संकोचसे आत्माका संवरण हो जाता है। आत्माकी संकुचित अवस्थामें नारी और पुरुषका वासनात्मक आकर्षण होता है। साहित्यके क्षेत्रमें वही नारी और पुरुषका अथ च श्रद्धा और सत्यका समन्वयात्मक संदर्भ प्रस्तुत करता है। देशकालानुसार प्रसादने उसी आदर्शकी प्रतिष्ठाकी है[1]।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनमें वासनाके कारण होने वाले देहात्मवादी दृष्टिकोणका समर्थन नहीं है। यहां देहात्मैक्यवासना परित्याज्य है। विश्वात्मताकी स्थितिमें ही आणव स्थिति समाप्त हो जाती है।

वैश्वात्म्यका आश्रय करने वाली 'संविद्' आत्म प्रधान होती है। उस समय संविद्के अस्तित्त्वमें देहादि सामान्य संस्कारजन्य मल स्वतः नष्ट हो जाते हैं। देहस्थका देहके साथ तादात्म्य होता है और संविद्के स्फार रूप भाववर्गमें वह तेज उत्पन्न होता है, जिसमें समस्त मल भस्मसात् हो जाते हैं[2]।

मनु अपने वैयक्तिक सुखको तुच्छ माननेके लिये तैयार नहीं हैं। अपने सुखको ही जीवनका चरम और सब कुछ मान बैठनेके आग्रहसे ग्रहिल मनु इन्द्रियकी समस्त अभिलाषाओंके साफल्यको समक्ष रखकर हृदयकी विलासशीला तृप्तिका मनुहार करता हुआ आशाओंपर श्वास न्यौछावर कर रहा है[3]। श्रद्धाका दृष्टिकोण महान् है। एकान्त स्वार्थमें भीषण विनाशके अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह वह जानती है किन्तु मनु उसे भी निर्लज्ज बनाने पर तुला हुआ है। वह नया तर्क प्रस्तुत करता है 'लज्जाका आवरण तमसे प्राणको ढक लेता है।' 'हम'को 'तुम'से पृथक् कर देता है। 'आनन्द कुचल जाता है।' यही बाधा है। इसे हटाना ही होगा[4]। ये अनन्त भोग कर्मको जन्म देते हैं[5]।

---

१. कामायनी, लज्जा, पृ० १०६।
२. तन्त्रालोक, आ०९।१३५-३६, पृ० १०८।
३. कामायनी, कर्म पृ० १३०। ४. कर्म, पृ० १३६।
५. तन्त्रालोक, आ० ९, पृ० ११।

घट कार्य है क्योंकि अचैतन्यके अनेकत्त्वसे संयुक्त है। कार्य ही यहाँ प्रधान होता है क्योंकि अनेकता और अचैतन्य दोनोंसे उसकी निष्पत्ति हो सकती है। जो कार्य नहीं होता, वह अचैतन्यमें भी अनेक नहीं होता। जैसे आत्मा। अचैतन्यमें अनेकत्त्व प्रत्यक्ष है। उसीका प्राधान्य है। इसीलिये उसे कार्य कहते हैं। इस अनुमानके बलपर चिन्तासे लेकर निर्वेद सर्गतककी अचैतन्य-अनेकत्त्व प्रधान कार्यात्मक स्थितिका अनुसंधान होता है। मनु दुःख पानेको भी स्वतन्त्र रहना चाहते हैं। मनकी परवशताका महामन्त्र जपनेके लिये वे विवश हैं[1]। चिरन्तन धनुसे विषम तीर छूट पड़ा है। शून्यको चीरनेसे भी भला कोई लक्ष्य भेद हो सकता है? जीवन निशीथके अन्धकारमें माया रानीके केश भारको वह देखता तो है पर उसीमें अभिलषाके नवज्वलन धूमसा दुर्निवार भावसे घूमनेके लिये बाध्य है। ज्वलनशील अन्तर लेकर मनु ईर्ष्याके अन्तमें श्रद्धाका सम्पर्क भो खो बैठते हैं। इड़ाके सम्पर्कमें स्पष्ट ही कार्य जननौत्सुक्यकी जागृतिका तथा प्रतीप आत्मानुसंधानका अनुधावन मनु करते हैं[2]।

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहयोगसे तन्मात्राओंके संश्लेषमें सात्त्विक अहंकार भी राजस बन जाता है। राजस अहंकारही क्रमशः अपने शासनात्मक स्वरूपकी विकृतिमें तामस बनकर आणवमलको सुपुष्ट कर देता है। तन्मात्राओंके संश्लेषमें वैकारिक अर्थात् तामस अहंकारका होना स्वाभाविक ही है[3]। यही कारण है कि, वहां श्रद्धा 'पूर्णअहंता'के दृष्टिकोणको उजागर करनेका पक्ष प्रस्तुत करती है—मनु दीन देहकी पूजामें असुरभावका उद्रेक लेकर आगे बढ़ते हैं[4]।

आसुरभावका उद्रेक श्रद्धा विहीनताकी स्थिति है। श्रद्धा समतल जीवन भूमिमें बहने वाली अमृत स्रोतस्विनी है—पीयूष स्रोत है। श्रद्धा समरसताका सम्बन्ध बनकर अधिकार और अधिकारीके मध्य आकर्षणकी सूत्रधारिणी सिद्ध होती है और मनु पुरुषत्वके मोहके बन्धनमें जकड़े हुए मात्र पशु रह जाते हैं। सौन्दर्यको जलधि सत्तासे जो व्यक्ति अपना गरल

---

१. कामायनी, ईर्ष्या, पृ० १५४। २. इड़ा, पृ० १५४, १५९।
३. तन्त्रालोक, आ० ९।२७३, २७९। ४. कामायनी, इड़ा, पृ० १६१।

पात्रही मात्र भर लाता हो, उसे अणुके अतिरिक्त कहा ही क्या जा सकता है? इसीलिये वहां पूर्णता भी संकुचित हो जाती है[1] और प्रत्यभिज्ञा दर्शन की आणव समावेशकी दशाका यह निदर्शन बन जाता है। पशु विवश होकर अधोमुख भावसे क्रमशः गहन उपभोगके गर्तोंमें पतित हो जाता है[2]।

तर्कसे भरी युक्ति विफल हो जाती है। नित्यताके विभाजनमें जो अनित्य विकार उत्पन्न होते हैं, वहां कालकी ढलानमें नश्वरता ललित बनकर आती है और कर्तृत्व सकल बन जाता है। भेदसे भरी भक्ति और पूर्ण अहंतामें रागमयी महासक्ति प्रेरणामें रहकर यद्यपि अपनी सीमा बन्द किये रहती है फिर भी उससे नयी विचारसरणी उत्पन्न होती है और सर्वत्र ज्ञानका क्षुद्र अंश भी विद्या बनकर नये छन्द रचने लग जाता है[3]। चिन्मय शिवसे जो भेद पड़ गया है, उसको पशुके लिये माया ही विहित करती है। पशु सुषुप्त रह जाता है और अदृक्क्रिय बन जाता है[4]। मल-का अवरोध करने वाली केवल एक ही शक्ति है। उसे ही प्रसाद श्रद्धा कहते हैं।

स्वप्न सर्गमें मायातत्त्व ही क्षुब्ध है। माया और अणुके संयोगसे चेतना-व्यक्त होती है[5]। जिसे देखनेको मर-मर कर सौ बार जिया जा सकता है—वह चित्र–वह सौन्दर्यका आगार कहां है ? वही क्रतुमय पुरुष है। शुद्ध स्वातन्त्र्यमय ईश्वरकी इच्छाके कारण क्षुब्ध भोग लोलिका वृत्ति चित्में विभाजन करने लगती है और अशुद्ध अध्वाका निर्माण होने लगता है। स्वप्न अशुद्ध अध्वा ही है। शुद्ध अध्वामें कर्त्ता शिव होते हैं[6]।

आणवमल दो प्रकारका होता है–१—ऐसा बोध जिसमें स्वातन्त्र्यकी हानि हो और २—स्वातन्त्र्यका ही अबोध हो। दोनोंमें 'स्व' स्वरूपकी हानि होती है। अर्थात् पहली अवस्थामें पुरुष अपूर्ण रह जाता है

---

१. कामायनी, पृ० १६१, १६३।

२. तन्त्रालोक, पृ० १६९। श्लोक २११-२१२। आ० ९।

३. कामायनी, पृ० १६५। ४. तन्त्रालोक, आ० ९, पृ०१३६, श्लोक१७५.

५. तन्त्रालोक, आ० ९।४७। ६. , पृ० ५६।

और दूसरी अवस्थामें पूर्णज्ञानत्वकी ख्याति ही अज्ञात रहती है[१]। स्वप्नमें ज्ञान माना नहीं जाता। जो ज्ञानकी तरह अनुभूति होती है, वह सविकल्प ज्ञानानुभूति है। वहां मनुकी मायाही उद्‌बुद्ध हो रही है। मनुके 'पशु' को सकल कह सकते हैं। उसे आत्माभिमान है। वह मायामय है। वह आणव बन्धनसे बद्ध है। अणुके विक्षोभक अनन्त हैं[२]।

शिवकी दो अवस्थायें परामूर्ति और अपरामूर्ति मानी जाती हैं। परामूर्ति लयावस्था है। वहां निष्कल शिव होता है। अपरा मूर्तिमें भोगावस्था और अधिकारावस्थाके दो वर्ग होते हैं। भोगावस्थामें शिव सकल निष्कल रहते हैं[३]। अधिकारावस्थामें सकलकी पूर्ण विकास दशा होती है[४]। परिणाम भीषण होता है। शक्ति तरङ्गोंमें आन्दोलन होता है। रुद्रका क्रोध भयोत्पादक होता है। महानील लोहित ज्वालाका नृत्य[५], और कुचक्रों[६] व अधिकारोंकी सृष्टि और उनकी मोहमयी मायाका वातावरण ही प्रधान हो उठता है। अन्तमें श्रद्धा आती है। मनुके रूपमें उसे एक छली मिलता है। वह विचारोंके समुद्रमें डूब जाती है[७]।

मनुके सामने विघ्नोंके भूधर उनको महत्त्वाकांक्षाओंको गर्तसात् करने पर तुले हुए हैं। जिस मनुने जमीन आसमान एककर, इड़ाके सम्पर्कमें आकर 'मनुनगर'की श्री वृद्धि की[८], जिसके मनमें इड़ाको पा लेनेका भव्य अभिनिवेश उल्लसित हो रहा था और अनवच्छिन्न साम्राज्योपभोगकी कामना करता था—उसीके समक्ष देव शक्तियोंका प्रचण्ड उग्र आघात, प्रजाका विरोध अपनी चरम सीमामें उमड़कर आ गया और दूसरी ओर 'इड़ा'ने भी मनुके प्रस्तावोंको नकार दिया। यही कारण है कि, मनुका मनोविज्ञान विद्रूपताकी सृष्टि कर बैठा। उसका स्पष्ट विचार था कि, नियामक किसीके वशीभूत हो ही नहीं सकता[९]। अविनीत रहनेके

---

१. तन्त्रालोक आ० ९।६२, पृ०५७। २. देवः सकल निष्कलः।
३. तन्त्रालोक, पृ०१८१, आ०९।
४. तन्त्रालोक, आ०९, पृ०१८१। ५. " , आ०९, पृ०१८६।
६. कामायनी, पृ० १८६। ७. " , पृ०१८६।
८. कामायनी, स्वप्न, पृ० १८१। ९. संघर्ष, पृ० १९१।

अधिकारको वह सुरक्षित रखना चाहता है[१]। बन्धनहीन रहकर, मृत्युकी सीमाका भी उलंघन कर संतत गतिशील रहनेका प्रण उसकी उसी अबोधताकी परिचायक है, जो पाशुबद्ध पुरुषोंमें होती है। महानाशकी सृष्टिके बीच वह चेतनाकी तृप्ति चाहता है। उसे ही सत्य और अवशिष्टको स्वप्न मान लेता है[२]।

इड़ा उसकी चेतनाको उद्बुद्ध करनेका असफल प्रयास करती है[३]। चेतना, विश्वमें आवृत चिति केन्द्रकी ओर इंगित करती है पर व्यर्थ। इड़ा स्वयं कहती है कि, तुम मुझ शुभाकांक्षिणीकी ध्वनि नहीं ही सुन पाओगे क्या[४]? मनु भी स्पष्ट कर देते हैं कि, संघर्षकी भूमिकाकी शिक्षा उसे इड़ासे ही प्राप्त हुई है[५]। संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। तांडवमें प्रगति आ जाती है। परमाणु विकल हो उठते हैं। नियति विकर्षणमयी बन जाती है और संत्रास व्याप्त हो जाता है[६]।

मरणपर्वमें इधर असुर पुरोहित धराशायी होते हैं और उधर मनु भी मुमूर्षु बन वहीं गिर पड़ते हैं।[७] इड़ा बुद्धि तत्त्वकी प्रतीक है। वास्तवमें बुद्धिसे चैतन्य भिन्न नहीं है क्योंकि चैतन्य तो बुद्धि प्राण आदिमें शाश्वत रूपसे अनुस्यूत है। यदि ऐसा न होता, तो बुद्धि आदिमें चेत्यमानताका संस्फुरण न हो पाता।

संक्षोभ और संघर्ष मनके अन्तर्द्वन्द्वमें वृत्तियोंके टकरावमें होता है। आणव समावेशमें तीसरी स्थिति 'ध्यान'की आती है। ध्यान बुद्धि और प्राणकी समन्वितिमें ही सम्भव है। प्राण और इडा बुद्धिके प्रतीक हैं। इडा बुद्धिपर प्राण हावी नहीं हो सकता। बुद्धिके स्वरको प्राणको पहचानना होगा। इसके विपरीत संघर्ष सर्गमें ध्यानका स्वरूप ही विकृत हो जाता है। प्रश्न यह होता है कि, चैतन्य तो व्यापक तत्त्व है। वह बुद्धि और प्राण सबमें अभेद भावसे विद्यमान है। फिर भी तत्त्वविद् बाह्य शरीर और अन्य आन्तर सूक्ष्मतत्त्वोंको छोड़कर हृदयमें ही परमशिवका

१. संघर्ष, पृ० १९०। २. संघर्ष, पृ० १०१।
३. संघर्ष, पृ० १९३। ४. संघर्ष, पृ० १९५।
५. संघर्ष, पृ० १९६। ६. कामायनी, पृ० २००।
७. कामायनी, संघर्ष, पृ० २०२, पं० ५।

साक्षात्कार क्यों करते हैं।[१] उत्तर सरल है? ध्यानमें सोम, सूर्य और अग्निका संघट्ट होता ही है। प्राण, अपान और उदान वायुका टकराव यौगिक क्रिया सापेक्ष है। उस ध्यानकी अरणिके संक्षोभसे महाभैरव रूपी हव्यवाह अग्नि हृदय कुण्डमें प्रज्वलित होकर परम स्फीत बन जाता है। पूर्णप्रमाता बन जानेके कारण वहाँ साक्षात्कार हो जाता है।

यहाँ स्थिति विपरीत हो गयी है। ध्यान तो है पर परमशिवका नहीं बुद्धिका है, विभवका है, समृद्धिका है, भौतिक अभिवर्द्धन और वर्गवादका है। यह सब इडापर अत्याचार है। मनुको शासन-स्वातन्त्र्य अभीप्सित है। इडापर अधिकारकी लिप्सा है। इसीमें उसे उसका जीवन सफल दीखता है।[२] यह उसका चिन्तन उसीको ले डूबता है।

मानव मनोविज्ञानकी पृष्ठभूमिमें विश्व-मानसका यह एक अद्भुत अप्रतिम चित्र है। दुर्धर्ष प्रकृतिका कंपन और स्पन्दन भी मानवके हृदय-समुद्र मन्थनके समक्ष दीन होन है। यही ध्यान यदि सध जाय और सृष्टि-स्थिति-संहार रूप अग्नि, अर्क और सोमकी शक्तियोंका प्राण, अपान और उदानके सहयोगसे परा अपरा और परापरा दशाओंको पार करता हुआ तूर्य (चतुर्थ) अनवच्छिन्न अवस्थाको प्राप्त कर ले, तो जीवनका निस्तार हो जाय।[३] जीव बद्धाणु न रहकर मुक्ताणु बन जाय। मल मुक्ताणुओंको बद्ध नहीं करता क्योंकि शिव अनादि शुद्ध बोध रूप हैं। उनके प्रति मलकी आवारकता नहीं है। बद्धाणुत्वकी विडम्बनाका आडम्बर यह विश्व, शिव होते हुए भी भेदाभासके कारण अपनी भव्यताको भीषणरूपमें ही प्रस्तुत करता है।

---

१. तन्त्रालोक, आ० ५, पृ० ३३२, पं० ८-९।

२. कामायनी, पृ० १९८-१९९

३. कामायनी का सारस्वत प्रवेश या सारस्वत नगर।
सारस्वतं पुरं तस्मात् शब्द ब्रह्मविदां पदम्।
रुद्रोचितास्ता मुख्यत्वात् रुद्रेभ्यो ऽन्यथास्तथास्मृताः॥
तन्त्रालोक आ० ८।२०३,२० पृ० १४३।

यह विश्व अपने कर्तव्यका स्वभावतः आकलन नहीं करता। परिणामतः यह स्वार्थमें पड़कर परमार्थकी ओर अपनी प्रवृत्तिको प्रवृत्त नहीं कर पाता। बद्धाणुत्वसे यदि साधक मुक्ताणुत्वकी ओर अग्रसर हो जाय और समस्त मलके आवरणको ध्वस्त कर दे, तो भैरवीभावसे पूर्ण हो जाता है। उसके समक्ष एक विलक्षण लोक कर्तव्य रूपी उत्तरदायित्वका उदय होता है। जबतक उसका मल ध्वस्त नहीं होता, तबतक वह आणव स्थितिमें ही पड़ा रह जाता है। आणव स्थितिमें पड़े रहनेवाले मनुकी यही दशा है। आणवमल और आणव समावेशके आधारपर, कामायनीके सर्गोंकी आणव स्थितिका यह आकलन कविकी चेतना-चमत्कृतिका चारुतर चित्र है।[1]

२—शाक्त स्थिति (**दर्शन और रहस्य सर्गद्वय**)

ज्ञानसत्ताका विजृम्भण १. भेद, २. भेदाभेद और ३. अभेद उपायके द्वारा तीन प्रकारसे होता है। यही क्रमशः आणव, शाक्त और शाम्भव उपाय हैं। समावेश भी विभु (शिव) शक्ति और अणु सम्बन्धोंसे शाम्भव, शाक्त और आणव तीन प्रकारका ही माना जाता है। शाक्त समावेश चित्तमें उच्चार रहित वस्तुके चिन्तनसे प्राप्त होता है। 'उच्चार' आणव समावेशकी स्थिति है, जिसमें देहावचेतन पदार्थोंमें भी चैतन्यका अवभासन होता है। शाक्त उपायमें 'स्व'में अभिमानका आग्रह होता है। पशु अपनेको कर्त्ता मानता ही रहता है अथवा उसमें यह विश्वास भी अंकुरित होता है कि, मुझसे ही सब कुछ है या था। मेरी अधिकार सीमामें ही सब कुछ है। इस प्रकार यह स्थिति संकल्प विकल्पात्मक भी है। इसमें बुद्धि, मन और अहंकार अन्तःकरणत्रय और इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तित्रयके अधिकरणमें विकल्प उद्भासित होता है और वह मायासे युक्त रहता है। यह शाक्तोपायकी स्थिति है। जैसे शिव इच्छा, ज्ञान और क्रियासे विश्वका निर्माण करते हैं, उसी तरह यह पशु भावको प्राप्त जीव विकल्पका निर्माण अन्तःकरणत्रयसे करता है।[2]

---

१. कामायनी, चिन्तासे निर्वेद सर्ग तक।

२. तन्त्रालोक, आ० १, श्लोक २१४–२१५।

शक्तित्रयमें ज्ञानकी स्थिति शाक्तोपायके अन्तर्गत आती है। शाक्त और शाम्भव अनुभूतियोंमें अन्तर यही है कि, विकल्पमें अखण्ड वस्तुका अवभास क्रमपूर्वक होता है तथा अविकल्पमें अक्रमसे। जहाँ क्रमता समाप्त हुई अथवा विकल्प बुद्धि विगलित हुई कि, शाक्तस्थिति समाप्त होकर शाम्भव स्थिति प्राप्त हो जाती है।[1]

विकल्पमें आवरण भग्न नहीं होता है। पशुमें जिज्ञासाकी वृद्धि होती है। उक्त सन्दर्भमें मनुकी स्थितिका आकलन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि, अबतक जो कुछ हुआ है, उससे मनुके मनमें विक्षोभकी सृष्टि हुई है। वह अपनी इच्छाओंकी सीढ़ीको पारकर ज्ञानकी सतह प्राप्त करनेकी जिज्ञासासे सम्पन्न हैं। विकल्पका उदय संकल्पको पारकर हो गया है। सारस्वत नगर क्षुब्ध और मलिन पड़ा हुआ है। मनुके मनमें प्रश्न होता है—ये अणु अणु आज मचल क्यों रहे हैं ? उन्हें भव रजनीके भोमरूपका आभास हो जाता है[2]। मानो ये गीताकी भाषामें स्वयंभी मुनि बननेकी दिशामें अग्रसर है।

जीवनका जागरण उसे सत्य प्रतीत होने लगा है पर साथ ही साथ विकल्प भी वहां है कि, क्या सुषुप्ति ही अन्तिम सीमा है ? मनुके ये सभी विचार, मालिन्यसे प्रभावित थे। प्रकाशकी सीमासे अभी उनमें पर्याप्त दूरी है। प्रकाशात्मा शिवकी प्राप्तिकी सम्भावना निशाके उपरान्त उषामें ही की जा सकती है। वहां जो कुछ प्रकाश था, वह धूमिल था। पवनकी गति अवरुद्ध थी। मतिमें खिन्नता थी और उसमें एक अवसाद भरा हुआ था। अन्धकारका नील आवरण दृश्य जगत्से भी बड़ा था। अग्नि शिखा-के समान धधकने वाली वहां केवल इड़ा थी[3]।

शिव शुद्ध प्रकाशमय होनेके कारण निरावरण है। भेदकालुष्यके उदय हो जानेके कारण स्वरूप परामर्शसे वह आवृत रहकर भी आभसित होता है। शुद्ध ज्ञानमय होनेपर भी भेदकी कलुषतासे ही आवृतानावृत रूपसे भी व्यक्त होता है। वह छः प्रकारसे ध्येय है। भुवन, विग्रह, ज्योति,

---

१. तन्त्रालोक, आ० १, श्लोक २१०–२११।
२. कामायनी, निर्वेद, पृ० २०५। ३. कामायनी, निर्वेद, पृ० २०६।

ख, शब्द और मन्त्र है[1]। भुवन (भोगाधार) विग्रह (शरीरी) ज्योति विन्दु (कदम्बगोलकाकारः स्फुरत्तारकसन्निभः), ख—(शून्य शक्ति व्यापिनी समना), शब्द (नाद) और मन्त्र (अ उ और म का संयोग) इस प्रकारका ज्ञान यदि हो जाय और बौद्ध अज्ञान निवृत्त हो जाय, तब मोक्ष होता है। देहान्त होनेपर मोक्ष नहीं होता। क्योंकि अज्ञानका मूल बुद्धिमें समाविष्ट रहता है।

मनु मुमूर्षु पड़े हुए है। वहां और कोई नहीं है, केवल इड़ा है। वह बुद्धिकी प्रतीक है। वह ग्लानिसे भरी हुयी बीती बातें सोचती है। प्रकाश-की ओर पुरःसर नहीं होती। परिणाम स्पष्ट है।

देह सद्भाव पर्यन्त आत्मभाव बुद्धिमें स्थिर रहता है। मनुका दो नारियोंसे सम्पर्क है। एक हृदयकी अधिष्ठात्री देवी है, यहां पुरुषका साक्षात्कार होता है। स्पष्ट है कि, नारीका वह हृदय जिसमें सुधा सिन्धु लहरें लेता है और उसमें वाडव अग्नि जलता हुआ अपने रंग भरा करता है, उसी मधु पिंगल तरल अग्निमें शीतलता संसृतिकी रचना कर रही है। एक तरफ क्षमा और दूसरी तरफ प्रतिशोधकी मायाका निर्माण हो रहा है। तरल अग्निमें शीतलताकी संसृतिकी रचना प्रकाशतत्त्वकी सोम-सूर्याग्निसत्ताके अतिरिक्त कुछ नहीं है[3]

स्वर समाम्नायका ह्रस्वदीर्घ और प्लुत, प्रत्यभिज्ञादर्शन प्रतिपादित इच्छा, ज्ञान और क्रिया तथा सृष्टि, स्थिति और संहार सब विकल्परूप ही हैं। विकल्पकी यह स्थिति मनुकी उक्त दशामें अपरिहार्य है। वहाँ स्नेह भी अपराध हो जाता है।[4] जीवनके एक कोनेसे उठकर अपराध असीम बन जाता है। ह्रस्व दीर्घ बन जाता है। सोम सूर्य बन जाता है। यह कितना विलक्षण व्यापार है। वास्तवमें सर्वशून्यमें छल छद्मकी माया ही क्रीड़ा करती है।[5]

---

१. तन्त्रालोक, आ० १।६३, पृ० १००। २. कामायनी, निर्वेद, पृ० २०७।
३. तन्त्रालोक, आ० ३।१३०।
४. कामायनी, निवद, पृ० २०८ २०९।
५. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, प्रक्रिया विमर्श, पृ० ६०, ५०९-५१०।

सकल आत्मा परदेशी होता है। वह अपने आनन्द आयतनका शाश्वत बिहार छोड़कर मृगतृष्णाका आखेट बन जाता है। दुःखकी उसकी सीमा नहीं रह जाती। तीनों मलोंसे सम्बद्ध सकल पुरुष दो प्रकारके माने जाते हैं। १. पशुतायुक्त (मलत्रयोद्भवस्थिति) मुक्तता-युक्त (मलत्रयतिरोभाव स्थिति)[1]। जाग्रत, स्वप्न ओर सुषुप्ति अवस्थाओंसे प्रभावित होनेवाला सकल पशु है। इसके बाद वह तुर्य चौथी दशाको प्राप्त करता है किन्तु यदि उत्तरोत्तर उत्कर्षको वह नहीं प्राप्त कर पाता, तो उसका परिणाम प्रतिकूल होता है।

मनु शासनके सूत्रधार बनते हैं, नियमनके आधार बनते हैं और अपने ही निर्मित विधानसे वे साकार दण्ड बन जाते हैं। जो सबका अपना था, उसके सभी पराये बन जाते हैं। सुधा-आनन्द-समुद्रकी लहरोंमें जो लहराया करता था, वह उस लहरावको छोड़कर, चेतनाके प्रवाहको छोड़कर जड़त्वकी ओर तथा शैल शृङ्गकी ओर बढ़ने वाला व्यक्ति बन जाता है।[2]

विश्व तो जड़ चेतनमय है ही। अधम और उत्तमकी, भले और बुरे की धूप छांहमें रहना ही है यहां। सर्ग अंकुरके भले और बुरे दो पल्लव हैं[3]। विश्वमें विश्रामका विन्दु कौन है—यह किसीको पता नहीं है। यहां तो सुख बढ़ा नहीं कि, दुःख बना नहीं। वर्त्तमानका तिरस्कारकर प्राणी अपने भविष्यकी चिन्तामें झुलसता है। अपने पक्षमें संकल्पोंके रोड़े अट-काता है और दौड़नेका व्यर्थ प्रयत्न करता है। इड़ा सोचती है कि, मैं इसे दण्ड देनेकी माध्यम बन गयी या इसकी रखवाली कर रही हूँ। बुद्धि यह सोचती है कि, व्यक्तिका समाजका व्यष्टि और समष्टिका सबकी मेरे द्वारा ही रक्षा हो रही है। कितनी विचित्र बात है[4]। यही बौद्ध ज्ञानका विजृम्भण है। यही जब समाप्त हो जाता है, तो मुक्ति करतलामलकवत् हस्तगत हो जाती है[5]।

---

१. कामायनी, निर्वेद, पृ० २०९, पं० ५-६। २. वही निर्वेद, पृ० २०९।
३. कामायनी, निर्वेद, पृ० २१०। ४. पृ० २११।
५. बौद्धज्ञानेन तु यदा बौद्धमज्ञान-जृम्भितम्।
विलीयते तदा जीवन्मुक्तिः करतले स्थिता॥
तन्त्रालोक, आ०१।४४।

शाक्तोपायमें सत्तर्क, सदागम और सद्गुरूपदेशकी बड़ी महत्ता है। विकल्पके बलसे ही जन्तु (पशु जीव) अपनेको बद्ध मानते हैं। ऐसी दशामें वही व्यक्ति या जीव अपने परमरूपमें प्रवेशका पथ प्रशस्त कर सकता है, जिसके ऊपर शाम्भव शक्तिपात हो जाये।

शाम्भव शक्तिपातको समझना भी साधारण बात नहीं। अशुद्ध अध्वा-में संचरण करने वाला व्यक्ति सहसा हुए शक्तिपातसे कम्पित होकर विह्वल-विकल हो उठता है। और एक बार रणक्षेत्र छोड़कर भागे हुए वीरकी तरह क्षीण-वीर्य होकर सत्यकी उपेक्षाकर बैठता है। मनुकी भी यही दशा है। इड़ाके बाद पुनः श्रद्धा आती है किन्तु उस प्रभातकी स्वर्ण-किरणसी प्रकाशमयीके समक्ष अपनी कलुषित काया मनु कैसे प्रस्तुत करें? वे बोल उठे–भाग अरे मनु[1] !

मनु भाग खड़े हुए। जीव की यही विवशता है। उसका विमर्श ही मर जाता है। विमर्श रहित होकर कोई चेतनवत् कार्य नहीं कर सकता। इतना महान् व्यक्तित्व लेकर, इतनो विपुल सम्पदाके उपभोग का अधिकार पाकर, एक तत्त्व की ही प्रधानता 'कहो उसे जड़ या चेतन की' सूझ-बूझ वाला मनु जीवनकी इतनो अनुभूतियोंसे सम्वलित होनेपर भी भाग खड़ा होता है। जड़वत् आचरण करता है। यह आश्चर्यका विषय है।

निर्विमर्श प्रकाशभी जड़ ही कहा जाता है। मनु भी निर्विमर्शवत् आचरण कर रहा है। बुद्धिकी प्रतीक इडा ही उसके उत्कर्षके स्वारस्यमें विष घोल देती है या वही स्वयं विषके विषम अवसादको ग्रहण कर लेता है। भाग कर वह उस स्थान पर पहुँचता है, जहां रात्रि चन्द्र हीन है।[2] सोमसे ही संसृतिका रथ आगे बढ़ता है। केवल सूर्य और अग्निसे सृष्टि नहीं हो सकती। यह मनुके सौभाग्य का अभिवर्द्धन करने वाली वेला है, जहां वे भागनेके बाद विश्रान्ति प्राप्त करते हैं। प्रकृतिके उस प्रांगणमें कुछ निजी बात मौन और रहस्य रूपसे ही मानो मुखरित है। श्रद्धा

---

१. कामायनी, निर्वेद, पृ०२२९।
२. कामायनी, दर्शन, पृ० २३४।

और इडा साथ ही साथ उस स्थान पर पहुँचती हैं। हृदय और मस्तिष्क दोनों यहां मानो विश्वतुलापर तुल गये हों। जहां इडाका द्वार मनुके लिये भी बन्द है, वहीं श्रद्धाका द्वार मनुके लिये एक दम उन्मुक्त है।[1]

लोचन गोचर होने वाला यह जितना भी लोक है[2] वह सकल है, पाश बद्ध है, पशु है। इसमें संस्कृतिके हर्ष और शोक स्वयं कल्पित हैं। महाभावके महासमुद्रसे निकलने वाली महाप्रकाश की किरणें स्वातीकणसे मिल स्वातीके बूँद बन जातीं हैं। पर्वतोंसे परिस्रुत निर्झरराशि अनवरत नगराजका आलिंगन करती हैं और नीचेकी ओर सरक चलती हैं। पुनः सागर वारिदके माध्यमसे वही प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

यहां विश्वकी उलझनें हैं। यहां बड़े-बड़े आकर्षण हैं और उनमें ग्रस्त होने वाले प्राणियोंकी बड़ी दुर्दशा है। इसमें जो व्यक्ति जगता है. अहंकार की मदिराके कारण उसकी आखें लाल-लाल रहती हैं। यदि कहीं अभाग्यवश सो गया, तो फिर तमके नींद जालका शिकार होनेसे कौन रोक सकता है? यहां कहीं मृति है, तो कहीं संसृति, कहीं नीति है, तो कहीं उन्नति। इसकी सुषमाका एक अद्‌भुत आकर्षण है। यह अनन्त अन्तरिक्ष रूपी सरोवरका मराल है। इसकी सुन्दरता और इसकी विशालता दोनों स्पृहणीय हैं।[3]

संसार का हेतु अभिमान ही होता है, अभिमानका ही विलास काम है। गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने काम, क्रोध और लोभ, मोह, अहंकार आदिको पतनका ही कारण माना है। इस अभिमानका प्रतिद्वन्द्वी है विकल्प। संसाररूपी विकल्पका दलन एक अभिनव विकल्प करता है।[4] मध्यके विकाससे ही चिदानन्दका लाभ होता है। उस समय चिदैकात्म्य-प्रतिपत्तिकी दृढ़ता होती है। जीवनमुक्तिकी वह महनीय दशा है।[5]

---

१. कामायनी, दर्शन, पृ० २३३। २. दर्शन, पृ० २३३।

३. कामायनी, दर्शन, पृ० २३५, पं० १–१६।

४. अतः प्रतिद्वन्द्विरूपो बिकल्प उदितः संसार हेतुं विकल्पं दलयति इति अभ्युदय हेतुः। तन्त्रसार, पृ० २१।

५. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र १६–१७।

इस विकल्पका स्वरूप इस प्रकारका होता है—समस्त शिवान्त तत्वोंसे उत्तीर्ण, अपरिच्छिन्न संविद् मात्ररूप ही परम परमार्थ है। यह वस्तुकी व्यवस्थाका स्थान है। वही समग्र जगत्का ओज है। वही विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मा मैं हूँ। यह अभ्युदय हेतु विकल्प मायासे अन्ध व्यक्तियोंमें कभी उदित नहीं होता। कारण कि, उनको सत्तर्क, सदागम और सद्गुरूपदेश प्राप्त नहीं होते। वैष्णवादि सम्प्रदायवादी रागतत्त्वसे नियन्त्रित होते हैं।[१] उन्हें ऊर्ध्वदर्शनकी उन्मुखता भी नहीं होती। इसीलिये सत्तर्क आदिके अभावमें परमतत्त्वको कभी जान ही नहीं पाते।

स्वयं प्रकाश शिवने अख्यातिरूपताको स्वातन्त्र्यशक्तिसे स्वयं ग्रहण कर लिया था। उसी अख्यातिरूपताको स्वयं परित्यक्त करनेकी प्रक्रियामें जो क्रमिकता होती है, जैसे अब विकसित होने ही वाला है—अब वह विकसित हो चुका आदि–वही प्रक्रिया सत्तार्क की होती है। सभी भावनाओंकी स्थिति उस समय परमेश्वरमें ही हो जाती है[२]। सत्तार्कको ही शुद्ध विद्या कहते हैं। यह कई प्रकारसे संकृत होता है। १—याग, २—होम, ३—जप, ४—व्रत, और ५–योग ये ५ संस्कारके कारण हैं। विकल्पकी रूढ़ि सिद्धिके लिये परमेश्वरमें अपने समस्तभावोंका अर्पण ही याग' है। परमेश्वर संविद् अनल है। उसमें समस्तभावोंको ग्रास बना लेनेके रसकी रसिकता है। उसी अग्निमें अपने भावोंका विलोपन या विलापन 'होम है। उभयात्मक परामर्शके उदयके लिये बाह्य-अभ्यन्तर आदि प्रमेय रूपसे भिन्न भावोंकी अपेक्षा न करते हुए वह परमतत्त्व स्व-स्वभावरूप ही है, इस प्रकारका परामर्श 'जप' है। घट पट आदि पदार्थों का शरीर भी परमेश्वर ही है। यह अभिमान निरन्तर तत्त्वावलोकनसे ही सम्भव है। यही 'व्रत' है। इसमें स्व-परकी समता आ जाती है। इन विचित्र शुद्ध विद्यांशरूप विकल्पोंके द्वारा तत्त्वरूप विकल्पका आश्रय लिया जाता है, वही योग है[३]।

---

१. वैष्णवाद्यास्समस्तास्ते विद्यारागेण रंजिताः।
न विन्दन्ति परं तत्त्वं सर्वज्ञज्ञानवर्जिताः ॥ तन्त्रसार, आ०४ पृ० २२।

२. तत्र भावानां सर्वेषां परमेश्वर एव स्थितिः। तन्त्रसार, आ०४।२५।

३. तन्त्रसार आ०४, पृ० २५-२७।

तत्त्वदर्शनकी इस कसौटीपर श्रद्धाके सद्विचार अत्यन्त खरे उतरते हैं। वह कहती है—इसके स्तर स्तरमें शान्ति मौन भावसे विराजमान है। ताप भ्रान्तिकी अगाध शीतलता इस विश्वमें है, यहां पाशबद्ध जीव अपनी अगाध जड़ताके प्रति बेपरवाह व्यवहार कर रहे हैं। यह चिरमङ्गल है, पर परिवर्त्तनमय है। स्वप्रकाश परमशिव चिरमङ्गल है और विश्व जो अभिमान के विकल्पसे अभिभूत है—परिवर्त्तनमय है। इसमें सकलभाव मुस्कराते हैं। निष्कल भावतो यहां होते ही नहीं। इसमें कोलाहल हंसता है। अन्तस्तल उल्लाससे भरा रहता है। अर्थात् रहस्य रूपसे भगवत्-प्रकाश सर्वतः उल्लसित है। मेरा निवास कहां है ? सचमुच वह मधुर कान्तिमें है, परममङ्गलमय प्रकाशमें है। यह विश्वतो एक नीड है, जो सुखद शान्तिसे संयुक्त है[१]। शान्ति विन्दुकी[२] चौथी अवस्था होती है। शान्ति २ प्रकारकी होती है। १—शिवशान्ति और २—शक्तिशान्ति यहां शक्ति शान्ति है, जिसमें श्रद्धाका अनुराग भरा हुआ है।

इड़ा पूछती है, अमले ! फिर मुझसे विरागका क्या कारण है ? वहां त्याग दीन बन गया था। वह कुछ ग्रहण कर रहा था[३]। जागतिक विकल्पकी प्रतीक इड़ा जीवनकी अनुरक्ति ही नहीं अन्धानुरक्ति है, जो व्यक्ति श्रद्धासे विछुड़ जाता है—इड़ा उसे आशा बँधाती और मादकताकी वारिधारासे सिंचित करती है। वह चिर अतृप्ति है और उत्तेजनापूर्ण चंचला शक्तिके समान है[४]।

इड़ा यहां विकल्परूपसे चित्रित है। उसकी प्रतिवन्धक और अभ्युदय हेतु विकल्पके रूपमें श्रद्धाका उदय होता है। वह दुःखको सुख कर लेती है। इससे (इदंतापरामर्श-इदं विश्व से) लेकर उसको (तत्+अहंता परामर्श +परमशिवको) दे देती है। जागतिक विकल्पोंको पाकर खो देती है। हंसना और रोना उसके स्वाभाविक धर्म नहीं है। ऐसा वह दो पाटोंके बीच पिसते हुए मानो कबीरके सहभावमें करती है। वह चिरविस्मृतिके समान इधर उधर डोला करती है[५]। यह डोलना तभी बन्द हो सकता

---

१. कामायनी-दर्शन, पृ० २३६।
२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, ६७।५४५।
३. कामायनी, दर्शन, पृ० २३६।
४. कामायनी, दर्शन, पृ० २३७।
५. कामायनी, दर्शन, पृ० २३७।

है, जब विकल्परूप क्रिया शीलताका अन्त होकर परमशिवकी अनुभूति हो जाय, पर कितनी विवशता है इस विश्वमें ! यहां सभी लालसाकी घूंट पी रहे हैं। इड़ाकी बुद्धि भी यहां निष्प्रभ हो जाती है। उसका साहस छूटने लग जाता है।

प्रसिद्ध तो यही है कि, बुद्धि जनपद कल्याणी है किन्तु अब वह अवनतिकी कारण और निषिद्ध हो गयी है। जगत्‌के जितने भी विभाजन हैं, वे विषम हैं। समताकी स्थितिमें तो विकल्प-शून्यता होती है। विषमता ही विश्वका वैकल्पिक स्वरूप है। इसकी ज्वाला इतनी समिद्ध होती है कि, यह नित्य आहुतिकी आकांक्षा रखती है[1]।

प्राणी विनाशके मुखमें अविरल भावसे चला जा रहा है। संघर्ष और कर्मका बल वस्तुतः मिथ्या है, शक्तिके चिह्न वास्तवमें विफल हैं। अब तो इड़ा अकिंचन बनेगी। उसे वह स्वयम् अच्छी नहीं लगती। अपना संसृति-साम उसे स्वयंको सुनाई नहीं दे रहा है[2]। वह अब सर्व तत्त्वान्तर्भूत परस्वराट् तत्त्व को, अपनी सुषुप्त चेतनताको जगा लेनेकी कामना करती है। श्रद्धा 'इड़ाको रुद्र रोषके प्रति सचेत करती है[3]।

अभी तक विषम ध्वान्त बनकर रुद्र रोग अशान्त है, मस्तिष्कपर निर्भर रहने वाली इडा हृदय पक्षसे शून्य है। सारा विश्व-व्यापारात्मक अभिनय इडाकी विह्वलता और वैकल्यको ही सूचित करता है। जब तक वह चेतनात्म सत्तासे अपनत्त्वका स्थापन नहीं करती, तब तक सुख नहीं मिल सकता। सुखको उपलब्धि तो वहीं हो सकती है। वह सुख खो गया है। अभी आलोकका उदय भी नहीं हो पाया है।

जीवनकी धाराका सुन्दर प्रवाह बड़ा ही मोहक है। यह सत्, सतत, प्रकाश, सुखद और अथाह है। इसको या इसके सौन्दर्य रहस्यको न जानकर जो केवल लहरोंकी ही गिनती करे—उससे बढ़कर मुग्ध अबोध

---

१. कामायनी, दर्शन, पृ० २३९।

२. कामायनी, दर्शन, पृ० २४०। पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ० १३।१०१।

३. कामायनी, दर्शन, पृ० २४८।

कौन हो सकता है? कौन है, जो प्रतिबिम्बित तारकमण्डलको पकड़ सकता है? वास्तवमें आठों पहर उसीको देखनेके लिये जो ठहर जाये, वह जड़ है—जड़ताकी यही स्थिति है।

जीवनकी सरल राह तो सुख दुःखकी धूप छांहमें मधुमयताका अनुधावन करना ही है।[1] यह जगत् चितिका शाश्वत स्वरूप है। जड़ पदार्थोंके जीवनका आश्रय या प्रतिष्ठान तथा चेतन पदार्थों की जीवनात्मकताका आश्रय ज्ञान और क्रिया दोनों हैं। चैतन्य अपरिच्छिन्न प्रकाश है। चेतनताका भौतिक विभाजन अनुचित है। जगत् परिवर्तनमय है। उल्लासपूर्ण शाश्वत आनन्द इसमें ओत-प्रोत है। इसमें एक ही राग है, जिससे जाग-जागकी ध्वनि ही निरन्तर निःसृत हो रही है।[2]

श्रद्धा लोक अग्निमें तप्त दिव्यकांचन की तरह तप्त है। उसने आहुतियां दी हैं। अब भी आहुति देनेके लिये प्रस्तुत है। आहुति होम है। तन्त्रके अनुसार तेजोमय परमेश्वरके संविद् रूपी अनलमें अपनी समस्त भावनिधिका विलापन ही होम है।[3] श्रद्धाके पास सबसे बड़ी निधि उसका कुमार ही है। इस भूत-सृष्टिका कलितकमनीय और सबसे महत्त्वपूर्ण अंश मानव ही है। समस्त भावग्रास रसिकता तेजमें होतो ही है। श्रद्धा सर्वोत्तम अवसरका चयन करती है। वह उन्मुक्त भावसे महाभावमें सन्निविष्ट हो जाना चाहती है। इसलिये उसने 'इडा की जलती छातीकी दाहको प्रशान्त करनेके लिये, उसकी चाहको चमत्कृत करनेके लिये अपने पासकी निधिका ही परित्याग कर दिया। 'होम' का इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण संसारके इतिहासमें नहीं मिल सकता। यशोधराने राहुलको दिया था किन्तु श्रद्धाका दान इससे नितान्त विलक्षण है। राहुल बुद्धके मार्गपर शून्यका पथिक बन गया किन्तु यहां 'इडा' का सहभाव प्राप्त है। मानव कर्मके विनिमय करनेके लिये भी आदिष्ट है।[4]

---

१. कामायनी, दर्शन, पृ० २४१, पं० ३–१६।

२. कामायनी, पृ० २४२, पं० १–८।

३. कामायनी, दर्शन, पृ० २४७, पं० ५–६।

४. कामायनी, दर्शन, पृ० २४३, पं० ८–१६।

श्रद्धा अपने मनुको खोजने चल पड़ती है। उसे मनुकी प्राप्तिका विश्वास है, क्योंकि वह प्रेमकी पत्नी हुई है। प्रेमकी इस दार्शनिक पृष्ठ-भूमिमें कुमारको तुरत छोड़ देना और कुमारका इडा-क्रोड स्वीकार कर लेना, इन दोनो बातोंका वस्त्वंश नितान्त उपेक्षित कर दिया गया है।[१] यह उचित भी है। श्रद्धाका इस प्रकरणमें मोह प्रदर्शित करना प्रत्यभिज्ञाके ही प्रतिकूल पड़ जाता। हां, इसके तुरत बाद श्रद्धाका मानवके लिये सन्देश महत्त्वपूर्ण है। मानव इडाके सहयोगसे समरसताका प्रचार करे। इडा तर्कमयी है और मानव श्रद्धामय है। इन दोनोंके समन्वयमें सामरस्य अनिवार्यतः होना ही चाहिये।[२]

कुमार और इडा चले जाते हैं। उस समय श्रद्धा—द्वैतमुक्त रह जाती है। वह लोक अग्नि-संविद् रूप अनल–में तप्त होकर स्वर्ण प्रतिमा बन चुकी है। वह विश्वकी मित्र है[३]–मातृमूर्त्ति देवी है। इस बार जब श्रद्धाका चाक्षुष-प्रत्यक्ष मनु करते हैं—उन्हें उसमें मातृत्वका दर्शन होता है। उसके अद्‌भुत मानसिक प्रवाहको देखकर वे स्तब्ध हो जाते हैं। कोमल बाल वीर शावकको श्वापदोंको सौंप देनेमें कौन-सी हृदयवत्ता या बुद्धिमत्ता है ? इडा मनुको तो छल ही चुकी है। आज श्रद्धासे भी छद्मपूर्ण व्यवहार करनेमें पीछे नहीं रह सकी। कुमारको श्रद्धासे ले लेनेमें इडाका छल ही हेतु है।[४]

भावके तीन अर्थ साधारणतः प्रचलित हैं। १—भावः क्रिया, २—भावः पदार्थः और ३—भावः भावना। मनु इन तीनों अर्थोंमें पिस पिसकर यहाँ तक आये हैं। उनकी क्रियायें उन्हें चूर्ण-चूर्ण कर चुकी थीं। उन्हें सभी पदार्थ प्रतिकूल ही जान पड़े थे। उनका संघात उन्हें मंहगा पड़ा था। उनके सारस्वत नगरकी कल्पना ध्वस्त हो चुकी थी और भावनाका जहांतक प्रश्न था, वे झकझोर दिये गये थे। इसी अभिभूत-भावदशामें मनुके वक्षमें विराजमान लघुतामें अनुशय तीर बनकर घुस गया है।[५]

---

१. कामायनी, दर्शन, पृ० २४३, २–८ २. पृ० २४४ पं० १-८।
३. कामायनी. दर्शन, पृ० २४२, पं० ९। पृ० २४७, पं० १३, १६।
४. कामायनी, दर्शन, पं० २४८, १–१६। पृ० २५०, पं० १–८।
५. कामायनी, दर्शन, पं० २५०, पं० १–८।

मनु और श्रद्धा शान्ति प्रातमें जानेकी तैयारी कर लेते हैं। रात्रिकी विगत बातको छोड़कर प्रशस्त प्रकाश पंथपर प्रस्थित और पुरःसर होनेकी प्रक्रियाका श्री गणेश यहां हो रहा है।[१]

देव-द्वन्द्वका प्रतीक मानव समरसताका सम्बन्ध-सूत्र दृढ़ बनाये, अलीकको गिराये और मनु अनन्त 'शून्यसार'के चिन्तनसे आगे बढ़े— यही श्रद्धाका अभिप्रेत अर्थ था।[२] वह आज सिद्ध हो रहा है। सत्ताका स्पन्दन डोल गया है। आवरण पटलकी ग्रन्थियाँ अनावृत हो रही हैं। तम-जलनिधिका मन्थन हो गया है। उससे ज्योत्स्नाका विस्फार हुआ है। उस प्रकाशमें विश्व मङ्गल आलोक पुरुषका प्रादुर्भाव हुआ है। अब वहाँ प्रकाशका ही साम्राज्य है। मधु किरणोंकी लोल लहरि-काओंका लालित्य अस्तित्वको पुलकित कर रहा है। तम ही उस विराट् पुरुषका अलक जाल था। वह ज्योतिष्मान् पुरुष, शून्यका भेदन करनेवाली वह चित् सत्ता, सब कुछ अद्भुत था। साक्षात् नटराज और उनका तांडव, अन्तरिक्षका अक्षुण्ण आह्लाद, तांडवके तालपर स्वरोंकी थाप! तब कहाँ दिक् और कहां काल? दिक् और कालकी सीमाकी समाप्ति! सब कुछ आश्चर्यमय था।[३]

लीलाका आह्लाद स्पन्दित था, प्रभा-पुञ्जका वह चितिमय प्रसाद था। ताण्डवमें आनन्दका समन्वय था। उज्ज्वल श्रम सीकर ही तारा, हिमकर और दिनकर बन रहे थे। तन्त्रकी भाषामें इसे वह्नि-धारणा कहते हैं।[४] संहार और सृजन दोनों ही ताण्डवमें पद बन रहे थे। नाद अनाहत होकर गतिशील हो गया था। ऐसी दशामें असंख्य गोलक और ब्रह्माण्ड की ख्याति समाप्त हो जाती है। भेद बुद्धिकी समाप्तिमें यह सब कुछ नहीं रह जाता है। विश्वका महादोल झूलता हुआ प्रतीत होता है और परिवर्तनके महापट का रहस्य खुल जाता है।[५]

---

१. कामायनी, दर्शन, पृ० २५०, पं० १०-१५।
२. कामायनी, दर्शन, पृ० २५१, पं० १-१६।
३. कामायनी, दर्शन, पृ० २५२, पं० १-१६।
४. मालिनीविजयोत्तर तन्त्र १३ २१-३३
५. कामायनी, दर्शन, पृ० २५३। पं० १-१६। तन्त्रालोक आ० ११९६-९९

शिव शक्ति-शरीरी है। उसके प्रकाशकी प्राप्तिके उपरान्त शाप-पापका विनाश हो जाता है। प्रकृतिकी भेद-सत्तात्मक स्थिति समाप्त हो जाती है। उसी कान्ति सिन्धुमें वह घुल मिल जाती है। जो भीषणतर होता है, वह कमनीय बन जाता है और हीरक पहाड़पर विद्युतका विलास उल्लसित हो जाता है। महाचितिका धवल हास विलसित होने लगता है। मनु नर्त्तित नटेशको देखनेका सौभाग्य प्राप्त करते हैं। उनके हृदयमें शक्तिका स्फुरण होता है।[1] मायिक विकल्पकी हानि और शाश्वत अनुभूति जनक विकल्पका अभ्युदय होता है। कुल, सामर्थ्य, ऊर्मि, हृदय, सार, स्पन्द, विभूति, त्रीशिका, काली, कर्षणी, चण्डी, वाणो, भोग, दृक् और नित्या इन शब्दोंसे अभिधीयमान आगमोक्त शक्तियोंका हृदयमें स्फुरण होता है, जिनमें जागतिक भावके विलापनकी उत्पत्ति होती है।[2]

मनु इदंता परामर्शसे ऊपर उठ गये हैं। उन्हें इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप शक्ति सामरस्यका अवबोध हो गया है। इन्हीं शक्तियोंके द्वारा परमशिव धरण्यन्त पदार्थ-समूहको अविकल्प संविद् रूपताके कारण धारण करते हैं। उनका भरण पोषण करते हैं। स्वयं देखते हैं और दूसरोंको भी आभासित करते हैं। ऐसी स्थितिमें ही समरस अखंड आनन्दवेश शिवका दर्शन होता है।[3]

श्रद्धा आगे आगे और मनु पीछे पीछे चल रहे हैं। देश ऊर्ध्व है। नील तमस्में स्तब्ध हिमानी वहां अचल है। पथ मानो थककर वहीं लीन हो गये हैं। मानसकी वृत्ति पवनका स्पन्दन बनकर पीछे लौटनेका अनुत्साह भी पैदा कर रही है[4]।

---

१. कामायनी, दर्शन, पृ० २५४, पं० १-११।

२. तन्त्रसार, आ० ४, पृ० २८

३. कामायनी, पृ० २५४, पं० १-१६।

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्यो जीवात्मपरमात्मनोः॥ बोधसार,

४. कामायनी, रहस्य पृ० २५७। पं० २-१०

मनु थक जाते हैं। भग्न आशाका पथिक आगे बढ़नेसे अस्वीकार कर देता है। मनुका पिछला ममत्त्व पुनः जाग पड़ता है[१]। श्रद्धा उन्हें सम्बल देती है और मनुको उत्साहित करती है। वहां ऊपर अनन्त आकाश तथा पदतलमें भूधर दृश्यमान है। दोनों निराधार हैं। दोनोंको ठहरना औंर नियतिका खेल देखना अनिवार्य हो गया है। अब दूसरा कोई उपाय नहीं रह गया है[२]। दोनों आगे वहां बढ़ जाते हैं, जिसे तन्त्रकी भाषामें सकलाकल भुवन कहते हैं। ग्रहतारक नक्षत्र वहां सभी अस्त थे। न तो वहां दिवा, न रात्रि और न संधिकाल। फिर तो इनमें व्यस्त रहनेकी व्यग्रताका भी अभाव ही वहां था। नई चेतनाका उदय हो गया था। वहां त्रिदिक् विश्वके इन्द्रजालसे मनु पुनः घबरा उठते हैं[३]।

कामायनी-मनुको त्रिकोणका दर्शन कराती है। त्रिकोणकी रहस्यात्मकता वामकेश्वर तन्त्रमें परिभाषित है।

पश्यन्ती बैखरी

मध्यमा

पश्यन्ती इस त्रिकोणकी वाम विन्दु है। बैखरी दक्षिण विन्दु है। मध्यमा आधार विन्दु है। यह अभिन्न चिन्मण्डल है, जो चित्कलाकी ज्योतिसे ज्योतिष्मान् है। इच्छा और वामाके सामरस्यसे पश्यन्ती वाक्-शक्तिका प्रादुर्भाव होता है। ज्ञान तथा ज्येष्ठाके सामरस्यसे मध्यमा और क्रिया एवं रौद्रीके सामरस्यसे बैखरी वाक्शक्ति निष्पन्न होती है। यह मूल त्रिकोण है। इसके केन्द्र विन्दु जीव और शिव दोनों हैं।

---

१. कामायनी, रहस्य, पृ० २५९। २. कामायनी रहस्य पृ० २६०।

३. कामायनी, रहस्य, पृ० २६१।

त्रिदिक् विश्व, आलोक-विन्दु भी तीन दिखाई पड़े अलग वे,
त्रिभुवनके प्रतिनिधि थे मानो वे अनमिल थे किन्तु सजग थे।
मनु ने पूछा, कौन नये ग्रह, ये हैं श्रद्धे ! मुझे बताओ,
मैं किस लोक बीच पहुंचा, इस इन्द्रजालसे मुझे बचाओ।

मनुको मध्यविन्दु मानकर इच्छा, ज्ञान और क्रिया वाले त्रिकोणकी उक्त रहस्यात्मकताको, कामायनी यहां उद्घाटित करती है[1]। अज्ञ व्यक्तिको सत्तर्कसे, सदागमसे और सद्गुरुके उपदेशसे शुद्ध अध्वापर लाया जा सकता है। कामायनी यहां सद्गुरुका काम करती है। शुद्ध अध्वापर आना भी परमेश्वर की इच्छा ही मानी जाती है। परमात्मा ऐसे व्यक्तियोंके ऊपर अवश्य ही अनुग्रह करते हैं।

मूल त्रिकोणके बाहर १—शान्त्यतीत, २—शान्ति, ३—विद्या, ४—प्रतिष्ठा और ५—निवृत्ति कलाओंका आभामय विस्तार है। इन स्तरों की समष्टि ही जगत् है। केन्द्रके मध्य विन्दुसे इन समस्त स्तरोंकी समष्टितक महाशक्तिका चिद् विलास उल्लसित है। सूक्ष्म, स्थूल और कारण भी त्रिकोणके तीन विन्दु हैं। केन्द्र विन्दुका प्रसार इसमें होता है। त्रिकोण मण्डल त्रिशक्तिसे समन्वित है।[2]

'अ'कार अनुत्तर स्पन्द है। 'आ'कार उसीका उच्छलित रूप है। ये दोनों इच्छा और उन्मेषरूप 'इ'कार ओर 'उ' कारसे व्याकरण सूत्र 'आद्गुणः'के अनुसार मिलते हैं और 'ए'कार 'ओ'कारकी विचित्र स्थितिको प्राप्त कर लेते हैं। 'अ' कार रूप और 'आ' कार रूप 'स्पन्द' और आनन्द जब इच्छा शक्तिसे संयुक्त होते हैं, तो 'ए' इस त्रिकोण रूपको प्राप्त कर लेते हैं। 'ए' विसर्गामोद सौन्दर्य सम्पन्न होता है।[3] विसर्ग परा शक्तिको कहते हैं। उसका आनन्दमय उदयक्रम ही आमोद है। क्रियाशक्ति पर्यन्त यह उल्लास रहता है। इस उल्लाससे समन्वित एवं नित्योदित शक्ति सम्पन्न होनेके कारण यह त्रिकोण परमानन्दमय ही होता है। इसे

---

१. कामायनी, रहस्य, पृ० २६२। तन्त्रालोक, आ० ३। १११-११३।

२. त्रिकोणमण्डलं पूज्यं शक्तित्रय समन्वितम्। तन्मध्ये चेतनं लिङ्गं चिन्त्यं वै पश्चिमामुखम्।

३. त्रिकोणमिति तत्प्राहुः विसर्गामोदसुन्दरम्। तं० आ० ३। ९४-९५।
त्रिकोणमेकादशमं, वह्निगेहं च योनिकम्। शृंगाटं चैव एकारं नामभिः परिकीर्तितम्। त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम्। इच्छाज्ञान-क्रियाकोणं, तन्मध्ये चिञ्चिनीक्रमम्। तन्त्रालोक आ० ३, पृ० १०३-१०४।

योगिनी-वक्त्र भी कहते हैं। यह सृष्टिकी आधार शक्ति है। त्रिकोणमें वृद्धि होनेपर वह छः अराओंसे संयुक्त हो जाता है। यह षडर स्थिति है। चर्याक्रममें यह षडर (षट्+अरा) मुद्रा कही जाती है।

व्याकरण शास्त्रके अनुसार इ का य् विकार होता है। य् का इ सम्प्रसारण होता है। ए को अय्का आदेश होता है। अय्में अ और इ शक्ति ही विद्यमान है। इच्छा शक्ति है। अकार अनुत्तरानन्द शिव है। इकार और अकारके संयोगको इसीलिए पाणिनिने 'गुण' संज्ञा प्रदान की है। गुणके साथ पुनः अनुत्तरानन्दका संयोग वृद्धि है। यही सृष्टिका क्रम है। यही त्रिकोण का रहस्य है।

श्रद्धा इस त्रिकोण रहस्यके द्वारा विश्वकी रहस्यात्मकताका संकेत कर रही है। इच्छा, ज्ञान और क्रियावाले इस त्रिकोणका केन्द्रविन्दु शिव ही होता है। शिव ही जीव हो गया है। उसे इसी प्रत्यभिज्ञानकी आवश्यकता है कि, 'जीव एव शिवः'। यहां चारों ओर स्तरके अनुसार सृष्टिकी रागारुणता भी विद्यमान है। यही तितलियां हैं।[1] यह जीवनकी मध्यभूमि है। रस की शाश्वत धारासे यह सिंचित है। मधुर लालसाकी लोल लहरिकायें इसे स्पन्दित करती हैं। यहां चलचित्रोंकी छायाके समान आलोक विन्दुको माया घेरे हुए बैठी है। इसीसे भावचक्र चल रहा है। इच्छाकी रथ नाभि घूम रही है।[2] उसकी अराओंमें साहित्यके नवरस भरे हुए हैं। अर्थात् दुःख सुखात्मक समस्त अनुभूतियां अभी यहां शेष हैं। चिति शक्तियां इस चक्रवाल को चूम रही हैं। मायाका ही यहां राज्य है। यहां चेतनकी रागारुण उपासना चलती है। पाश बिछ जाता है और जीव फंसते जाते हैं। यह सभी 'स्व' भावकी ही प्रतिकृति है। उलझी हुई लतिका भाव विटपसे मिलती है और आकाश के कुसुम खिलते हैं।

यह चिर वसन्तका अभिनव उद्गम है। एक ओर सृष्टिका उद्गार और दूसरी ओर संहार का पतझार, अमृत और हालाहलका विषम संयोग, सुख और दुःख दोनोंका एक सूत्रमें संग्रथन ! यह सब नितान्त अद्भुत है।

---

१. कामायनी, रहस्य, पृ० २६२, पं० १–१६।

२. कामायनी, रहस्य, पृ० २६४–२६५।

कर्म लोकका चक्र भी नियतिकी प्रेरणासे घूमता है।[१] सबके पीछे यहां कोई विकल एषणा लगी हुई है। प्राण इस क्रिया - तन्त्रका दास बन जाता है। यहां आकांक्षा की तीव्र पिपासा मृग तृष्णा की तरह पशु-को और भी पाश बद्ध कर रही है। ममताकी यह कितनी निर्मम अवस्था है।[२] यहां नील लोहितकी ज्वाला निरन्तर कुछ जला-जलाकर नित्य नये सांचेमें ढाला करती है। इसे मृत्यु नहीं मार सकती।[३]

इच्छा और क्रियाके अनन्तर ज्ञानकी उज्ज्वलता पशुके आवरणको शिथिल करती है। मनुके ज्ञान-लोकके उज्ज्वल स्वरूपकी जिज्ञासाका श्रद्धा समाधान करती है—'प्रियतम यह ज्ञान क्षेत्र है। यहां सुख और दुःख दोनोंसे उदासीनता रहती है। यहां निर्मम न्याय है। यहां बुद्धिका चक्र चलता है। इसमें दीनताके दर्शन नहीं होते। यहां अस्ति-नास्तिका भेद अणु–पाशबद्ध जीव करते हैं। यहां विरोध विकसित होकर इनके जीवनमें पलता है। ये निःसङ्ग हैं और सम्बन्ध भी स्थापित करते हैं। वह सम्बन्ध भुक्तिसे होता है। यहां नित्य अतृप्तिका साम्राज्य है। मनोभाव अपना कार्यक्रम स्वयं बनाते हैं। समतोलनकी प्रक्रियामें वे दत्तचित्त हैं। इनका जीवन पात्र परिमित है। बूंद-बूंद गिरने वाले निर्झरसे ये जीवनका रस मांगते रहते हैं। अपनेको अजर अमर मानकर यहां पड़े हुए हैं। ये सामंजस्य करने चलते तो हैं पर केवल विषमताका ही विस्तार कर रहे हैं। अपना मूल स्वत्व कुछ दूसरा है। पर बतला नहीं पाते। इच्छाओंको झुठला रहे हैं। यही त्रिपुर है। ये तीन ज्योतिर्मय विन्दु सामने हैं। ज्ञान जब दूर रह जाता हो, तदनुकूल व्यापार होता ही नहीं हो और क्रिया कुछ दूसरी हो, तो फिर इच्छा पूरी होनेका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। जीवनकी यही सबसे बड़ी विडम्बना है कि, ये एक दूसरेसे मिल नहीं पा रहे हैं[४]।

---

१. तन्त्रालोक, आ० ९।४५–४७, २०२–२०३, आ० ४।१७, ३।७८–८१।

२. कामायनी, रहस्य, पृ० २६७, पं० १३–१६।

३. कामायनी, रहस्य, पृ० २६८, पं० १७–२०।

४. कामायनी, रहस्य, पृ० २६९–२७२।

श्रद्धाकी स्मिति महाज्योतिकी रेखा बनकर इच्छा, क्रिया और ज्ञानके त्रिकोण विन्दुओंसे जा मिलती है। सहसा वे सम्बद्ध हो जाते हैं। उनमें एक ज्वालाका जागरण हो गया था[1]। ज्योति नीचे और ऊपर लचकीली थी। विषय वायु प्राणवत्ताकी स्थिति है। उसमें ऊर्ध्व और अधस्के व्यापारमें मिलकर ज्वाला स्पन्दित होती हुई प्रतीत हो रही थी। महाशून्यमें वह स्वर्णिम ज्वाला सबको नहीं नहींका (मायाके अनस्तित्वका) सन्देश दे रही थी। कंचुक हटाओ और अपना 'स्व'रूप दर्शन करो—यही संगीत वहां मुखरित हो रहा था। पावक सर्वदा प्रलय उपस्थित करता है। मलका जलना पावककी ज्वालासे ही सम्भव है। उस समय संविद्की शक्तिका तरङ्ग इच्छा, ज्ञान और क्रियाके त्रिकोणमें निखर उठा। वहां केवल शृङ्ग और डमरूका निनाद ही सुनाई दे रहा था। सकल विश्व उस आकस्मिक निनादसे निनादित था।

चितिका परामर्श होने लगा। चिति चेतनाकी भित्ति है। चेतना प्रकाशमय होती है। प्रकाश अप्रकाशकी चिता है। इस प्रकार वहां चिति-की चिता धधकने लगी थी। महाकालका वहां विषम नृत्य हो रहा था। महाकालका विषम नृत्य जगत् है। जगत्का यह परिवर्त्तनमय खेल वहां चल रहा था[2]। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिकी दशायें भस्म हो उठीं। वे इच्छा, ज्ञान और क्रियामें ही मिल गयीं। उसीमें लय हो गयीं। दिव्य अनाहत नाद बज उठा। वह पर-नाद था[3]। श्रद्धायुत मनु उस अनाहत-नाद ध्वनिमें तन्मय हो गये थे। उन्हें उस समय तादात्म्य प्राप्त था।

अनाहत नाद मध्यमा वाक् होती है। वही पश्यन्ती और बैखरीकी आधार बनती है। परावाक् पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरीकी तुरीयावस्था है। यहां 'परनाद' शब्दसे परा और पश्यन्ती दोनोंका ग्रहण हो रहा है। यहां श्रद्धा और मनुपर नाद सुन रहे हैं। वह अनाहत है। न आहत अनाहतमें नञ् समाप्त है। ध्वनि स्थान और प्रयत्नसे ही आहत होती है।

---

१. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० ३०, श्लोक २४२। कामायनी रहस्य, पृ०२७३।

२. कामायनी, रहस्य, पृ०२७३। तं० ६।१६६। ९।४५-४७, २०१।

३. मालिनीविजयोत्तर तन्त्र, अ०१२। १२। तं० आ०४।१७५।५।५१।

वह आहत नहीं है। पश्यन्ती केवल परामर्श रूपा होती है। अतः यह मध्यमावाक् ही मानी जाती है। उसमें संगीतकी मधुर ध्वनिका आकर्षण होता है। उस वाणीके श्रवणकी स्थिति केवल शक्तिपातसे ही सम्भव है। दोनोंपर शक्तिपात हुआ है। शक्तिपातसे ही पशु पवित्रित होता है और अपनी पशुताके आवरणको भग्नकर शिवताको प्राप्त कर लेता है[1]। यहां मनुकी शाक्त स्थिति समाप्त हो जाती है।

श्रद्धा और मनु यहाँ शक्तिके परम प्रकाशमें ही तन्मय हैं। श्रद्धाके सहयोगसे मनु इस शाक्ती दशा का अनुभव कर रहे हैं। उनकी जड़ताके, शापित होनेके, मलिन और परतन्त्र होनेके समस्त आणव विकल्प समाप्त हो चुके हैं। उनका हृदय कमल सूर्य-रश्मिरूपी शक्तिके सम्पातसे विकसित हो चुका है।

शाक्ती स्थिति का सबसे बड़ा प्रमाण है—मनुके स्वप्न-स्वाप यहाँ तक कि, जागरण का भी भस्म हो जाना। इच्छा, ज्ञान और क्रियाओं का मिल जाना। परिणाम तन्मयता है। यही शाक्त-स्थितिका रहस्य है।[2]

---

१. तन्त्रालोक, आ०४।४३६, ४३७, ४३९, ४८३।
२. कामायनी, रहस्य पृ० २७३। पं० १७–२०।

५ : कामायनी : शाम्भव स्थिति

३—शाम्भव स्थिति (आनन्द सर्ग)

शिवतत्त्व प्रकाश रूप है। उस प्रकाशके दीप्ति-वलयमें प्रवेशके लिये उपाय उपयोगी होता है। प्रवेश शक्तिसे होता है। शक्ति विश्वकी व्यवस्था-पिका मानी जाती है। वह विश्वात्मक भी होती है और अविश्वात्मक भी होती है। प्रमातामें शक्तिका परामर्श होता है। विश्वात्मकता भी परमेश्वरका ही रूप है। मुख्यरूपसे परमेश्वरकी तीन शक्तियां हैं १—अनुत्तर, २—इच्छा और ३—उन्मेष[1]। इनमें तीन परामर्श हैं—१—अ, २—इ और ३—उ, इन्हीं तीन परामर्शोंसे सारा प्रपञ्च चर्चित होता है। अनुत्तर शक्तिमें आनन्दकी विश्रान्ति होती है। इच्छा शक्तिमें ईशन व्यापारकी विश्रान्ति है और उन्मेषमें ही ऊर्मिकी विश्रान्ति है। ऊर्मिसे ही क्रिया शक्तिका प्रादुर्भाव होता है[2]।

तत्त्व	सूर्यात्मक	सोमात्मक
अनुत्तर	अ	आ (आनन्द)
इच्छा	इ	ई (ईशन)
उन्मेष	उ	ऊ (ऊर्मि या ऊनता)

इन तीनोंमें दीर्घ, गुण और वृद्धि सन्धियां होती हैं और बीजशक्ति का विकास होता है। इसका स्वरूप इस प्रकार है—

अनुत्तर अकारका बीजात्मक विकास—१. अ+इ या उ=गुण (आद्गुणः) २. अ+ए या ओ=वृद्धि (वृद्धिरेचि) ३. अयादि विकार (एचो यवायावः) ४. इग्यणः सम्प्रसारणम्, ५. अनुत्तरानन्दमें सम्वेदन-सार प्रकाश स्वरूप संवित्ति विन्दु संघट्ट–अम्, ६. अनुत्तरानन्दसे शक्ति रूप विसर्ग संघट्ट=अः। बीजषोडशक–अ-आ, इ-ई, उ-ऊ, ऋ-ॠ,ऌ-ॡ, ए-ऐ, ओ-औ, अं-अः।

योनि विकास इसप्रकार होता है—१. अनुत्तर से कवर्ग, २, श्रद्धा रूप इच्छासे चवर्ग, ३. कर्मांशानुप्रवेशवती इच्छासे ट वर्ग और तवर्ग। ४. उन्मेषसे प वर्ग, ५. इच्छासे-य-र-ल-श-ष-स। ६. उन्मेषसे—व। ७. विसर्गसे ह, ८. अनुत्तर इच्छा योनिसंयोगज—क्षकार।

---

१. तन्त्रसार, आ०३, पृ०१२। २. तन्त्रसार, आ० ३, पृ०१३-१६।

इस प्रकार ५० वर्णोंका उदय वर्णमालामें होता है। उक्त विवरणसे यह सिद्ध हो जाता है कि, अकारसे लेकर विसर्ग शक्ति पर्यन्त शिव तत्त्वका विकास है। इस विकास परम्परामें ही समग्र विश्वका उल्लास है।[1]

स्वर समाम्नाय शिव शक्तिका अन्तः-प्रस्पन्द है और व्यंजन समाम्नायमें बहिः सृष्टिका प्रस्पन्दन है—

क ख ग घ ङ	क्षिति	जल	पावक	गगन	समीर	पंच महाभूत
च छ ज झ ञ	रूप	रस	गन्ध	स्पर्श	शब्द	पंच तन्मात्रायें
ट ठ ड ढ ण	कर	चरण	पायु	उपस्थ	वाक्	पंच कर्मेन्द्रियां
त थ द ध न	चक्षु	रसना	नासिका	त्वक्	श्रोत्र	पंचज्ञानेन्द्रियां
प फ ब भ म	मन	अहंकार	बुद्धि	प्रकृति	पुरुष	पंचक
य व र ल	राग	विद्या	कला	माया	—	कंचुक तत्त्व
श ष स	सर्ग	सीत्कार		सद्विद्या	संसार	सकारात्मक
ह						विसर्ग सृष्टि
क्ष				व्यंजनवर्णोंका प्रत्याहार		क्षिति सद्विद्या संयोग

इसप्रकार शिवतत्त्वसे शक्ति तत्त्वका विसर्ग होता है। यह तीन प्रकारका[2] होता है। १—आणव, २—शाक्त, और ३—शाम्भव। आणव विसर्गमें चित्तकी विश्रान्ति होती है। शाक्त विसर्गमें चित्तका सम्बोध होता है और शाम्भव विसर्गमें चित्तका प्रलय हो जाता है। तब केवल शिव तत्त्व ही परामृष्ट होता है। जब बीज और योनिके भागके साथ सविभाग परामर्श होता है, तब शक्तिमान् और शक्तिका उभय रूप परामृष्ट होता है। पंचाशत् स्वर वर्ण मातृकाका परामर्श तन्त्र और आगमका मूल परामर्श है। इसमें अर्द्धमात्राओंका भाग मिलनेसे ८१ प्रकारके यह परामर्श माने जाते हैं।

---

१. तन्त्रसार, आ०३ पृ०१६-१७।
२. तन्त्रसार, आ० ३, पृ० १७।

श्रद्धा और मनु अनाहत पर निनादमें तन्मय हो चुके हैं[१]। वे दोनों शिव शक्तिके अविनाभाव स्वरूपत्त्वके परामर्शमें जीवन्मुक्ति दशाका स्पर्श कर चुके हैं। आनन्द अनुत्तर और इच्छा शक्तिका समवाय सुख है। इससे उन्मेष भी वंचित नहीं रहता। उन्मेषके तीन प्रतीक कामायनीके आनन्द सर्गमें गृहीत हैं। १—इड़ा, २—धर्म प्रतिनिधि वृष और ३—कुमार। इनके माध्यमसे बुद्धि, धारिका शक्ति और जीव तीनोंको शिवत्त्वकी ओर प्रेरित करनेकी अभिलाषा प्रसाद साहित्यका मुख्य स्वर है।

मानवका स्वरूप भी यहां द्रष्टव्य है। दक्षिण हाथमें त्रिशूल है। वाम हाथमें वृष रज्जु और मुखपर अपरिमित तेज। वामपार्श्व शक्तिका प्रतीक है। धर्म धारिका शक्ति है। वृष-रज्जु धर्मसूत्रका शक्ति से समन्वय है। दक्षिण पार्श्वमें त्रिशूल शिवका शस्त्र है। मुख प्रकाशमय है। इस प्रकार पूर्ण प्रकाशका स्वरूप विमर्श मानवके स्वरूपमें चित्रित है।

यह आनन्द सिद्धिके उद्देश्यसे चलने वाले यात्रियोंका एक दल है। यह गिरिपथसे अपना सम्बल प्राप्त करता है। साथमें सोमलता है। इड़ाके सभी कलरव समाप्त हो चुके थे[२]। आगेपर आगे बढ़ना ही इस दलका काम हो गया है। मातायें समझा रही हैं कि, बच्चोंको, युवकोंको कहां जाना है? 'एक था' यही व्यथाका, कथाका मूल कथ्य है। वह किसी तीर्थमें निवास कर रहा है। यह तो मानवको बुद्धि ही बता सकती है।

वह अति उज्वल पावनतम तीर्थ बस जब आ ही गया है। इसी ढालवेंके आगे सहज भावसे उतरनेपर एक समतल है और वही समतल जिसमें देवदारुके कानन हैं, जहां उनके पत्रोंसे हिमकन लेकर घन अपनी प्याली भरा करते हैं[३]। जगतीका वह पावनतम तीर्थ है। किसीकी साधनाका स्वर्ग है। शीतल और शान्त वह तपोवन है! जगतीकी ज्वालासे झुलसाया हुआ एक मनस्वी ही इस तीर्थमें आ सकता है। उसके हृदयकी जलन ही दावाग्नि बन गयी है। परिणामतः समस्त वन अस्थिर हो उठा है।[४]

---

१. कामायनी, रहस्य, पृ० २७३। २. कामायनी, आ० पृ० २७७।
३. ,, ,, पृ० २७८, २७९। ४. ,, ,, पृ२८०-२८१।

दावाग्निके उपरान्त वर्षा होती ही है। उसीकी अर्द्धांगिनीकी करुणाने आंसुओंमें वर्षाको प्रत्यक्ष कर दिया और चतुर्दिक् हरीतिमाका साम्राज्य छा गया। प्रकृति मुस्करा उठी और पल्लवोंमें पाटलिमाका प्रसार हो गया[1]।

वे युगल अब संसृतिकी सेवाके उद्देश्यसे उसी तीर्थमें विराजमान हैं। संतोष और सुख देकर सबकी ज्वालाका अपहरण करना ही उनका उद्देश्य हो गया है। वहां मानस नामक निर्मल महाह्लद है। उसके पास जो भी जाता है—परमानन्दकी प्राप्ति करता है[2]।

वास्तवमें यही सिद्धान्त भी है। क्योंकि उपाय (आणव, शाक्त और शाम्भव) का समुदाय शिवको प्रकाशित नहीं करता। जैसे घड़ोंका समूह सहस्रदीधिति सूर्यको प्रकाशित नहीं कर सकता है। घट-दर्शन प्रकाशकी अनुमेयतामें अथ च प्रत्यक्षीकरणमें सहायक बन सकता है। इस प्रकारका चिन्तन करने वाला साधक स्वयम् प्रकाशमान शिवमें समाहित हो जाता है[3]।

शाम्भव उपायमें, कामायनीके आनन्द सर्गमें पारमेश्वर अनुग्रह व्यक्त हुआ है और मनु उसी अनुग्रहको प्राप्तकर भेदाभेद बुद्धिको समाप्त कर सके हैं। उन्हें यह भान हो गया है, कि यहां कोई पराया नहीं है। हम कोई दूसरे नहीं है। यह कुटुम्ब और कुटुम्बीकी कल्पना अकिंचनके कुविचार हैं। यहां तो बस केवल 'हम' हैं। तुम तो हमारा अवयव मात्र है। अवयव भी पूर्ण और अवयवी भी पूर्ण है[4]।

शाम्भव स्थितिमें पहुँच जानेपर व्यक्तिको चेतनाका चिद्विलास अखण्ड और घने आनन्दकी समरसतामें ही उल्लसित होता है। समरसतामें जड़ चेतन सब अखण्ड आनन्दमें समाहित हो जाते हैं[5]। भेदकताको समाप्ति-पर अभेद कल्पनाके लिये भी स्थान नहीं रहता। वहां केवल शिव ही शिव मात्र अवशेष रह जाते हैं। शक्ति भी शिवमें ही विलास लीला

---

१. कामायनी, आनन्द, पृ० २८१। २. कामायनी, आनन्द, पृ० २८२।
३. विज्ञान भैरव विवृत्ति पृ० १८। १०९। महार्थमंजरी, गाथा ४। स्वत्व-चिन्तामणि विवृत्ति, पृ० ८३। मालिनी विजयवार्त्तिक २।३।८।
४. कामायनी, आनन्द, पृ० २८७। ५. कामायनी, आनन्द, पृ० २९४।

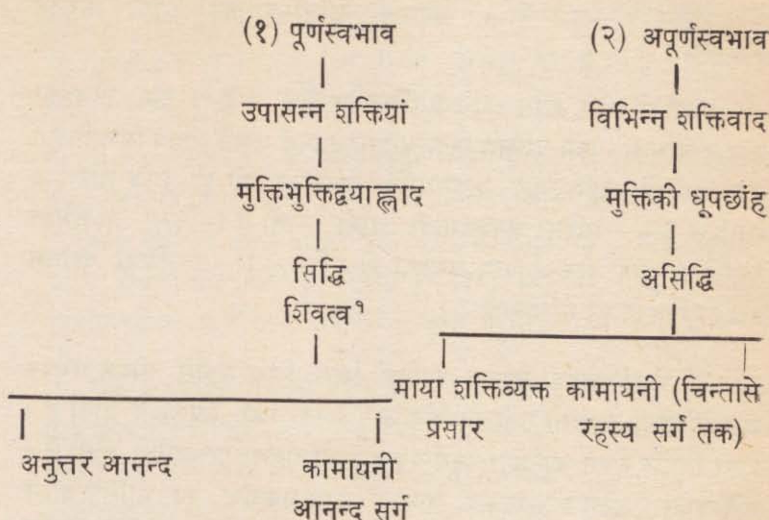
रचाती है। यही प्रसादका लीलामय आनन्द वाद है[1]। लीलाका विमर्श प्रसूत आनन्द विकल्पके कई माध्यमोंसे स्फुट होता है। विमर्शके दो रूप होते हैं। १—आत्म विमर्श, २—विश्वविलासका स्फुरणानुभव। दूसरी अवस्थामें दो प्रमाता मान्य हैं। १-परिमित प्रमाता, २-अपरिमित प्रमाता। यह घट है, यह पट है, इसप्रकारकी भेद प्रथाके कारण 'अणु' व्याकुलताका अनुभव करता है। परस्पर विविक्त विकल्पात्मक भावके कारण उसकी अपूर्ण ख्याति होती है। इसके विपरीत अपरिमित प्रमाता स्वस्फुरत्तैकस्वभाव होते हैं। परसंविद्रूप प्रत्यभिज्ञानात्मा पर-प्रमाता भेदाकुल वेद्यवर्गकी प्रकाश रूपताको प्राप्त कर लेता है। इसी अवस्थामें जीवनमुक्ति प्राप्त हो जाती है। स्वात्म विमर्श स्थिर बन जाता है[2]। यहां पूर्ण ख्याति होती है। पूर्णताकी वह अवस्था, जहाँ चिदैक्यकी ख्याति न रहे, अख्याति कहलाती है। ख्याति (ज्ञान या चित्) एक पारिभाषिक शब्द है। ज्ञान प्रकाशमय होता है। जो प्रकाशित नहीं होता, वह अज्ञान है। अज्ञान भी अख्याति है। अपूर्ण ख्याति भी अख्याति है। प्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार अपूर्ण ख्याति भी ख्याति ही है।[3] 'शिव'के 'स्व' रूप का गोपन ही वास्तविक अख्याति है।

१—ख्याति, २-स्वभाव और ३-ज्ञानसत्ता के क्रमसे शिव स्थितिका आकलन इस प्रकार हो सकता है :—

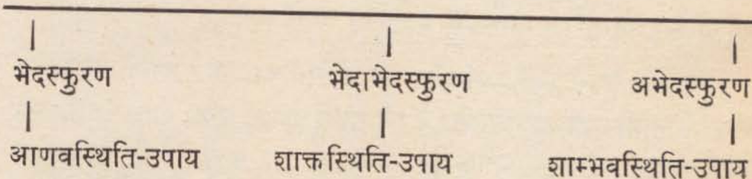
ख्याति	(१) अपूर्णा		(२) पूर्णा
प्रपञ्चविलास	शक्तिशिव भेद		शक्तिशिवका अभेद
मुग्ध जीव	शक्ति विह्वल		आत्मोपलब्धि
पशु			तन्मयी भाव[4]सिद्धि
आणवोपाय	शाक्तोपाय		शाम्भवोपाय

१. कामायनी, श्रद्धा, पृ० ५३। २. महार्थ मंजरी-परिमल, पृ० १०-१४
३. प्र० हृदयम् सूत्र ४ का भाष्य। ४. तन्त्रालोक आ० १।२०५-२०६।

स्वभाव भी दो प्रकार का होता है—



ज्ञानसत्ता का स्फुरण



वस्तुतः शाक्तोपाय शाम्भव उपायमें परिवर्तित हो जाता है। सदाशिव आदि शक्तियोंमें ऊर्ध्व व्याप्तिका अभाव है। परिणामतः यह जिज्ञासा होती है कि, बुद्धि आदि तो शिवमें व्याप्त ही नहीं है, तो ये उपाय कैसे बन सकती हैं ? वास्तवमें गृहीत पशुभाव शिव ही स्वस्वातन्त्र्य-माहात्म्यसे अपनेको आवृतकर परिमित प्रमाता बनते हैं। वही उद्वेष्टित युक्तिसे बुद्‌घ आदि उपायको प्राप्त करके शिवत्वके प्रकाशको प्रस्फुटित कर देते हैं।[2] शक्ति शक्तिमान्‌में उपायोपेयभाव सम्बन्ध है। शक्तिकी

---

१ तन्त्रालोक, आ० १।५२, ५९, ६१–६३, ७३, २०८-२०९,आ० ४।२७५
२. तन्त्रालोक, आ० १। २२९–२३०।

तन्मयताकी स्थिति शक्तिमान्‌में अनिवार्य और अवश्यंभावी है। शक्ति ही उपाय है—मुख है। उपायही ऊर्ध्वस्थितिको प्राप्त करनेमें कारण हैं।

कश्मीरमें तीन अद्वैत दर्शन प्रवर्त्तित हुए हैं। ये हैं-१-क्रम, २-कुल[1] और प्रत्यभिज्ञा। क्रम दर्शनमें विकल्पमें संशोधनके क्रमसे मुक्ति मिलती है। कुल दर्शनमें अहमात्मक प्रत्यवमर्शके उपरान्त ज्यों ही शिव तादात्म्य स्थापित हुआ—मुक्ति अवश्यंभावी मानी जाती है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शनमें अनुत्तर और अनुपाय अवस्था ही मुक्ति है।[2] प्रत्यभिज्ञा दर्शनमें अक्रममुक्तिकी ही मान्यता है।

अविकल्प पथपर आरूढ़ व्यक्ति जिस जिस मार्गसे जीवन पथपर अग्रसर होता है, उसी उसी मार्गपर उसे शिवत्त्वकी उपलब्धि होती है। हृदय निर्मल होना चाहिए। निर्मल हृदयमें पूर्णाहंता प्रत्यवमर्श होता है। परिणामतः अखण्ड समुत्कर्ष सम्पन्न समग्रशक्त्यंश का भासित करने वाला प्रकाश प्रसरित होता है। प्रकाश प्रसरणके उत्तरकालमें ही पर शिवात्मता की अमृत पदवी की महानुभूति हो जाती है। यही प्रत्यभिज्ञाकी मुक्ति है। यह मुक्ति निर्विकल्पक मुक्ति मानी जाती है।

आनन्द सर्गमें इड़ा, धर्म और कुमार तीनोंका एक सहयोगी सारस्वत नगर निवासी यात्री दल चलता है। ये तीनों क्रमशः बुद्धि, शक्ति (धारिका) और अहंकृत् पुमान्‌के प्रतीक हैं। प्रसादकी यह कल्पना भी तन्त्रालोक प्रसूत ही है। बुद्धि, शक्ति और अहंकृत् पुमान्‌के धर्म ही उचित-उचित रूपकोंमें, आकारोंमें पर्यवसित होकर तन्मयीभावकी सिद्धि करते हैं[3]। इन तीनोंमें १—बुद्धिशक्तिकी प्रतीक इड़ा है। २—धारिका शक्तिका प्रतीक आत्मा, धर्म-वृषभ है और अहंकृत् पुमान्‌का प्रतीक कुमार है। धर्म कर्मका भी प्रतीक है। इसे सुख भी कहते हैं, क्योंकि सुखके लिये ही व्यक्ति कर्ममें प्रवृत्त होता है। ईश्वरेच्छाके कारण ही भोगेच्छा उत्पन्न होती है। भोगसाधनकी संसिद्धिके लिए ही भगवान् शिवने स्वातन्त्र्य

---

१. तन्त्रालोक, आ० ४, पृ० १९०–१९५।

२. तन्त्रालोक, आ० १। २१२–२१६।

३. तन्त्रालोक आ०१।२०६। कंकाल पृ० ११०।

शक्तिसे मायाके आवेशके कारण जगत्को उत्पन्न किया है। धर्मशक्तिके द्वारा ही अधर्मका नियंत्रण होता है। शैव मतवादमें धर्मको शिवका प्रतोक भी मानते हैं। वृषभका सम्बन्ध धर्मसे होनेके कारण यहां धर्मके प्रतिनिधिके रूपमें वृषभका चित्रण किया गया है[1]।

त्रिशूल और घण्टा शैवोपासनाकी मुद्रायें हैं। एक प्रकारसे वहांका समग्र वातावरण शिवत्त्व मय था। अन्तः और बाह्यका एकत्व— सारस्वत नगरकी अद्वैत पथकी यात्रा कितनी मोहक थी। वह तीर्थ जहां जाकर धर्मका प्रतिनिधि वृषभ मुक्त कर दिया जायगा। वहां वह निर्भय स्वच्छन्द विचरण करेगा और सर्वदा सुखी रहेगा।[2]

अब वे समतल घाटोमें प्रवेश कर रहे हैं। सभी सम्भले हुए हैं। श्रम, ताप और पथकी पीड़ा अब उन्हें नहीं रह गयी है। सामने विराट् नगराज अपनी महिमासे विलसित है। वहांकी प्रकृति नितान्त रमणीय है। कैलाश किसी लगनमें स्थिर बैठा है। मनु वहां ध्यान-निरत दृष्टि गोचर होते हैं। श्रद्धा सुमन बिखेर रही थी और मनु तन्मय थे। सारस्वत पथिक उन्हें पहचान चुके थे। सभी चरणोंमें प्रणत थे। इधर इड़ा, घण्टा ध्वनि करता सोमवाही धर्म वृषभ और मनुपुत्र कुमार भी डग बढ़ाते आगे बढ़ रहे थे[3]।

इड़ाने उस दृश्यको देखा। वह उसके नेत्रोत्सवके समान था। नेत्र पानेका उद्देश्य पूर्ण हो गया था। अतएव वह उन्हें सराह रही थी। श्रद्धा और मनु शक्ति और शक्तिमान्के समन्वित रूप थे। अर्द्धनारीश्वर भगवान् भूतभावन भवका वह सामरस्य कितना प्रेरक था। पुरातन चेतन पुरुष चिर मिलित प्रकृतिसे पुलकित था। उसकी शक्ति तरङ्गें वातावरण-को आलोकित कर रही थीं। सौन्दर्यका आधार आनन्द महोदधि लहरा रहा था। इड़ाकी आखें इस दृश्यको देखकर उल्लसित क्यों न होतीं ?

---

१. कामायनी, (धवलधर्मका प्रतिनिधि) आनन्द सर्ग, पृ०२७७, २८३, २८६ शैव मत डा० यदुवंशी, पृ० ४-५।

२. कामायनी, आनन्द, पृ० २८३।

३. कामायनी, पृ० २८३-२८६।

मानव श्रद्धाके अंकमें जा बैठा। श्रद्धाका अंक भर गया। मानवने उसे अपना लिया। इड़ाका शोश श्रद्धाके चरण कमलपर चंचरीकका आचरण कर रहा था। यह इड़ाका सौभाग्य था कि, श्रद्धाके प्रति उसके हृदयमें ममता जाग्रत थी, जिसकी डोर स्नेहमें बँधी हुई थी। वह वहाँ तक आ पहुँची[१]। आज उसे यह बात समझमें आई कि, वस्तुतः उसे किसी प्रकारकी समझ नहीं थी। उसका यही अभ्यास था कि, सब कुछ भूलकर अपना स्वार्थ साधना चाहिये[२]।

वह इस दिव्य तपोवन की बात सुनकर यहां आयी है। सारस्वत नगरका नागरिक समुदाय भो एक कुटुम्बी बनकर यहां आया है। यहां आकर सारा अघ-ओघ अवश्य प्रणष्ट हो जायेगा–यह निश्चय[३] है। वसुधाको ही कुटुम्ब मानने वाला व्यक्ति उदार चेता है। उदार चेतासे पाप ताप, अघओघकी सम्भावना ही नहीं होती।

आनन्दका अम्बुनिधि निजशक्तिसे तरंगायित था। प्रकृति पुरुषसे चिरमिलित हो चुकी थी। वह पुरातन चेतन पुरुष पुलकित था। प्रकृति पुरुषका भेद समाप्त हो चुका था। आनन्दका महोदधि अमर लहरोंमें लहरा रहा था।[४] जल और बीचिमें अन्तर कहां होता है? शक्तिकी तरंगें शक्तिमान्को प्रमुखता प्रदान कर रही थीं। तरंगे समुद्रकी होती हैं। कहीं तरङ्गोंसे समुद्र नहीं बनता।[५] इस स्थितिको 'अनुत्तर' दशा कहते अनुत्तर दशाका प्रतीक 'अ' है। विसर्ग सृष्टिका प्रतीक है। वहां सृष्टिका प्रतीक कुमार श्रद्धा की गोदमें जा बैठा है। मानो अनुत्तर अ की गोदमें सृष्टिका सुकुमार रूप ही जा बैठा हो।[६] यह परापर स्वरूपता है। भेदसमाप्तिकी पूर्व भूमिका है। विसर्गको 'हंस' भी कहते हैं।[७]

---

१. कामायनी, आ० पृ०२८६। २. कामायनी आ० पृ० २८७।

३. कामायनी, आनन्द, पृ० २८७। पं० ५–८।

४. कामायनी, आ० ३, पृ० २८५–२८६, पं० ९–१२।

५. सामुद्रो हि तरङ्गः, क्वचन समुद्रो न तारङ्गः। आद्य शङ्कराचार्य।

६. कामायनी, आनन्द, पृ० २८६, पं० १३–१६।

७. तन्त्रालोक, आ० ३। १४२–१४३, १४६, २११, २०८-२०९।

महामिलन की इस स्थलीमें भला जागतिकताका लेशमात्र भी कैसे रह सकता है ? मनु स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—यह कोई अभिशप्त और तप्त एवम् पाप परायण व्यक्ति नहीं हैं। जीवनकी वसुधा समावस्थाको प्राप्त हो गयी है। यहांका उच्चावच वैषम्य समाप्त हो चुका है। अतः वह समतल हो चुकी है। जो पदार्थ जहां भी है-समरस है।[१] समरसता केवल अहं ममात्मता में ही होती है। शक्तिपातसे भी समरसता सम्भव है।[२] यही अनामय स्थिति है। समरसतामें इच्छा, ज्ञान और क्रियाका समत्वमें प्रवेश हो जाता है। चेतनाका समुद्र लहराता है। उसकी लहरोंमें जीवन बिखर पड़ता है।[३] यह बिखराव विभ्रम है। प्रत्यभिज्ञामें विभ्रम आवरण है। आवरण के भग्न हो जाने पर प्रकाश की प्राप्ति और भेदका विलय हो जाता है।

लहरोंका बिखराव अर्थात् महोदधि शक्तिकी तरङ्गायित अवस्था। यहां कोई अन्तर नाम मात्रके लिये भी नहीं। केवल व्यक्तिगत छाप, यह जल और यह लहर। आकारका परिवर्तन मात्र ! और यही परिवर्तन विश्वका रहस्य बन जाता है। यह समरसता वाद और आभासवादकी भाषा है। बिम्ब प्रतिबिम्बवादकी भाषामें इसे ज्योत्स्नाके जलनिधिमें बुदबुद-सा रूप बनाये और अपनी अलग आभाका अस्तित्व लिए नक्षत्रों को प्रतिबिम्बित करनेकी बात ही उपयुक्त कही जायेगी। ठीक इसी प्रकार इस भेद समुद्रमें प्राणोंकी सृष्टिका भी क्रम है। प्राण-प्राण पृथक्-पृथक् प्रतिभासित प्रतीत होते हैं किन्तु सर्वत्र एक रसमय चरमभाव घुल मिलकर प्रतिप्राणको पुलकित कर रहा है।[४]

विश्व मूर्तिमन्त है। चर और अचर सृष्टिका यह प्रतीक है। अपने सुख और दुःख दोनों से ही यह पुलकित है। किन्तु यह मूर्ति इसकी है नहीं। यह तो चितिका ही विराट् वपुष् है। यह सत्य है। यह मंगलमय है। चिर सुन्दर है।[५] सुख और दुःखका आमोद तो इस विश्वमें ही मिल सकता है।

---

१. कामायनी, आनन्द पृ० २८८, पं० १-४।
२. तन्त्रालोक, आ० ४। ४३६-४३९। ४८३। ९।२३०।५।५६
३. कामायनी, आनन्द, पृ० २८८, पं० ५--८।
४. तन्त्रालोक, आ० ३। २६२, कामायनी, आ० पृ० २८८। पं० १३-१६।
५. कामायनी,आ०पृ०२८८,पं०१७-२०।ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी-३।१२।१३।

अद्वैत की ऊँची भूमिपर विराजमान होकर अभेद दृष्टिसे सर्वात्मक-एकात्मक पर्यालोचनके उपरान्त यह दृढ़ प्रतीति हो जाती है कि, अपने अतिरिक्त अन्यकी अन्यतामें भी अनन्यता ही उल्लमित है। अपना, मेरा, तेरा और पराया भावतो लघु चेतस व्यक्तियोंके विचार के बुद्बुद हैं। सबकी सेवामें रत रहना उत्तम कार्य है। उसमें पराया भाव अनपेक्षित है। 'पर' की सेवामें 'स्व' के सुख की संसृतिका विलास है। विश्वका अणु-अणु कण-कण सब अपना ही है। 'स्व' का ही यह चरम विस्तार है। आत्मसंकोच मृत्यु है। आत्मसंकोचको ही प्रसादकी भाषामें 'द्वयता' की संज्ञा दी गयी है। जहां द्वयताका भान हुआ, आत्मविस्मृति अवश्यं-भावी है।[१]

जहां अहं भावमें अहंता परामर्श होता है, वहां इदंता उसीमें आत्मसात् हो जाती है। अहं प्रत्यवमर्शमें चेतना उद्दीप्त होती है। अहंताकी सीमामें सर्व समा जाता है। यही मैं की मेरी चेतनता है। यह विश्व व्याप्त चेतना सबका स्पर्श किये हुए है। जितनी भिन्न परिस्थितियां हैं, उनकी मादक घूंट पीनेका परिणाम विभिन्नताका बढ़ना ही है। यहां जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थायें हैं। हमें जाग्रत्का विस्तार उषाकी आंखों में आंख मिलाकर करना चाहिये। रजनीकी तमसावृत पलकोंमें अपनी सुषुप्ति समझनी चाहिये और यह गगनकी नीली अलकावली–हमारे स्वप्नोंकी नीड ही तो है। यह भी निश्चय हो जाना चाहिये[१]। इस प्रकार प्रकृति के व्यापक परिवेशमें अपनी परिधिका समन्वय हमारे अस्तित्वका शृंङ्गार ही करेगा।

यह मानव चेतनाका साक्षी है। इसे निर्विकार होना ही चाहिये। यदि पाशबद्ध ही रह गया, आवरण आवृत ही रह गया और कंचुक आकुंचित ही रह गया, तो यह जीवन इसके लिए व्यर्थ ही सिद्ध होगा। यह निरन्तर हंसता सा रहे। स्मितिकी प्रकाश माधुरीसे ही इस विश्व जोवनको मधुर बनाया जा सकता है। मानसके मधुर मिलनमें सुखकी अतल गहराइयोंमें यह धँसता ही जाय, यही इसकी शोभा है। मानस सरोवरकी यह स्थली भी इसी प्रकारकी मंगल मिलनकी स्थली है। इस

---

१. कामायनी, आनन्द, पृ० २८९। पं० १-४।

मिलनमें कितनी गहराई है। उससे उतरनेकी जगह उसमें धँसना ही जगन्मङ्गल कारक है। सारे भेदभाव भुलवाकर दुःख और सुखको दृश्य बनाता हुआ मानव यह घोषणा करे कि, यह सब मैं ही हूँ। फिर क्या पूछना—यह विश्व चेतनाका नीड बन जायगा। वस्तुतः यह चेतनाका[1] नीड ही है। हमारे विभ्रमसे हम इसे दूसरा ही समझ बैठे थे। पर जब मानसको उदारताका प्रसार होगा—परत्वकी समाप्ति होगी, तो यह विश्व 'स्व' का नीड है—यह समझमें आ जायेगा।

श्रद्धाकी विश्व विमोहिनी मुस्कान, उसकी एक-एक अधर रेखायें, रागारुण किरणकी कलाओंके समान प्रकाशमान थीं। उनसे मधुकी माधवी मधुर प्रकाशधारा निःसृत हो रही थी[2]। राग और कला दोनों तत्त्व श्रद्धा के मिश्रणसे अत्यन्त मनोहर हो गये थे। कामायनी जगत्‌की अकेली मङ्गल कामनाके समान उद्दीप्त हो रही थो। लहलहाती लतिका मानो मानसके तट प्रान्तको पावन बना रही हो। इच्छा शक्तिकी प्रतीक बनकर कामायनी अपने अस्तित्त्वमें समस्त तत्त्वोंको समाहित कर रही थी। वह पूर्णकामकी प्रतिमा, पुलकित विश्व चेतना ही बन गयी थी।

जलकी महिमासे मण्डित महाह्रद—मानसरोवर भी जैसे पुलकित था। चिद्घनानन्द रूप शिवकी पराहंचमत्कारमयी विश्व चेतनाकी स्थिति ठीक उसी प्रकारकी होती है—जैसे ऊर्मिल महोदधिकी।

यह सारा शून्य जिस मुरलीके निःस्वनसे रागमय हो जाता है, उस मुरलीका निःस्वन, त्रिकोणकी मूलाधार बैखरी वाक् ही है, जो चेतन पुरुषके अधरोंसे ध्वनित हो रही है। कामायनीका हास समस्त अगजगको मुखर करनेके लिये सद्‌विद्यासे तादात्म्य कर मानो पुलकित हो रहा हो।[3] क्षणभरमें ही सारा वातावरण बदल जाता है। विश्वकमलके अणु-अणु कण कण सभी कुछ नये रूपमें ही परिवर्त्तित हो जाते हैं। पिंगल परागके मचल उठने और आनन्द सुधारस निष्यन्दके छलक पड़नेसे वहांकी धारा पीयूषरस सिक्त हो उठी। परिमलकी बूदोंसे सिंचित होकर मधुर गन्धवह

---

१. कामायनी, आनन्द, पृ० २८९। पं०–१४

२. कामायनी, आनन्द, पृ० २९०। ३. कामायनी, आनन्द पृ० २९१।

अपनी संज्ञाको अन्वर्थ करनेका अवसर प्राप्त कर रहा था। कमल-केशरका कितना सुखद स्पर्श था वह ? वह रजसे रंजित परमरमणीय प्राकृतिक परिवेश बड़ा ही मनोहारी था[1]।

यह नैसर्गिक स्फुरत्ता है और पर-विमर्शके अन्तर्गत आती है। श्रद्धा और निसर्गका यह अद्भुत वर्णन प्रसादकी पूर्ण महार्थ-सिद्धिकी द्योतक है। उनके हृदयके पूर्णानन्द-महोदधिमें प्रकाश-शतपत्रोंकी राशि राशि विभ्राजमान थी, जिनकी स्पन्दन शीलता इस रूपमें प्रतिफलित हुई है[2]। यही चैतन्य चन्द्रिका है। असंख्य मुकुलोंका मादन विकास किसी विशेष क्रियाशीलताकी ओर इङ्गित करता है। स्पन्दन क्रियामय होता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीनोंका सामरस्य सर्वभावमें स्फुरित है। मुकुलोंका मादन विलास भोग्यभाव है। भोक्ता ही भोग्य भावसे सदा और सर्वत्र संस्थित है।

देहमें स्वरूप लाभ सम्बन्धी प्रसन्नता आणव समावेशकी एक स्थिति है। इसमें करण व्यापारकी दूसरी स्थिति मुद्रा कहलाती है। मुदको प्रदान करने वाली शक्ति मुद्रा है। आणव स्थितिसे शक्तिपातके द्वारा यहांकी प्रकृति शाम्भव समावेशसे समाविष्ट हो चुकी है।

आनन्दसर्गका सारा प्रकृतिवर्णन इसी शाम्भव प्रकाशसे प्रकाशित है। कनक कुसुमोंके रजसे धूसर मकरंद जलदके समान फूला हुआ गन्धवह निसर्गके प्राणका स्पन्दन बन गया है।

वन-लक्ष्मीने ही केसर रजको विकीर्ण कर दिया था। हिमजलमें हेमकूट अपना प्रतिबिम्ब अंकित कर रहा था। संसृतिके मधुर मिलनके उच्छ्वासका स्पन्दन प्रसादने पाया। गगन आंगनमें अभिनव मंगलका

---

१. कामायनी, आनन्द, पृ० २९१। २. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ० १७।३७-३८

३. मुदं रात्यर्पयति या देहे स्वरूप लाभजम्।
तस्मात्तत्प्रतिबिम्बं वा बिम्बं मुद्रोच्यते बुधैः॥
पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ० १२, १३।९७।

सूत्रपात हो गया था।[1] वल्लरियां–नृत्यनिरत थीं। आनन्दकी पराकाष्ठा-का यह प्रत्यक्ष निदर्शन था। पूर्णताकी उन्मुखतामें ही आनन्दका प्रादुर्भाव हो जाता है।

वेणु रंध्रोंसे निःसृत होने वाली मूर्च्छना दिग्दिगन्तको आनन्दसे अभिभूत कर रही थीं। मधुकरोंकी गुंजन ध्वनि, वाणी की वीणा ध्वनि की झंकार बैखरीकी मध्यमा स्थितिको पश्यन्तीकी ओर जानेके लिये उन्मुख कर रही थीं।[2] मलयानिलका मरन्द मधुर वायु और सुमनोंका झड़ झड़कर गिरते हुए परिमलका विस्तार कितना मोहक है। श्रद्धा विश्व सुन्दरी है। उसके तनपर कौशेय वसनकी सिकुड़नमें सम्पूर्ण सृजनका छाया हुआ मृदुतम मादन कम्पन ही दृष्टिगोचर हो रहा है।[3] सृजन की आदिम वेलामें क्रियाका प्रथम स्पन्दन प्रारम्भ हुआ और वह स्पन्दन अब भी ज्योंका त्यों स्पन्दित है। यह स्पन्दनका शाश्वत प्रवाह है। इच्छा, ज्ञान और क्रियाकी यह समन्विति जब तक रहेगी, तब तक स्पन्दनकी यह प्रक्रिया विश्व सुन्दरी की साड़ीमें सिकुड़न बनकर प्रसादकी अमर वाणीका सौरभ बिखेरती रहेगी। कौशेय वसनमें चमक होती है। चमक प्रकाशका ही एक रूप होती है। श्रद्धा शक्ति है। देवी है।[4] उसकी साड़ीकी सिकुड़न वास्तवमें है क्या ?

आणवमलमें पशु बद्ध होता है। उसे वहां संकोचकी स्थिति का सामना करना पड़ता है। शाम्भव स्थितिमें अब भेद समाप्त होकर अक्रम मोक्षकी स्थिति आती है, तो भी जगत् की पांचभौतिकता तो उसके साथ रहती ही है। जीवन्मुक्तिमें जीवित दशाका, जो देह-व्यापार-समाश्रित जागतिकताके प्रकाश का परिवर्तित स्वरूप रह जाता है–वही सिकुड़न है। वास्तवमें वह सिकुड़न साड़ीसे भिन्न नहीं है। वरन् साड़ीकी विभिन्न रूपाकारमयी चित्रावली है। वह सम्पूर्ण सृजनपर छायी रहती है—पाशबद्ध पशुपर भी और जीवन्मुक्त शिवरूपतापादित सिद्ध पर भी।

---

१. कामायनी, आनन्द, पृ० २९२, पं० १-४।

२. कामायनी, आनन्द, पृ० २९२, पं० १३-२०।

३. कामायनी, आनन्द, पृ० २९३, पं० १-४।

४. या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धा रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः। दुर्गा सप्तसती, अ० ५।

दुःख विदूषक है। वह सामाजिकोंको हंसाता है। दुःख-विदूषकका अभिनय देखने वाला साधक सामाजिक, मुख्य पात्र सुखके आनन्दप्रद अभिनयमें ही रस नहीं लेता। वह तो इस शाश्वत जगत् रंगमंचपर सनातन अभिनीत, शक्ति संचालित इस नाट्य समारोहका पारखी है। वह दुःखकी विदूषकतापर भी मुग्ध होता है। विदूषक शब्द भी यहां साभिप्राय विशेषण है।[1] शाश्वत रसप्रवाहकी अनुभूतिमें एक ऐसा भाव विकार, जो उसकी भाषा, रूपातिसांकर्य और अभिनयके कारण उत्पन्न हो जाता है—विदूषक व्यापार जन्य ही है। दुःखकी भाषा (करुणा क्रन्दन चीत्कार-रुदन सिसकियां अश्रु मलिनता औदासीन्य) रूपसांकर्य (अनेक प्रकारकी रूप विकृतियां) और अभिनय (लोटना-पोटना–पागल बनकर दौड़ना-धूपना आदि) ये सभी क्या हैं? केवल पशुभात्रापन्न महाभावका दारिद्रय ही है। 'स्व' को विस्मृति ही है। अहं प्रत्यवमर्श का अभाव हो है फिरभी यह होता है—यही जड़का जड़त्वाभास है। जडत्वके भानमें बिम्बही निमित्त है। अजडके अजडरूपके भानमें शक्ति कारण होती है।[2] अभिन्नको भिन्न बनानेवाली, बहुको एक बनानेवाली और चिदात्माको जडत्वमें धकेल देनेवाली शक्ति स्वतः स्वतन्त्र होती है।[3]

विदूषक दुःख महानाट्यमें शक्ति संचालिकाके द्वारा नियुक्त पात्र है। वह सुखका सहचर है। दुःखके सभी अभिनय परिहास पूर्ण होते हैं। 'स्व' और सर्व की विस्मृतिसे बढ़कर विश्वमें परिहासकी और बात हो क्या हो सकती है? वास्तवमें द्वयापेक्षी विनिश्चय विकल्प है। परावाक्-वपुष्-अहं प्रत्ययवमर्शमें कोई बात छिपाने को नहीं होती। यहां भी 'सब' को विस्मृति हो चुकी है। विस्मृतिके पटलमें वह निर्भय छिपा हुआ है।[1] भयतो तब हो, जब पुनः संकोचका चक्र अपनी चमत्कृतिमें उसके चिरन्तन चरित्रको अकिंचन और अविचिकित्स्य बना देनेके लिये सन्नद्ध और कटिबद्ध हो।

---

१. विशेषेण दूषयति विकारमुत्पादयति रस-धारायाम् सामाजिकमनः-परिधिषु स्वाभिनयेन स्व भाषया—स्वरूपवैकारिकतया चेति विदूषकः।

२. जडे जडस्य भानेतु निमित्तं बिम्बमेव हि। अजडस्याजडेभाने निमित्तं शक्तिरेवहि। पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ० ४४।३४२।

३. अभिन्नं भिन्नयन्तीयमेकयन्ती बहून् पुनः। जडयन्ती चिदात्मानं शक्तिः स्वातन्त्र्यलक्षणा, पूर्णता प्रत्य०, पृ० ४४।३४६।

शक्ति शक्तिमान्का समन्वय ही एक वृक्ष है। इसके रजो विकासकी अन्तिम दो अवस्थायें हैं। पहली अवस्था मुकुल है ओर दूसरी अवस्था सुमन। मुकुल जाल झालर-सा तनकर अपने अवयवीका शृंगार करता है। सुमन अपना परिमल विकीर्णकर अपनी मकरन्द-रस-सुधासे उसका अभिषेक करता है। दोनों अवस्थाएँ आनन्दवादकी परम परिणतिकी ओर ही इङ्गित करती हैं। डाल डालमें, शाखा शाखामें और भेदकी विभिन्न दशा--अनुदशाओंमें मधुमयताका, मार्दवका सामरस्य दृश्यमान हो रहा है। धीरे-धीरे रसकी वर्षा हो रही है। आनन्द आर्द्र होता जा रहा है।[1]

हिमखंड (जड़, घन) रश्मिमंडित (प्रकाश संविद् परामृष्ट) होकर मणिद्वीप (देवी का आदि अखण्ड धाम) के प्रकाशका प्रदर्शक बन रहा था। हिम खंडोंसे समीर टकरा रहा था। समीर (प्राणवायु का प्रतीक) जड़ और प्राणके सामञ्जस्यमें मृदङ्गकी ध्वनिका माधुर्य प्रस्फुरित होता है। यही अनाहत नाद है, जो वाग्विलासके रूपमें विश्वमें स्फोट बनकर प्रस्फुटित होता है।[2]

जीवनकी मुरलीका संगीत मनोहारी था।[3] वह मुरली क्या थो– मानो वह संकेत की कामना हो और महामिलनकी दिशाका संकेत कर रही हो।[4] मृदङ्ग और मुरली की ध्वनियां नादानुसंधान हैं।[5] नादानुसंधान आत्मज्ञानका प्रधान साधन माना जाता है। रश्मियां अप्सरियां बनी हुई थीं। अन्तरिक्षमें उनका नर्त्तन चल रहा था। गन्धवहमें व्याप्त परिमल ही उनके अभिनयका रंगमंच था। रश्मियां यहाँ उदान वह्निके रूपमें चित्रित हैं। उदान वह्निको तन्त्रकी भाषामें महार्चि कहते हैं। शून्य

---

१. कामायनी, आनन्द, पृ० २९३, पं० ५-८।

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी आ० ३। ७,

२. कामायनी, आनन्द, पृ० २९३, पं० ९–१६।

३. कामायनी, आनन्द, पृ० २९३, पं० १७-२०।

४. आदौ जलधि-जीमूत भेरी निर्भर सम्भवः। मध्ये मर्दल शब्दाभो घण्टाका-हलजस्तथा। ना० विन्दु उ० ३४–३५

५. बंसी वाजी गगनमें—शब्द के भीतर पैठा॥ संतपलटूसाहब।

अन्तरिक्षमें इन अप्सरियोंका नर्त्तन अनन्तकी स्फूर्तिमात्र है। परिमलका रंगमंच उनकी वह समान भूमि है, जहां ब्रह्मानन्द की परमस्थिति प्राप्त होती है।

वह पाषाणी हिमवती प्रकृति आज मांसल (पुष्ट) हो रही थी। उस महा लास रासमें विह्वल होकर वह हँस रही थी। उसका कल्याणी रूप उसके हास्यमें मुखरित था।[1] हिमालय चन्द्रका किरीट धारण करने वाले चन्द्र शेखरका प्रतीक बन रहा था। विभूतिभूषित भूतभावनकी धवलिमा-का वैलक्षण्यलेकर वह राजत सौन्दर्यसे समन्वित था। पुरातन पुरुष ही मानो आज आनन्दस्पन्द-संवलित होकर विभ्राजमान हो रहा हो। गौर वर्णकी तरङ्गमालाका ललाम लावण्य-लास अवलोकित कर उल्लसित था। पुरातन पुरुष गौर लहरिकाओंका शाश्वत नर्तन देखता है। स्वच्छतम बोध प्रकाशसे प्रकाशित है। यही उसका नैर्मल्य है।

इच्छा और क्रियाकी कोमल लहरिकाओंमें शक्ति और शिवका सम-वेतीकृत नर्त्तित रूप पुरातनपुरुषके नेत्रोंको भी उत्सव प्रदान कर रहा था[2] प्रेमज्योतिका विमल उद्योत वहां दीप्तिमन्त हो उठा है। जैसे सूर्यके प्रकाश-में सारा विश्व प्रतिबिम्बित हो उठता है, उसीप्रकार प्रेमके प्रकाशमें सारे संसारकी आंखें वहां प्रतिफलित हो उठती हैं। आखोंमें प्रकाशका वह उत्कर्ष समाहित हो उठा। उसमें दिव्यताका आधान हो गया। अभीतक कुछ पहले तक वे सीमित दर्शन करती थीं, स्वयं सीमित थी और दर्शनभी सीमित था पर आज सभी जाने पहचाने बन गये हैं। दर्शन आज असीम बन गया है। उन सबमें उनकी कला विद्यमान है। एक तत्त्वके इस अनु-दर्शनमें रहस्यका भेदन हो गया था। अदृश्य और अगम्य बोध आज प्रत्यक्ष अनुभूतिका विषय बन गया था। यह अक्रम दर्शनका परिणाम है।

कलाका उत्कर्ष शक्तिपातके सन्दर्भमें समस्त कुंठाओंको भूलुण्ठित कर देता है। आवरणकी विडम्बनायें और उनके आडम्बरका अम्बार छू मन्तर बन जाता है। वहां भी कलाका अविसंवादी रूप विश्वको

---

१. कामायनी, आनन्द, पृ० २९४, पं १-८।

२. कामायनी, आनन्द, पृ० २९४, पं० ९-१२।

एक तत्त्वके सूत्र संग्रथित कर चुका था[1]। यहां तकका प्रकृति वर्णन आनन्दके परिवेशसे युक्त और तांत्रिक दृष्टिसे समन्वित है। व्यक्ताव्यक्त स्वरूप सनातन पुरुषके कला तत्त्वके विकासका यह बोधक है। अपनी ही कला तो यह जीव है।

'शिवोहं' बोध और 'जीवोहं' बोध दोनों बोध-वृत्तियोंमें वस्तुतः एकात्मकताका ही आधान है। परमशिव अनन्त प्रकाशमय हैं। प्रकाशकी किरणें कलारूपमें बहिः स्पन्दित होती हैं। यह कला-रूपता पूर्ण शिवत्त्वके अतिरिक्त कुछ नहीं है। भेद, भेदाभेद और अभेद इन तीनों स्थितियोंका क्रमिक विकास यहां आणव, शाक्त और शाम्भव उपायों या दशाओंमें समाहित है।

आयुर्वेदमें रोग उत्पन्न होनेके पहले जो लक्षण उदित होते हैं, उन्हें पूर्वरूप कहते हैं।[2] यहां समरसता उत्पन्न होनेका यह पूर्वरूप है, पूर्वाभास है। ज्योतिकी यही कला सबको पहचाननेमें कारण बनती है। धातुओंकी समावस्थाका नाम ही आरोग्य है। धातु वैषम्यका नाम ही विकार है। वैषम्य ही प्रकृति है।

आरोग्यको सुख और विकारको दुःख कहा गया है[3]। धातु साम्यके लिये ही चिकित्साका विधान किया जाता है[4]। तन्त्रशास्त्र भी विकृत आत्माकी चिकित्सा करता है। बेहोश और संज्ञाशून्य या पागल व्यक्ति किसीको पहचानते ही नहीं। यह पागलपन या संज्ञाशून्यता 'स्व' की विस्मृति है। इस विस्मृतिका अपनोदन करना ही सबको पहचाननेमें कारण है। इसकी एक ही महौषधि है—प्रेम कला। विमल प्रेमज्योति-विद्युत्का जहां स्पर्श हुआ, वहीं धमनियोंमें रक्त संचार प्रारम्भ हुआ। आंखोंने उस विमल प्रेमज्योतिकी कलाओंका यहां प्रत्यक्ष कर लिया है[5]।

---

१. कामायनी, पृ० २९४। पं० १३–१६।
२. चरक संहिता, अ० १०-१३।
३. चरक संहिता, अ०९।३। ४. चरक संहिता, अ०९।४।
५. कामायनी, आनन्द, पृ० २९४। पं० १३–१६।

यह प्रपञ्च संपूरित विश्व एक विश्वात्मक भाव विसर्ग ही है। संवित् आत्मामें यह प्रतिबिम्बित होता है। इसका बिम्ब परमशिव ही है। आत्मामें निर्विकल्पभावके समुदायको ही परामर्श कहते हैं। यही शाम्भवोपाय है। पूर्णाहन्ताका परामर्श यहां होता है। मन्त्र, मुद्रा क्रिया और उपासना क्रिया कोई भी पूर्णाहन्ता परामर्शसे व्यतिरिक्त नहीं है। यही जीवन्मुक्ति है।[१] शाम्भव उपायके तीन स्तर हैं। १—मुझसे ही यह सब उदित है। २—मुझमें ही यह सब प्रतिबिम्बित है और ३—मुझसे सब कुछ अभिन्न है। यह तीन प्रकारका परामर्श है। यह संविद्रूप परामर्शके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह विश्व कहां या किस आधारपर अवस्थित है? कार्यरूपमें कहांसे स्फुरित है? यह कहांसे स्फुरित हुआ है और क्याहै? इस प्रकारके परामर्शके रहस्यका उद्घाटन होनेपर परम रूपताका अनावरण हो जाता है। फिर विचारकी निरोधक कोई वृत्ति नहीं रह जाती[२]।

अनन्त-चित्र-सद्गर्भ-संसार-स्वप्नका वास्तविक रहस्य शिवरूप हुताशन (अग्नि) के प्रगट होनेपर उद्घाटित होता है[३]। अविभाजित सृष्टिका अखण्डबोध शाम्भवोपायमें ही सम्भव है। यह परम उपाय है। यह शाम्भवाद्वैत सिद्धान्त है। यही परमशान्ति है। ऐसी अवस्था ही परमलक्ष्य होती है। इसमें जड़ और चेतन समरस हो जाते हैं। जड़ता और तरलता एक ही तत्त्वके दो रूप हैं। चाहे उसे जड़ कह लें या चेतन कहलें, कोई अन्तर नहीं पड़ता[४]।

महोदधिमें मन्दाकिनीका मधुर प्रवाह मिल गया और मिलकर महोदधि बन गया। उसमें समरस हो गया। अब दोनोंमें कोई अन्तर नहीं रह गया है। भेदका अभेदमें प्रविलापन भी उसी महामिलनके सदृश है। अनात्मा और आत्मा दोनोंकी शिवरूपता ही समरसता बन जाती है[५]। प्रमाता, प्रमेय और प्रभा इन तीनोंका एक भूमिपर अवतरण आनन्दकी

---

१. तन्त्रालोक आ० ३।२६८-२७२। २७९-२८०।
२. स्पन्दकारिका, १-२। ३. तन्त्रालोक, आ० ३।२८६।
४. कामायनी, चिन्ता, पृ० ३। पं० ७—८।
५. स्वच्छन्द तन्त्र, भाग ३। १२७-८ पृ० ५५८ पं० १-१०।

पराकाष्ठा मानी जाती है[1]। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, मान, मेय, और मिति सबके आकलनका सर्वान्तर्भाव उदानवह्निमें विश्रान्त हो जाता है और अनन्त सौन्दर्यका आगार बन जाता है। महार्चिकी ज्वालाका लावण्य कितना ललाम होगा, यह कल्पनाका नहीं, अनुभूतिका विषय है। प्रसादकी भाषामें वही समान भूमिका समागम सुन्दर और साकार शब्दोंमें व्यक्त है[2]।

रसका सम होना ही सामरस्य है[3]। एक एक की भेद भावनाकी समाप्तिके उपरान्त अखण्ड परमेश्वर रसका अखण्डित आनन्दानुभव ही सामरस्य है[4]। न तो मैं हूँ—न दूसरा है—न ध्येय है न ध्याता। ध्यान आनन्द रसमें मनको लेकर लीन हो जाता है और यही समरसता है[5]। आनन्द शिवशक्तिमें विश्रान्तिका नाम ही सामरस्य है।

चित्त जब सामरस्यके महाभावसे भावित हो जाता है, उस समय द्वैतके प्रति उन्मनी भावकी स्थिति आ जाती है और व्यक्ति पूर्णाहन्ताके माध्यमसे अनुत्तर विमर्श दशाको प्राप्त कर शिवत्त्वकी उपलब्धि कर लेता है। समरस स्थितिको आद्य शङ्कराचार्यने भी आनन्दावस्था ही माना है। इस आनन्दकी उपलब्कि उपरान्त द्वैत भी अमृतोपम बन जाता है। जीवात्मा और परमात्माकी समरसताकी उत्कर्ष दशाका अनुमापन स्निग्ध दाम्यत्त्य जीवनके विषयानन्दके आधारपर भी किया जा सकता है[6]। जीवात्मा और परमात्माके समरस हो जानेपर आनन्द निर्बाध रूपसे उत्पन्न होता है, उसमें यह कल्पित द्वैत या पार्थक्य भी ब्रह्मानन्दके तुल्य हो जाता है[7]। वहां पहुँचनेपर दुःख सुख, बाह्य ग्राहकग्राह्य भाव जड़ता और

---

१. तन्त्रालोक, आ०५।४७।   २. कामायनी, आनन्द, पृ० २९४।

३. स्वच्छन्द तन्त्र, भाग १, पृ० १९१। २९७-३१५।

४. शिवदृष्टि (उत्पलदेव) पृ० ६। सुसूक्ष्मशक्ति त्रितय सामरस्येन वर्त्तते
चिद्रूपाह्लाद परमो निर्विभागः परस्तदा ॥४॥

५. नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं यत्र न विद्यते।
आनन्दपद संलीनः मनः समरसीगतम् ॥ नेत्र तन्त्रभाग १, पृ०१९८।

६. जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः। बोधसार पृ० २०७।

७. कामायनीमें काव्य संस्कृति और दर्शन। पृ० ३९१।

पाशबद्धता आदि कोई भाव नहीं रहता वरन् महाभावमें सभी विलीन हो जाते हैं।[1] जड़ या चेतन सभी समरस महाभावमें स्थित हो गये हैं। यह स्थिति ही स्वातन्त्र्यरस है[2]।

साकारमें विकार होता है। आकृतिमें विकृति होती है। यदि आकार सुन्दर हो उठे, तो उसका विकार कहां रह जायेगा ? ग्राह्य, ग्रहीता और ग्रहणके सन्दर्भमें विततविस्तृत विचित्र विश्व शक्ति चक्रात्मक है, शिवसे अभिन्न है। उसमें स्वातन्त्र्यशक्ति और इच्छाशक्ति दोनोंका विलास यदि उल्लसित हो उठे, तो चित् शक्तिकी चमत्कृतिका निश्चप्रच संचार होता है और यह चमत्कृति प्रकाशमयता ही है। इसीको प्रकाशका सौन्दर्य भी कहते हैं। इसी स्थितिमें साकार विश्व सुन्दर हो सकता है।

सौन्दर्यानुभूतिकी अवस्थामें एकमात्र चेतना शक्तिका विलास सर्वतः प्राणवत्ताका संचार करता है[3]। शिवसे अभिन्न अपनेको तथा अपनेको शिवसे भिन्न आभासित करने वाली नित्य स्फुरित शक्ति ही चैतन्य है[4]।

शरीर चित्की शोभाके रूपमें अवशिष्ट रहता है[5]। यही चिद्विलास है। इस दशामें अखण्ड आनन्द भी घना बन जाता है। निर्विमर्श प्रकाश मुकुर तुल्य हो जाता है।

घना होनेकी अभिव्यंजना आनन्दके स्थैर्यकी बोधक है। अखण्ड अविच्छिन्न सुखैकधाम परमशिव ही कामायनीके आनन्दसर्गमें प्रतिफलित होकर हिन्दी साहित्यको भी आनन्द निर्भर बना रहा है[6]।

---

१. न दुःखं न सुखं चैव न ग्राह्यं ग्राहकों न च।
न चास्ति मूढ भावोऽपि तदस्ति परमार्थतः। स्पन्दकारिका १।५।

२. स एवाचिन्त्य विभवः स्वातन्त्र्य रस निर्भरः। पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ० ६।४४

३. मैं की मेरी चेतनता सबको ही स्पर्श किये सी।
सब भिन्न परिस्थतियोंकी है मादक घूंट पिये-सी ॥
कामायनी, आनन्द, पृ० २८९।

४. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० ८, श्लोक ६०।

५. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० १०, श्लोक ९६।

६. समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतना एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था।
कामायनी, आनन्द पृ० २९४।

133

स्वतंत्रता संग्राम सेनानी कल्याण परिषद, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

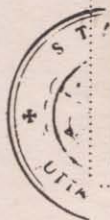
परिचय पत्र—स्वतंत्रता संग्राम सेनानी

क्रम संख्या ४५६०

नाम श्री परम हंस मिश्र

पिता का नाम श्री फौजदार मिश्र

पूरा पता ग्रा० मलप हरिसेनपुर जि० बलिया





निदेशक/सचिव

स्वतंत्रता संग्राम सेनानी कल्याण परिषद

दिनांक 27-12-75 उत्तर प्रदेश, लखनऊ